हिन्दी साहित्य में विविध.वाद

लेखक

डा० प्रेमनारायण शुक्ल एम० ए०, पीएच० डी०

हिन्दी-विभाग, डी०ए०वी० कॉलेज, कानपुर

प्रथम संस्करण]   वसन्तपंचमी, २०१० वि०   [मूल्य. ६)

शारदा,

तुम्हारी प्रेरणा एवं अन्तिम कामना

का

प्रतिफल

तुम्हारे और अपने संतोष

के लिए

स्वर्गीया माता

के

श्री चरणों में

विषय-सूची

प्राक्कथन

साहित्य का मूल उद्देश्य आनन्दात्मक अनुभूति के द्वारा जीवन का पथ-प्रदर्शन करना है। अतएव साहित्य में यदि कोई वाद हो सकता है तो वह है मानव-हितवाद। किन्तु कुछ समय से साहित्य में वादों का इतना अधिक प्राबल्य हो रहा है कि मुझे अपनी धारणा के मूल में ही आघात होता हुआ-सा प्रतीत होने लगा। इसीलिए मुझे विभिन्न वादों के स्वरूप के अध्ययन की प्रेरणा हुई। मेरा विचार है कि आजकल वाद के नाम पर कुछ ऐसा साहित्य प्रस्तुत हो रहा है जिसे यदि हम साहित्य न कहकर इतिहास, समाज-शास्त्र राजनीति तथा अन्य लिटरेचर अथवा कुछ ऐसा ही कोई दूसरा नाम दे दें तो उनके रचयिताओं का अनादर न करते हुए भी हम साहित्य की मर्यादा अक्षुण्ण रख सकते हैं। अपनी इस धारणा को व्यक्त करने के लिए एक विस्तृत प्रबन्ध की आवश्यकता प्रतीत हुई। प्रस्तुत प्रबन्ध उसी आवश्यकता की पूर्ति का प्रयास है। अतएव यहाँ मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि वादों के सम्बन्ध में मेरा विचार सम्पूर्णतः मेरी अपनी धारणा का परिणाम है। उसमें किसी कलाकार के प्रति किसी प्रकार की अवहेलना की भावना नहीं है, वरन् विशुद्ध रूप में वाद के उस प्रभाव का विवेचन है जिससे मैं प्रभावित हुआ हूँ।

किसी वाद के सम्बन्ध में अपना विचार व्यक्त करने के पूर्व मेरे लिए यह आवश्यक था कि मैं तटस्थ दृष्टि से उसका स्वरूप भी उपस्थित कर देता, अन्यथा मेरा कथन न्याय-संगत न हुआ होता। इसीलिए अपने क्षेत्र में आये हुए समस्त वादों के स्वरूप का विवेचन भी मुझे करना पड़ा। वाद क्या है? कला के क्षेत्र में वह कैसे विवाद का विषय बन जाता है, आदि प्रश्नों पर ध्यान देते ही मुझे कुछ मौलिक प्रवृत्तियाँ इनका मूल कारण जान पड़ीं। उन मौलिक प्रवृत्तियों को वाद से सम्बद्ध करते ही यह स्पष्ट हो गया कि किसी वाद की आधार-भूमि क्या है? उस वाद में कितना स्थूल अथवा कितना पार्थिव अंश है और कितना सूक्ष्म अथवा अपार्थिव अंश। मेरा विचार है

कि पार्थिव अंश मनुष्य के मन के जिस स्तर को तृप्त करता है उस स्तर की अपेक्षा अपार्थिव अंश से तृप्ति पाने वाला मानसिक स्तर अधिक द्रवणशील, संवेदनाशील और कोमल है। अतएव प्रत्येक वाद में जितना अंश इस अपार्थिव, द्रवणशील, संवेदनाशील और कोमल अंश का स्पर्श करने वाला है उतना तत्-तत् वाद-सम्बद्ध साहित्य निश्चय ही चिरकालव्यापी और स्थायी बनेगा, शेष केवल पुस्तक की वस्तु रह जायगा। इसीलिए यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि प्रत्येक वाद के उस अंश पर भी विचार किया जाय जो इस संवेदनाशील मानसिक स्तर का स्पर्श करता रहा है। इसी प्रेरणा में वाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर भी विचार करना अनिवार्य हो गया। इस दिशा में मेरा यह प्रयास रहा है कि प्रत्येक वाद की पृष्ठभूमि पर पहिले विचार कर लिया जाय, क्योंकि यदि साहित्य मनुष्य की संस्कृति का प्रतिबिंब है तो संस्कृतियों के इतिहास की भाँति उसका इतिहास भी अनादि है। इसीलिए मैंने यथासाध्य प्रत्येक वाद का इतिहास ढूँढने की चेष्टा की है। इस चेष्टा में मैंने संस्कृत, अंग्रेजी तथा अन्य साहित्य से भी सहायता ली है।

इतिहास सांस्कृतिक एकतानता (Continuity of Culture) का नाम है। इस सांस्कृतिक एकतानता के साथ साहित्य का तार भी संलग्न है। प्रत्येक काल में प्रत्येक संस्कृति जिन भावों अथवा अनुभूतियों का अनुभव करती है, साहित्यकार उनमें से कुछ को चुनकर, कुछ अतीत से लेकर और कुछ कल्पना द्वारा भविष्य का प्रत्यक्षीकरण करके अपनी कला द्वारा सजा देता है। अतएव नितांत नवीन कुछ नहीं है। जिसे हम नवीन कहते हैं, वह उसी एकतानता, सम्बद्धता का एक भाग है। जो आज हमारे सामने है कल वह भी प्राचीन हो सकता है, तब हमारे समक्ष नवीन जान पड़ने वाला एक दूसरा दृष्टिकोण होगा और वह भी कुछ समय पश्चात् प्राचीन हो जायगा। इतिहास की पगडंडी पर चलते हुए मार्ग के अनेक दृश्यों में से जिन दृश्यों को कलाकार ने चुन लिया है, वे दृश्य यदि चिरन्तन हैं तो भविष्य में भी देखने को मिलते रहेंगे। अतएव इनमें नवीनता न होते हुए भी स्थायित्व होगा। परन्तु यदि वे चिरंतन नहीं हैं तो भले ही वे इतिहास की सम्पत्ति बनें, पर न तो वे कुछ संस्कृति को ही दे जायँगे और न वे जीवन में ही स्थायी रहेंगे। वस्तुतः सांस्कृतिक एकतानता में स्थायी योग दे सकने वाला साहित्य ही साहित्य है। प्रस्तुत प्रबन्ध में विवेचना करते समय इस दृष्टिकोण को भी सामने रक्खा गया है।

सम्पूर्ण प्रबंध निम्नलिखित भागों में विभक्त है :—

परिशिष्ट भाग में कतिपय ऐसे वादों का भी यत्किञ्चित् परिचय दिया गया है जिनका स्वरूप हिन्दी साहित्य में यत्र-तत्र पाया जाता है, अथवा जो साहित्य-जगत् में किसी न किसी रूप में विवेचना के विषय बन गये हैं।

अपनी मानसिक पृष्ठभूमि पाठकों के समक्ष उपस्थित करने के उपरान्त मैं यह कह देना आवश्यक समझता हूँ कि इस प्रबंध में तीन बातें विशेष दृष्टव्य है—प्रथम-वस्तु का आधार, द्वितीय वस्तु-संचय और तृतीय-वस्तु-परिचय ।

१—वस्तु का आधारः—वस्तु का आधार निर्धारित करते समय मौलिकता की दृष्टि से प्रत्येक वाद की मानसिक पृष्ठभूमि का विवेचन किया गया है। मैंने यह देखने की चेष्टा की है कि किस प्रकार चेतनावादी और व्यवहार-वादी आधुनिकतम वैज्ञानिक के दृष्टिकोण से वाद का उदय हो सकता है, साथ ही भारतीय शास्त्र मानसिक कृतियों का किस प्रकार उपादान अथवा निमित्त कारण मानते है। यदि मैं इतना ही विवेचन करके छोड़ देता तो कदाचित् वह प्रस्तुत प्रबंध के लिए पर्याप्त होता। परन्तु मुझे उस समन्वयात्मक प्रवृत्ति की भी खोज करनी थी जिसके कारण आधुनिक इतिहास का मध्ययुग अर्थात् ईसा की चौदहवी शताब्दि से सत्रहवीं शताब्दि तक अपने साहित्य अथवा धार्मिक समृद्धि के लिए स्वर्ण युग बन गया था। इस प्रयत्न में मुझे फ्रायड, जुंग, एडलर के अचेतन मस्तिष्क-सम्बन्धी विवेचन के साथ सांख्ययोग और वेदान्त का

समन्वय स्थापित करना पड़ा। मेरा अपना विचार है कि संभवतः साहित्य में यह प्रथम प्रयास है जिसमें इस प्रकार साहित्य-धारा पर व्यापक रूप से विचार किया गया है।

२—वस्तु-संचयः—अभीतक विभिन्न वादों के सम्बन्ध में इधर-उधर स्फुट निबंध ही प्राप्त होते रहे है। समस्त वादों का एकत्र परिचय देने वाली किसी कृति का सर्वथा अभाव रहा है। इस प्रबंध द्वारा समस्त ख्यात वादों का संचय करके इस अभाव की पूर्ति का प्रयास किया गया है। इस संचय में भी एक नवीनता है; और वह नवीनता है उसकी संचय-विधि में। मैंने वादों का जो वर्गीकरण किया है वह न केवल व्यापक है, वरन् वैज्ञानिक भी है। इस प्रकार के वैज्ञानिक दृष्टिकोण से वादों पर अभी तक कदाचित् कोई भी विचार प्रस्तुत नहीं किया गया है।

वर्गीकरण के अतिरिक्त वस्तु-संचय में मैंने भावना के क्रमिक विकास पर भी ध्यान दिया है। ऐसा नहीं किया गया है कि आदर्शवाद से एकदम प्रगतिवाद या किसी अन्यवाद पर कूद कर पहुँचा गया हो। अपितु, वादों में एक वैज्ञानिक क्रम उपस्थित करके प्रबंध की रक्षा का सर्वत्र प्रयत्न किया गया है।

३—वस्तु-परिचयः—मेरे प्रबंध का मूल केन्द्र था साहित्य में विभिन्न वादों का स्थान। परन्तु साहित्य की परिभाषा स्थिर किये बिना वादों का परिचय देकर उनका स्थान निर्णय करना असंगत था। इसके लिए यह संभव था कि मैं साहित्य की एक स्वीकृत परिभाषा देकर अथवा अपनी परिभाषा बनाकर आगे चलता। परन्तु इस प्रकार पक्षपात के दोष से बचा नहीं जा सकता था। इसीलिए साहित्य की विभिन्न मान्यताएँ उपस्थित करना भी आवश्यक हो गया। इस प्रयास का परिणाम यह हुआ है कि हिन्दी साहित्य में संभवतः प्रथम बार भारतीय शास्त्र-परंपरा के अनुसार 'साहित्य' शब्द की पूरी परिभाषा दी गई है। यथासाध्य पश्चिम के विद्वानों की परिभाषाओं से भी उन मान्यताओं का समन्वय करने का प्रयत्न मैंने किया है।

वाद विशेष का परिचय देते समय भी दो नवीन दृष्टिकोण उपस्थित किये गये हैं—पहला कवि के साथ अंतरंग वृत्ति से तादात्म्य स्थापित करना और दूसरा कवि से तटस्थ रहकर साक्षी-रूप में उपस्थित रहना। अंत में मैंने यह चेष्टा की है कि निष्पक्ष होकर अपना मत भी प्रकट करूँ। इतना मैंने सदैव ध्यान रक्खा है कि मैं निर्णायक नहीं हूँ, मैं तो एक दृश्य का द्रष्टामात्र हूँ। अतएव मेरा ही मत सर्वमान्य हो जाय, ऐसा हठ मैंने कहीं नहीं किया है।

'वादों' की समीक्षा करते समय मैंने विभिन्न गद्य एवं पद्य लेखकों की कतिपय कृतियों से उद्धरण लेकर प्रत्येक प्रसिद्ध वाद के स्वरूप का-तथा उसकी प्रवृत्ति का विवेचन किया है। इस कार्य में मेरे समक्ष एक बड़ी कठिनाई थी, और वह यह कि विशाल साहित्य-सागर के समस्त रत्नों का संग्रह कर सकना प्रबंध के कलेवर की दृष्टि से संभव न था। इसीलिए वाद-विशेष की पगडंडी पर चलते हुए भी मुझे इतस्ततः कुसुम-चयन प्रवृत्ति का ही आश्रय लेना पड़ा है। फलतः न तो एक ही कवि की समस्त रचनाओं को लिया जा सका है और न समस्त कवियों को ही। एक कठिनाई और भी थी। प्रत्येक कलाकार वाद-विशेष के प्रतिपादन के लिए संभवतः प्रवृत्त नहीं होता है। अतएव बहुधा वाद-विशेष प्रतिपादक कृतियाँ सर्वत्र रसमयी अथवा आनन्द विधायिनी नहीं होती हैं। विषय के प्रति सम्यक् न्याय करने की दृष्टि से मुझे दोनों ही प्रकार की कृतियों को लेना पड़ा है और यथास्थान उनकी यथारूप आलोचना भी करनी पड़ी है। इस आलोचना-क्रम में यदि कहीं किसी लेखक के प्रति कुछ अरुचिकर बात आ गई हो तो वह आलोचक की विवशता ही समझना चाहिए।

मैंने आरम्भ में ही कहा है कि साहित्य में केवल एक वाद है और वह है मानव-हित वाद। विभिन्न वादों का अध्ययन करने के पश्चात मेरी इस धारणा को विशेष बल प्राप्त हुआ और इसीलिए अंतिम अध्याय में मैंने यह देखने की चेष्टा की है कि इन समस्त वादों में वे कौन-से वाद होंगे जो लोक-कल्याण में सहायक होंगे, अथवा दूसरे शब्दों में साहित्य की सच्ची कसौटी पर खरे उतर सकेंगे।

एक निवेदन और, अनेक अधिकारी विद्वानों के होते हुए भी प्रस्तुत प्रबंध लिखने का मेरा यह साहस "प्रांशु लभ्ये फलेलोभादुद्बाहुरिव वामनः" की ही भाँति होगा। अज्ञात अवस्था में अथवा मेरी वैयक्तिक धारणाओं के कारण जो कुछ त्रुटि रह गई होगी उसे विद्वज्जन मेरा अपराध न समझ कर मेरी भूल समझेंगे, ऐसी मुझे आशा है। साहित्यिक व्यक्ति के समक्ष भूल क्षमा होती है, इसी विश्वास के साथ मैं प्रस्तुत प्रबंध गुणीजनों के समक्ष उपस्थित कर रहा हूँ।

जिन गुरुजनों, सुहृदजनों एवं मेरे विद्यार्थियों से मुझे सहयोग प्राप्त हुआ है, उनके सम्बन्ध में भी केवल अपने हृदय के संतोष के लिए ही कुछ कहना आवश्यक प्रतीत होता है।

मेरा यह परम सौभाग्य था कि गुरुवर डा० मुंशीराम शर्मा 'सोम' के अधीक्षण में मुझे पी-एच० डी० उपाधि के लिए प्रस्तुत प्रबन्ध लिखने का सुअवसर प्राप्त हुआ। उनके सहज उदार एवं निष्कपट हृदय का जो ममत्व तथा उनके गंभीर ज्ञान का जो लाभ मुझे प्राप्त हुआ है वह अपनी गुरुता के कारण मेरी वाणी का विषय नहीं बन सकता है। गुरुवर पं० रामदुलारे जी अवस्थी जिन्होंने मेरी हाईस्कूल की कक्षाओं से लेकर अद्यावधि मेरे साहित्यिक-जीवन के निर्माण में सक्रिय निर्देशन का कार्य किया है, गुरुवर पं० राजारामजी शुक्ल 'राष्ट्रीय आत्मा' जो प्रारंभ से ही मेरे साहित्यिक जीवन को अनुप्राणित करते आ रहे हैं, गुरुवर पं० अयोध्यानाथ शर्मा जिनका मुझे निरन्तर प्रोत्साहन एवं ममत्व पूर्ण पथ-प्रदर्शन प्राप्त होता रहता है, उन सब के प्रति मैं अपना आभार किन शब्दों में व्यक्त करूँ। सच तो यह है, जो कुछ भी मुझे मिला है वह मेरे गुरुजनों का प्रसाद है। अपने गुरुजनों का जो विश्वास एवं दुलार मुझे प्राप्त हो सका है, वह मेरे प्रभु की ही कृपा का परिणाम है।

श्री कृष्णचन्द्र खेमका ने अपने निरन्तर के प्रस्वेदवाही परिश्रम के द्वारा अनतिकाल में ही इस प्रबंध को टाइप कर दिया तथा इसके प्रकाशित होने के अंतिम क्षण तक जिस उत्साह के साथ संलग्न रहे वह मेरे अत्यधिक संतोष का विषय है। इन्हीं के साथ चिरजीवी कृष्णचन्द्र शुक्ल एम० काम०, चिरजीवी आनन्द अग्निहोत्री तथा मेरे विद्यार्थी प्रो० देवीशंकर अवस्थी, प्रो० श्यामहरि जी तिवारी एवं श्री बालकृष्ण गुप्त ने आवश्यक सामग्री के संकलन करने एवं टाइप करने में जिस तत्परता से कार्य किया है उनके प्रति कुछ कह कर मैं उनकी श्रद्धा-संवलित एवं ममत्वपूर्ण भावना का मूल्य कम नहीं करना चाहता।

सुहृद्वर प्रो० गणपतिप्रसाद वर्मा, प्रो० गयाप्रसाद उपाध्याय, प्रो० राजकुमार त्रिवेदी, प्रो० ब्रजलाल वर्मा, प्रो० महेन्द्रकुमार विद्यार्थी, श्री बिट्ठल शर्मा चतुर्वेदी, श्री वागीश शास्त्री, श्री श्यामनारायण पाण्डेय, श्री ज्योतिष कुमार वाजपेयी एवं चि० अखिलेश ने समय-समय पर प्रूफ के संशोधन-कार्य में अपना प्रेम-पूर्ण सहयोग प्रदान किया है। प्रो० सिद्धिनाथ मिश्र ने प्रेस के लिए प्रति तैयार करने में विशेष योग किया है। आदरणीय अग्रज प्रो० दीनबन्धु त्रिवेदी, प्रो० श्रीनारायण अग्निहोत्री एवं अनुज प्रो० मंगलप्रसाद अग्निहोत्री जिनका सतत सहज स्नेह एवं सहयोग प्राप्त होता रहता है और जिनकी अभिलाषा इस कृति में विद्यमान है, उन सबके प्रति किसी प्रकार का आभार व्यक्त करके उनकी आत्मीयता के द्वार पर औपचारिक शिष्टाचार का प्रहरी कैसे बिठाऊँ।

पुस्तक-प्रकाशन के सम्बन्ध में डा० भगीरथ मिश्र ने यदि शीघ्रता के लिए विवश न किया होता और यदि श्री आनन्द मिश्र ने इसके प्रकाशन का उत्तरदायित्व अपने ऊपर आग्रहपूर्वक न लिया होता तो विजयदशमी सं० २००६ का लिखा गया यह प्रबन्ध इस समय प्रकाशित न हो सका होता। अस्तु मेरा हृदय अपने इन दोनों अभिन्न-हृदय सहपाठियों के आभार को अनुभव तो करता है, परन्तु वह उन्हें धन्यवाद देने की ढिठाई नहीं कर पा रहा है।

इनके अतिरिक्त जिन ज्ञात एवं अज्ञात प्रेरणाओं ने मुझे इस कार्य में उत्साहित किया है, अथवा जिन विद्वज्जनों की कृतियों से मैंने लाभ उठाया है उन सबके प्रति मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

वसन्त पञ्चमी,
सं० २०१० वि०

—प्रेमनारायण शुक्ल

मानव-प्रवृत्तियाँ और उनका कृतित्व

मानव-प्रवृत्तियाँ और उनका कृतित्व

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मेमनः शिवसंकल्पमस्तु ॥[1]
यजुर्वेद, अध्याय ३४, प्रथम मन्त्र

उक्त वेदमन्त्र में मानव-मन की व्याख्या की गई है। मानव-मन जाग्रत एवं स्वप्न दोनों ही अवस्थाओं में गतिमान रहता है। परन्तु सुषुप्ति में वह अपने में ही लीन हो जाता है। इस वेगवान अश्व के लिए चलने का स्थान समस्त परापर जगत है और न चलने का स्थान उसका स्व में विलय। कभी वह अहं तत्व के पास रहता है और कभी तद्भिन्न जगत् में फँसकर दूर हो जाता है।

जागतिक व्यापार और मनः— यह व्याख्या केवल मन की ही व्याख्या नहीं है, वरन् जगत की व्याख्या है। जगत क्या है? यह प्रश्न जगत का नहीं है, अपितु मानव-मन का है। बसन्त की शोभा, ग्रीष्म का उत्ताप, पावस की फुहार, शरद् की चाँदनी, हेमन्त का शीत और शिशिर का पाला यदि किसी के लिए है तो इसी मन के लिए। प्रकृति का समस्त वैभव, उसका समस्त प्रेयस् स्वरूप व्यर्थ हुआ होता, यदि उसका उपभोक्ता मानव-मन न होता। इतना होते हुए भी यह 'असंशयम् महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्' ही है। यह हमारा है, परन्तु यह हमें छोड़कर हमसे बहुत दूर चला जाता है। अभ्यास और वैराग्य के द्वारा इसे पकड़ने की युक्ति का विधान किया गया है। परन्तु जिन्होंने इस मन को पकड़ लिया होगा, सम्भवतः उनके लिए जगत भी जगत् न रहा होगा।

---

१ भावार्थ—जाग्रत अवस्था में जो दूर चला जाता है और सुप्त अवस्था में भी जो उसी प्रकार दूर तक गतिमान रहता है, ऐसा दिव्य गुण सम्पन्न और प्रकाशकों (विषय का साक्षात्कार करने वाली इन्द्रियों) का प्रकाशक यह मेरा मन कल्याणकारी संकल्प वाला हो।

मानव-जीवन के समस्त व्यापार इसी मन के द्वारा संचालित और नियन्त्रित होते हैं। अतएव मानव-जीवन की व्याख्या इस मन के व्यापार की व्याख्या है। और इसीलिए लोक में यदि एक मन की भी व्याख्या की जा सके तो कदाचित् समस्त जगत की व्याख्या हो जायेगी।

मनोव्यापार के दो पक्ष:—मानव-मन का समस्त व्यापार दो पक्षों में स्पष्टतः विभक्त किया जा सकता है—एक बाह्य पक्ष और दूसरा ऐकान्तिक पक्ष। पहिली अवस्था में यह उदैति होता है। इस दशा में वह 'स्व' से बाहर जिस जगत में विचरण करता है वहीं इसका बाह्य पक्ष है। मन की इसी गति के द्वारा मनुष्य का लोक-व्यवहार चलता है। मन के इन व्यापारों में संकल्प-विकल्प का द्वन्द्व भी दिखाई देता है। यदि यह द्वन्द्व न रहता तो उसकी स्थिति पशुवत् हुई होती।

मन और अहंता:—अहंता का बोध इस मन का ही व्यापार है। अहंता के बोध का आश्रय लेकर ही यह मन बाह्य जगत में विचरण करता है। अहंता का बोध मनुष्य को क्रमिक विकास से प्राप्त होता है। शिशु को केवल शारीरिक आवश्यकताओं का ही बोध होता है। भूख प्यास लगने पर वह भूख लगी है, प्यास लगी है कहते समय जिस 'मैं' को लक्ष्य में रखता है वह 'मैं' केवल शरीर ही होता है। 'मैं' की भावात्मक अनुभूति का विकास किशोर अवस्था से ही प्रारम्भ होता है। इस 'अनुभूति" के साथ ही साथ उस समय भावुकता की धारा अत्यन्त वेगवती होती है। इस काल की परिस्थितियाँ ही उसके मन की बाह्य अथवा आन्तरिक गति निर्धारित करती हैं। जिन बच्चों की परिस्थितियाँ बाह्य जगत के आकर्षण से अधिक आकर्षित हो जाती हैं वे बच्चे अपने अन्तर्जगत का अधिकांश भाग सदा के लिए खो देते हैं। उनके मन का राज्य भीतर से सिमिटकर बाहर फैल जाता है। ऐसे व्यक्तियों की प्रवृत्ति बहिर्मुखी हो जाती है।

भौतिकतावाद और मन की बहिर्मुखी प्रवृत्ति:—यह बहिर्मुखी प्रवृत्ति मन पर बाह्य जगत का आवरण डाल कर उसके शुद्ध अहंभाव को कभी तो इतना अधिक आच्छादित कर देती है कि उसकी अनुभूति दुर्लभ हो जाती है। ऐसे व्यक्ति सम्पूर्णतः जगत के हो जाते हैं, उनका अपनापन कुछ भी नहीं रहता है। इस अपनेपन का विनाश यदि सम्पूर्णतः हो ही जाता तो भी जगद्धिताय ही होता, परन्तु ऐसा होता नहीं है। आत्मारूप पांडु के राज्य को मन रूप अन्धा धृतराष्ट्र इस प्रकार छीन लेता है कि धर्मराज (सत्य) और अर्जुन

(सदाचार) को बनवासी होना पड़ता है तथा धृतराष्ट्र दुर्योधन एवं दुःशासन की सहायता से उस राज्य में सुशासन के नाम पर कुशासन करने लगते है। ऐसे व्यक्ति जगत के लिए नहीं रहते, वरन् वे जगत को ही अपने लिए मानते हैं। उनका व्यापार अधिकांशतः अपने से बाहर केवल अपने लिए ही होता है और उनके प्रत्येक कार्य में शुद्ध स्वार्थ की दृष्टि ही प्रधान रहती है।

मानव-मन की यह बहिर्मुखी प्रवृत्ति भी दो रूपों में उपस्थित होती है। एक का वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं। उसका दूसरा रूप यद्यपि उतना वीभत्स नहीं है, परन्तु उसके द्वारा भी आत्मानुभूति का कार्य अवरुद्ध हो जाता है। ऐसे व्यक्ति स्व-साधन के साथ ही पर-साधन की चेष्टा भी करते हैं। इस चेष्टा के मूल में भी लोक-कल्याण की भावना न होकर केवल स्व-कार्य की भावना ही रहती है।

मन की दोनों बहिर्मुखी प्रवृत्तियाँ धीरे-धीरे उसकी कोमल वृत्तियों को कुण्ठित करती रहती है। ऐसी कुण्ठित मनोवृत्ति के लिए न तो प्रकृति में ही कोई सौन्दर्य रहता है और न मानव जगत का सौन्दर्य, और न हृदय एवं प्राणों की मूक-भाषा ही उसके लिए कोई महत्व रखती है। वह तो अपने संसारी व्यापार में ही संतुष्ट है।

चेतना और प्रवृत्तियाँ:—परन्तु ऐसा होता क्यों है ? मनोवैज्ञानिक इसका उत्तर हमें इस प्रकार देता है। चेतना के दो भाग हैं : १—मुख्य चेतना (Conscious mind), २—उपचेतना (Sub-conscious mind)। मुख्य चेतना चेतना-परिधि का केन्द्र है। उपचेतना उस केन्द्र से परिधि तक का समस्त भाग है। हमारी बाहरी अनुभूतियाँ किसी उत्तेजक (Stimulus) के द्वारा हमारी मुख्य चेतना तक पहुँचती हैं और उसे अपनी ओर आकृष्ट कर लेती हैं। ये अनुभूतियाँ मुख्य चेतना में अधिक समय तक स्थिर नहीं रहतीं। जीवन की प्राकृतिक आवश्यकताएँ इन बाह्य अनुभूतियों को चेतना-केन्द्र से हटा कर बाह्य भाग में भेज देती हैं। इस प्रकार एक अनुभूति मुख्य चेतना में थोड़ी देर स्थिर रह कर उपचेतना में पहुँच जाती है और फिर वह विस्मृतप्राय होने लगती है। यही कारण है कि अपने एकलौते पुत्र को खोकर भी माता जीवित रहती है। करुणा से विक्षिप्त मन को भूख न केवल शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक होती है, वरन् उस दुःख-दग्ध हृदय के लिए अमृत-लेपन की भाँति अनिवार्य बन जाती है।

चेतना का यह केन्द्र उपचेतना के इन अस्पष्ट चित्रों से प्रभावित होता रहता है। इन संकलित प्रभावों के द्वारा मुख्य चेतना के स्थायी भाव (Senti-

ments) का निर्माण होता है। ये स्थायी भाव मुख्य चेतना की गति के स्थिर नियामक बन जाते हैं जिनसे युक्त होने के कारण मानव-मन के समस्त व्यापार किसी विशेष दिशा की ओर चल पड़ते हैं।

जगत में उलझा हुआ मन जागतिक अनुभूतियों के संस्कार अधिक ग्रहण करता है। ये संस्कार उसकी चेतना के केन्द्र में पहुँच कर धीरे-धीरे उसकी समस्त परिधि को आवृत्त कर लेते हैं। प्रायः ऐसा मन संसार के स्थूल व्यापार में इतना अधिक उलझ जाता है कि उसके कोमल स्वरूप का ओर उसकी दृष्टि भी नहीं जाती। वह स्वप्न में भी सट्टे का सौदा करता है और प्रार्थना के क्षणों में भी सांसारिकता में लीन रहता है।

व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक और चेतना:--- व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक चेतना को स्वीकार नहीं करता। उत्तेजक प्रतिक्रिया (Stimulus response theory) के सिद्धान्त को स्वीकार करने के कारण वह मनुष्य के मन की प्रवृत्तियों को बाह्य उत्तेजनाओं का परिणाम समझता है। विक्षिप्त और अर्धाङ्ग-वातग्रस्त रोगियों के मस्तिष्क के परीक्षण द्वारा वह इस निर्णय पर पहुँचता है कि इन विकारों के मूल कारण में मस्तिष्क के कुछ विशेष केन्द्रों का दूषित हो जाना है। इस प्रकार वह यह सिद्ध करने की चेष्टा में लगा हुआ है कि प्रत्येक जागतिक अनुभूति के लिए मस्तिष्क में स्थान विशेष निश्चित रहता है। यदि हम व्यवहारवादी के इस स्थानीकरण सिद्धान्त (Localisation theory) को स्वीकार कर लें तो भी हमारे उपरिलिखित परिणाम में कोई अन्तर नहीं आता है। स्थान विशेष में उत्तेजक शक्ति की अधिक प्रवणता हो जाने के कारण वह स्थान इतना सेन्सिटिव (Sensitive) हो जाता है कि तत्सम्बन्धिनी उत्तेजनाओं को व्यक्ति विशेष बहुत शीघ्र ग्रहण करते हैं। इस प्रकृति के दृढ़ हो जाने पर अन्य उत्तेजना केन्द्र प्रसुप्त रहते हैं। और तत्सम्बन्धिनी उत्तेजनाएँ अधिक प्रभावित नहीं करतीं। इसीलिए मनुष्य को विभिन्न वस्तुएँ या विचार विशेष रुचिकर जान पड़ने लगते हैं। यही कारण है कि रुपया जिसका अधिदैवत बन गया है उसके लिए समस्त भूत-व्यापिनी करुणा व्यर्थ की वस्तु है।

बहिर्मुखी वृत्ति की यह तीव्रता जहाँ कुछ वृत्तियों को दबा देती है वहाँ उसकी एक अन्तर्मुखी वृत्ति को अत्यधिक उत्तेजित भी कर देती है। उसका 'मैं' इतना अधिक बलवान हो जाता है कि जिस विषय में उसका 'मैं' रमण करता है उसको सर्वात्मना स्वाधिकार में रखना चाहता है। इस स्वाधिकार की सीमा इतनी अधिक विस्तृत हो जाती है कि उसका लोक-व्यवहार भी संतुलित गति पर

नहीं चल पाता। ऐसे व्यक्तियों को एक सनक-सी लग जाती है। उनका सम्पूर्ण कृतित्व इस सनक के संतोष के लिए ही होता है और उससे बाहर वह किसी प्रकार नहीं जा पाते।

ऐकान्तिक पक्षः—मन की दूसरी वृत्ति का रूप ऐकान्तिक है। जैसा हम पहिले कह चुके है कि किशोर अवस्था में ही 'अहं-बोध' का उदय होता है और अनुकूल परिस्थितियों के प्राप्त होने पर यह 'अहं—बोध' अपने विस्तार का यत्न करने लगता है। वह जो कुछ अच्छा देखता है उसे अपना कहना चाहता है। आगे चल कर उसमें 'अनादि वासना' जाग्रत होती है और यही काल है जब कोमल वृत्तियों के पल्लवित होने का अवसर आता है।

भावुकतावाद और ऐकान्तिक प्रवृत्तिः—जगत के समस्त सौन्दर्य को आत्मसात् करनेवाली इस प्रवृत्ति के मूल में भी सौन्दर्य विकसित होने लगता है। जो गुलाब के फूल की सुन्दरता पर मुग्ध होता है, निश्चय ही उसका हृदय गुलाब की सुगन्ध से, उसकी प्रस्फुटित कान्ति से अधिक सुरभित और कान्त बन जाता है। सौन्दर्य-बोध की यह भावना ही कोमल वृत्तियों का आधार है। इस प्रकार हम देखते है कि समस्त कोमल वृत्तियों के अन्तस्तल में ऐकान्तिक प्रवृत्ति काम करती है। यहाँ भी मन की गति की दो स्पष्ट दिशाएँ देखी जा सकती हैं। एक ओर दौड़ता हुआ मन समस्त जगत को समेट कर अपने में ही लीन कर लेना चाहता है, और दूसरी ओर अपने को समस्त जगत में बिखेर देना चाहता है। एक दिशा में वह संग्रह की ओर दौड़ता है, दूसरी दिशा में त्याग की ओर। पहिली दिशा में वह लोभ को अपना सहायक बनाता है और दूसरी दिशा में सार्वभौमिकता के भाव को। इतना निश्चित है कि यदि ऐसा मन संग्रह को ओर न दौड़ा तो त्याग की ओर भी न दौड़ेगा। तुलसी की पत्नी में ही केन्द्रित स्नेह की भावना उन्हें भगवत्-प्रेम में तल्लीन कराकर उनसे 'सियाराममय सब जग जानी' कहलवा सकी।

मन की संग्रह और त्याग की प्रवृत्तियाँ दो भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं। वस्तुतः ये एक ही प्रवृत्ति के दो विभिन्न रूप हैं। भावात्मक स्वत्व की धारा का उद्गम-स्थान संग्रह-प्रवृत्ति है और संगम-स्थान उसकी त्याग-प्रवृत्ति। गंगोत्री में दिव्य जल-संग्रह करने वाली भागीरथी जिस प्रकार संग्रह में प्रवृत्त होकर अपने अस्तित्व का निर्माण करती है, ठीक उसी प्रकार प्राथमिक 'अहं-बोध' के उत्पन्न होने पर संग्रह-प्रवृत्ति के द्वारा जीवन 'जीवन' का संचय करता है। गंगा अजस्र और अश्रांत गति से बहती हुई जब समुद्र को अपना समस्त जल निष्काम भाव से दे

देती है तो मानों वह स्वत्व-परित्याग करती है। इस मार्ग में चलती हुई उसकी सत्ता कहीं पर विच्छिन्न होकर विभक्त नहीं होती, वरन् एकरस प्रवाहित रहती है। ठीक इसी प्रकार 'भावात्मक अहं' संग्रह करके त्याग तक पहुँचता हुआ एक ही बना रहता है और अन्त में अपने लिए सबको बिखेर कर स्वत्व का विनाश कर देता है।

अध्यात्मवाद और ऐकान्तिक प्रवृत्तिः—'स्व' की इस अनुभूति के साथ ही मानव-मन की गति संग्रह करते हुए जब भीतर की ओर मुड़ जाती है और केवल अपनी ही ओर देखने लगती है तब उसे अपनी वर्तमान स्थिति से संतोष नहीं रहता है। 'स्व' की सतत् जागरूकता उसके उद्वेग का कारण बनने लगती है। इस उद्वेग की शान्ति के लिए उसका मन दो दिशाओं में दौड़ता है। पहिली दिशा में पहुँच कर वह अपने अभाव को बाहर से पूरा करना चाहता है और दूसरी दिशा में पहुँच कर वह अभाव की अभावात्मकता को मिटा देना चाहता है। हम ऊपर बाहर से अभाव को पूर्ण करने की भावना का थोड़ा विवेचन कर चुके हैं। यहाँ हम उस दूसरी वृत्ति का विवेचन करेंगे जो अभाव की अभावात्मकता मिटाने से सम्बन्ध रखती है।

अभाव क्या है? अनुभव में उपस्थित वस्तु पर स्वाधिकार से वंचित होना ही अभाव कहलाता है। अमेरिका में उत्पन्न होने वाले फलों का अभाव हमारे अनुभव में नहीं आता। परन्तु यदि भारत में आषाढ़ मास में पके आम खाने को न मिलें तो हम अभाव का अनुभव करते हैं। अतएव उस अभाव की अभावात्मकता मिटाने का साधन केवल यही है कि उपभोग एवं स्वाधिकार की भावना का ही उदय न हो, अथवा हमारे अनुभव ही विलीन हो जायँ। इसी के लिए कबीर ने कहा है:—

> "चाह मिटी चिन्ता गई, मनुवाँ बेपरवाह।
> जिसको कछू न चाहिए, सोई शाहंशाह॥"

परन्तु 'कछू न चाहिए' की स्थिति किस प्रकार प्राप्त हो? इन चिन्ता में ही वह मन जब अधिक रम जाता है तब इतना अधिक ऐकान्तिक हो जाता है कि वह फिर जगत के काम का नहीं रहता। ऐसे व्यक्ति या तो वे अपने दीपक को ही बुझा देना चाहते हैं अथवा अपनी क्षीण दीप्ति को किसी परम दीप्ति में मिलाने के लिए उद्यत हो जाते हैं। दूसरी भावना के लिए उपनिषद कहती है:—

"यदल्पं तद् दुःखम्, यद्भूमा तत् सुखम् ।"

उपनिषद् में ही दूसरे स्थल पर यही भाव इस प्रकार कहा गया है:—

"तत्र को मोहः । कः शोकः । एकत्वमनुपश्यतः ।"

भक्ति और ऐकान्तिक प्रवृत्तिः—यह एकत्वानुभव की भावना व्यक्ति के लिए आत्यन्तिक हित और उसका चरम साध्य है। परन्तु जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, यह भावना अतिलौकिक भावना है। इसके द्वारा व्यक्ति का कल्याण तो हो सकता है, परन्तु जगत का नहीं। इस भावना के द्वारा भी मन की ऐकान्तिकता का विस्तार संभव है। 'भूमा' में विलय होने पर 'अहं तत्व' जिस भूमिका में पहुँच जाता है वह भूमिका काल-देश की परिधि से आबद्ध नहीं रहती। अतएव जो अपना होता है वह सबका हो जाता है। परन्तु होता क्या है। रत्नाकर कहते हैं:—

"जैहै बन बिगरि न बारिधता बारिधि की,
बूँदता बिलैहै बूँद बिबस बिचारी की ।"

इस स्थिति में हम समुद्र हो गये तो क्या हुआ, न तो हमें समुद्र होने का ही सुख प्राप्त हुआ और न हम किसी चींटी की ही प्यास बुझा सके। अतः हम तो यही कहेंगे —

"धनि रहीम जल पंक को, लघु जिय पियत अघाय।
उदधि बड़ाई कौनसी, जगत पियासो जाय ॥"

यह बात उन लोगों की है जिनकी मनोवृत्ति वस्तुतः ऐकान्तिक बन गई है। परन्तु जिनके "खल के मवास पै गुलाब उछर्यो करै" वे यदि इस भूमा का सुख चाहते हैं तो उन्हें अपने को धोखा देने की अपेक्षा और कुछ नहीं प्राप्त होता। इसीलिए इस पंथ के सम्बन्ध में "ज्ञान कै पंथ कृपान कै धारा" कहा जाता है। ऐसा नहीं है कि मन की यह ऐकान्तिक वृत्ति असंभव ही हो। सन्तों को इस स्थिति की प्राप्ति होती आई है। परन्तु इस स्थिति के प्राप्त होते ही वे जिस संसार में पहुँच गये हैं उस संसार के विषय में कहा गया है कि वह "यत्र वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" है। मन के साथ वाणी वहाँ पहुँचने का यत्न करके लौट आती है, अर्थात् यह स्थान वाणी का विषय नहीं हो सकता। संसार के किसी वाद के द्वारा उसका निर्वचन नहीं किया जा सकता, क्योंकि वाद बैखरी वाणी का विषय है जिसे वेद में कहा गया है—"तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ।" इस वाणी से ऊपर रहने वाली 'मध्यमा', 'पश्यन्ती' और 'परा' के लिए भी तो यही कहा गया है "यत्र वाचो निवर्तन्ते"।

रहस्यवाद और ऐकान्तिक प्रवृत्ति:—यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि जिस 'धाम' का हम ऊपर निर्देश कर आये हैं उसके सम्बन्ध में सन्तों ने जो कुछ कहा है उसका उद्देश्य किसी विशेष अनुभूति की व्यंजना करना नहीं रहा है, वरन् अपने शुद्ध रूप में जनता का मन इस ओर प्रवृत्त करना रहा है। इसीलिए हम उसे उस अनुभूति का शुद्ध वर्णन नहीं कह सकते, वरन् केवल जागतिक-अनुभूति-सादृश्य-द्वारा उसका आभास देना मात्र कहेंगे। आभास देना मात्र इसीलिए कहा जाता है कि उस सुख की अनिर्वचनीयता का गान सभी सन्तों की वाणी में प्राप्त होता है। सूर के "ज्यों गूँगे मीठे फल को रस अन्तरगत ही भावे" के भीतर भी हमें यही प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है और कबीर भी यही कहता है:—

"अकथ कहानी प्रेम की कछू कही न जाई,
गूँगे केरि सरकरा बैठे मुसकाई ॥"

विश्व-बन्धुत्व और ऐकान्तिक प्रवृत्ति:—जैसा हम ऊपर कह चुके हैं कि मन की ऐकान्तिक प्रवृत्ति की दूसरी गति त्याग की ओर जाती है। यहाँ त्याग का अर्थ व्यापक रूप में लिया गया है। त्याग का यह अर्थ नहीं लिया गया कि ऐसा व्यक्ति स्वार्थ को देखता ही नहीं है। परन्तु त्याग से यह भाव समझना चाहिए कि ऐसा मन 'स्व' को देखने के साथ ही 'पर' को भी देखता है। होता यह है कि 'स्व' की परिधि का विस्तार हो जाता है। उसका 'स्व-पर-सम्बन्ध' इतना घनिष्ठ हो जाता है कि उसे 'पर' में स्वत्व का अनुभव होने लगता है और 'स्व' में परत्व का। अन्यथा दिलीप को गाय की रक्षा करते हुए अपना मांस सिंह की भेंट करने में इतनी सरलता न हुई होती। त्याग को इस अर्थ में ग्रहण करने से पहिले बहिर्मुखी वृत्ति के साथ तुलना करके उसे अलग कर लेना आवश्यक है, क्योंकि बहिर्मुख प्रवृत्त मन भी दूसरों की ही ओर देखता है और त्याग-निरत ऐकान्तिक मन भी दूसरों की ही ओर। दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि बहिर्मुख-प्रवृत्ति-निरत मन जैसे भी सम्भव हो 'पर' में स्वत्व स्थापित करने का यत्न करता है और पर के परत्व का अनुभव करते हुए भी उसे स्वाधिकार में रखने की उचितानुचित चिन्ता अथवा चेष्टा में रत रहता है। वह 'स्व' में 'परत्व' की भावना के पास भी नहीं जाता। परन्तु ऐकान्तिक मन 'स्व' में 'परत्व' की भावना पहिले देखता है और तदनुकूल उसका आचरण भी स्वहिताय से पूर्व परहिताय होता है। ऐकान्तिक त्याग-निरत मन का क्षेत्र भी मनोवैज्ञानिक क्रम के साथ विकसित होता रहता है। हम ऊपर स्थायी-भाव (Sentiments) का वर्णन कर चुके हैं। यही स्थायी-भाव (Senti-

ments) जब इस दिशा में बनने लगते हैं तब उनकी सीमा भिन्न परिस्थिति, काल और देश के अनुसार संकीर्ण तथा विस्तीर्ण होती रहती है।

इस प्रवृत्ति का विकास भी किशोरावस्था से ही प्रारम्भ होता है और उसका क्षेत्र भी घर की सीमाओं से क्रमशः बढ़ता हुआ कालान्तर में भूमंडल तक फैल जाता है। ऐसा नहीं है कि मानव-मन का यह विस्तार सबको सुलभ होता ही हो, वस्तुतः होता यह है कि मौलिक प्रवृत्ति एक बार सबको इस ओर खींचती है। जो परिस्थितियों आदि से सहायता पाकर जितना ही आगे बढ़ पाता है उसके मन का उतना ही अधिक विस्तार हो जाता है। मन की इस प्रवृत्ति का जहाँ विस्तार हो गया है वहाँ "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना मानवता का आदर्श बनती है और जहाँ वह संकीर्ण होती है वहाँ "आत्मानं सततं रक्षेत दारैरपि धनैरपि" के अनुसार वह 'स्व' में ही निबद्ध होकर रह जाता है। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक दृष्टि में जीवन का उत्थान और पतन विभिन्न परिस्थिति-प्रसूत-प्रवृत्ति का परिणाम होता है। यही कारण है कि बटमार वाल्मीकि रामायण जैसा सत् काव्य भारतीय साहित्य को दे सके।

इस प्रकार हम देखते है कि मनुष्य के समस्त कृतित्व का मूल कारण उसके मन में ही उपस्थित है, और यह मन ही जिन दिशाओं में जाता है उन दिशाओं से अनुभूतियाँ एकत्र करके अपने संस्कारों का निर्माण करता है। जहाँ जैसे संस्कार बलवान हो उठते हैं वहाँ उसका कृतित्व उसी रूप में व्यक्त होता है और इसी से विभिन्न विचार-सरणियों, आचारों और आदर्शों का निर्माण हुआ करता है। अतएव साहित्य के विविध वादों का मूल मानव-प्रवृत्तियाँ ही हैं।

मानव प्रवृत्तियों के निर्माण

की

वैज्ञानिक पृष्ठभूमि

मानव प्रवृत्तियों के निर्माण की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि

भारतीय दार्शनिकों ने आत्मतत्व की व्याख्या करते हुए मन को केवल एक इन्द्रिय माना है, परन्तु मन की परिभाषा करते हुए उसे दस इन्द्रियों से पृथक अणु और विभु स्वीकार किया है।[1] ऐसा उसे इस प्रयोजन से कहा है कि मानव की समस्त अनुभूतियों की, जो मन के द्वारा उसे प्राप्त होती हैं, व्याख्या की जा सके। जैसे जिस समय मनुष्य एक काम में व्यस्त होता है, उसे दूसरे काम की सुध नहीं रहती। इससे मन का एकत्व और अणुत्व सिद्ध होता है। यदि वह अनेक होता तो एक साथ ही अनेक काम कर सकता और यदि वह महान होता तो अनेक ज्ञानेन्द्रियों को एक साथ चला सकता तथा उनके युगपत् संचित अनुभवों को एक साथ ग्रहण भी कर सकता। विभु कहने का प्रयोजन यह है कि उसकी संचय शक्ति अत्यन्त बलवान है और वह अपने व्यापक रूप में अशेष ज्ञान-राशि का स्वामी है तथा समस्त इन्द्रियों पर नियंत्रण करता है। हम भारतीय दृष्टिकोण से मन की प्रवृत्तियों की व्याख्या करने से पूर्व चेतना के विकास-क्रम पर आधुनिक वैज्ञानिक ढंग से विचार कर लेना चाहते है।

पश्चिमीय दृष्टिकोण:—आधुनिक विज्ञान चेतना के विकास को जीवात्मा से संबद्ध नहीं मानता। उसका जीव शरीर संगठन (Organism) का परिणाम है, यद्यपि अभी तक इस आर्गेनिज़्म की पूर्ण वैज्ञानिक व्याख्या नहीं हो सकी है और कोष (Cell) में रहने वाला 'प्रोटोप्लाज़्म (Protoplasm) अभी तक रहस्य ही बना हुआ है। न्यूक्लियस का सिद्धान्त भी अभी इस 'प्रोटो-प्लाज़्म' की व्याख्या नहीं कर सका। फिर भी वैज्ञानिक जड़वाद से चिपके हुए हैं और चेतन सत्ता की स्वतन्त्रता स्वीकार नहीं करते।

कुछ भी हो, चेतन चाहे स्वतंत्र हो अथवा विकास-क्रम से प्राप्त, पर चेतना नाम की वस्तु सभी वैज्ञानिक स्वीकार करते है। मनुष्य तक पहुँचने में इस

१—"एकोऽणुः विभुरनित्यं च।"

चेतना को न जाने कितने शरीरों में रह कर अपना विकास करना पड़ा है। 'द्विअणुक" प्राणी से क्रमशः बढ़ते हुए बन्दरों के पूर्वज जब दो भागों में विभक्त हो गए तब एक से मनुष्य का विकास हुआ और दूसरे से वनमानुषों का। इस प्रगति में इस चेतना को न जाने कितनी अनुभूतियाँ प्राप्त हुईं और ये अनुभूतियाँ एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी के पास पहुंच गईं। चेतना का यह विकास व्यक्तिगत नहीं था। सम्पूर्ण जाति की जाति विकसित होती रही और एक पीढ़ी के संस्कार दूसरी पीढ़ी में पहुँचते रहे। इस प्रकार शरीर विकास-क्रम के अनुसार ही उसके मानसिक विकास-क्रम में भी अनेक योनियों की अनुभूतियों का सम्मिश्रण है।

भारतीय दृष्टिकोण:—पश्चिमके वैज्ञानिकों की यह व्याख्या सर्वमान्य नहीं है। अनेक पश्चिमीय वैज्ञानिकों ने ही इसका खंडन किया है। भारतीयों के लिए इस में एक बात अत्यन्त उपयोगी है। भारत का दार्शनिक विकासवाद के इस रूप को नहीं मानता है। परन्तु वह एक दूसरे प्रकार का विकास मानता है जिसमें आंतरिक जीवन की एक संतति रहती है। वह यह नहीं मानता कि मनुष्य समाज के पूर्वज बन्दर थे, परन्तु वह यह अवश्य मानता है कि प्रत्येक मनुष्य सम्भवतः बन्दर भी रहा होगा। चौरासी लाख योनियों में यात्रा पूरी हो चुकने पर ही मनुष्य-शरीर प्राप्त हुआ। इस प्रकार भारतीय दृष्टिकोण पाश्चात्य वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इस अर्थ में समानता रखता है कि मनुष्य में निम्न योनियों के संस्कारों की उपस्थिति भी संभव है।

इन समस्त संस्कारों से संपन्न बालक जन्म लेकर नई बातें सीखने के लिए ही नहीं आता, वरन् अपने पूर्व संस्कारों के आधार पर जगत को अपने अनुकूल बनाने के लिए भी आता है। संसार में उसके कृतित्व के परिचालक निश्चय ही उसके ये पूर्व जन्मजात संस्कार ही हैं। भारतीय दार्शनिक व्यक्ति के निर्माण में चार प्रकार के गुणों का संचय मानते हैं:

"गर्भस्य चत्वारि चतुर्विधानि भूतानि माता पितृ संभवानि।
आहारजान्यात्मकृतानि चैव, सर्वस्य सर्वाणि भवन्ति देहे॥ 'चरक'

अर्थात् उसके शरीर और मानस-निर्माण में कुछ बातें उसे माता से प्राप्त होती हैं, कुछ पिता से, कुछ आहार के द्वारा और कुछ पूर्वजन्म के अपने कर्मों के द्वारा प्राप्त होती हैं। पाश्चात्य वैज्ञानिक केवल वंशानुगत (Hereditary) और वातावरणात्मक (Environmental) में ही मनुष्य का विकास मानते हैं। आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता यदि और स्वीकार कर ली जाय तो भारतीय और पश्चिमीय मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण लगभग एक-सा हो सकता

है। मातृज और पितृज गुण वंशानुगत (Hereditary) में आ जायँगे। आहारजगुण परिस्थितिजन्य अथवा वातावरणजन्य होंगे।

पश्चिम के जिन मनोवैज्ञानिकों ने मन पर विचार किया है उनमें से प्रकृतिवादी (Naturalist) मनोवैज्ञानिकों ने मन को कोरापट्टा (Tabula-rasa) माना है। उनका मत है कि वंशानुगत जीवन के आवश्यकता सम्बन्धी संस्कारों को छोड़ कर बालक के मन में और कुछ नहीं होता है। वह इसी संसार में ही परिस्थितियों के सहारे सब कुछ सीखता है। भारतीय दृष्टिकोण इससे भिन्न है। वह आत्मा को अशेष ज्ञान का भंडार मानता है जिस पर मलविक्षेप और आवरण के परदे पड़े हुए हैं। मानव और उसकी परिस्थितियों का कृतित्व केवल इतना ही है कि वे परदे हटा दिये जायँ। जो आत्मा जितना ही इन परदों को हटाने में समर्थ होता है उतना ही उसका भीतर भरा हुआ भांडार प्रकाश में आ जाता है। इन परदों को सम्पूर्णतः हटा देना ही मानव-जीवन का चरम पुरुषार्थ है जिससे उसका क्षुद्र अंश विराट से मिल कर विराट हो जाय।

मानव की प्रकृत-प्रवृत्तियाँ

पाश्चात्य दृष्टिकोण:—कुछ भी हो, पाश्चात्य और प्राच्य दोनों ही वैज्ञानिक इस विषय पर एक मत हैं कि बालक में ज्ञान प्रकाशित नहीं होता, परिस्थितियाँ ही उसके प्रकाश में सहायक होती हैं। स्थिति इस प्रकार है कि अर्भक अवस्था में केवल चेतना रहती है। नग्निका अवस्था में उसमें 'स्व-पर-बोध' प्रारम्भ होता है और वह अपने-पराये को पहचानने लगता है। इस अवस्था में वंशानुगत संस्कार जागने लगते हैं और कुछ उसके आत्मज संस्कार भी कार्य करने लगते हैं। इन संस्कारों की प्रेरणा बालकों की कुछ जन्मजात प्रवृत्तियों में देखी जाती है जो उसके समस्त कृतित्व की नियामिका रहती हैं। मनोवैज्ञानिक इन प्रवृत्तियों को प्रकृत-प्रवृत्तियाँ कहता है। इसका तात्पर्य यह है कि ये प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जिनके लिए शिक्षा, अभ्यास अथवा बाह्य प्रेरणा की आवश्यकता नहीं होती है। वे बालकों में अपने आप उत्पन्न होती हैं और उन्हीं के आधार पर बालकों की शिक्षा तथा मनोगति का निर्माण होता है। हमारा काम केवल यह है कि हम उन प्रवृत्तियों से काम लेकर बालक के मन को विशेष दिशा में प्रवृत्त कर दें।

बालक ही नहीं, बहुधा प्रौढ़ अवस्था तक ये प्रवृत्तियाँ बराबर काम करती रहती हैं। उनके समस्त सहज व्यापारों का विश्लेषण करते हुए हम देखते

हैं कि उसके कुछ काम दूसरों के अनुकरण होते हैं, कुछ सहानुभूति-प्रदर्शन के लिए, कुछ संकेतितार्थ-पूर्ति के लिए तथा अन्य शुद्ध मनोरंजन की भावना से होते हैं। स्वाभाविक रूप से ऐसे होने वाले कार्यों का विवेचन करके मनोवैज्ञानिकों ने इन प्रवृत्तियों को चार भागों में विभक्त किया है जो इस प्रकार हैं:—

१—अनुकरण प्रवृत्ति (Tendency of Imitation)
२—सहानुभूति प्रवृत्ति (Tendency of Sympathy)
३—संकेतात्मक प्रवृत्ति (Tendency of Suggestion)
४—खेल की प्रवृत्ति (Tendency of Play)

यहाँ हम इस बात का विवेचन करेंगे कि साहित्य, समाज अथवा राजनीति के समस्त वाद इन्हीं प्रकृत प्रवृत्तियों के परिणाम हैं।

अनुकरण प्रवृत्तिः—संभवतः सबसे प्रथम 'स्व पर-बोध' होते ही अनुकरण की प्रवृत्ति काम करने लगती है। कुछ विद्वानों का तो यहाँ तक मत है कि यान्त्रिक शारीरिक क्रियाओं (Mechanical Actions) के अतिरिक्त उसके समस्त व्यापार अनुकरण से ही प्रारम्भ होते हैं। जैसे मनुष्य भाषा अनुकरण से ही सीखता है, धार्मिक और सामाजिक धारणाएँ अनुकरण का ही फल हैं, और अनेक वादों के विवाद अन्धानुकरण का ही परिणाम होते हैं।

प्रत्येक देश और प्रत्येक जाति की परिस्थितियाँ कभी एक-सी नहीं हो सकती। एक ही देश में, एक ही जाति में, एक ही समय में, अनेक स्थलों पर अनेक परिस्थितियाँ अनेक रूपों में दिखाई देती हैं। इतना होते हुए भी बहुदेश, बहुकाल और बहुमानव-व्यापिनी सांस्कृतिक अथवा राजनैतिक एकता बहुत कुछ अनुकरण का ही परिणाम होती है। ऐसा कभी नहीं होता कि जितने भी व्यक्ति किसी सिद्धान्त के अनुगामी हों, वे सब स्वयं विचार करके उस सिद्धान्त की उपादेयता को स्वीकार कर लें। क्या रूस में सभी साम्यवादी हैं अथवा अमेरिका में सब पूँजीवादी? पर व्यावहारिक दृष्टि से रूस को साम्यवादी और अमेरिका को पूँजीवादी माना जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वह अनुकरण वृत्ति ही है जिसके आधार पर किसी वाद का प्रचार होता है।

सहानुभूति प्रवृत्तिः—यह प्रवृत्ति बालक-वृद्ध सभी में अपना प्रभाव व्यक्त करती है। भावुकता इसी सहानुभूति का परिणाम है। रसानुभूति इसी सहानुभूति के रूप में उपस्थित प्रकृत प्रवृत्ति के द्वारा होती है। अनेक वादों के प्रचार में सहानुभूति सहायक होती है। कवि की अनुभूति से लेकर भावुक की श्रवणता तक सहानुभूति ही मूल प्रेरक शक्ति होती है।

संकेतात्मक प्रवृत्तिः—बालक प्रत्यक्ष या परोक्ष निर्देशों को ग्रहण करने में प्रवण होते हैं। यह प्रवणता इतनी द्रुतगामिनी होती है कि थोड़ी-सी प्रशंसा या निन्दा के द्वारा उनको किसी ओर ले जाया जा सकता है। बालकों की यह प्रवृत्ति वयःप्राप्त होने पर उतनी प्रवण नहीं रह जाती। परन्तु समुदाय के लिए इस भाव-प्रवणता में वैसी ही शक्ति बनी रहती है जैसी व्यक्तिगत रूप में पाई जाती है। सामुदायिक मनोवृत्ति (Mob Mentality) का अर्थ ही है कि संकेत (Suggestion) के द्वारा समुदाय को उत्तेजित करके किसी विशेष दिशा में दौड़ा दिया जाय। अनेक राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक अवसरों पर प्रचारकों ने इस प्रवृत्ति से लाभ उठाया है। ईसाइयों के क्रूसेड (Crusade), मुसलमानों का जिहाद इसी प्रकृत प्रवृत्ति के द्वारा कराये गये थे। सांकेतिकता (Suggestion) की शक्ति का अच्छा परिचय एन्टोनियो के व्याख्यान में मिलता है। आज तो एक वर्ग ही ऐसा बन गया है जो काव्य में सांकेतिकता (Suggestibility) को विशेष महत्व देता है।

खेल की प्रवृत्तिः—मनुष्य के बहुत से कार्यों के मूल में यह प्रवृत्ति रहती है। मनोवैज्ञानिकों ने खेल की भावना के उदय के निम्नलिखित कारण निश्चित किये हैं:—

१—अतिरिक्त शक्तिवाद (Excess Energy Theory)
२—जीवनार्थ सज्जीकरणवाद (Preparation for life Theory)
३—पूर्वावस्था गतिवाद या परागतिवाद (Atavistic Theory)
४—रेचनवाद (Catharsis Theory)
५—शिथिलीकरणवाद (Relaxation Theory)
६—स्पर्द्धावाद (Rivalry Theory)
७—प्रतिपूरण वाद (Compensation Theory)
८—प्राणिसम्बन्धी सिद्धान्त (Biological Theory)

१—अतिरिक्त शक्तिवादः—बालकों का विकास प्रौढ़ की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से होता है। अतएव उसका शक्ति-संचय आवश्यकता से अधिक हो जाता है। यह अधिक शक्ति किसी प्रकार बाहर निकलने का मार्ग ढूँढ़ती रहती है। बालक खेल में अपनी इसी शक्ति को संतुष्ट करता है। जहाँ यह बात बालक के लिए ठीक है वहाँ किशोर की मानसिक स्थिति के सम्बन्ध में भी यह वैसी ही ठीक है। किशोर अवस्था में भावुकता का वेग उसी प्रकार अधिक बलवान होता है जिस प्रकार शिशु के शरीर का विकास। इसीलिए किशोर का मन बहुत शीघ्र

कुण्ठित, उत्तेजित और द्रवित हो जाता है। यही वह स्थिति है जो बालक की भावुकता का निर्माण करती है और यदि यह शक्ति अधिक शक्तिशालिनी हुई तो अपने भविष्य जीवन में वही बालक भाव-प्रवण बन जाता है।

२—*जीवनार्थ सज्जीकरणवाद*:—बच्चों में ऐसे खेल अधिक देखे जाते हैं जो जीवन-व्यापार से सम्बन्ध रखते हैं। घरौंदा बनाना तथा गुड़ियों का ब्याह आदि इसी प्रकार के खेल हैं। इनके द्वारा मानों बच्चे अपने बाल्यजीवन में भविष्य जीवन की तैयारी करते हैं। किशोर अवस्था में यही भावना कल्पना का रूप धारण कर लेती है। आकाश के महल बनाना किशोर अवस्था से ही प्रारम्भ होता है। जिन बच्चों की यह भावना अधिक बलवान हो जाती है वे बच्चे कल्पना-प्रवण बन जाते हैं और उनका शेष जीवन एक ऐसे आदर्श की रचना में व्यतीत होता है जो उनकी कल्पना में बनता रहता है।

३—*पूर्वावस्था गतिवाद*:—मानव अनेक योनियों से संस्कार लेकर आया है अथवा आता है। इनमें कुछ संस्कार इतने अधिक बलवान होते हैं कि देहान्तर प्राप्ति पर भी वे मूर्च्छित नहीं होते। इन अमूर्च्छित संस्कारों का उदय उसके प्रारम्भिक खेलों में देखा जा सकता है। संभवतः उसकी आँखमिचौनी इसी प्रकार का संस्कार है। किशोरावस्था में यद्यपि ये संस्कार बहुत पीछे पड़ जाते हैं, परन्तु उपचेतना में बने रहने के कारण वे उसकी मानसिक ग्रन्थियों के निर्माण में सहायक होते रहते हैं।

४—*रेचनवाद*:—भाव-ग्रन्थियाँ हमारे एक जन्म की वस्तु नहीं हैं। एक ओर किसी व्यक्ति का मुँह देखते ही उसके प्रति घृणा या क्रोध का भाव और दूसरी ओर किसी दूसरे का नाम सुनते ही उसके प्रति श्रद्धा अथवा प्रेम की भावना स्वतः उदित नहीं होती, वरन् उनके मूल में कुछ मौलिक प्रवृत्तियाँ रहती हैं। ये मौलिक प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जिनको हम व्यक्त नहीं कर सकते, परन्तु उपचेतना में उपस्थित रहने के कारण वे उसकी मानसिक गति का नियंत्रण करती हैं। कभी-कभी ये वृत्तियाँ समाज के लिए अहितकर होती हैं। इसलिए उनका व्यक्त करना और भी कठिन हो जाता है। बालक अपनी इन वृत्तियों को अपने खेल में चरितार्थ करता है और प्रौढ़ अपनी ऐसी वृत्तियों को अपनी एकान्त चिन्ताओं में जब संतुष्ट नहीं कर पाता तब कवि बन कर संतुष्ट करता है। इसी लिए विजय-लिप्सा के इतने रूप हमें संसार के काव्य में दिखाई देते हैं। अपनी इसी भावना को तृप्त करने के लिए आज का कवि छाया के पीछे दौड़ रहा है। जो भावना क्रिया में व्यक्त होकर कुरूप और जुगुप्सित होती है, वही भावना कला में व्यक्त होकर

मधुर और सुन्दर प्रतीत होती है। अनेक व्यंग्य, अनेक परिहास, अनेक कटूक्तियाँ और वक्रोक्तियाँ यदि मुँह पर कह दी गई होती तो ऐसा घाव कर देती जो कभी न भरता। परन्तु साहित्य में व्यक्त होकर वे हमारे मन को खिला देती हैं। यथाः—

"घोड़ा गिर्‌यो घर बाहर ही, महराज कछू उठवावन पाऊँ।
ऐंड़ो परो बिच पैंड़ोई माँझ, चलै पग एक ना कैसे चलाऊँ॥
होय कहारन को जु पै आयसु, डोली चढ़ाय यहाँ तक लाऊँ।
जीन धरौं कि धरौं तुलसी, मुख देउँ लगाम कि राम कहाऊँ॥"

५—*शिथिलीकरणवाद*:—जीवन इतना संकुलित बन गया है कि दिन भर का उलझा हुआ मन प्रतिक्षण ऐसे उपाय ढूँढ़ा करता है जिनसे वह इस उलझाव से मुक्ति पा सके। विद्यार्थी ६ घण्टे की पढ़ाई समाप्त करके जब घर पहुँचता है तब पुस्तकें फेंक कर अपने साथियों के साथ खेलने में लग जाता है। इसका स्पष्ट कारण खिंचे हुए तार को ढीला कर देना है। प्रौढ़ावस्था में मनुष्य का मन इस ओर अधिक झुकता है और इस झुकाव के कारण उसकी वृत्ति में ढीलापन उत्पन्न हो जाता है। इस ढीलेपन में मनुष्य सरल-सुख-साधन सम्पादन में लगना चाहता है। ऐसी स्थिति में कभी वह बाह्य उपायों से आत्म-तृप्ति करता है और कभी वह सेनापति के शब्दों में कहने लगता हैः—

"महामोह फंदनि मैं जगत जगंदनि मैं,
दिन दुख-द्वंदनि में जात है विहाय कै।
सुख को न लेस है, कलेस भाँति भाँतिन को,
'सेनापति' याही ते कहत अकुलाय कै॥
आवै मन ऐसी घर-बार परिवार तजौं,
डारौं लोक-लाज कै समाज बिसराय कै।
वृंदावन कुंजन में, हरिजन पुंजन में,
बैठि रहौं काहू तरुवर तर जाय कै॥

मानव-जीवन की अधिकांशतः पलायनवादी वृत्ति का मूल इसी शिथिलीकरणवाद में है।

६—*स्पर्द्धावाद*:—अहंबोध के साथ ही अहंतत्व की महत्ता का बोध भी उत्पन्न हो जाता है। 'मैं हूँ' और मेरा सम्मान हो, यह सम्मान ऐसा ही बना रहे इसके लिए यत्न करने की प्रवृत्ति बहुत शीघ्र उत्पन्न हो जाती है। प्रत्येक बालक के मन के भीतर किसी न किसी रूप में अपने को दूसरे से अच्छा दिखाने की

प्रवृत्ति रहती है। प्रतियोगिता की भावना इसी प्रवृत्ति का परिणाम है। प्रौढ़ जीवन में यह प्रतियोगिता की भावना कुशलता-सम्पादन की ओर मन को दौड़ाया करती है और इसीलिए प्रत्येक मनुष्य अपने को अच्छे से अच्छे रूप में प्रकट करने की इच्छा किया करता है। ऐसे व्यक्ति कम मिलेंगे जिनमें कोई शक्ति हो और वे उसे अपने भीतर ही छिपाये रख सकें। साहित्य में भी इसका प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। जैसे सेहरा के सम्बन्ध में 'ग़ालिब' और 'ज़ौक' के ये पद:--

हम सखुन फ़हम हैं ग़ालिब के तरफ़दार नहीं।
देखें कहदे कोई इस सेहरे से बढ़कर सेहरा ॥—ग़ालिब

× × ×

जिसको दबाए सखुन हो ये सुना दो उसको।
देख इस तरह से कहते हैं सखुनवर सेहरा ॥—ज़ौक

इसी प्रकार अन्यत्र भी :—

अद्रेः शृङ्गं हरति पवनः किं स्विदित्युन्मुखीभि-
र्दृष्टोत्साहश्चकित चकितं मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः।
स्थानादस्मात् सरस निचुलादुत्पतोदङ्मुखः खं,
दिङ्नागानां पथि परिहरन् स्थूलहस्तावलेपान् ॥१४॥
—मेघदूत

इस पद में विशेष आवश्यकता से ही दिङ्नाग पंडित के गर्वनाश के लिए बादलों को प्रेरित कर दिया गया है।

सुख से पिया है रक्त तूने अरे प्रेमियों का,
वृद्धि से बसाकी बोल फूल के गया हो तू।
रह मन धोखे अब दधि के कपास खाके,
अधिक बिगार दई अपनी दशा को तू।
तब गति जानें क्या बनेगी हम प्रेमियों की,
हाय पड़ते ही भला अमृत भरा हो तू।
तुझ पर मेरी और हर्ष की सुकल्पनाएँ,
जीवित रहेंगी कहीं जीवित बचा जो तू॥
—रामदुलारे अवस्थी

इन साहित्यिक प्रतियोगिताओं के अतिरिक्त भी सैद्धान्तिक प्रतियोगिता के चिन्ह इसी के सुपरिणाम अथवा दुष्परिणाम हैं। आज कुछ आदर्शों को मिटाकर नवीन आदर्शों की स्थापना का प्रयत्न इसी प्रवृत्ति का फल है।

७—*प्रतिपूरणवाद:*—हम ऊपर कह चुके हैं कि जीवन की उलझनें कभी-कभी मनुष्य को भागने की ओर प्रवृत्त करती हैं। परन्तु ऐसा सदैव नहीं होता है। जीवन की सबसे बड़ी उलझन अभाव का अनुभव है। इस अनुभव से भागने का यत्न मनुष्य तब करता है जब वह यह देख लेता है कि इस अभाव की पूर्ति उसकी शक्ति से परे है। अपनी शक्ति की परीक्षा करने पर कभी-कभी उसे ऐसा साधन प्राप्त हो जाता है जो उसके भीतर ही उपस्थित होता है। अपने घर में बादशाह को गाली देने की प्रवृत्ति प्रतिपूरणवाद (Compensation Theory) का ही परिणाम है। सबल के अनाचार पर निर्बल की हाय और अभिशाप उसे संतोष देने वाले यदि न होते तो वह एकान्त में भाग कर भी अपनी इस मनोव्यथा से छुट्टी न पा सकता। अनेक प्रेमगाथाओं की रचना बाह्य तृप्ति के अभाव में आन्तरिक तृप्ति-साधन के कारण ही हुई है।

८—*प्राणिसम्बन्धी सिद्धान्त:*—शरीर की प्राथमिक आवश्यकताओं का परिणाम निश्चित है। विज्ञान के मतानुसार प्रारम्भिक मनुष्य असभ्य और वन्य था। उसकी प्रारम्भिक अवस्था में उसकी शारीरिक आवश्यकता भोजन, निवास-स्थान और मैथुन-सुख तक ही सीमित थी। ये आवश्यकताएँ उसकी प्रकृत आवश्यकताएँ है और इसलिए वे उसके जीवन का शाश्वत सत्य हैं। शरीर की यह भूख उसकी सभ्यता के साथ बढ़ती अवश्य गई और तत्काल प्राप्त भोजन से संतुष्ट न रहकर उसने कल के लिए संग्रह करना भी सीखा। पेड़ की डालों पर अथवा कन्दराओं में निवास करने की प्रवृत्ति का उसने त्याग करके प्रासाद-निर्माण करने की कल्पना ग्रहण की। वन्य-पशु जैसा भोग-सुख उसने पर्याप्त नहीं समझा और विवाह की पवित्रता की उसने कल्पना की। इतनी उन्नति होते हुए भी उसकी मौलिक आवश्यकताएँ सदैव वही रह हैं जो प्रारम्भिक काल में थीं। उसके कल्पित आदर्श काल और देश-भेद के साथ बनते रहे। "पुरातनता का यह निर्मोक सहन करती न प्रकृति पल एक" के भीतर कवि की वाणी इन्हीं मानव-निर्मित आदर्शों की प्राकृतिक भूख के सामने पराजित होता हुआ देखती है और उन प्राकृतिक आवश्यकताओं की विजय का संकेत करती है जो अनादि काल से मनुष्य के शरीर के साथ जुड़ी हुई है। शरीर की यह भूख न केवल उसके आदर्शों में

परिवर्तन करती है, वरन् यदि एक ओर अपनी गति रुद्ध पाती है तो उसे या तो प्रखर धारा के वेग से तोड़ फेंकती है अथवा स्वयं दूसरी ओर मुड़ पड़ती है, नवीन आदर्शों का निर्माण करती है। बालक के खेलों से लेकर वृद्धों के निरानन्द एकान्त सेवन तक यही शरीर की भूख काम करती हुई दिखाई देगी। लोगों ने इसी भूख के अनेक नाम रख लिये हैं। किसी ने उसे क्रीड़ा कहा है, किसी ने उसे प्रेम, किसी ने उसे क्रोध और किसी ने उसे करुणा। मनुष्य का समस्त कृतित्व इसी भूख की तृप्ति के लिए है और इसी भूख की शान्ति के लिए संसार में अनेक विचार-धाराएँ उमड़ी हैं और ठहर गई हैं।

भारतीय दृष्टिकोण:—यहाँ तक हमने पाश्चात्य विद्वानों के मतों का विवेचन किया। अब थोड़ा पूर्व के विद्वानों का मत भी विचारणीय है। भारतीयों का मनोवैज्ञानिक विवेचन सांख्य-दर्शन में जितना स्पष्ट है उतना सम्भवतः अन्यत्र नहीं। अतएव हम सबसे पहिले सांख्य-दर्शन के अनुसार ही मानवता के विकास का विवेचन करेंगे।

सांख्यकार अव्यक्त मूल प्रकृति से स्थावर-जंगम समस्त जगत की उत्पत्ति तथा इस प्रकृति से पृथक अविकारी पुरुष की सत्ता मानता है।[1] वह प्रकृति को नित्य, व्यापी, निरवयव इत्यादि मानता है और इससे विपरीत व्यक्त जगत को अनित्य, अव्यापी, सावयव इत्यादि कहता है।[2] पुरुष को त्रिगुणात्मक जगत से परे विवेकशील, असामान्य, चेतन, अप्रसवधर्मी और अविषय मानता है।[3] त्रिगुणात्मक अव्यक्त प्रकृति के ही परिणाम से व्यक्त जगत् की उत्पत्ति होती है। पुरुष केवल भोक्तृ-भाव से तथा कैवल्य-प्राप्ति के लिए इस

१—दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाण सिद्धत्वात्।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥४॥
सांख्यकारिका।

२—हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥१०॥
सांख्यकारिका।

३—त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥११॥
सांख्यकारिका।

प्रकृति का संग करता है।[१] पुरुष में केवल मध्यस्थभाव और द्रष्टात्वभाव होने के कारण ही कर्त्ता होते हुए भी वह अकर्त्ता ही बना रहता है और उसके समस्त कर्मों के कर्त्ता वे ही गुण (सत्व, रज, तम) बने रहते हैं। इस प्रकार कर्त्ता होते हुए भी वह उदासीन ही रहता है। प्रकृति के साथ उसका संयोग अंध-पंगु-न्याय का है।[२]

इस प्रकार पुरुष में अकर्तृत्व स्थापित हो जाने पर उसके समस्त कार्यों की प्रवृत्ति का कारण सांख्यकार अव्यक्त प्रकृति से उत्पन्न महत्तत्वं को मानता है। महत्तत्व का ही दूसरा नाम बुद्धि है। इस बुद्धि को हम केवल् चेतना मात्र कह सकते हैं। इस बुद्धि में 'स्व-पर' भेद नही रहता। केवल चेतना रहती है। यह अवस्था वही है जिसका वर्णन हम अर्भक-चेतना में कर चुके हैं। इस बुद्धि का विकार अहंकार माना जाता है। अहंकार के द्वारा ही अहंता का बोध बुद्धि को होता है। अहंकार तीन प्रकार का होता है—सात्विक, राजस और तामस। अध्यवसाय, बुद्धि, धर्म, ज्ञान, विराग और ऐश्वर्य सात्विक अहंकार है और इन धर्मों से प्रतिकूल तामस अहंकार कहलाता है।[३] राजस अहंकार को सांख्य दर्शन ने 'तेजस अहंकार' कहा है। सात्विक अहंकार से मन सहित दश इन्द्रियों का निर्माण होता है। पंचतत्व और तन्मात्राएँ तामस् अहंकार से

१—कारणमस्त्यव्यक्तं प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च।
परिणामवः सलिलवत्प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् ॥१६॥
सङ्घातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययाद्धिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥१७॥
सांख्यकारिका।

२—तस्माच्च विपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥१९॥
तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।
गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥२०॥
सांख्यकारिका।

३—प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥२२॥
अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्।
सात्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ॥२३॥
सांख्यकारिका।

उत्पन्न होती हैं।[1] मन को उभयात्मक इन्द्रिय कहा है। अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों के साथ भी उसका सम्पर्क है और कर्मेन्द्रियों के साथ भी।[2]

बुद्धि ही अहंकार और मन के संयोग से समस्त विषयों का अवगाहन करती है। इसी लिए समस्त इन्द्रियों के मुख्यकरण में बुद्धि, अहंकार और मन है।[3]

इस प्रकार सांख्य के अनुसार असंग पुरुष केवल मध्यस्थभाव से प्रकृति के साथ जुड़ा हुआ है। यह लँगड़ा है, अन्धी प्रकृति के कंधे पर चढ़ कर चलता है। चलने वाली प्रकृति ही है, पुरुष नहीं। प्रकृति जब सत्व-गुण प्रधान हो उठती है तब रजोगुण और तमोगुण दब जाते हैं। इस सत्वगुण-प्रधान प्रकृति के व्यापार अध्यवसाय, धर्म, ज्ञान, विराग और ऐश्वर्य हैं। ज्ञान को यदि हम व्यापक अर्थ में स्वीकार करें तो समस्त ज्ञान-राशि को हम इसी सत्वगुण बहुल सान्तःकरण बुद्धि का व्यापार मान सकते हैं। अब उसकी स्वयं मनोवृत्तियाँ जिनसे बालक में अपनी ज्ञान-राशि बढ़ाने तथा सम्पर्क में आने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, इसी सत्व-गुण प्रधान मूल प्रकृति का व्यापार माननी पड़ेंगी। यदि हम तर्क शास्त्र का आश्रय लें, तो भी सांख्यकार से सहमत हो सकते हैं। संसार के समस्त पदार्थ प्रकृति-जन्य हैं। तज्जन्य अनुभूति भी प्रकृति की होनी चाहिए। ईंट की चोट हवा को नहीं लग सकती। ईंट से मिट्टी के बने हुए शरीर में ही चोट पहुँचाई जा सकती है।

यदि सांख्य के मतानुसार चेतना का समस्त व्यापार महत्तत्व के रूप में व्यक्त होने वाली बुद्धि का ही व्यापार है तो मनुष्य की समस्त कृतियाँ उसके इसी बुद्धि-वैभव का परिणाम हैं। अतः समस्त व्यापार प्रकृति का ही है।

प्रकृति 'स्व' को चाहती है। अतएव वह अपनी कमी अपने ही से पूर्ण करना चाहती है। जिसे भूख लगती है वह भी प्रकृति ही है और जिससे भूख बुझती है वह भी प्रकृति ही है। प्रकृति की यह शक्ति ही प्रकृति के साथ मनुष्य का रागात्मक सम्बन्ध जोड़ती है और एक बार जब रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो गया तबः—

१—सात्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात्।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम्॥ सांख्यकारिका ॥२५॥

२—उभयात्मकमत्र मनः संकल्पकमिन्द्रियञ्च साधर्म्यात्।
गुणपरिणाम विशेषान्नानात्वं बाह्य भेदाश्च॥ सांख्यकारिका ॥२७॥

३—सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात्।
तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारिद्वाराणि शेषाणि॥ सांख्यकारिका ॥३५॥

लोलुप भ्रम गृह-पशु ज्यों जहँ तहँ सिर पद-त्रान बजै।
तदपि अधम विचरत तेहि मारग कबहुँ न मूढ़ लजै॥

की स्थिति हो जाती। मन की यही प्रवृत्ति मनुष्य को विशेष दिशा में उन्मुख कर देती है और इसी से भिन्न रुचियों का निर्माण होता है।

योग-मत:—योगदर्शन सांख्य से कुछ थोड़ा-सा आगे बढ़ता है। सांख्यकार जहाँ अहंतत्व का बोद्धा अहंकार को मानता है, वहाँ योगदर्शन अहंतत्व का बोद्धा आत्मा संपृक्त चित्त को मानता है। वह कहता है "एकमेव दर्शनम्, ख्यातिरेव दर्शनम्"। इसी प्रसंग में जागतिक भान के लिए वह आत्मा का चित्तवृत्ति के साथ सारूप्य होना स्वीकार करता है। जब तक आत्मा का 'स्व' रूप में अवस्थान नहीं होता तब तक वह वृत्तियों के साथ जुड़कर संसारी बना रहता है।[1] ये वृत्तियाँ पाँच हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। जगत में इसके समस्त व्यापार इन्हीं पाँचों वृत्तियों के सहारे हुआ करते हैं। प्रमाण के द्वारा वह सांसारिक वस्तुओं का निश्चय करता है, विपर्यय में मिथ्या ज्ञान होता है। वस्तु-शून्य शब्द ज्ञान के अनुसार होने वाली भावना विकल्प कहलाती है।[2] निद्रा और स्मृति की व्याख्या करना आवश्यक नहीं। ये वृत्तियाँ सुखद और दुखद दोनों प्रकार की होती हैं।[3]

इस प्रकार इन वृत्तियों से आवृत अथवा निरुद्ध होने पर चित्तवृत्ति की पाँच प्रकार की अवस्थाएँ होती हैं—क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। रजोगुण प्रधान होने पर चित्त की वृत्ति क्षिप्त होती है। उस समय कार्य में रति, उत्साह और चंचलता का वेग रहता है। तमोगुण प्रधान होने पर चित्त-वृत्ति मूढ़ बन जाती है। इसी का फल आलस्य, प्रमाद, निद्रा और मोह है। तमोगुण दब जाने से रजोगुण की मात्रा शेष रहती है। यदि उस समय सत्वगुण का जागरण हो जाय तो मन की वृत्तियाँ जागतिक सुखों से निवृत्त होकर आन्तरिक सुख की ओर प्रवृत्त होती हैं। चित्त की इसी वृत्ति के आधार पर मन

१—"वृत्तिसारूप्यमितरत्र"। समाधिपाद, ४था सूत्र

२-"शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः। समाधिपाद, ९ वाँ सूत्र

३—"वृत्तयः पंचतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाश्च।" समा०, ५वां सूत्र
"प्रमाण विपर्यय विकल्प निद्रा स्मृतयः।" समा०, ६वाँ सूत्र
"विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्। समा०, ८वाँ सूत्र

सत्य की ओर उन्मुख होता है। परन्तु रजोगुण के अल्प शेष रह जाने के कारण उसमें स्थिरता नहीं रह पाती। यह प्रवृत्ति ही अनेक मार्गों पर चलती हुई सत्य की खोज में व्याकुल-चंचल दिखाई देती है। यही चित्तवृत्ति की विक्षिप्त अवस्था है। उससे ऊँची चित्तवृत्ति की एकाग्र दशा है। उसमें पहुँचने पर रजोगुण भी शान्त हो जाता है और उसके साथ ही चंचलता भी जाती रहती है। सत्य स्वरूप का दर्शन इसी अवस्था में होता है। परन्तु भेद-प्रतीति शेष रहने के कारण यह दशा मुक्ति की अवस्था में भिन्न रहती है और इसीलिए इसको सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था कहा जाता है। संभवतः काव्य का आनन्द इसी कोटि का आनन्द है। इससे ऊँची निरुद्ध अवस्था है जिसमें पहुँचने पर सत्वगुण से भी सम्बन्ध छूट जाता है। और जिसको भगवान ने गीता में "निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन" कहा है, वह अवस्था प्राप्त हो जाती है। इसी को योगदर्शन में "तदाद्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' कहा है।

योग-दर्शन के अनुसार आत्मा के समस्त व्यापार प्रमाण और स्मृति के सहारे चलते हैं। स्मृति संस्कार-रूपा होती है। इन सस्कार के कारण विकल्प और विपर्यय उत्पन्न होते हैं और प्रमाण इन विकल्प और विपर्ययों में निश्चय करके एक ओर प्रवृत्त करता है। भेद में अभेद अथवा अभेद में भेद का आरोप विकल्प है जिसे सन्देह भी कहा जा सकता है। यथा, कोई व्यक्ति गरम तेल से जलने पर कहता है कि मैं तेल से जल गया। वह इस समय भूल जाता है कि तेल और गर्मी दो वस्तुएँ भिन्न-भिन्न हैं। तेल में जलाने की सामर्थ्य नहीं है, केवल गर्मी में ही जलाने की सामर्थ्य है। तेल ने उसे नहीं जलाया है। यह वृत्ति केवल व्यक्ति को ही धोखे में डालती हो, ऐसा नहीं है। अनेक विचारक इसी वृत्ति के कारण भ्रम में पड़ गये। समाज में आज जो अनेक दोष दिखाई देते हैं तो क्या समाज के मौलिक सिद्धान्तों में ही दोष है अथवा उन परिस्थितियों में जिनके कारण आज समाज दोषी दिखाई पड़ता है। इसका विचार किये बिना ही न जाने कितने 'वाद' संग्राम-भूमि में उतर रहे हैं और लोक-हितैषिता की आड़ में एक दूसरे का शिकार कर रहे हैं।

मिथ्याज्ञान का नाम विपर्यय है। तुलसी ने विपर्यय को ही इस जगत-रूप भ्रान्ति का कारण माना है:

"जागु जागु जीव जड़ जोहै जग-जामिनी।
देह-गेह-नेह जानु जैसे घन-दामिनी॥
सोवत सपने सहै संसृति-संताप, रे।
बूड्यो मृगवारि, खायो जेंवरी को साँप रे॥

कहैं बेद बुध तू तो बूझ मन माँहि रे।
दोष-दुःख सपने के जागे ही पै जाँहि रे ॥
तुलसी जागे तें जाइ ताप तिहुँ ताय रे।
राम नाम सुचि रुचि सहज सुभाय रे ॥—विनयपत्रिका

इस "देवरी के साँप" ने व्यक्तियों को ही नही खा लिया, वरन् राष्ट्र के राष्ट्र इस साँप के खाये हुए मृत्युशय्या पर पड़े तड़प रहे हैं। वे न केवल अपना दम तोड़ने के लिए हाथ-पैर पटक रहे हैं, वरन् राष्ट्र-प्रेम के नाम पर एक नवसंस्कृति की उद्घोषणा करते हुए दूसरों को कुचल देने का यत्न भी कर रहे हैं। वे भूल गये हैं कि एक रस-व्यापिनी मानवता अभेद-रूपा है। उसमें यह भेद उत्पन्न करके राष्ट्रवाद का नशा पैदा कर देना ऊँचे उठाने की अपेक्षा नीचे गिराने वाला है। उसने जो कुछ किया उसके उदाहरण के रूप में जापान-जर्मनी की पददलित जनता लोगों की आँखें खोलने के लिए उपस्थित हैं। परन्तु इस विपर्यय से उत्पन्न अन्धकार के कारण उन्हें सम्मुख उपस्थित विनाश का हेतु दिखाई नहीं देता।

प्रमाण-वृत्ति भी लौकिक ही है। जब तक वह एकाग्र अवस्था को नही पहुँचती—क्षिप्र, मूढ़ या विक्षिप्त ही रहती है। क्षिप्र अवस्था प्रमाण वृत्ति को सत की ओर उन्मुख नही होने देती। इसी लिए सत्य के भिन्न-भिन्न स्वरूप कल्पित किये जाते हैं और उनके पीछे मनुष्य दीवाना होकर लड़ने के लिए तैयार रहता है। कोई कहता है कि मार्क्स का साम्यवाद ही मानवता के उद्धार का साधन है, कोई उस साम्यवाद के सम्पूर्ण रूप में से एक अंश निकाल कर समाजवाद की घोषणा करता है, कोई प्रजातंत्र का ढिंढोरा पीटता है, कोई एकतंत्र शासन का गुण-गान करता है। इन सब वादों के मूल में योगदर्शन में कथित मनुष्य की प्रमाणवृत्ति ही है जो क्षिप्त, मूढ़ या विक्षिप्त अवस्था में विभिन्न मार्गों की ओर दौड़ा रही है।

वैशेषिकमतः—महर्षि कणाद ने भी मन की व्याख्या की है। वे कहते हैं कि आत्मा का मन के साथ संयोग, मन का इन्द्रियों से तथा इन्द्रियों का विषय से सम्बन्ध होने पर गुणादि का ज्ञान होता है।[1] मन का लक्षण करते हुए वैशेषिक दर्शनकार कहता है कि आत्मा का इन्द्रिय और विषय से सम्पर्क होने पर ज्ञान के भाव अथवा अभाव को व्यक्त करने का माध्यम

१—"आत्मसमवायादात्मगुणेषु।" अध्याय ६, आह्निक१, सूत्र १५,

मन है।[१] मन का इन्द्रियार्थ से सन्निकर्ष होने पर उसमें रागात्मक अथवा विरागात्मक वृत्तियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। रागात्मक वृत्तियों के उदय के कारण ही मनुष्य में इतिकर्तव्यता उत्पन्न होती है। इस रागात्मक वृत्ति का कारण बताते हुए शास्त्रकार कहता है कि सुख से राग उत्पन्न होता है।[२] वस्तु का इन्द्रिय के साथ सम्पर्क होने पर यदि अनुकूल वेदनीय अनुभूति उत्पन्न होती है तो मन का इन्द्रिय के साथ सुखात्मक संयोग होता है। इस सुखात्मक संयोग से वस्तु विषयक राग उत्पन्न होता है। इस राग से मन को तन्मयत्व की सिद्धि होती है।[३] तन्मयत्व का यह अर्थ है कि जिस समय पदार्थ विशेष की अनुभूति के साथ मन का रागात्मक सम्बन्ध हो जाता है उस समय मन उस अनुभूति में ऐसा लीन हो जाता है कि उसे तदितर विषयों की अनुभूति नहीं होती।

इस प्रकार वैशेषिक दर्शन के अनुसार भी समस्त जागतिक अनुभूतियों का आधार मन है। मन का वस्तु से रागात्मक सम्बन्ध ही उसकी समस्त प्रवृत्तियों का नियामक है। फिर मन तो मन ही ठहरा। जहाँ वह रम गया वहीं उसे तन्मयत्व की सिद्धि हो गई और वहीं उसके लिए सर्वसुन्दर, सर्वश्रेष्ठ और सब कुछ बन गया। अतएव वैशेषिक दर्शन के अनुसार संसार में उतने ही वाद हो सकते हैं जितने मन हों।

१—"आत्मेन्द्रियार्थ सन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम्"

२—"सुखाद्रागः।" अध्याय ६, आह्निक १, सूत्र १०,

३—"तन्मयत्वाच्च।" अध्याय ६, आह्निक १, सूत्र ११,

कला और साहित्य

कला और साहित्य

मानव की मनोवृत्तियों का विवेचन करते हुए हम उन कारणों की ओर संकेत कर चुके हैं जिनसे बाल्यावस्था से ही मनुष्य का भविष्य बनने लगता है। जिन व्यक्तियों की कोमल वृत्तियाँ अधिक शक्तिशालिनी बन जाती हैं उनका जीवन सहृदयता एवं द्रवणशीलता से ओतप्रोत रहता है। ऐसा भाव-प्रवण हृदय शान्त नहीं रह सकता। उसे एक हलकी-सी चोट चाहिए। उससे वह न केवल तिलमिला उठता है, वरन् कुछ ऐसी तान छेड़ता है कि जिस पर 'धरा मेरु' भी डोल जाते हैं। संसार की समस्त कलाओं का मूल यही कोमल मनोवृत्ति है।

कला और सौन्दर्य:—आज का वैज्ञानिक 'कला' शब्द का भी एक विशेष अर्थ ग्रहण करता है। उसकी दृष्टि में कला और सौन्दर्य लगभग पर्याय हो गये हैं। मनुष्य की कृति में सौन्दर्य का योग कला कहलाता है। सुन्दर की व्याख्या के सम्बन्ध में भी वैज्ञानिकों में बड़ा मतभेद है। हम यदि बालक की मनोभावना पर विचार करें और कलाकार की-सी तन्मयता के साथ मिट्टी का घरौंदा बनाते हुए उसे ध्यान से देखते रहें तो सौन्दर्य की परिभाषा हमारे समक्ष स्पष्ट हो सकती है। विशाल भवन के प्राङ्गण में टूटे-फूटे कंकड़ों के बने हुए इस घरौंदे का मूल्य हमारी दृष्टि में कुछ नहीं है, परन्तु वह बालक संभवतः काँच-फलक निर्मित विशाल अट्टालिका की ओर न देखकर, अपने उस घरौंदे को ही बार-बार चारों ओर से देखकर प्रसन्न होता है। भावावेश में झूमते हुए एक महान भावुक हृदय की भाँति ही बालक भी स्वनिर्मित घरौंदे को देख-देख कर अलोकसामान्य भावावेश में झूमने लगता है। ऐसा क्यों? प्रासाद के कृतित्व का सुख उस बालक का सुख नहीं है। अतएव उसका कलात्मक सौन्दर्य उस बालक को आकृष्ट नहीं कर सकता। घरौंदे के निर्माण में उसकी अहंता साकार हुई है। उस घरौंदे में वह अपने ही को मूर्तिमान देखता है। इसीलिए उसका घरौंदा उसके लिए प्रासाद से अधिक सुन्दर है। पाश्चात्य विद्वान अरस्तू ने भी इस अहंबोध की परिपूर्णता में सौन्दर्य का अनुभव किया

था। वह कहता है कि आत्मपरिपूर्णता और जागतिक तटस्थता के गुणों के कारण एकान्त चिन्तन जीवन की निर्मात्री कृतियों में अन्तःप्रविष्ट होकर प्रसन्नता का मुख्य हेतु बनता है। अहंता का थोड़ा-सा विवेचन ऊपर किया जा चुका है, अतएव यहाँ उसकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं। भारतीय दार्शनिक इस अहंता की कारणभूत चेतनसत्ता को एक और अव्यय मानता है। इसी का परिणाम यह होता है कि सायुज्य के द्वारा जब भिन्न प्रतीत होने वाली चेतना अभिन्न स्थिति प्राप्त करने लगती है तब जगत में कुरूप की सत्ता मिट जाती है। असुन्दर का सुन्दर में विलय हो जाता है और समस्त जगत में अपना ही कृतित्व एवं अपनी ही सत्ता मूर्तिमान होते हुए देख कर जिस सुख का आविर्भाव होता है, वही सौन्दर्य का सच्चा सुख है।

सौन्दर्य और पाश्चात्य दृष्टिः—भारतीय दार्शनिक की सौन्दर्य की यह परिभाषा अनेक प्रकारों में पश्चिम के विद्वानों द्वारा भी व्यक्त हुई है। यथा :

'सत्य, शिव और सुन्दर एक ही परमेश्वर की भिन्न दशाएँ हैं।'
—इमर्सन

'सत्य, शिव और सुन्दर परमेश्वर के गुण हैं।'
—बामगार्टन

'जब अनन्त परिमित हो जाता है तो उसे सुन्दर कहते हैं।'
—हर्बर्ट स्पेन्सर

इन परिभाषाओं में सत्य और शिव को भी सौन्दर्य के साथ सम्मिलित करके मानों परमेश्वर की परिभाषा की गई है। हमें सत्य और शिव की परिभाषा करनी है। सौन्दर्य का सत्य और शिव के साथ क्या सम्बन्ध है? यह प्रश्न भी विचारणीय है। किन्तु उस सम्बन्ध में विचार करने के पूर्व सुन्दर की परिभाषा का विवेचन करना आवश्यक है।

बालक की मनोवृत्ति का विश्लेषण करते हुए हमने जिस भावना की ओर संकेत किया था वह भावना अहंता की सम्पूर्ण चेतना से सम्बन्ध रखती है। उसमें प्रत्यक्ष, निर्णय और अनुमान कल्पना में विलीन होकर एकरस बन जाते हैं। यह एकरस कल्पना ही अहंता से तादात्म्य स्थापित करके वस्तु में सौन्दर्य की स्थापना करती है। परन्तु दृष्टि की इस बौद्धिक एकता पर पश्चिम

के दार्शनिकों ने उतना बल नहीं दिया। उन्होंने सौन्दर्य को निरपेक्ष दृष्टि से नहीं देखा। अतएव सौन्दर्य का विवेचन तुलनात्मक भावना से किया है। उनकी दृष्टि में विचार या इच्छा सौन्दर्य का निर्धारण करने वाली है। यथा :—

'सम्बन्धों का विचार ही सुन्दर है।'

—डिटरोट

'इन्द्रियगम्य उपकरणों द्वारा जब कोई विचार चमक उठता है तो वही सुन्दर हो जाता है।'

—वासंके

'जिससे आनन्द मिले वही सुन्दर है।' —बैबर

'जब इच्छा कोई आकार धारण कर लेती है तो उसी को सुन्दर कहते हैं।'

—शापेन हावर

'जब आत्मा किसी रूप या दशा में चमकने लगती है तो वही सुन्दर हो जाता है।'

—प्लाटिनस

इन समस्त परिभाषाओं में सौन्दर्य का आधार 'स्व' से जितना भिन्न है उतनी ही ये परिभाषाएँ भारतीय दार्शनिक दृष्टि से निर्मित सौन्दर्य की परिभाषा से भिन्न है। इन समस्त परिभाषाओं में किसी बाहरी आकार में इच्छा, विचार या आत्मा के परिणत होने को सौन्दर्य का आधार माना गया है। प्लेटो की परिभाषा में इन परिभाषाओं से अधिक विशेषता यह है कि प्लेटो की दृष्टि सापेक्ष स्थिति को छोड़ कर निरपेक्ष स्थिति की ओर संकेत करती है[1]। गुलाब का फूल और बबूल की भाड़ यदि तुलनात्मक दृष्टि से न देखी जाकर अलग-अलग देखी जा सके तो दोनों सुन्दर हैं। हम सापेक्ष दृष्टि से देखते हुए गुलाब को अधिक सुन्दर कह सकते हैं। परन्तु बबूल का असुन्दर कहने का हमें अधिकार नहीं।

यहाँ तक जितनी परिभाषाओं का हमने विवेचन किया है उन परिभाषाओं में विषयगत सौन्दर्य की अपेक्षा विषयीगत सौन्दर्य पर अधिक ध्यान दिया गया है। भारतीय दार्शनिक विषयगत सौन्दर्य को लगभग अस्वीकार करता है। पश्चिम के दार्शनिक विषय-विषयी दोनों में सौन्दर्य का आरोप करते आये हैं। अरस्तू ऐसा दार्शनिक है जिसने विषयगत सौन्दर्य की परिभाषा निश्चित की है।

१—"सम्पूर्ण प्रकृति निरपेक्ष रूप से सुन्दर है और निरपेक्ष सुन्दरता से ही संसार की वस्तुएँ सुन्दर हो जाती हैं।" —प्लेटो

वह कहता है, "जिन वस्तुओं में क्रम, सुडौलपन, सौष्ठव तथा अवयव संगति हो वे सुन्दर कहलाती है।" यह परिभाषा सम्पूर्णतः विषयगत है। विषयगत होते हुए भी क्रम, सुडौलपन आदि के परीक्षक चेतन का अध्याहार हो जाता है। इसलिए लौकिक दृष्टि से यही सुन्दर की वास्तविक परिभाषा है।

पश्चिम के कुछ कवियों ने भी सौन्दर्य की परिभाषा की है। परन्तु इन परिभाषाओं को समझने के लिए एक दूसरा परिभाषा-शास्त्र और आवश्यक है। अतएव हम केवल अपने पाठकों की तृप्ति के लिए इन परिभाषाओं को संकलित किये देते हैं :—

> 'सौन्दर्य केवल संदिग्ध और व्यर्थ की अच्छाई है, यह ऐसी चमकती हुई झलक है जो अकस्मात् फीकी पड़ जाती है, ऐसा फूल है जो मुकुलित होना आरम्भ करते ही मुरझा जाता है।'[1]
>
> —शेक्सपीयर

> 'अपने ही स्वाभाविक रंग का सारतत्व सौन्दर्य का प्राण है, मानव के विचार के आकार पर जितनी ही तेरी झलक पड़ती है, वह सब का सब सुन्दर है।'[2]
>
> —शैली

> 'सुन्दर ही सत्य है और सत्य ही सुन्दर है।'[3]
>
> —कीट्स

> 'सुन्दर, सत्य और शिव तीनों बहिन हैं।'[4]
>
> —टैनीसन

> 'सौन्दर्य के लिए बाह्य अलंकारों की आवश्यकता नहीं। अनलंकृत अवस्था में ही यह सर्वतः अलंकृत होता है।'[5]
>
> —एक फ्रेंच लेखक

---

1. Beauty is but a vain and doubtful good; a shining gloss that fadeth suddenly; flower that dies when it begins to bud.
2. Spirit of beauty, that dost consecrate with thine own hues all thou dost shine upon of human thought or form.........
3. Beauty is truth, truth is beauty.........
4. Beauty, good and Knowledge are three sisters.
5. Loveliness needs not the aid of foreign ornament, but is when unadorned, adorned the most.

सौन्दर्य की लौकिक परिभाषा:—हम लौकिक दृष्टि से सौन्दर्य की एक परिभापा नीचे देते हैं। हमारे अपने दृष्टिकोण से इससे अच्छी सौन्दर्य की परिभाषा नहीं हो सकती। माघ कहता है:—

दृष्टोऽपि शैलः सः मुहुर्मुरारेरपूर्ववद्विस्मयमाततान ।
क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः ॥

—शिशुपालवध

सुन्दर क्या है? रैवतक पर्वत सुन्दर है, क्योंकि यद्यपि भगवान ने उसे अनेक बार देखा था, फिर भी इस बार उन्हें उसने ऐसा आनन्द दिया जैसा पहिले प्राप्त नहीं हुआ था। तब सौन्दर्य की परिभाषा क्या हुई, जो रूप क्षण-क्षण नवीनता प्राप्त करता रहे, वही सौन्दर्य का रूप है।

इस परिभापा में विषय और विषयी दोनों का संतुलन किया गया है। प्रत्येक नई वस्तु के प्रति आबाल-वृद्ध का सहज आकर्षण होता है। कालान्तर में यह आकर्षण न्यून होता जाता है। मन की प्रवृत्ति का वस्तु के साथ संतुलन बिगड़ने पर दो ही स्थितियाँ होती हैं। जब मन का पल्ला भारी होता है तब वस्तु हलकी हो जाती है और हलकी होकर रुचि से उतरने लगती है तथा जब वस्तु का पल्ला भारी हो जाता है तब मन उसकी ओर खिंचने लगता है। इस संतुलन के अधिक बिगड़ने से ही घृणापरक कुरूपता अथवा उन्मादकारिणी सुन्दरता का बोध होता है। सुन्दर की परिभाषा यही है कि मन की वृत्ति का वस्तु से रागात्मक संतुलन हो।

सत्य, शिव और सुन्दर:—सत्य और शिव को सुन्दर के साथ घसीटना हमें उचित नहीं जान पड़ता। जिन विद्वानों का मत है कि सत्य ही सुन्दर है, अथवा सुन्दर ही शिव है, वे सत्य, शिव और सुन्दर से अतिलौकिक भावनाओं को ही यदि ग्रहण करते हैं तो हमारा उनसे मतभेद नहीं। परन्तु लोक-सत्य, लोक-सुन्दर और लोक-शिव तीनों में अवश्य अन्तर है। यहाँ लोक-सत्य, लोक-सुन्दर और लोक-शिव की परिभाषा कर लेनी आवश्यक है। लोक-सत्य जो जैसा है उसका वैसा ही रूप लोक-सत्य है। यह भावना, चाहे सापेक्ष दृष्टि रहे—चाहे निरपेक्ष, दोनों ही के लिए एक-सी होती है। जो नग्न है, वह नग्न है—द्रष्टा की दृष्टि में भी और अपनी दृष्टि में भी। यदि नग्न यह समझे कि मैं पट्टाभरण-भूषित परम रूपवान और जगत का आकर्षण-केन्द्र हूँ तो वह अपने को वैसा ही समझता रहे। उसका यह सत्य उसके लिए सुन्दर और शिव भले

ही हो, परन्तु जगत के आदर्श का पतन ऐसे ही सत्य से होता है। लोक दृष्टि से सुन्दर क्या है?

तुलसी कहते हैं:—

"कहहि काह कवि नीक जो जेहि भावइ।" —पार्वती मंगल

और बिहारी के शब्दों में:—

"समै समै सुन्दर सबै, रूप कुरूप न कोय।
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होय॥"

लोक-सुन्दर की इससे सुन्दर परिभाषा अन्य नहीं हो सकती। रूप भर कर आया हुआ बिदूषक रंगमंच पर अवश्य सुन्दर है, परन्तु वही विदूषक यदि उसी रूप में बाजार या अन्यत्र कहीं जाता है तो सुन्दर की अपेक्षा उसे भौंडा ही कहना ही ठीक होगा। साधारणतः मन की रुचि मिठाई पर है, परन्तु यदि उस मिठाई में कीड़े पड़ जायँ तो वह सुन्दर मिठाई और चाहे कुछ हो, 'शिव' नहीं हो सकती।

इसी प्रकार शिव क्या है? मानव-जीवन के शिव की परिभाषा भी सरल नहीं है। आमुष्मिक और ऐहिक हित भिन्न-भिन्न हैं। हिटलर ने नर-संहार सुन्दर या सत्य समझ कर नहीं किया। उसका लक्ष्य अपने राष्ट्र का शिव था। क्या इस शिव को इस लोक-सत्य और लोक-सुन्दर के साथ संयुक्त किया जा सकता है। लोक का शिव न केवल लोक-सत्य और लोक-सुन्दर से भिन्न है, वरन् पारलौकिक सुन्दर, सत्य और शिव से भी भिन्न है।

न केवल लोक के सत्य, शिव और सुन्दर में अन्तर है, वरन् पारलौकिक सत्य, शिव और सुन्दर में भी एक प्रकार से अन्तर है। यदि यह अन्तर न होता तो उस चरम सत्य की प्राप्ति के लिए इतने भिन्न मार्ग न उपस्थित होते। जिसने सत्य का दर्शन किया निश्चय ही उसका मार्ग भिन्न है, जिसने सौन्दर्य का दर्शन किया उसकी गति दूसरी ओर है, जिसे शिव का साक्षात्कार प्राप्त हुआ वह किसी दूसरी ओर चला। हो सकता है कि इन विभिन्न मार्गों पर चलने वाले सन्तों को इन साधनाओं में से एक की ही साधना से तीनों की प्राप्ति हो गई हो, परन्तु साधना-मार्ग में तीनों का अन्तर स्पष्ट है।

लोक-सौन्दर्य में और अलोक-सौन्दर्य में, जो शिवत्व का साधक है, भेद व्यक्त करने के लिए ही भगवती उपनिषद् कहती है:—

"अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषंसिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते॥१॥"

—कठोपनिषद्, द्वितीय वल्ली।

श्रेय कुछ और है, प्रेय कुछ और है। ये दोनों पुरुष को विभिन्न अर्थों में आसक्त करते रहते हैं। उनमें से जो श्रेय को ग्रहण करता है, उसका कल्याण होता है। परन्तु जो प्रेय का वरण करता है वह अपने चरम अर्थ से भ्रष्ट हो जाता है।

अर्थात् वस्तुतः सुन्दर वही है जो परमार्थ का साधक होने में सहायक हो। अन्यथा लोक-दृष्टि से सुन्दर वस्तु से असुन्दर और कुछ नहीं है।

इस प्रकार कला की परिभाषा में वस्तु के दो रूपों की सुन्दरता देखी जाती है। पहिली सुख-प्रदायिनी सुन्दरता (Pleasure value of a thing और दूसरी प्रभावशालिनी सुन्दरता (Influence value of a thing)। वस्तुतः आज के विद्वानों का मुख्य विवाद कला के इन्हीं दोनों रूपों से है। विशुद्ध कलावादी केवल सुखप्रदायिनी सुन्दरता पर विशेष ध्यान देते हैं और उपयोगितावादी प्रभावशालिनी सुन्दरता पर। भारतीय शास्त्रकार कला के विवेचन में सदैव दोनों के संतुलन का पक्षपाती रहा है। उसका काव्य यशकारक है, अर्थ प्राप्ति का साधन है, व्यवहारशास्त्र की शिक्षा देने वाला है, अकल्याण का नाशक है और उपदेशप्रद है। काव्य के सब कार्य हितैषी गुरुजन की भाँति नहीं होते, वरन् प्रियतमा के मधुर सम्भाषण की भाँति हृदय में रस घोलते हुए मनुष्य का हित साधन करते हैं।[1]

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कला का स्वरूप:—काव्यमीमांसाकार मनुष्य में दो प्रकार की प्रतिभाएँ मानता है। प्रथम भावयित्री प्रतिभा, द्वितीय कारयित्री प्रतिभा। मनुष्य की ये दोनों प्रतिभाएँ समान विकसित नहीं होती है। परन्तु एक प्रतिभा दूसरी प्रतिभा का अवलम्बन लिए बिना कभी आगे नहीं बढ़ती। उसका मूल कारण मानव की प्रकृति में निहित है। उत्सुकता की मौलिक प्रवृत्ति (Instinct of Curiosity) बालक में शैशव काल में ही उत्पन्न हो जाती है। यह प्रवृत्ति वस्तुओं के सम्बन्ध में बालक की जिज्ञासा उत्पन्न करती है। इस जिज्ञासा द्वारा ज्ञान-संग्रह होता रहता है। इस प्रकार होने वाले ज्ञान-संग्रह का रूप और परिणाम विभिन्न बालकों के मानसिक उपकरणों की विभिन्नता के कारण विभिन्न प्रकार का होता है। एक बालक नये खिलौने को उलट-पुलट कर देख कर ही संतुष्ट हो जाता है, परन्तु अन्य बालक जब तक

१—काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परिनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥२॥

काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास,

उसे तोड़ कर 'उसके भीतर क्या है' इसे देख नहीं लेता, तब तक संतुष्ट नहीं होता है। बालक की यही औत्सुक्य-प्रवृत्ति भावयित्री प्रतिभा का मूल है।

बालक में एक दूसरी मौलिक प्रवृत्ति है निर्माणकारिणी। उसे स्वनिर्मित खिलौनों में जितना आनन्द आता है उतना अन्य खिलौनों में नहीं। टूटे हुए खिलौनों के जोड़ने का प्रयत्न करना प्रत्येक बालक की प्रकृति है। गुड़ियाँ, ईंट और मिट्टी के घरौंदे, आदि सब इसी मनोवृत्ति की सूचक हैं। यही मनोवृत्ति निर्माणकारिणी कारयित्री प्रतिभा का मूल है। परिस्थितियाँ इसके विकास और नियंत्रण में भी बड़ी सहायिका होती हैं। किशोरावस्था में बालक की एक तीसरी शक्ति कल्पना (Imagination) को वेग प्राप्त होता है। कल्पना इन दोनों प्रतिभाओं की प्रेरिका है। कल्पना की सहायता से भावयित्री प्रतिमा वस्तु के सौन्दर्यांकन में प्रवृत्त होती रहती है और निर्माण में सौन्दर्यस्थापन का यत्न करती है। इस प्रकार यही भावयित्री, कारयित्री और कल्पना शक्तियाँ कला की जन्मदात्री मनोवृत्तियाँ है। जिन परिस्थितियों से शक्ति पाकर ये मौलिक प्रवृत्तियाँ सचेष्ट होती हैं, वे परिस्थितियाँ ही कलाकार की गति विशेष की नियामिका होती हैं। यही कारण था कि अकबर कविता का प्रेमी था और शाहजहाँ भवन-निर्माण का। कलाओं में तारतम्य की स्थिति भी इन्हीं मौलिक वृत्तियों की विकासमयी स्थिति की निर्देशिका होती है। नवयुवक की रचना में बाह्य सौन्दर्य का आधिक्य होता है तथा प्रौढ़ की रचना में अन्तर्बाह्य सौन्दर्य का संतुलन। वयस्क की आंतरिक सौन्दर्य बहुलता इसी स्थिति की परिचालिका है। संसार के विभिन्न विचार-मार्गों का निर्धारण करने वाली यही तीनों शक्तियाँ अपने सम्मिलित रूप में होती हैं।

यहाँ हमें कला की विभिन्न परिभाषाओं पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। पाश्चात्य विद्वानों ने कला की परिभाषा करते हुए मौलिक वृत्तियों को भले ही ध्यान में न रखा हो, परन्तु उनकी समस्त परिभाषाएँ मौलिक वृत्तियों की स्पष्ट व्यंजना का परिणाम हैं। हम पहिले कह आये हैं कि अनुकरण बालक की मौलिक मनोवृत्ति है। बालक ही नहीं, अपितु अधिकांश मनुष्यों के व्यापार भी इसी अनुकृति के सहारे हुआ करते हैं। कोई कलात्मक रचना इस मौलिक वृत्ति का सर्वथा तिरस्कार नहीं कर सकती। इसीलिए अरस्तू कला को अनुकृति मानता है। वह कहता है—'स्वभाव अथवा कला के माध्यम से मनुष्य विभिन्न वस्तुओं का अनुकरण करता है। कुछ कलाकार रंगों और मूर्तियों के द्वारा अनुकरण करते हैं तथा अन्य शब्दों के द्वारा। अतएव शब्दों के द्वारा अनुकृत कला में छंद, शब्द और संगीतमयता रहती है। इन्हीं विभिन्न साधनों से पृथक्-पृथक्

इक-एक के द्वारा वे अपनी अनुकृति को प्रकट करते हैं।'[1] होगेल कहता है—'प्राकृतिक सौन्दर्य ईश्वरीय सौन्दर्य का आभास है, कला उसी आभास की पुनरावृत्ति है।"

अनुकृति का अर्थ है—दृश्यमान जगत का मानव उपकरण द्वारा व्यक्तीकरण। गुलाब का पुष्प अपने समस्त सौन्दर्य के साथ मानव-हृदय को तृप्त करता है। उसके सौन्दर्य और उसकी सुरभि से आकृष्ट मन उसे स्थायी रखने का प्रयत्न करना चाहता है। प्रकृति के कठोर आघातों से उसकी रक्षा कर सकना मनुष्य की शक्ति में नहीं। अतएव मनुष्य रंग और तूलिका के सहारे उसके रूप को अमर बना देना चाहता है और अपनी वाणी द्वारा उसकी सुरभि को। मनुष्य के इसी कृतित्व का नाम अनुकरण है। वर्ड्सवर्थ अपने एकान्त में कुसुमित उद्यान के जिस चित्र का दर्शन चाहता है वह उसकी अनुकृति-रूपिणी मौलिक वृत्ति का ही परिणाम है:—

For oft, when on my couch I lie
In vacant or in pensive mood,
They flash upon that inward eye
which is the bliss of a solitude;
And then my heart with pleasure fills
And dances with the daffodils.

और इसी प्रकार

"वृष को तरनि-तेज सहसौ किरन करि,
ज्वालन के जाल विकराल बरसत हैं।
तचति धरनि, जग जरत झरनि, सीरी,
छाँह को पकरि पंथी पंछी विरमत हैं॥
'सेनापति' नैकु दुपहरी के ढरत होत,
धमका विषम, ज्यों न पात खरकत है।
मेरे जान पौनौ सीरी ठौर को पकरि कौनौं,
घरी एक बैठि कहूँ घामै बितवत है॥११॥"

—कवित्त रत्नाकर, तीसरी तरंग

---

1. For as men, some through art and some through habit, imitate various objects by means of colour and figure, and others, again, by voice; so, with respect to the arts above-mentioned rhythm, words, and melody are the different means by which, either singly or variously combind, they all produce their imitations.

—Aristotle's Poetics
(Every man's library, Page 5).

इन छंदों में क्या है? केवल शुद्ध प्रकृति का अनुकरण। शुद्ध अनुकृति ने ही इन छंदों को अमर जीवन दिया है। कवि की वाणी जहाँ कहीं भी अपनी अनुभूतियों का शुद्ध अनुकरण कर सकी है, वहाँ न केवल उसकी कृति अमर हो गई है, वरन् उसने अपने वर्ण्य विषय को भी शाश्वत जीवन प्रदान किया है। भावों की अनुभूति इसी प्रकार सर्वत्र हुई है। हाफिज कहता है:—

"जाहिदे जाहिर परस्त अज हाले मा आगाह नेस्त।
दर हक्के मा हर चे गोयद जाए हेच अकराह नेस्त॥"

[उपासक जो बाह्य आचार का अनुगामी है, मेरी आंतरिक स्थिति को नहीं जानता। अतएव मेरे सम्बन्ध में वह जो चाहे कहे, मुझे उसकी निन्दा स्पर्श नहीं करती है।]

सच है, विधि-निषेध-परक बाह्य आचार प्रेम-मार्ग के अनुकूल नहीं है। यहाँ तो 'नेम कहा जब प्रेम कियो' का भाव चलता है। इस नियम-विहीन लोक-मर्यादा-बाह्य प्रेमी की निन्दा यदि न हो तो लोक-सत्य की रक्षा कैसे हो! यदि उस लोक-निन्दा को प्रेमी निन्दा समझ कर स्वीकार करे तो वह सच्चा प्रेमी कैसे हो सकता है? और यदि कवि की वाणी इस लोक-सत्य और प्रेम-सत्य की अनुकृति न करे तो कवि-सत्य कैसे संभव हो?

प्रसिद्ध कला शास्त्री क्रोचे मानसिक अभिव्यक्ति को कला मानता है। एक दूसरा विवेचक रेखाओं, रंगों, गतियों, ध्वनियों और शब्दों में मनुष्य के मनोगत भावों की अभिव्यक्ति को कला बताता है। इन परिभाषाओं के मूल में आत्मप्रकाशन [Self Assertion] की मनोवृत्ति कार्य करती है। उक्त दोनों परिभाषाओं में प्रारम्भिक परिभाषाओं से विशेष अन्तर नहीं है। तथ्य यह है कि प्रारम्भिक दोनों परिभाषाएँ मानसिक भावनाओं के उद्गम की ओर संकेत करती हैं। ये दोनों परिभाषाएँ अभिव्यक्ति पर बल देती हैं। संस्कृत का एक परिहास पद्य है:

घटं भिन्द्यात् पटं छिन्द्यात् प्रकुर्यात् गर्दभध्वनिम्।
येन केन प्रकारेण प्रकाशः क्रियते मया॥

[मुझे अपने को प्रकाशित करना है, फिर चाहे घड़ा फोड़ डालूँ, कपड़े फाड़ डालूँ या गधे की-सी ध्वनि करूँ, किसी न किसी प्रकार प्रकाश होना ही चाहिए।]

यदि स्वानुभूति की व्यंजना का यह अर्थ हो तो ऐसी व्यंजना और चाहे कुछ हो, कविता नहीं हो सकती। आत्मानुभूति की व्यंजना कविता या कला

तभी बन सकेगी जब लोक-सत्य और कलाकार के सत्य में अधिक से अधिक समरूपता हो अथवा दूसरे शब्दों में कला अनुकृतिमूलक हो।

उपनिषदों में जगत की उत्पत्ति के कारणों पर विचार करते हुए एक कारण यह भी कहा गया है कि वह विभु अपने को विराट स्वरूप में इसी लिए व्यक्त करता है कि वह स्वयं अपनी लीला देखना चाहता है। उसकी लीला उसके मानस की अनुकृति है और हमारी लीला हमारे मानस की। उसने अपने मानसिक सौन्दर्य की अनुकृति से जगत में सौन्दर्य की सृष्टि की है। उसका यह अभिव्यक्त सौन्दर्य किसी भी स्थिति में निष्प्रयोजन नहीं है। तब यह कैसे संभव है कि हम मानव-निर्मित सौन्दर्य को निष्प्रयोजन स्वीकार करें। यदि यह सौन्दर्य निष्प्रयोजन है तो कुछ विक्षिप्त मस्तिष्क भले ही उसके सौन्दर्य का राग अलापते रहें, विवेकशील व्यक्ति ऐसे सौन्दर्य को सुन्दर कहकर स्वीकार नहीं कर सकते।

कला का सुखात्मक मूल्य:—सौन्दर्यवादी व्यक्ति कला को शुद्ध अर्थात् उपयोगिता से असम्बद्ध प्रसन्नता या आनन्द का जनक मानते है। इनकी दृष्टि में भी कला का मूल्य तो कुछ है ही। वह कला के सुखात्मक मूल्य (Pleasure Value) को ही मानते हैं। पर वे भूल जाते हैं कि इस सुखात्मक मूल्य का भी कुछ और मूल्य है। एक चौबेजी किसी निमंत्रण में गये। जब वे बहुत अधिक खा गये तो किसी ने पाचन के लिए उनसे चूर्ण फाँकने को कहा। उन्होंने बड़े ही सरल भाव से कह दिया, 'अरे भाई यदि पेट में चूरन ही रखने का स्थान होता तो एक लड्डू और न खा लेता।' क्या सौन्दर्यबोध के पुजारियों की दृष्टि में ऐसी घटना कभी न आई होगी। उस निष्प्रयोजन आनन्द के उपभोक्ता हमें तो संसार में दिखाई नहीं दिये। संभव है, सौन्दर्य-बोध के उपासक कलावादियों को बिना भूख लड्डू खाने वाले मिल गये हों और उन्होंने कला को उपयोगिता-रहित आनन्द का साधन मान लिया हो।

इनसे तो अच्छे वे लोग है जो कला को फालतू शक्ति का व्यय मानते हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर आदि ऐसे ही व्यक्ति हैं। इन्होंने कला को अतिरिक्त शक्ति के अथवा फालतू उमंग के प्रसार और खेल को प्रवृत्ति का फल बतलाया है। जहाँ तक मनोविज्ञान का सम्बन्ध है, कला का कुछ अंश इस सिद्धांत द्वारा अवश्य अस्तित्व में आता है। केशव की रामचन्द्रिका विषयक कला उनके भीतर न समा सकने वाले पांडित्य का ही परिणाम है। इसी प्रकार सेनापति का श्लेष-वर्णन आत्म-प्रकाशन की भावना के साथ इसी फल्गु (फालतू) शक्ति और क्रीड़ा-प्रवृत्ति का परिणाम है।

कला द्वारा दमित वासनाओं का उन्नयन:—हम पहिले बालकों के रेचनवाद के सिद्धांत का वर्णन कर चुके हैं। साथ ही भाव-ग्रन्थियों के निर्माण का भी विवेचन हो चुका है। फ्रायड का मत है कि दमित वासनाओं का उन्नयन ही कला है। इस विवेचन के अनुसार कलाओं में दूषित मनोवृत्तियों का समुन्नयन होता है। ठीक भी है:

देखता हूँ जब उपवन, पियालों में फूलों के,
प्रिये भर भर अपना वैभव, पिलाता है मधुकर को।
नवोढ़ा बाल लहर, अचानक उपकूलों के,
प्रसूनों के ढिंग रुककर, सरकती है सत्वर।
अकेली आकुलता-सी प्राण, कहीं तब करती मृदु आघात,
सिहर उठता कृश गात, ठहर जाते हैं पग अज्ञात।
—पन्त

मंजरी-सी अँगुलियों में यह कला, देखकर मैं क्यों न सुध भूलूँ भला।
क्यों न अब मैं मत्त गज-सा झूम लूँ, कर कमल लाओ तुम्हारे चूम लूँ॥
—साकेत, प्रथम सर्ग

ऊपर के ये छंद उपचेतना में स्थित दूषित भाव-ग्रन्थियों के समुन्नयन के उदाहरण हैं। समुन्नयन और क्या है? वे वृत्तियाँ जिनके प्रकट होने पर समाज में हमारा चरित्र शुद्धतर समझा जाता है। जब कला के आवरण से आवृत्त होकर वे वृत्तियाँ ऐसे सुन्दर रूप में आती हैं कि उनका प्रकटीकरण शिष्टता एवं शालीनता का उल्लंघन नहीं प्रतीत होता, तभी समुन्नयन की स्थिति उत्पन्न होती है। ग्रीस की नग्न मूर्तियाँ, यूरोप की नग्न चित्रकला इन्हीं दूषित मनोवृत्तियों के समुन्नत रूप हैं।

कला के विभिन्न उद्देश्य:—कुछ ऐसे लोग भी हैं जो ऊपर जिन विचारों का विश्लेषण किया गया है, इनके अतिरिक्त भी कला की उपयोगिता मानते हैं। एक विचार-परंपरा ऐसी भी है जो कला को केवल मनोरंजन का साधन मानती है। जहाँ तक सौन्दर्य-बोध का प्रश्न था, वहाँ तक हम किसी प्रकार सहमत भी हो सकते थे। परन्तु जो व्यक्ति कला और भावों की नकल को मनोरंजन की एक ही श्रेणी में रखना चाहता है उसे हम क्या कहें!

कुछ लोगों का कथन है कि कला का उपयोग केवल विश्राम देना है। निश्चय ही कला का यह उद्देश्य अवश्य है। परन्तु यहाँ इतना नहीं

भूलना चाहिए कि विश्राम का अर्थ श्रम से भागना नहीं, वरन् श्रम के लिए शक्ति-सञ्चय करना है। तुलसी कहता है:—

कबहुँक हौं यह रहनि रहौंगो,
यथा लाभ संतोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगो।

—विनयपत्रिका

इसमें जहाँ जीवन की जटिलताओं से छूट कर विश्राम की भावना की ओर मन को प्रवृत्ति मिलती है वही तुलसी कहता है—

"परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो"

यहाँ जलती हुई आग के सम्मुख होकर जलने की भावना और जलते हुए भी न जलने की शक्ति यदि कला संचित करके नहीं दे सकती तो कला की सच्ची परिभाषा में ऐसी कृति पूरी नही उतर सकती।

कला को जागतिक उत्तेजनाओं से मुक्ति देने का साधन भी मानना वैसा ही है, जैसे क्रोध-परिशमन के लिए एक गिलास ठंडा पानी पी लेना। पर, यदि कला का इतना ही क्षुद्र उद्देश्य होता, तो संसार के श्रेष्ठतम मानव इसके लिए इतने व्याकुल न हुए होते। यह सत्य है कि कला उत्तेजना को शान्त करती है, परन्तु केवल इन्ही क्षुद्र उत्तेजनाओं को नही। जीवन जो स्वयं एक शराब है उसमें कला ऐसा नमक घोल देती है कि उसकी सारी तेजी उतर जाती है। जीवन की इस भयावह उत्तेजना को शान्त करने में जो कलाकार जितना ही अधिक सफल हुआ, वह उतना ही अधिक मानवता का कलाकार सिद्ध हुआ।

कला का भारतीय दृष्टिकोण:—भारतीय दृष्टिकोण कला के इसी पक्ष की ओर रहा है। इस दृष्टिकोण को समझने के लिए 'सत्य' के स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है। जिसकी सत्ता है वही सत्य है। प्रकृति सत्य है, क्योंकि उसकी सत्ता है। प्रकृति के विभिन्न परिमाणु परस्पर व्यवहृत होते रहते है, इसलिए प्रकृति का व्यापार सत्य है। इस प्रकृति मे हमें कुछ चेतन दिखाई देता है, चाहे यह चेतन प्रकृति-निर्मित हो, चाहे कहीं बाहर से आया हो, पर वह है अवश्य। इसलिए वह चेतन सत्य है। चेतन का प्रकृति के साथ सम्बन्ध है। और यह सम्बन्ध भी इतना प्रत्यक्ष है कि हम उसे भी सत्य कहने के लिए बाध्य हैं। इसके अतिरिक्त और भी कुछ सत्य हो सकता है। महत्व के प्रति मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। बड़े से बड़ा मनुष्य भी अपने से बड़े को देखना चाहता है तथा स्वयं उससे बड़ा बनना चाहता है। महत्व की इस भावना और आकांक्षा ने एक महत्तम की सृष्टि की है। भले ही वह

वास्तविक न हो परन्तु मानव-भावना का वह भी सत्य है और संभवतः वही परम सत्य है। उसी चरम सत्य को वेद कहता है :—

"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥" यजुः

वह महत्तम स्वयं पूर्ण है, उससे उत्पन्न हुआ जगत भी पूर्ण है, क्योंकि वह पूर्ण से पूर्ण रूप में ही लिया गया है। पहिले पूर्ण की विशेषता यह है कि उससे पूर्ण निकाल लेने पर भी पूर्ण ही शेष रहता है। परन्तु संभवतः उससे लिया हुआ पूर्ण, पूर्ण होते हुए भी तब तक अपूर्ण रहता है जब तक पुनः उस पूर्ण में मिलकर पूर्ण नहीं हो जाता। यद्यपि प्रत्येक कृति अपने में पूर्ण है, फिर भी प्रत्येक कृति को अपने भीतर अपूर्णता की अनुभूति होती है। पूर्ण होते हुए भी अपूर्णता की इस अनुभूति को भी सत्य मानना पड़ता है। मानव-जीवन की समस्त कला इसी अपूर्णता को पूर्णता की अनुभूति में मिलाने के लिए उत्पन्न होती है। भारतीय कला का दृष्टिकोण यही है। हमने ऊपर ६ सत्यों का विवेचन किया है। इन ६ सत्यों में से ऐसा कोई सत्य नहीं जिसका विवेचन भारतीय कलाकारों ने प्रत्येक दिशा में न किया हो। प्रकृति के दृश्य-चित्र अवश्य ऐसी वस्तु हैं जिन पर भारतीय कलाकारों ने अधिक ध्यान नहीं दिया तथा इसीलिए प्रकृति के परस्पर व्यवहार को भी उसने मानव-जीवन से अलग करके बहुत कम देखा है। और ठीक भी है। यदि केवल स्वतंत्र प्रकृति ही होती और मानव न होता, तो उसके समस्त व्यापार किस काम के होते। इस विषय का विस्तृत विवेचन आगे किया जायगा। जहाँ से चेतन सत्य प्रारम्भ होता है वहाँ से परम चेतन-सत्ता तक भारतीय दृष्टिकोण जिस गंभीरता के साथ व्यक्त हुआ है, उस गम्भीरता से उत्पन्न कलात्मक सृष्टि की समता संसार में संभवतः अन्यत्र कहीं नहीं है।

इस चेतन के व्यवहार के सम्बन्ध में भारतीय सौन्दर्य-साधक ने जिस सत्य को देखा वह सत्य देश, काल और स्थिति की परिधि से परे मानवता का शाश्वत सत्य है। और इसी शाश्वत सत्य को व्यक्त करने लिए उसने दो शैलियाँ अपनाईं : पहिली गम्भीर तार्किक शैली और दूसरी 'कान्तासम्मित तयो उपदेशयुजे' शैली। इस पहिली शैली से भारतीय दर्शन का निर्माण हुआ और दूसरी के द्वारा जीवन का शाश्वत सत्य सुन्दर बन कर काव्य के रूप में उपस्थित हुआ। इतना अवश्य रहा कि भारतवर्ष की इस शैली में औचित्य पर विशेष ध्यान रखा गया। इस औचित्य का निर्वाह करने के लिए ही चेतन की वासनाओं का समुन्नयन किया गया :

आगे के सुकवि रीझिहैं तौ कविताई,
न तु राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है।

ऐसा नहीं कि मनुष्य की क्षुद्र मनोवृत्तियों ने भारतीय कला पर प्रभाव नहीं डाला। कम से कम भारतीय साहित्य तो अवश्य अछूता नहीं रह सका। परन्तु इसमें भी जीवन का शाश्वत सत्य ही सम्मुख रखने की चेष्टा की गई। इस प्रकार भारतीय कला का आदर्श जीवन के शाश्वत सत्य को मधुर रूप में उपस्थित करना रहा है। यथाः—

प्रकृति सौन्दर्य—

रुणित भृंग घंटावली, झरत दान मधुनीर।
मंद मंद आवत चल्यो, कुंजर कुंज समीर॥ —बिहारी

प्रकृति-व्यापार—

उषा सुनहले तीर बरसती, जयलक्ष्मी सी-उदित हुई।
उधर पराजित कालरात्रि भी, जल में अन्तर्निहित हुई।
—प्रसाद, 'कामायनी'

मानव का शरीर सौन्दर्य—

मुख शरद चन्द्र पर श्रम-सीकर जगमगें नखत गन ज्योती-से।
दल गुलाब पर शबनम के हैं, कनके रूप उदोती-से।
हीरे की कलियाँ मन्द लगैं, हैं सुधा किरन की गोती-से।
आय है मदन आरती को, धर कनक-थार में मोती-से।
—शीतल, १७ वीं शताब्दी

चेतन-सत्ता—

प्रेम पयोधि पर्‌यो गहिरे अभिमान को फेन रह्‌यो गहिरे मन।
कोप तरंगिनि में बहिरे पछिताय पुकारत क्यों बहिरे मन।
'देवजू' लाज-जहाज ते कूदि रह्यो मुँह मूँदि अजौं रहि रे मन।
जोरत तोरत प्रीत तुही अब तेरी अनीति तुही सहि रे मन॥
—'देव'

चेतन का प्रकृति से सम्बन्ध—

दूर जदुराई सेनापति सुखदाई देखो,
आई ऋतु पाउस न पाई प्रेम पतियाँ।
धीर जलधर की, सुनत धुनि धरकी है,
दरकी सुहागिन की छोह भरी छतियाँ।

आई सुधि बर की, हिए में आनि 'खरकी 'तू,
मेरी प्रान प्यारी' यह प्रीतम की बतियाँ।
बीती औधि आवन की, लाल मन भावन की,
डग भई बावन की, सावन की रतियाँ ॥२८॥
—कवित्त रत्नाकर, तीसरी तरंग

'चेतन का परमेश्वर से सम्बन्ध—
एक दीपक किरण-कण हूँ
धूम्र जिसके क्रोड़ में है, उस अनल का हाँथ हूँ।
नव प्रभा लेकर चला हूँ, पर जलन के साथ हूँ।
सिद्धि पाकर भी तपस्या साधना का ज्वलित कण हूँ।
—रामकुमार वर्मा

'परम चेतन सत्ता—
दरस बिन दूखन लागे नैन।
जब से तुम बिछुरे मेरे प्रभु जी, कबहुँ न पायो चैन।
शब्द सुनत मेरी छतियाँ कम्पैं मीठे लागैं बैन।
एक टकटकी पंथ निहारूँ, भई छमासी रैन।
विरह बिथा कासूँ कहूँ सजनी, बह गई करवत रैन।
मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे, दुख मेटन सुख दैन।
—मीरा

परन्तु भारतवर्ष में कला शब्द का प्रयोग एक भिन्न ही अर्थ से हुआ है। वह भिन्न अर्थ सौन्दर्य-भावना को लक्ष्य में रखकर नहीं चला, वरन् उसके मूल में बुद्धि-तत्व की प्रधानता है। साधारणतः काम तो सभी करते हैं, पर कुछ व्यक्तियों के काम करने के ढंग में कुछ ऐसी विशेषता होती है जो आकर्षण का कारण बनती है। इस आकर्षण में हृदयतत्व की अपेक्षा मनस्तत्व पर विशेष प्रभाव पड़ता है। यदि किसी गिरहकट ने ऐसी सफाई से जेब काट दी कि हमें खबर भी न हुई तो जहाँ एक ओर हम अपनी हानि पर दुखी होते हैं, वहीं हम उसकी चतुरता की सराहना भी करने लगते हैं। इस सराहना में जिस तत्व की प्रधानता होती है वह तत्व (मनस्तत्व) जब किसी कृति में उत्पन्न हो जाता है तब उसमें हमें कला के दर्शन होते हैं।

इस तत्व की स्पष्ट व्यंजना करने वाली चौंसठ कलाओं की गणना की गई है। इन चौंसठ कलाओं में चोरी, द्यूत-क्रीड़ा जैसे विगर्हणीय, काम कलाओं-

जैसे गोप्य और संगीत तथा नृत्य जैसी उन्नत कलाएँ भी हैं। साथ ही समस्यापूर्ति को भी कला ही माना गया है, क्योंकि समस्यापूर्ति में रागात्मक तत्व की मौलिक उत्पत्ति कवि के हृदय में नहीं होती। कवि पहिले समस्या का ग्रहण करके उस पर विचार करता है, और फिर उसकी पूर्ति करता है। स्पष्ट है कि ऐसी साहित्यिक कृतियों में हृदय तत्व पीछे आता है और बुद्धि तत्व पहिले। इसलिए ऐसी कृतियों में बुद्धि तत्व की ही प्रधानता रहती है। रागात्मक तत्व की गौणता के कारण ही समस्यापूर्तियों को कला की श्रेणी में गिना गया है।

यह बात नहीं है कि ऐसी समस्त समस्यापूर्तियाँ कला की ही श्रेणी में आती हों। प्रतिभा-सम्पन्न कवि के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि "जहाँ न जाय रवि, वहाँ जाय कवि।" ऐसा कवि पराई भावनाओं को अपनी बना सकता है और उनमें राग उत्पन्न कर सकता है। ऐसी समस्यापूर्तियाँ भी कला की सीमा से बाहर आकर काव्य बन जाती हैं। मुशायरे में किसी हिंदू कवि की उपस्थिति में यह 'तरह' रक्खी गई—"मुश्रिको काफिर है जो बन्दे नहीं इस्लाम के।" मुसलमान कवियों के लिए इस समस्या में रागात्मक तत्व का मिल जाना असम्भव नहीं है। परन्तु हिंदू कवि के लिए इसमें रागात्मक तत्व ढूँढ़ लेना उसकी प्रतिभा पर निर्भर था।

कवि ने पढ़ा:—

"लाम के मानिन्द हैं गेसू मेरे घनश्याम के।
मुश्रिको काफिर हैं जो बन्दे नहीं इसलाम के॥"

कवि के पद में रागात्मक तत्व ने बुद्धि-तत्व को पराजित कर दिया है। उसके इसलाम ने हृदय-मुग्धकारी जिस चिकुरराशि की ओर संकेत किया है वह न जाने कितने कृष्ण-प्रेमियों का बन्धन बन चुकी होगी। यदि किसी ने इसलाम को स्वीकार न किया तो निश्चय ही वह परमात्मा में द्वैत माननेवाला और नास्तिक है। यद्यपि इस पद में बुद्धितत्व उपस्थित होने के कारण उसे कला की कोटि में भी रक्खा जा सकता है, परन्तु हमारी दृष्टि में यहाँ हृदय आगे है, बुद्धि पीछे।

भर्तृहरि ने जहाँ कहा है "साहित्य संगीत कला विहीनः साक्षात्पशुः पुच्छ विषाण हीनः" वहाँ कला शब्द के कृतित्व की इसी विदग्धता की ओर संकेत किया गया है।

क्षेमराज ने कला की व्याख्या की है "कलयति स्व स्वरूपावेशेन तत्त-वस्तु परिच्छिनत्ति इति कला व्यापारः।" इस व्याख्या में "कल्" धातु को

गति के अर्थ में लिया गया है। कला अपने स्वरूप के आवेश से गतिमान होती है और वस्तु-वस्तु में परस्पर भेद उत्पन्न कर देती है। यह इस व्याख्या का मौलिक अर्थ है। इस पर टिप्पणीकार ने "कलयति स्वरूपं आवेशयति वस्तुनि वा तत्र-तत्र प्रमातरि कलनं एव कला" लिखा है। प्रसाद जी ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है "नव-नव स्वरूप प्रथोल्लेखशालिनी संवित वस्तुओं में या प्रमाता में 'स्व' को आत्मा को परिमित रूप में प्रकट करती है। इसी क्रम का नाम कला है।"[1] यह व्याख्या मूल से भी अधिक व्याख्या के योग्य हो गई है। 'स्वरूप प्रथोल्लेखशालिनी सम्वित' शब्द का भाव समझना सरल नहीं है। संभवतः प्रसाद जी का तात्पर्य यह है जैसा उन्होंने आगे की व्याख्या में कहा है कि स्व को कलन करने का उपयोग, आत्मानुभूति की व्यंजना में प्रतिभा के द्वारा तीन प्रकार से किया जाता है—अनुकूल, प्रतिकूल, अद्भुत।[2] आत्मा जब वस्तु के साथ रागात्मक सम्बन्ध से जकड़ित हो जाता है तब जिस प्रकार की अनुभूतियाँ उसे प्राप्त होती हैं उनको व्यक्त करने के ढंग का नाम कला है। समझ में नहीं आता कि 'प्रथोल्लेखशालिनी' शब्द का क्या अर्थ है। इसका स्पष्ट भाव तो यह है कि जिस क्रिया के द्वारा प्रमाता (विचारक अथवा कवि या कलाकार) वस्तु में अपने स्वरूप का प्रवेश करता है अथवा वस्तु-जन्य प्रभाव में प्रमाता की अनुभूति सहकारिणी बन जाती है उस क्रिया का नाम कला है। ऊपर हमने 'परिच्छिनत्ति' का अर्थ परि उपसर्गपूर्वक 'छिद्' धातु के वर्तमान काल के रूप को लक्ष्य में रखकर विशेष भेदीकरण किया है। यहाँ हम शिव-सूत्र-विमर्शिनी में व्यक्त क्षेमराज के मूल मत "कलयति स्वस्वरूपावेशेन तत्तद्वस्तु परिच्छिनत्ति इति कला व्यापारः।" पर विचार करेंगे। किसी वस्तु के निर्माण में कारणों की विवेचना करते हुए अरस्तू ने उपादान (matter) के साथ ही मानसिक आकार (Form) को भी कारण माना है। किसी पुतली के बनाने में लकड़ी उसका उपादान कारण है और पुतली का वह चित्र जो कलाकार के मस्तिष्क में है, वही उसका फार्म (Form) है। इस परिभाषा में 'स्वस्वरूपं कलयति' का अर्थ यही है कि कलाकार अपने मानस में स्थित वस्तु के आकार (Form) को उपादान कारण में प्रविष्ट (गतिमान अथवा क्षिप्त) कर देता है। इस प्रकार वस्तु में एक विशेष रूप जो कलाकार के मस्तिष्क की उपज है, दिखाई देने लगता है। विभिन्न कलाकारों के मानस में

१—जयशंकर प्रसाद—काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृष्ठ २४।

२—वही—पृष्ठ २४, (संस्करण संवत १९९६)।

स्थित पुतली के आकार में एकरूपता होना प्रायः कम संभव है। इसीलिए प्रत्येक की कृति में भी एकरूपता नहीं होती है। इसी को क्षेमराज कहता है 'तत्तद्-वस्तु परिच्छिनत्ति' उस उस वस्तु को भिन्न कर देता है। अर्थात् एक कलाकार का मानसिक आकार दूसरे कलाकार के मानसिक आकार से भिन्न होने के कारण विभिन्न कलाकारों की स्व वृत्ति दूसरों से भिन्न रहती है।

इसी भाव को भोजराज ने दूसरे शब्दों में कहा है। वे कहते हैः—"व्यञ्जयति कर्तृशक्ति कलेति तेनेह कथिता सा।" कर्तृशक्ति का अर्थ है कर्ता की प्रतिभा अथवा कर्ता की कल्पना और बुद्धि के साथ ही उसकी शिक्षा और अभ्यास की अभिव्यंजना। जिस कृति में यह हो उसे उसकी कलात्मक रचना कहेंगे। यहाँ भी कवि का व्यक्तित्व अपने समस्त उपकरणों के साथ प्रधान स्थान पर है। वस्तुतः कला के सम्बन्ध में भारतीय दृष्टिकोण यही है।

साहित्य और कलाः—कला के सम्बन्ध में पूर्व व्यक्त भारतीय दृष्टिकोण इतना विस्मृत हो गया है कि लोग कला शब्द से केवल कृति का सौन्दर्य ही ग्रहण करते हैं। अतएव यहाँ हम उसी दृष्टिकोण से कला पर विचार करेंगे। पाश्चात्य विद्वानों ने कलाओं को पाँच श्रेणियों—वस्तु, मूर्ति, चित्र, संगीत और काव्य में विभक्त किया है और स्थूल उपकरणों के पूर्णतः अभाव के कारण साहित्य को सर्वश्रेष्ठ कला माना है। यद्यपि हम साहित्य की सर्वश्रेष्ठता केवल स्थूल उपकरणों की न्यूनता ही के कारण स्वीकार नहीं करते हैं। वरन् उसकी श्रेष्ठता का प्रधान कारण मनोविज्ञान में निहित पाते हैं। परन्तु प्रस्तुत निबन्ध में उसकी चर्चा अप्रासंगिक होने के कारण हम यहीं छोड़े देते है।

सृष्टि में मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है। माननीय भावनाओं में कोमल भावनाएँ सर्वश्रेष्ठ है और उन कोमल भावनाओं की व्यंजना का सर्वश्रेष्ठ माध्यम साहित्य है। यह शक्ति किसी अन्य कला में नही है। साथ ही भावों की गतिशीलता का चित्रण भी केवल साहित्य ही कर सकता है। केवल स्वर-लहरी-सावित संगीत भी यह कार्य नहीं कर सकता, यद्यपि उसमें स्थावर, जंगम, चेतन, अचेतन सभी को चलायमान करने की शक्ति है। भावों की इसी गतिशीलता के गुण के कारण साहित्य मानव का संगी बनता है। यह श्रेय किसी अन्य कला को प्राप्त नहीं। ताजमहल हम नित्य नहीं देख सकते हैं, परन्तु रसखान के पद में व्याप्त रस का हम नित्य आस्वादन करते हुए भी कभी तृप्त नही होते हैं। संगीत की स्वर-लहरी संसार में कंपन भर कर वायु में विलीन हो जाती है, उसकी झनकार भी लय हो जाती है, परन्तु सूर के पद की चोट सदैव "तन-मन को धुना" करती है। अपने प्रिय जन का चित्र हम छाती से चिपकाये रहते

हैं, परन्तु चित्रगत सौन्दर्य के कारण नहीं, अपितु केवल उस भावगत सौन्दर्य के कारण जिसकी विषय-पीड़ा से विह्वल होकर दशरथ ने कहा था :

हा जानकी लखन हा रघुवर । हा पितु-चित-हित चातक जलधर ।

अथवा

मदर्थं संदेश मृणालमन्थरः प्रियः कियद्दूर इति त्वयोदिते ।
विलोकयन्त्या रुदतोऽथ पक्षिणः प्रिये स कीदृग्भविता तव क्षणः ॥

नैषध चरित, प्रथम सर्ग, १३७वाँ श्लोक ।

नल के हाथ में फँसा हुआ हंस अपनी स्त्री हंसिनी के सम्बन्ध में कल्पना करता हुआ कहता, है जब तू मुझे न आया हुआ देख कर मेरे साथी पक्षियों से पूछेगी, "मेरे लिए संदेश और मृणाल लाने में सुस्त मेरा प्रिय कितनी दूर है," और जब उनको रोते हुए देखेगी तब वह क्षण तेरे लिए कैसा होगा ।

कोई भी चित्र इस भाव की तीक्ष्णता की व्यंजना कर सकने में समर्थ नहीं, कोई भी राग 'की दृग्भविता तव क्षण' को व्यक्त नहीं कर सकता है । इसी प्रसंग में 'दिशानि शून्यानि विलोकयिष्यति' को कौन काव्येतर कला व्यक्त कर सकती है । यदि केवल उपादान की अमूर्तता ही काव्य के उत्कर्ष का साधन होती तो इन छन्दों को पढ़कर हमारे आँसू न खिंच आते ।

साहित्य की विभिन्न परिभाषाएँ

साहित्य की विभिन्न परिभाषाएँ

भारतीय आधार:—संसार में जिस कला को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है उसका स्वरूप क्या है और साहित्य से उसका क्या सम्बन्ध है, यह प्रश्न सदा से उलझा हुआ बना रहा है और संभवतः अब भी वैसा ही उलझा हुआ है। विभिन्न विचार-परंपराओं में इस सर्वश्रेष्ठ कला का विभिन्न रूपों में विवेचन किया गया है। इसी लिए विभिन्न वादों का उदय हुआ। हम उन मौलिक मनोवृत्तियों का विवेचन कर चुके हैं जिनसे ये विभिन्न विचार-परंपराएँ उदित हुई हैं। यहाँ हम उन विभिन्न-परंपराओं को संग्रहीत करके विभिन्न वादों के साथ उनके समन्वय पर विचार करेंगे।

मानव में वाणी का उदय विकासवाद के क्रम अथवा दैवी शक्ति से, अथवा आत्मा की स्व-शक्ति के रूप में हुआ। जिस दिन मनुष्य ने यह समझा कि उसका कोई भाव स्थिर रहना चाहिए, उसी दिन से साहित्य का उदय हुआ। जिस ऋषि ने सबसे पहले उस बैल[1] का दर्शन किया जिसके चार सींग, तीन पाँव, दो शिर और सात भुजाएँ हैं, जो तीन रस्सियों से बँधा है और मर्त्य लोक में गरजता हुआ आ घुसा है, उसने अपनी यह अनुभूति अपनी सन्तति को देने की इच्छा की होगी। संभवतः किसी ऐसे ही समय से साहित्य का उदय हुआ

१—चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादाः द्वे शीर्षे सप्तहस्ता सोऽस्य
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यां आविवेश।

ऋ० ४।५७।३०

बैल के चार सींग=नाम (संज्ञा), आख्यात (क्रिया), कृदन्त और तद्धित। तीन पाँव=तीन लिंग=स्त्री लिंग, पुल्लिंग और नपुंसकलिंग। दो शिर=प्रातिपदिक और अव्यय। सात हाँथ=सात कारक—कर्ता, कर्म, करण संप्रदान, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण। त्रिधा बद्ध=तीन प्रकार से बँधा हुआ=तीन बचन=एक बचन, द्वि बचन, बहु बचन। बैल=साहित्य।

हो। अर्थात् बैखरी वाणी ने व्याकरण-सम्मत शब्दों के सहारे मानव-भावनाओं को शाश्वत जीवन प्रदान करने का साधन दे दिया। इस मंत्र का दर्शन ऋषि को सर्व प्रथम नहीं हुआ था। जब यह गरजता हुआ बैल मर्त्यों में घुस चुका था तब उसे इस मंत्र का दर्शन हुआ था। हम यह नहीं कह सकते कि संसार में जिस वाणी का प्रादुर्भाव हुआ था वह वाणी यही थी। परन्तु उपस्थित साक्ष्य हमें इस निर्णय पर अवश्य पहुँचाते हैं कि आर्य जाति को संभवतः इसी वाणी का सर्व प्रथम दर्शन हुआ। संभव है कि यह वेद-वाणी उस प्रारम्भिक वाणी का कुछ अधिक विकसित रूप हो जो इन मंत्रों के द्रष्टाओं से पूर्व प्राकृत जन बोलते रहे हों। परन्तु साहित्य का प्रथमावतार इसी वाणी में आर्यजाति को प्राप्त हुआ जिसे आर्यों ने अति-मानव परिश्रम के द्वारा अब तक सुरक्षित रखा।

इस प्रकार सबसे पहिला साहित्य जो हमें प्राप्त है वह वैदिक साहित्य ही है। इस साहित्य में ही वे मूल तत्व प्राप्त होते हैं जिनसे आगे चलकर विभिन्न विचार-परंपराओं का जन्म हुआ। वेद से जिन विचार-परंपराओं का उदय हुआ वे-विचार परंपराएँ शासन के रूप में उपस्थित हुईं। अर्थात् मनुष्य को ऐसा करना चाहिए, ऐसा करो आदि। इस प्रकार के शासन का मूल स्रोत विधि-निषेधात्मक होने के कारण वेद-वाणी को साहित्य में परिगणित नहीं किया गया। यद्यपि वेद को और तत्सम्बन्धी साहित्य को शास्त्र की पदवी प्राप्त हुई, पर वह साहित्य न बन सका। वेदों ने कर्तव्य निश्चय करने और उसका पालन करने के तीन मार्ग निश्चित किये—१ ज्ञानमार्ग, २ कर्ममार्ग, ३ उपासना मार्ग। इन विचार-परंपराओं ने मानवात्मा को इतना अधिक प्रभावित किया कि आज तक विचारकों के दल इन तीन रूपों में स्पष्ट विभक्त हैं। परन्तु ये मार्ग साहित्य के मार्ग न बन सके। यह बात नहीं है कि वैदिक साहित्य में सब कुछ शासन ही था, तीव्र अनुभूति की कोमल व्यंजना भी वैदिक साहित्य में पर्याप्त मात्रा में है। परन्तु वह अनुभूति शुद्ध और पवित्र आत्मा के लिए ही है। इसलिए उसे साहित्य कहकर स्वीकार नहीं किया गया।

असुर्या नाम ते लोकाः अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥ यजुर्वेद.४०

में आत्महत्या को शाश्वत अंधकार में डालने वाली कहा गया है और इस प्रकार उपदेश की प्रवृत्ति जहाँ है वहीं साहित्य-सौन्दर्य-व्यंजक बहुसंख्यक ऋचाएँ भी मिलती हैं। यथाः—

सोम ररन्धिनो हृदि गावो न यवसेष्वा
मर्य इव स्व ओक्ये। ऋ० १।९१।१३

"का ते उपेतिः मनसो वराय भुवदग्ने शं तमा का मनीषा ।
को वा यज्ञैः परिदक्षं त आप केन वा ते मनसा दाशेम ॥६॥"[1]
ऋग्वेद १ । ७६ । १ ॥

[हे प्रभो, तेरे मन को वरण करने के लिए कौन-सा उपाय है । हमारी कौन-सी स्तुति तेरे लिए सुखकारी है । ऐसा यहाँ कौन है जो यज्ञ कर्मों द्वारा तेरी शक्ति को व्याप्त कर सके । वह मन ही हमारे पास कौन-सा है जिससे हम छवि प्रदान कर सकें ।]

"य आपिर्नित्यो वरुण प्रियः सन्, त्वां आगांसि कृणवत्सखाते ।
मा त एनस्वन्तो यक्षिन् भुजेम, यन्धिष्मा विप्रः स्तुवते वरूथम् ॥"[2]
ऋग्वेद ७ । ८८ । ६ ॥

[हे प्रभो, जीवात्मा तेरा सदा का बन्धु और साथी है, पर तेरा प्रिय होकर भी तेरे प्रति अपराध किया करता है । हे पूज्यदेव, पाप करते हुए हम भोग न भोगें । आप सर्वज्ञ हैं, अपने स्तुतिकर्त्ता भक्त को शरण दें ।]

१—पद्यानुवाद

कैसे आऊँ तेरे पास ?
अल्प शक्ति, साधन थोड़े हैं, परिमित मेरे साँस ।
किस उपाय से तेरे मन को, वरण कर सकूँ मेरे नाथ ।
सुखकारी हो तुझे कौन-सी, मेरी स्तुति हे गौरवगाथ ।
कौन यहाँ है जो यज्ञों से, नाप सके तव शक्ति महान ।
किस मन से प्यारे प्रभु तुझको, अपनी छवि कर सकूँ प्रदान ॥
—आचार्य मुन्शीराम शर्मा 'सोम' की भक्ति तरंगिणी से ।

२—पद्यानुवाद

प्रभुवर मैं तेरा अपराधी ।
हो प्रिय बंधु सनातन साथी, तुझसे हाय शत्रुता बाँधी ।
खोल दिये हैं पिता तुम्हीं ने, मेरे लिए भोग-भण्डार ।
हे यजनीय देव, मैं कैसे भोगूँ लिये पाप का भार ।
भोग योग के साथ सदा है, योग याग का कर प्रतिकार ।
मैंने केवल पाप कमाया, कर तुझसे छल का व्यवहार ।
तुम सर्वज्ञ, शरण दो जन को, मैंने टेक यही साधी ।
—आचार्य मुन्शीराम शर्मा 'सोम' की भक्ति तरंगिणी से ।

इस प्रकार भावात्मक साहित्य के मूल अंकुर भेद में विद्यमान हैं।

एक दिन व्याध ने क्रौंच मिथुन में से एक का वध कर दिया। वाल्मीकि की वाणी सहानुभूति से विगलित हो उठी और साहित्य का प्रथम अवतार हुआ। साहित्य के इस प्रथम अवतार की विशेषता क्या है, इस पर हमें विचार कर लेना है जिससे साहित्य का स्वरूप निश्चित करने में सुविधा हो सके। उसकी सबसे पहिली विशेषता 'भाव' है जिसकी ओर संकेत करते हुए किसी कवि ने कहा है: 'श्लोकत्वमाऽपद्यत यस्य शोकः।' अर्थात् भाव-प्रवण हृदय जिस अनुभूति से विगलित हो उठे उसकी व्यंजना साहित्य है। इसकी दूसरी विशेषता है 'शब्द'। यह श्लोक जिस समय रामायण में आया है उस समय शोक का प्रसंग नहीं है। राम ने जब कुम्भकरण का वध किया था तब उनकी स्तुति इस श्लोक[1] से की गई। उस प्रसंग में इसका अर्थ है 'हे शोभा से सम्पन्न, तुम सदैव प्रतिष्ठा को प्राप्त हो, क्योंकि तुमने कुंचावंशजात काममुग्ध युग्म (रावण-कुम्भकरण) में से एक का बध किया। इस अन्य अर्थ को श्लिष्ट शब्दों के बल से व्यक्त करने की शक्ति होने के कारण साहित्य का प्रथमावतार यही श्लोक मानों इस दिशा की ओर संकेत कर रहा है कि साहित्य में 'प्रयुक्त शब्दावली केवल संकेतार्थ-वाचिका नहीं होती, वरन् उसे सांकेतित अर्थ से संबद्ध अन्यार्थ वाची भी होना चाहिए। साथ ही प्रासंगिक अर्थ सम्बन्धवशात् अन्यार्थ की प्रतीतिकारक ध्वनि भी साहित्य का अंग बनती है।

इस प्रथम श्लोक में एक वस्तु और व्यक्त होती है जिसने साहित्य के दो रूपों को उपस्थित कर दिया है: १—यह छंद स्तुति-परक होने के कारण किसी नायक की स्तुति का वाचक है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि साहित्य किसी बाह्यार्थ साधन में प्रयुक्त हुआ किसी ख्यात चरित्र का वर्णन करता है। इस विचार-परंपरा ने महाकाव्यों, नाटकों, आख्यानों और कहानियों को उत्पन्न किया २—स्वानुभूति की तीव्र व्यंजना करता हुआ यही छंद मुक्तक गीति-परंपरा का प्रथम श्लोक है।

१—मा निषाद प्रतिष्ठान्त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौंच मिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

मा = शोभा या लक्ष्मी। निषाद = आश्रय। त्वमगमः शाश्वती समाः = तुम अनन्त वर्षों तक प्रतिष्ठा को प्राप्त करो। क्रौंचमिथुन=कुंचा की संतति के जोड़े।

इस प्रकार इस प्रथम श्लोक से हमें पाँच विचार-मार्ग प्राप्त होते हैं:—

१—रस सम्प्रदाय

२—ध्वनि सम्प्रदाय

३—अलंकार सम्प्रदाय

४—कथनानक-काव्य या इतिवृत्तात्मक काव्य

५—स्वानुभूति-परक मुक्तक काव्य

इनके अतिरिक्त साहित्य की अन्य समस्त परिभाषाएँ भी प्रथम श्लोक में ही अन्वित हो जायँगी।

ऊपर का यह विवेचन भारतीय दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखकर हुआ है। भारतवर्ष में साहित्य शब्द की व्याख्या करते हुए विद्वानों ने जिस अर्थ पर विचार किया है वह नीचे की व्याख्या से स्पष्ट हो जायगा।

व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से साहित्य शब्द के अर्थ पर विचार करते हुए हम देखते हैं कि "धा" धातु के साथ 'क्त' प्रत्यय के संयोग से 'हित' शब्द निष्पन्न होता है। 'स' के योग से सहित का अर्थ हुआ साथ—एकत्र। लोक में प्रसिद्ध 'सहित' का अर्थ है हित के साथ। इस 'सहित' शब्द से भाववाचक संज्ञा बनाने के लिए 'ष्यञ्' प्रत्यय करने पर 'साहित्य' शब्द निष्पन्न होता है। अतएव साहित्य शब्द का अर्थ हुआ सहित होने का भाव। व्याकरण संमत इस अर्थ में दो बातें स्पष्ट हैं। पहिली एकत्र की हुई ज्ञान-राशि का होना और दूसरी इस ज्ञान-राशि का मानव-हिताय होना। इन दोनों अभिप्रायों को ध्यान में रखकर यदि हम देखें तो लिटरेचर (Literature) का भाव 'साहित्य' शब्द में उपस्थित है। द्विवेदी जी की यह परिभाषा "ज्ञान-राशि के संचित कोष का नाम साहित्य है" साहित्य के शब्दार्थ के अनुकूल ही है और संभवतः लिटरेचर शब्द की ज्ञापक है।

भारतीय वाङ्मय "ज्ञान-राशि के संचित कोष" को दो भागों में विभक्त कर दिया गया है। पहिला भाग शास्त्र कहलाता है और दूसरा भाग काव्य अथवा साहित्य। शास्त्र शब्द "शासु अनुशिष्टौ" धातु से 'ष्ट्रन्' प्रत्यय के द्वारा निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है शासन। हम पहिले कह आये है कि वैदिक साहित्य शास्त्र है। इसके कारणों पर भी विचार किया जा चुका है। न केवल वैदिक साहित्य ही, वरन् स्मृतियों से लेकर काम-शास्त्र तक शास्त्र ही हैं, क्योंकि इन सब में 'ऐसा करो' अथवा 'ऐसा करना चाहिए' का ही विवेचन है। यद्यपि शास्त्र शब्द से ग्रहीत अनेक ग्रन्थों में ऐसे प्रसंगों की कमी नहीं है जो

हृदयाह्लादकारित्व में काव्य की परिभाषा के निकट आ जाते हैं, फिर भी शासन की बहुलता के कारण सम्पूर्ण ग्रन्थ शास्त्र ही कहलाते हैं। जैसे उपनिषद में:—

"अणोरणीयान् महतो महीयान् आत्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान् महिमानमीशम् ॥२०
श्वेताश्वतर, द्वितीय अध्याय

(सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, बड़े से भी बड़ा, परमात्मा इस जीव की हृदय रूप गुफा में छिपा हुआ है, सब को धारण करने वाले परमेश्वर की कृपा से उस संकल्प रहित परमेश्वर को और उसकी महिमा को जो साधक देख लेता है वह सब प्रकार के शोक से रहित हो जाता है।)

यह छंद अद्भुत रस का अच्छा उदाहरण है। योगवाशिष्ठ में पुरंजनोपाख्यान प्रतीकवाद का आश्रय लेकर एक हृदयहारी उपाख्यान बन गया। श्रीमद्भगवत्गीता के अनेक स्थल कवि-हृदय को स्पर्श करने वाले हैं। फिर भी ये सब ग्रंथ शास्त्र ही हैं।

भारतीय वाङ्मय का वह भाग भी जिसे साहित्य की संज्ञा दी गई है, शासन करता है, परन्तु उसका शासन रहीम के इस दोहे की भाँति है:—

"रहिमन राज सराहिए, ससि सम सुखद जु होइ।
कहा बापुरो भानु है, तप्यो तरैयन खोइ॥"

सूर्य तपता है, तारागणों की ज्योति का अपने में विलय कर लेता है अर्थात् सूर्य के तपने पर तारागणों की ज्योति खो जाती है। परन्तु चन्द्रमा का शासन दूसरे प्रकार का है। वह तारागणों को भी अपनी सुधाकरों से आप्यायित करता हुआ ज्योत्स्ना छिटका देता है।

भारतीय वाङ्मय का शास्त्र मनोवृत्तियों की दीप्ति का अपहरण करके चमकता है, परन्तु साहित्य मनोवृत्तियों को तृप्त करता हुआ चन्द्रिका बिखेर देता है। प्रकाश रूप शासन दोनों का है जिससे अज्ञान का अंधकार नष्ट होता है, परन्तु एक के शासन में तीक्ष्णता है, अयोगी मानस उसकी ओर देख नहीं सकता, तथा दूसरे का शासन मृदु है, योगी-अयोगी सब उससे आँखें मिलाकर तृप्त हो सकते हैं। इसीलिए शास्त्र शास्त्र है। उसके पास राज-दंड है। परन्तु साहित्य साहित्य है। उसके पास मानव-हित-साधन की मधुर भावना है।

इस प्रकार भारतीय साहित्य की मुख्य तीन विशेषताएँ हैं:—

१—हित-साधन करना।

२—मानव-मनोवृत्तियों को तृप्त करना।

३—मानव-मनोवृत्तियों को उन्नत करना।

विद्वानों ने साहित्य की कुछ परिभाषाएँ की हैं। हम यहाँ उनका विवेचन करेंगे और देखेंगे कि किस प्रकार ये सब परिभाषाएँ इन्हीं तीन विशेषताओं के अन्तर्गत हैं।

हित साधनः—

१—हितं पिहितं तत् साहित्यम्।

२—हितं सन्निहितं तत् साहित्यम्।

३—हितं सम्पादयति इति साहित्यम्।

तृप्तिः —

४—'सहितं रसेन युक्तम्' तस्य भावः साहित्यम्।

५—हितेन निरतिशय प्रेमास्पदेन इतरेच्छा अनाधीन इच्छा विषयेण सहितं साहित्यम्।

उन्नयनः—

६—सम्यक् निहितं सद्भिः तत् सहितं तस्य भावः साहित्यम्।

७—अवहितं मनसा महर्षिभिः तत् साहित्यम्।

८—प्रहितं परमेश्वरेण इति सहितम् तस्य भावः साहित्यम्।

पहिली परिभाषा के द्वारा जिस रचना में 'हित छिपा हुआ हो' उसे साहित्य कहा गया है। इस परिभाषा की दृष्टि में साहित्य का वास्तविक रूप था। उसने शैली की ही ओर विशेष संकेत किया है। उसका मत है कि साहित्य का मूल उद्देश्य हित-प्रकाशन नहीं होना चाहिए, वह उसमें छिपा रहना चाहिए। यह भावुक हृदय का काम है कि उस हित को खोज निकाले। वाल्मीकि की रामायण मनुष्य को कर्त्तव्य-निष्ठा का उपदेश देती है अथवा निर्वेद की शिक्षा, यह बात वाल्मीकि ने कहीं भी स्पष्ट नहीं कही है। भावुक हृदय इस 'पिहितहित' को अपनी-अपनी रुचि के अनुसार निकाल लेते हैं।

दूसरी परिभाषा में हित की भावना को साहित्य-सेवन का अवश्यम्भावी परिणाम माना गया है। अर्थात् निरन्तर साहित्य-सेवन करने वाले के पास 'हित' अवश्य पहुँच जाता है। क्योंकि 'हित' साहित्य में सन्निहित है। इसीलिए नीतिकार भर्तृहरि कहता है:—

"काव्यशास्त्र-विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।
व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा॥"

अर्थात् बुद्धिमान पुरुष काव्य का अध्ययन इसलिए करते हैं कि काव्य का अध्ययन करने से ही उन्हें हित की भी प्राप्ति हो जायगी, क्योंकि काव्य-शास्त्र के साथ ही 'हित' भी है।

तीसरी परिभाषा में साहित्य को हित-उत्पादन का कारण माना गया है। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि मन जैसी भावनाओं में रमण करता है, मनुष्य का आचार भी वैसा ही बन जाता है। सत् साहित्य की सतत सेवा मनुष्य के आचरण-निर्माण में अवश्य कारण बन सकती है। टाल्स्टाय मार्क्स से भी अधिक शक्ति-सम्पन्न इसलिए है कि उसने हित-सम्पादन करने वाले साहित्य का निर्माण किया; कोरे वाद के आधार पर वर्ग-युद्ध की प्रेरणा नहीं दी।

उक्त तीनों परिभाषाओं में साहित्य की पहिली विशेषता हित-साधन करना दिखाई देती है।

चौथी परिभाषा में रस से युक्त शब्दार्थ को साहित्य की संज्ञा दी गई है। रस की विशेष व्याख्या हम 'रसवाद' के प्रकरण में करेंगे। यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि रस के दो परिणाम मानव-प्रकृति के साथ होते हैं। पहिला 'स्वादु' और दूसरा 'तोष'। साहित्य की विशेषता यही है कि इसका शासन 'स्वादु' होता है और वह मनोवृत्तियों को 'तोष' देता है। राम-नाम के रस की इस विशेषता की ओर संकेत करते हुए तुलसी कहता है:—

"स्वादु तोष सम सुगति सुधा के"।

सूर कहता है:—

"परम स्वादु सबही जु निरन्तर अमित तोष उपजावे।"

यह परिभाषा साहित्य के उस परिणाम की ओर संकेत करती है जो मानव-वृत्ति को तृप्त करके आह्लाद-प्रदायक होता है।

साहित्य की पाँचवीं परिभाषा में रस की ही विशेष व्याख्या की गई है। उसको 'निरतिशय प्रेमास्पद' कहा गया है। अर्थात् उससे अधिक प्रेमास्पद कोई अन्य वस्तु नहीं। प्रेमास्पद शब्द का अर्थ कोई पात्र विशेष न समझना चाहिए। काव्य या साहित्य पात्र से सम्बद्ध न होकर भावुक से सम्बद्ध होता है। इसी की व्याख्या करने के लिए वह आगे कहता है 'इतरेच्छा अनाधीन इच्छा विषयेण'। अर्थात् यह रस दूसरे की इच्छा का वशवर्ती नहीं होता, वरन् स्वीय इच्छा का विषय होता

है। कोई दूसरा हमें रस-बोध नहीं करा सकता है। रस-बोध तो हमें स्वयं होता है। हमारी मनोवृत्ति की जो तृप्ति काव्य-विषयक आनन्द से तादात्म्य प्राप्त करके होती है उसी का नाम 'इतरेच्छा अनाधीन इच्छा विषय' कहा गया है। मतिराम के इस छंद में यह भाव अधिक स्पष्ट हो गया है:—

कोऊ नहीं बरजै मतिराम रहौ तित ही जितही चित चायो।
काहे को सौंहें हजार करौ तुम तो कबहूँ अपराध न ठायो॥
सोवन दीजै न दीजै हमें दुख, योंही वृथा रसवाद बढ़ायो।
मान रह्योई नहीं मनमोहन, मानिनी होय सो मानै मनायो॥

नायक नायिका के मान को अनुभव करता है। विनयादि द्वारा इस स्वकीया मध्या का मानापनोदन करने की चेष्टा करता है। संभवतः अपनी-पराई सैकड़ों शपथें खाकर वह अपनी निरपराधिता सिद्ध करना चाहता है। वह अनेक प्रेमालापों द्वारा अपने हृदय में स्थित रति-भावना का पुनरुदय अपनी प्रियतमा के हृदय में चाहता है। परन्तु यह भावना नायिका के इच्छाधीन विषय में नही है। उसके इच्छाधीन विषय में 'मान' है। वह कहती है–कही दूसरे स्थान पर रहना अपराध तो है हीं नहीं, इसलिए हजारों सौंहे खाकर अपने को निरपराध घोषित करने की चेष्टा व्यर्थ करते हो। फिर किसी को मना करने का अधिकार ही क्या है! जहाँ तुम्हारा मन चाहे, वहाँ रहो। अब इस समय हमसे जो रसवाद की बातें कर रहे हो, उनका यह उचित अवसर नही है। इस अनवसर रसवाद से हमारा चित्त दुःखी होता है। तुम भी थके हो, सोओ। और मैं भी सोना चाहती हूँ। कदाचित् यह मध्या अभी तक अपने प्रियतम के आगमन की प्रतीक्षा में जागती रही है और उनके आ जाने पर अपनी इस दशा को व्यक्त करने के लिए कहती है कि अब तो 'सोवन दीजै, न दीजै हमें दुख'। वह कहती है कि यह रसवाद तुम वृथा बढ़ा रहे हो। क्योंकि इसके अन्तर में वह गूढ़ अपमान छिपा हुआ है जिसमें गैरियत (परायेपन) की भावना है। मुझ अपनी को जब तुमने पराया समझ लिया तब मेरा सम्मान तो तुमने पहिले ही नष्ट कर दिया। फिर मुझे क्या अधिकार रहा कि मैं मान करूँ और तब इसे मनाने की ही आवश्यकता क्या रही? तुम उसे जाकर मनाओ जिसे तुम अपना समझते हो और इस अपनेपन की भावना के कारण जिसे मान करने का अधिकार हो।

यहाँ नायक-इच्छाधीन विषय रति या संभोग शृंगार के इच्छाधीन विषय मान अथवा विप्रलंभ शृंगार दोनों भिन्न आश्रय में रहने के साथ एक दूसरे की अनुभूति नहीं बन सके। यद्यपि दोनों एक दूसरे की अनुभूतियों को समझते हैं

परन्तु अपना सकने में असमर्थ हैं। समस्त साहित्य इसी रोग की वस्तु है। साहित्य का आनन्द इच्छाधीन विषय ही रहता है, इतरेच्छाधीन विषय कभी नहीं।

उक्त दोनों परिभाषाएँ मनोवृत्ति को तृप्त करने की भावना व्यक्त करती हैं।

छठीं परिभाषा के अनुसार सज्जन लोग जिसे भली प्रकार धारण करते हैं उसे साहित्य कहते हैं और उसी की भाववाचक संज्ञा साहित्य है। अर्थात् साहित्य केवल क्षुद्र वासनाओं की वस्तु नहीं, वह मनुष्य की मौलिक मनोवृत्तियों को उन्नयन (Sublimation) की ओर प्रवृत्त करने वाली वस्तु है। यद्यपि सत् और असत् परस्पर सापेक्ष शब्द हैं, परन्तु प्रत्येक देश और प्रत्येक काल अपने विशिष्ट मापकों के द्वारा इनकी विशिष्ट परिभाषाएँ बनाता रहता है। उन परिभाषाओं के अनुसार सत् असत् का स्वरूप निश्चय होता है और साहित्य असत् पर सत् की विजय दिखाने में समर्थ होता है। संसार का कोई भी साहित्य इसका अपवाद नहीं। वैसे तो वर्षा में मक्खियों का भी आधिक्य हो जाता है।

सातवीं परिभाषा के अनुसार सत् का सम्यक् विकास भारतीय साधक महर्षियों में मानते हैं। महर्षि भी जिस वाङ्मय का सावधानतापूर्वक मनन करते हैं वह साहित्य है। हम मन्त्र द्रष्टा महर्षियों के उद्धरण ऊपर दे आये हैं। यहाँ उनकी आवृत्ति की आवश्यकता नहीं। महर्षि वेदव्यास का श्रीमद्भागवत और महाभारत यदि साहित्य नहीं है तो और कुछ नहीं है। परन्तु इस साहित्य की प्रवृत्ति मनुष्य के मन की वृत्ति को सदैव ऊँचा उठाने में सहायक रही है और उसकी यह शक्ति आज भी वैसी ही सजीव है।

आठवीं परिभाषा के अनुसार भारतीय साधक अपने प्रत्येक कार्य में परमात्मा को देखता है। और उसकी समस्त गतियों का नियामक वही परमात्मा है। अतएव वह मानता है कि साहित्य की हित—साधक शक्ति परमात्मा की भेजी हुई है। परमात्मा ही अपनी अनुकम्पा से लोक-विषयिणी मानव-मनोवृत्ति को जब अलोक-विषयिणी बनाने की इच्छा करता है तब साहित्य का सृजन होता है। जिससे 'नोन तेल लकड़ी' के चक्कर में फँसा हुआ मनुष्य का मन 'ब्रह्मस्वाद सहोदर काव्यानन्द' की प्राप्ति करके संसार से ऊँचा उठता है और इस प्रकार उसकी वृत्तियों का उन्नयन होता है।

इस प्रकार ये दोनों मत भी साहित्य की तीसरी विशेषता के अन्तर्गत हैं।

लिटरेचर (Literature):—भारतवर्ष की साहित्य-सम्बन्धिनी यह विचारधारा विश्वजनीन है। संसार की प्रसिद्ध भाषाओं में साहित्य का प्राथ-

मिक अर्थ इसी रूप में ग्रहण किया गया है। लिटरेचर (Literature) शब्द के सम्बन्ध में इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका (Encyclopaedia-Britainnica) में इस प्रकार व्याख्या की गई है:—

A general term which, in default of precise definition may stand for the best expression of the best thought reduced to writing. Its various forms are the result of race peculiarties, or of diverse individual temperament, or of political circumstances securing the predominance of one social class which is thus enabled to propagate its ideas and sentiments.

अंग्रेजी में प्रयुक्त होने वाला शब्द Literature मूलतः भाव से सम्बद्ध नहीं है। लिटरेचर शब्द का शाब्दिक अर्थ 'अक्षर' से सम्बद्ध 'आक्षर' है; अर्थात् वे विचार जो व्यंजनादि की सहायता से व्यक्त किये जायँ। इस अर्थ में लिटरेचर शब्द का प्रयोग उन समस्त विचारों के लिए हो सकता है जो मनुष्य की अनुभूति में किसी प्रकार आते हैं, परन्तु पश्चिम का प्राचीन साहित्य भी 'ओडेसी' और 'इलियड' में जिस ओर संकेत करता है वह इस बात का निदर्शन है कि लिटरेचर कोमल वृत्तियों की व्यंजना है। यह अनुमान किया जाता है कि इन महाकाव्यों के रचयिताओं ने अपने पूर्व में उपस्थित 'देव-स्तव गीत', 'चारण गीत', 'शोक-गीत' अथवा अन्य मनोदशाओं को व्यक्त करने वाले गीतों से भाव-ग्रहण में प्रेरणा पाई। इन गीतों की ओर इन महाकाव्यों में यत्र-तत्र संकेत मिलते हैं।

इसीलिए लिटरेचर की व्याख्या करते हुए 'इनसाइक्लोपीडिया' कहती है कि मानव के सर्वोत्तम विचारों की वर्णों द्वारा सर्वोत्तम व्यंजना ही लिटरेचर है। मैथ्यू आर्नाल्ड भी यही भाव व्यक्त करता है :

Literature is the best that has been thought and said in the world.

'इनसाइक्लोपीडिया' ने उन समस्त कारणों पर भी विचार किया है जिनसे साहित्य विभिन्न मार्गों पर चल पड़ता है। यूनान की दो जातियाँ अपनी विशेष कलाकृतियों के लिए प्रसिद्ध हैं। स्पार्टन जाति युद्ध-प्रिय थी। अतएव उनके गीत और समस्त कलाएँ वीरता की व्यंजक हैं। एथेनियन सौन्दर्य के उपासक थे। अतः उनकी कृति में भावनाओं की कोमलता है। भले ही अन्त तक स्पार्टन की कठोर शक्ति के सम्मुख एथेनियन की कोमलता नतमस्तक हो गई, परन्तु दोनों का साहित्य उनकी जातिगत विशेषताओं का निदर्शक रहा है। अन्ततः एक दिन ऐसा आया जब एथेन्स की कोमलता ने स्पार्टा की कठोरता पर विजय प्राप्त की

और इस प्रकार जिस मधुर साहित्य का निर्माण हुआ वही लैटिन साहित्य के मधुर काव्य की पृष्ठभूमि है ।

कभी-कभी साहित्य का स्वरूप वैयक्तिक मानस की प्रवृत्ति की विभिन्नता के कारण साहित्य की समकालीन सामान्य धारा से नितान्त विभिन्न रूप में उपस्थित होता है । मिल्टन का व्यक्तित्व और उसका साहित्य दोनों ही इस प्रगति के उत्तम उदाहरण है । फ्रांस के साहित्य और उसकी विचारधारा का प्रभुत्व न केवल इंगलैण्ड, अपितु पूरे यूरोप पर बहुत समय तक रहा । उनका कारण वाल्टेयर और रूसो के क्रान्तिकारी विचारों से उठे हुए फ्रांस का राजनैतिक महत्व था । नैपोलियन की विजय ने इस प्रभाव को कुछ समय के लिए स्थायी रूप दे दिया ।

'इनसाइक्लोपीडिया' केवल कोष-ग्रन्थ है । अतएव उसकी व्याख्या विभिन्न विद्वानों की व्याख्या का संग्रह ही है । हम देखते हैं कि ये सब व्याख्याएँ पश्चिम के प्राचीन दार्शनिकों ने पहिले ही कर दी थीं । प्लेटो जीवन के तथ्यों से सीधा सम्बन्ध रखने वाले ज्ञान के संग्रह को साहित्य मानता है । वह कहता है कि मनुष्य चिन्तनशील प्राणी है । उसकी चिन्तना के स्थायित्व के लिए साहित्य की आवश्यकता है । अतएव दार्शनिक अथवा आलोचनात्मक मार्ग पर चलने वाली उसकी चिन्तना जिस ज्ञान का संग्रह करती है, उसी का वाहक साहित्य बन जाता है । साहित्य के इस रूप में सौन्दर्य विचारक की रचनात्मक शक्ति के द्वारा उत्पन्न होता है । उसकी रचनात्मक तथा विचारात्मक शक्तियों के संयोग से जिस कृति का जन्म होता है, वह कलाकृति कहलाती है । हम देखते हैं कि प्लेटो ने सबसे अधिक बल साहित्य के अन्तरंग विचारांश पर दिया है । उसके बहिरंग स्वरूप शैली को वह विचार से सदैव गौण मानता रहा है ।

विभिन्न पश्चिमीय विद्वानों के मतः—प्लेटो अपने दार्शनिक विचारों में समाज का अधिक महत्व समझता है । उसकी दृष्टि में साहित्य व्यक्ति की अपेक्षा समाज के लिए है । समाज की दृष्टि में वह व्यक्ति की उपेक्षा करता है । इसीलिए उसने साहित्य के विचारात्मक और चारित्रिक अंश पर विशेष बल दिया है । वह कहता है कि जो वस्तु जितनी ही अधिक नैतिकता के निकट होगी वह उतनी ही अधिक सुन्दर होगी । क्योंकि कलाकृतियों का नैतिक प्रभाव मानव-जीवन पर पड़ता है और कलाकृति में कलाकार के व्यक्तित्व की नैतिकता प्रतिफलित होती है ।

अरस्तू पहिला पश्चिमीय दार्शनिक था जिसने कलाओं की व्याख्या की । पाँच ललित कलाओं का विभाजन और उनमें काव्य को सर्वश्रेष्ठ स्थान अरस्तू

ने ही दिया था। परन्तु अरस्तू की दृष्टि में इन कलाओं की उत्पत्ति का मौलिक कारण अनुकृति (Imitation) की ही प्रवृत्ति है। अपने बाल्यकाल से ही मनुष्य में अनुकरण की मौलिक प्रवृत्ति होती है। प्राणि मात्र का यह स्वभाव है कि जीवन-निर्वाह के योग्य क्रियाकलाप को वह अपनी वंश-परंपरा से सीखता है। बिल्ली अपने बच्चे को चूहे का शिकार करना सिखाती है। वे बच्चे अनुकरण से ही यह क्रिया सीखते हैं। इसी प्रकार चिड़ियाँ अनुकरण के द्वारा चुगना और उड़ना सीखती हैं। मनुष्येतर प्राणियों में अनुकरण के द्वारा केवल वे ही क्रियाएँ सीखी जाती हैं जिनका सम्बन्ध उनके जीवन-निर्वाह से है। इस शिक्षा में भी उनका सहज ज्ञान सहायक रहता है। यद्यपि कुछ पक्षी जैसे शुक-सारिका अथवा अर्जुन आदि मनुष्य की वाणी का शुद्ध अनुकरण करते देखे गये हैं, किन्तु उनकी यह शक्ति उनके जीवन-व्यापार में सहायक नहीं है। मनुष्य में भी यह जन्म-जात प्रवृत्ति उपस्थित है, परन्तु मनुष्य की अनुकरण शक्ति और पशु की अनुकरण शक्ति में अन्तर केवल इतना है कि मनुष्य अनुकृति द्वारा प्राप्त ज्ञान को अपना बना लेता है और उसका अपने जीवन में प्रयोग भी कर सकता है, जो पशु के लिए असम्भव है। सम्भवतः अनुकृति की इसी शक्ति को विचार में रखकर अरस्तू मनुष्य और पशु का भेदक-गुण (differentia) अनुकरण को मानता है।

मनुष्य प्राणियों में सबसे अधिक अनुकरणशील होने के कारण न केवल शिक्षा ही प्राप्त करता है, वरन् वह अनुकृति से आनन्द भी प्राप्त करता है; क्योंकि उसके द्वारा उसकी आन्तरिक वृत्ति को तृप्ति प्राप्त होती है। बच्चों की तुतलाती बोली बोलते सुनकर उसे आनन्द इसीलिए प्राप्त होता है कि वह अपनी वाणी की अनुकृति का उदय उस बालक में देखता है। वही वाणी जब उस बालक की अपनी वाणी हो जाती है तब अनुकृति की कमी हो जाने के कारण आनन्द की मात्रा न्यून हो जाती है। मूर्ति या चित्र इसी अनुकृति की समरूपता के कारण आनन्दप्रद होते हैं।

मनुष्य अपनी अनुकरण वृत्ति की तृप्ति के लिए जिन वस्तुओं का उपयोग करता है, वे पत्थर आदि से निर्मित मूर्तियों, रंग आदि से निर्मित चित्र अथवा शब्दों से व्यक्त किये गये वर्णन होते हैं। इन साधनों से प्रस्तुत अनुकृत वस्तु जितनी ही अधिक अनुकार्य के अनुकूल होती है उसमें उतनी ही अधिक आनन्ददायिनी शक्ति होती है।

मनुष्य की अनुकरणवृत्ति स्वाभाविक है। अतएव उसमें कुछ कार्य तो स्वाभाविक अनुकृति के फल होते हैं। यथा छोटे बच्चे कोयल की बोली का अनुकरण

करके उसी स्वाभाविक वृत्ति की तृप्ति करते हैं। परन्तु कुछ ऐसे प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति भी होते हैं जो स्वभाव का माध्यम ही स्वीकार नहीं करते, वरन् उनका माध्यम कलात्मक हो उठता है। अर्थात् वे अपनी अनुकृति को सत्य के इतना निकट पहुँचा देते हैं कि अनुकृति और अनुकार्य में केवल दार्शनिक अन्तर ही रह जाता है। इस भेद-प्रतीति के स्थगन की ही अनुकृति से द्रष्टा के मन में आनन्द की सृष्टि होती है। और इसीलिए संसार में ऐसी वस्तुएं भी हैं जिनका यद्यपि प्रत्यक्ष दर्शन हमें दुःखद होता है, परन्तु यदि वे अनुकरण के द्वारा उपस्थित की जाती हैं तो उनसे हमें सुखदायक भावना की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार अरस्तू कला का मूल उद्गम अनुकरण में मानता है। अर्थात् जीवन-व्यापारों की सच्ची अनुकृति का ही नाम कला है। कला के सम्बन्ध में उसका मत यह है कि शब्द के माध्यम से सत्य की अनुकृति काव्य की उत्पादिका है। शब्द-माध्यम से व्यक्त होने वाली अनुकृति में जब शब्द के साथ छंद और संगीतात्मकता का योग हो जाता है तब काव्य की उत्पत्ति होती है। अर्थात् अरस्तू की दृष्टि में साहित्य-काव्य के मौलिक तत्व इस प्रकार हैं:—

१—वास्तविक जगत

२—अनुकृति की भावना

३—अनुकृति में शब्द, छन्द और संगीतात्मकता

इसी अनुकृति की भावना को वर्ड्सवर्थ ने भी स्वीकार किया है। वह अपनी 'पोइट्री एण्ड पोइटिक डिक्शन' (Poetry and Poetic Diction) में कहता है :

'The principal object, proposed in these poems was to choose incidents and situations from common life, and to relate or describe, throughout, as far as possible in a selection of language really used by men and at the same time to throw over them a certain colouring of imagination...and above all, to make these incidents and situations interesting by tracing them, truly though not ostentatiously the primary laws of our nature.'

वर्ड्सवर्थ जीवन की वास्तविक घटनाओं के सत्य वर्णन को ही काव्य मानता है। यद्यपि इस वर्णन में कल्पना के कुछ रंग की आवश्यकता वह स्वीकार करता है, परन्तु केवल इतनी ही जिससे वह वर्णन रुचिकर हो जाय।

वह स्पष्ट शब्दों में दिखावटी और व्यर्थ बनावट का तिरस्कार करता है। उसकी दृष्टि में कला के मूल तत्व इस प्रकार हैं :—

१—जीवन की घटनाएँ

२—उनके मूल में मानव-प्रकृति की प्राथमिक मौलिक वृत्तियाँ

३—उनका मनुष्य की अपनी बोली में सत्य वर्णन

४—इस वर्णन पर कल्पना की छाया

५—वर्णन की रुचिरता

कवि-हृदय में भावना की तीव्रता ही कविता का कारण होती है। इस तीव्रता की अनुभूति से जब कवि-हृदय व्यग्र हो उठता है तब उसकी वाणी कुछ कहने के लिए व्याकुल हो उठती है। इसी बात को वर्ड्सवर्थ कहता है:—

...Poetry is the spontaneous over-flow of powerful feelings.

"स्पाँण्टेनियस ओवरफ्लो" (Spontaneous overflow) का यह अर्थ नहीं है कि गुलाब के फूल को देखते ही मन मचल जाय और अनुभूतियों का ऐसा उफान (overflow) आ जाय कि दौड़ कर गुलाब का फूल तोड़ लें, वरन् 'मगन' हुए मन को बाहर लाकर उस अनुभूति की व्यंजना ही काव्य की उत्पत्ति का मुख्य हेतु होती है। इसीलिए वह कहता है:—

It takes its origin from emotion recollected in tranquillity.

परन्तु पी० बी० शैली (Shelley) का मत इस प्रकार है :—

'कल्पना की अभिव्यक्ति ही काव्य है। कला के शैशव काल में प्रत्येक व्यक्ति एक नियम का प्रत्यक्षीकरण करता है जिसके द्वारा मनुष्य लगभग उसी स्थिति के निकट पहुँच जाता है जिससे सर्वोच्च आनन्द की उपलब्धि होती है। परन्तु यह व्यक्तिगत भिन्नता इतनी स्पष्ट नही होती। केवल उन्हीं स्थितियों में यह भेद दिखाई देता है जिसमें सौन्दर्य के निकट पहुँचाने की यह शक्ति बहुत अधिक होती है, और जिनमें यह शक्ति अत्यधिक होती है वे ही कवि हैं।'[1]

1—Poetry may be defined as the expression of imagination ....every man in the infancy of art observes an order which approximates more or less closely to that from which the highest delight results, but the diversity is not sufficiently marked.........except in those instances where the predominance of the faculty of approximation to the beautiful is very great. Those in whom it exists in excess are poets. (A Defence of Poetry)

जेम्स हेनरी ले हण्ट (James Henry Leigh Hunt) कविता को 'पैशन' मानता है। 'पैशन' (Passion) शब्द का अर्थ समझ लेना आवश्यक है, क्योंकि हिन्दी में इसका पर्याय वासना के लगभग है। वासना के लगभग कहने से यह प्रयोजन है कि वासना संस्कार-भूमि पर पहुँची हुई हमारी दूषित प्रवृत्ति का नाम हो गया है। यद्यपि इसका मौलिक अर्थ यह नहीं था। 'पैशन' (Passion) में बलवती इच्छा की भावना अधिक सम्मिलित है। हण्ट कविता की व्याख्या इस प्रकार करता है :—

'कविता एक तीव्र वासना है, क्योंकि यह गम्भीरतम अनुभूतियों का अन्वेषण करती है तथा उन अनुभूतियों को वहन करने योग्य उसे होना चाहिए।'[1]

'यह एक ऐसी तीव्र वासना है जो सत्य की ओर उन्मुख होती है, क्योंकि सत्य के बिना अनुभूतियाँ अशुद्ध अथवा दोषपूर्ण रहती हैं।'[2]

'यह सौन्दर्यानुगत तीव्र वासना है, क्योंकि इसका कार्य आनन्द प्रदान-पूर्वक उदात्तीकरण तथा विशदीकरण है, और इसलिए भी कि आनन्दानुभूति का प्रियतम स्वरूप ही सौन्दर्य है।[3]

'यह शक्ति की ओर जानेवाली तीव्र वासना है, क्योंकि शक्ति ही वह विजयशील प्रभाव है जिसकी कवि स्वतः इच्छा करता है, अथवा यह कवि के द्वारा पाठक पर पड़ने वाला प्रभाव है।'[4]

'जिन वस्तुओं अथवा प्रतिविम्बों से इसका सम्बन्ध रहता है, उनको कल्पना की सहायता से यह 'कविता' धारण करती है और उदाहरणों के द्वारा

1—Poetry is a passion, because it seeks the deepest impressions; and because it must undergo, in order to convey, them.

2—It is a passion for truth, because without truth the expression would be false or defective.

3—It is a passion for beauty, because its office is to exalt and refine by means of pleasure and because beauty is nothing but the loveliest form of pleasure.

4—It is a passion for power, because power is impression or triumphant, whether over the poet, as desired by himself, or over the reader, as affected by the poet.

व्यक्त करती है। इस व्यंजना के लिए वह (कविता) अन्य प्रतिविम्बों को भी स्वीकार कर लेती है जिससे मूल वस्तुओं अथवा प्रतिविम्बों पर अधिक प्रभाव पड़ सकता है।'[1]

ऊपर के उद्धरणों पर यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि हेनरी ले हण्ट काव्य के मूल उपादान इस प्रकार मानता है :

१—जागतिक वस्तुएँ

२—तत्सम्बन्धी तीव्र राग या वासना

३—वासना से उत्पन्न जागतिक वस्तुओं का मानसिक प्रतिविम्ब

४—इस प्रतिविम्ब का शुद्ध और सत्य होना

५—इस प्रतिविम्ब में आनन्दप्रदायिनी शक्ति की बहुलता तथा तज्जनित शक्ति-सम्पन्नता

इनके अतिरिक्त हण्ट (Hunt) काव्य में उन कल्पनाओं की आवश्यकता स्वीकार करता है जो इस अनुभूति को अधिक तीव्रता, स्पष्टता और विशदता प्रदान कर सके। साथ ही भाषा के महत्व को भी वह स्वीकार करता है और इसीलिए स्वर-लहरी की शक्ति भी उसे मान्य है।

हण्ट महोदय की दृष्टि में काव्य के मौलिक उपादान कवि में अन्तर्निहित नहीं होते। बाह्य उत्तेजकों के द्वारा एक रागमयी तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है और उस रागमयी तीव्र इच्छा के द्वारा कवि-हृदय विम्ब ग्रहण करता है। यह विम्ब-ग्रहण जितना ही शुद्ध और सत्य होता है उतना ही कवि-हृदय उसको व्यक्त करने में अधिक समर्थ होता है। इस व्यंजना में कवि की कल्पना उसकी सहायक होती है। हेनरी ले हण्ट ने उन सभी बाह्य उपादानों का संग्रह कर दिया है जिससे सत्यकाव्य की उत्पत्ति होती है। परन्तु वह उस प्रतिभा की ओर संकेत नही करता जो कवि-हृदय के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रतिभा के बिना तीव्रतम उत्तेजकों के द्वारा प्राप्त अनुभूतियाँ भी लौकिक होकर ही रह जाती हैं और उनसे चरम आनन्द की प्राप्ति नहीं हो पाती। कल्पना शुद्ध प्रातिभ व्यापार नहीं है, वरन् बाल्यावस्था से साथ चलने वाली सहज मनोवृत्ति है। इस मनोवृत्ति को संतुलित अवस्था में लाने वाली भाव-प्रवण प्रतिभा के बिना सत्काव्य का उदय नहीं होता। संभवतः हण्ट कल्पना में ही इस प्रतिभा को अन्तर्भुक्त मानते हैं।

1—It embodies and illustrates its impressions by imagination or images of the objects of which it treats, and other images brought in to throw light on those objects.

यहाँ तक पाश्चात्य दार्शनिकों के विचार से काव्य की प्रेरिका मौलिक प्रवृत्तियों का विवेचन हुआ। लगभग सभी पश्चिमीय दार्शनिकों ने काव्य का फल प्लेज़र (Pleasure) माना है। संभवतः प्लेजर (आनन्द) शब्द का प्रयोग भारतीय रस के समान ही है, क्योंकि काव्य-जनित सुख वस्तुतः लौकिक सुख नहीं है। पश्चिम के विद्वानों ने इस प्लेजर (आनन्द) की भावना को इतना आगे बढ़ाया कि वहाँ एक सम्प्रदाय ही खड़ा होगया जिसने प्लेजर (आनन्द) को रस की उच्च भूमि से गिराकर कला की कलाबाजी में मिला दिया। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक फ्रांस के विद्वान् थे, जिन्होंने कला को केवल कला के लिए मान लिया और लोक से इसका सम्बन्ध छुड़ाकर उसे केवल खिलौना बना दिया। बाडलेयर कहता है— 'Poetry has no end beyond itself' अर्थात् काव्य का स्वभिन्न कोई भी प्रयोजन नहीं है। भाव यह है कि शब्द का लोक से कोई सम्बन्ध नहीं है। कविता पढ़ लीजिए, उससे मनोरंजन कीजिए, फिर कपड़ों की धूल के समान उसे झाड़ दीजिए, वह उतनी ही देर तक काम की थी जब तक आप खेल खेल रहे थे। रात्रि के देखे हुए मधुर स्वप्न के समान आपने उसका आनन्द लिया, परन्तु जीवित और जाग्रत जगत् में वह स्वप्न न आप के किसी काम का है और न जगत् के। इसी भाव की व्याख्या करते हुए मॉरिस कहता है—"हम किसी कुटिल को सन्मार्ग पर लाने की चेष्टा क्यों करें? हमारे लिए पर्याप्त यही है कि मधुर ध्वनि करती हुई हमारी कविता-विहंगिनी आनन्दपूर्वक अपने सुन्दर पंखों को 'कल्पना सौन्दर्य' के रजत-द्वार पर फड़फड़ाती रहे।"[1]

'किसी कुटिल को सन्मार्ग पर लाने की चेष्टा क्यों करें?' का अर्थ यह है कि सरलता और कुटिलता काव्य की परिधि के बाहर की वस्तुएँ हैं। इनका क्षेत्र केवल जगत् का व्यवहार है और कवि क्या इस जगत् का प्राणी है? वह किसी का गुरु नहीं है जिसका काम उपदेश देना है। वह सौन्दर्य का उपासक है और सुन्दरता के जगत् में रमण करता है।

आस्कर वाइल्ड (Oscar Wilde) इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त करता है। 'काव्य सदाचार अथवा दुराचार की प्रतिपादिका कोई पुस्तक नहीं है। जो कुछ है, वह इतना ही कि कोई पुस्तक अच्छे ढंग से लिखी गई है

1—Why should I strive to set the crooked straight.
Let it suffice me that my murmurring rhyme.
Beats with light wings against the ivory gate.

-या बुरे ढंग से। कलाकार में चारित्रिक सहानुभूति की भावना अक्षम्य है। सम्पूर्ण कला पूर्णतया अनुपयोगी है।'[1]

इस प्रकार सुन्दरता की वेदी पर इन कलावादियों ने सदाचार का बलिदान किया और सदाचार की निर्णायिका विवेक बुद्धि का बहुत समय तक तिरस्कार भी किया। परन्तु अन्ततः ये कलावादी भी इस बुद्धि की महत्ता को सम्पूर्णतः अस्वीकार न कर सके। इन्हीं में से कुछ ऐसे व्यक्ति निकल आये जो कला को महत्व देते हुए भी बुद्धि का साहचर्य स्वीकार करने पर बाध्य हुए। प्रसिद्ध कलावादी फ्लाबर्ट (Flaubert) को कहना पड़ा—'हृदय और बुद्धि अभिन्न हैं, जो व्यक्ति इनमें विभाजक रेखा खींचते हैं उनके पास दो में से कोई भी वस्तु नहीं है।'[2]

पेटर कलावादियों का प्रमुख आचार्य था। 'कला कला के लिए है' इस सिद्धान्त के अनुयायी पेटर को अपना गुरु मानते हैं। वह भी शब्द की प्रभावशालिनी शक्ति स्वीकार करता है और उसका उपयोग सहानुभूति, सहयोग और मानवता की सेवा के लिए मानता है।

इस प्रकार बुद्धि कम से कम कला की सहचारिणी बनी। परन्तु शुद्ध कलावादियों की कला-पूजा की प्रतिक्रिया भी प्रारम्भ हुई। अंततः किसी आलोचक ने यहाँ तक कह डाला :—

'यदि कला का उद्देश्य केवल 'मनोरंजन है' तो ऐसी कला एक मादक पदार्थ है, अथवा एकान्त सौन्दर्य-भावना बौद्धिक जगत् के लिए विष है।'[3]

वस्तुतः कला यदि केवल मनोरंजन का साधन रही तो समय और धन तथा बुद्धि का उपयोग व्यर्थ ही होगा। बेन्थम कहता है:—

If the game of pushpin furnishes more pleasure it is more valuable than either.

1—There is no such book as moral or immoral book. Books are well written or badly written that is all. An ethical sympathy in an artist is an unpardonable mannerism. All art is quite useless.

2—The heart is inseparable from intelligence Those, who have drawn a line between the two possessed neither.

3—pure amusement is an intoxicant or an aesthetic opium of the intellectual.

सच है, यदि हम अपने घरेलू खेलों में ही अधिक आनन्द प्राप्त कर सकें तो काव्य और संगीत की चर्चा किस काम की? इतना ही नहीं, जीवन केवल मनोरंजन के सहारे ही नहीं चलता। हम पहिले कह चुके हैं कि प्रत्येक उपयोग योग्य वस्तु के दो परिणाम हैं—'स्वादु' और 'तोष'। यदि काव्य केवल स्वाद ही दे सका, तोष न दे सका तो क्रिश्चियाना रोजटी के शब्दों में:—

I plucked pink apples from mine apple tree
And wove them all that evening in my hair.
Then in due season when I went to see
I found no apples there.

किसी फलप्रद वृक्षों के प्रारम्भिक फलोद्गम से ही अपना शृङ्गार करके जो व्यक्ति-मनोरंजन कर लेता है, निश्चय ही फल-प्राप्ति के समय उसे निराशा होती है। काव्य को क्षुद्र मनोरंजन का साधन बनाकर जो व्यक्ति तृप्त हो जाता है, जीवन के कठोर आघातों में सहनशीलता की शक्ति देने वाली जीवन-व्यापिनी काव्योपयोगिता को वह अवश्य तुच्छ बना देता है।

संभवतः इन्हीं कलावादियों की कलाबाजी से ऊबे हुए कार्लाइल (Carlyle) ने कहा होगा 'A pack of lies that foul creatures write for diversion.' न्यूटन तो कार्लाइल की अपेक्षा भी कहीं अधिक अप्रसन्न जान पड़ता है। वह कविता को "अबुद्धि पूर्ण मूर्खता" कहता है।

यह नहीं है कि काव्य-जनित आनन्द उपेक्षणीय वस्तु है। कोई कविता यदि आनन्द का उत्पादन नहीं करती तो निश्चय ही वह कविता नहीं है। परन्तु कविता का आनन्द कलावदी का आनन्द नहीं, वरन् पी० बी० शैली के शब्दों में:—

"कविता सदैव आनन्द से युक्त रहती है। परन्तु इसका प्रभाव अलौकिक, अकाल्पनिक और जागतिक चेतना से ऊपर होता है।"[१] क्योंकि "कवि शाश्वत, असीम और एकत्व का सहभागी होता है। उसकी भावना में समय, स्थान और नानात्व का अवकाश नहीं होता।"[२]

1—Poetry is ever accompanied with pleasure. It (poetry) acts in a divine and unapprehended manner beyond and above consciousness.

2—A poet participates in the eternal, the infinite and the one, as for as relates to his conceptions, time and place and numbers are not.

शेली की यह भावना भारतीय काव्य-दर्शन के इतने अधिक निकट है कि हम उसे भारतीय रस-दर्शन का अनुवाद कह सकते है जिसमें काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द-सहोदर कहा गया है। प्रसिद्ध चित्रकार "लियोनार्ड्स" कहता है:—

"चित्रकार केवल मानवाकृति का ही सौन्दर्य चित्रित नहीं करता, वरन् मानवात्मा के संकल्पों का भी चित्रण करता है।"[1]

मानवात्मा के संकल्पों के चित्रण का अर्थ यह है कि मानव-जीवन के शाश्वत सत्यों का चित्रण किया जाय।

जीवन स्वयं अपनी व्याख्या है और मानव-जीवन तो सदा से अपनी ही व्याख्या में अपने प्रत्येक साधन का उपयोग करता रहा है। अन्तर केवल इतना है कि उसके कुछ साधन जीवन की सामयिक व्याख्या करते हैं तथा अन्यत्र ऐसी चेष्टा देखी जाती है, जिसमें उसके जीवन के मौलिक सत्यों की व्याख्या दिखाई देती है। अर्थशास्त्र, राजनीति, इतिहास आदि ऐसे शास्त्र हैं, जिनमें उसके जीवन की सामयिक प्रवृत्तियो की व्याख्या रहती है, परन्तु कविता "जीवन के शाश्वत सत्यों की व्यंजना के रूप में उसी का शुद्ध प्रतिविम्ब है। यह ऐसी क्रियात्मक रचना है जो मानव-प्रकृति के अपरिवर्तनीय रूपों के अनुसार होती है।"[2]

पश्चिम की विवेचना में हमारे दृष्टिकोण से काव्य की यह परिभाषा सबसे उत्तम है। क्योंकि हम क्या है ? और क्यों हैं?—इन दो प्रश्नों पर समस्त मानव-कृतियाँ आधारित हैं। 'क्या हैं' के उत्तर में कोई भौतिक जगत् की ओर देखता है, तथा 'क्यों हैं?' के उत्तर में वह भौतिकता की ओर बढ़ता है। इस प्रकार का उत्तर देने वाला प्रकृति में ही रमता है और प्रकृतिजन्य सुखों को ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य समझ कर उस ओर दौड़ पड़ता है। परन्तु दूसरा दार्शनिक 'क्या हैं?' प्रश्न के उत्तर में भौतिक जगत् के भीतर छिपी हुई किसी अन्य सत्ता का दर्शन करता है और 'क्यों हैं' के उत्तर में उस सत्ता की प्रत्यक्ष अनुभूति के लिए प्रयत्नशील होता है। ऐसा व्यक्ति जगद्बाह्य स्थिति में पहुँचने की चेष्टा करता

1—A good painter has two chief things to paint man and the intention of his soul.

2—A poem is the very image of life expressed in the eternal truth. It is the creation of actions according to the unchangeable forms of human nature...(Shelley)

हुआ जगत् के काम का नहीं रहता। अन्य विचारक 'क्या है' का उत्तर देने में प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनो ओर देखते हुए 'क्यों है' के उत्तर में इन दोनों में ऐसा समन्वय स्थापित करना चाहते है जो बुद्धि-ग्राह्य हो, जिससे प्रकृति का सुख भी प्राप्त होसके और परमार्थ का आनन्द भी। कविता इसी प्रकार का व्यापार है। वह प्रकृति से सुन्दरता लेती है और आत्मा से पवित्रता। दोनों का संतुलित मिश्रण उपस्थित करके वह जीवन को पवित्र बनाने की ओर प्रवृत्त होती है। वर्ड्सवर्थ का कथन है:—

"स्वभावगत प्रेरणाओं का यान्त्रिक अन्धानुशासन मानते हुए हम इस प्रकार की वस्तुओं का वर्णन तथा उन मनोरागों का चित्रण करेंगे जिनसे पाठक की बुद्धि किसी न किसी परिणाम में अनिवार्यतः विकसित हो सके और उसकी प्रेमभावना बलवान तथा पवित्र हो सके।"[१]

वर्ड्सवर्थ के इन शब्दों में स्वभावगत यान्त्रिक अन्धानुशासन का अर्थ प्रकृति की ओर मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है जिसकी ओर वह दौड़ता ही है, परन्तु कवि का कृतित्व उस प्रवृत्ति को ही पवित्र करना है। वर्ड्सवर्थ कविता के प्रभाव को स्वीकार करता है। और सच भी है:—

Art is a food or poison. The artist should try to create good influence. (Puritan's view)

प्यूरिटन का उक्त विचार उचित ही है। कलाओं ने मानसिक भोजन बनकर जातियों को शक्ति दी है और विष बनकर उनका विनाश किया है। इसके उदाहरणों की कमी नहीं है।

पश्चिमीय विचार-परंपराओं का समन्वय:—ये समस्त पश्चिमीय विचार-परंपराएँ गम्भीर दृष्टि से देखने पर उन्हीं तीन भावनाओं में अन्तर्भुक्त हो जाती हैं जिनका हम भारतीय साहित्य का विवेचन करते समय उल्लेख कर चुके हैं। अर्थात् कलावादी केवल तृप्ति की ओर दौड़ता है, प्रभाववादी वृत्तियों के समुन्नयनपूर्वक काव्य को मानव-हित का साधक बनाता है। वस्तुतः साहित्य इन तीनों के संतुलित संयोग का नाम है। उसका प्रियत्व हमारी रुचि का कारण बनता है जिससे हमें साहित्य की ओर प्रवृत्ति होती है। अन्यथा व्यर्थ

1—We shall by obeying blindly and mechanically the influences of those habits, describe objects and utter sentiments of such a nature that the understanding of the reader must necessarily be in some degree enlightened and his affection strengthened and purified. (Wordsworth)

समय नष्ट करने के लिए कोई पाठशालाएँ छोड़कर एकान्त में पुस्तकों के साथ सिर न खपाता। और यदि हमारी वृत्तियों का समुन्नयन साहित्य से न होता, वह हमारे जीवन का शाश्वत संगी न होता, तो पदे-पदे हम सूक्तियों को अपना कण्ठाभरण न बनाये रहते। यही नहीं, विपत्ति में सान्त्वना देने की जो शक्ति सत्साहित्य में है, संभवतः वैसी शक्ति अपने हितैषियों के हित-वाक्यों में भी नहीं मिलती है। मिल्टन अन्धा हो गया, उसे पीड़ा थी कि वह अपनी प्रतिभा के द्वारा अपने निर्माता की सेवा नहीं कर सकता, परन्तु इस पीड़ा में भी उसे आशा की किरण दिखाई देती है और वह पुकार उठता है:—

'Thousands at His bidding speed
And post o'er land and ocean without rest:-
They also serve him best who only stand and wait.

मिल्टन के इस पद ने न जाने कितने असमर्थों को शान्ति दी होगी। हमारा तो यह विचार है कि जब तक संसार में असमर्थ बने रहेंगे तब तक यह पद उन्हें शक्ति देता रहेगा।

हमारे विचार से तो साहित्य का मुख्य कृतित्व इसमें है कि वह 'स्वादु' और 'तोष' दोनों प्रदान कर सके। वह ऐसा 'स्वादु' दे सके, जो मीठा तो हो, परन्तु ऐसा मीठा न हो कि उसमें कीड़े पड़ सकें। वह 'तोष' दे सके, परन्तु ऐसा तोष हो कि फिर भूख न लगे। जो काव्य या साहित्य इस 'स्वादु' और 'तोष' को दे सकता है, वही सर्वश्रेष्ठ साहित्य है। किसी साहित्य की उत्कृष्टता का तारतम्य इन्ही की मात्रा पर निर्भर है।

आज जितने भी वाद दिखाई देते है, उन सभी के मूल में इन्हीं की मात्रा की न्यूनाधिक उपस्थिति है। कोई लौकिक सम्पत्ति को मानव के तोष का साधन मान कर उसकी वितरण-व्यवस्था के पीछे दौड़ रहा है, कोई अपने से बाहर की ओर देखता है और वहाँ से अपने लिए 'स्वादु' या 'तोष' की सामग्री ही लेना चाहता है। जिसकी दृष्टि जहाँ टिक जाती है उसे वही साहित्य की वस्तु दिखाई देती है। तीसरे ऐसे है जो इन सबसे भिन्न अपने भीतर ही 'स्वादु' और 'तोष' दोनों ही प्राप्त करना चाहते हैं। परन्तु इनमें से कुछ साधन-सम्पन्न भी है जो सचमुच ऐसी वस्तु पा गये है, जो 'स्वादु' और 'तोष' देने वाली है। कुछ ऐसे भी है जो मिथ्यादम्भ के मूर्तिमान् रूप है। वे अपने दम्भ के बल पर दूसरों को धोखा दे रहे है। यदि यह कथन उनके प्रति अन्याय समझा जाय तो इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि साधना की अपूर्णता के कारण वे स्वयं धोखे में हैं।

हित के विभिन्न स्वरूप

हित के विभिन्न स्वरूप

जिस 'स्वादु' और 'तोष' रूप फल की व्याख्या पहिले की गई है उसके मूल में मनुष्य की प्रकृति ही हेतु है। वह मूल प्रवृत्ति विभिन्न स्वादु और विभिन्न तोष की ओर किस प्रकार प्रेरणा करती है, यहाँ हम उसी पर विचार करेंगे। आँख खुलते ही जब प्राणी अपने आसपास देखता है तब उसे दो प्रकार के आकर्षण दिखाई पड़ते हैं। एक तो वे हैं जिनके संग्रह की प्रेरणा उसे भीतर से होती है, दूसरे वे है जिनकी कोई विशेषता उस आकर्षण का कारण है। बालक मातृ-स्तन की प्रवृत्ति अपनी अंतःप्रेरणा से पाता है। उसका माता के प्रति आकर्षण केवल इसी लिए है कि उसे भूख लगने पर भूख की तृप्ति माता से प्राप्त होती है। परन्तु जलते हुए दीपक की ओर एकटक देखने वाला बालक दीपक की ओर इसी लिए देखता है कि दीपक का रूप ही उसके आकर्षण का कारण है। इसी प्रकार कुछ ऐसी वस्तुएँ भी हैं जिनकी ओर हमारी प्रवृत्ति आकृष्ट तो नहीं होती, परन्तु वे हमें लेनी पड़ती हैं। माता बालक की आँखों में काजल लगाती ही है, भले ही बालक रोता-मचलता रहे। कभी-कभी हमारा अभ्यास भी वस्तुओं के प्रति हमारी रुचि का कारण बनता है। यथा पहिली बार तम्बाकू खाने या पीने वाले को तम्बाकू के प्रति न तो आन्तरिक प्रेरणा ही होती है और न तम्बाकू में कोई बाह्य आकर्षण ही होता है। परन्तु अभ्यास तत्सम्बन्धी रुचि को इतना बलवान बना देता है कि तम्बाकू के बिना उससे रहा नही जाता।

इस प्रकार मनुष्य जिन वस्तुओं को उपयोग में लाता है उनके सम्बन्ध में यही चार प्रकार की वृत्तियाँ—अन्तःप्रेरणा, बाह्य आकर्षण, निमित्त-जन्य हित-प्रेरणा और अभ्यास-जन्य प्रेरणा काम करने लगती हैं।

१—अन्तःप्रेरणाः—अन्तःप्रेरणा से सम्बन्ध रखने वाली वस्तुओं के प्रति मनुष्य का राग स्वाभाविक है। उनकी मात्रा भी निश्चित है। तृप्ति के लिए उस निश्चित मात्रा से अधिक की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु मनुष्य की संग्रह-प्रवृत्ति ऐसी वस्तुओं की मात्रा घटा-बढ़ा दिया करती है। इसीलिए

तद्विषयक राग भी घटता-बढ़ता रहता है। साथ ही ऐसी वस्तुओं के प्रकार का रूप भी मनुष्य का स्व-निश्चित ही है। चने की रोटी खाने वाले श्रमिक की भी भूख मिटती है और सुस्वादु मिष्ठान्न खाने वाले धनिक की भी। किन्तु इन दोनों के प्रति रुचि मनुष्य की बनाई हुई है।

२—*बाह्य आकर्षण:*—बाह्य आकर्षण से सम्बन्ध रखनेवाली वस्तुओं के प्रति राग विभिन्न संचित मानसिक शक्तियों के अनुकूल हुआ करता है। जन्मान्ध बालक को रूप के प्रति आकर्षण नहीं हो सकता और बधिर का राग के प्रति प्रेम संभव नहीं। इसी प्रकार बुद्धि-हीन प्राणी के लिए कालिदास और तुलसी की रचनाएँ रस प्रदान नहीं कर सकतीं। ऐसे व्यक्तियों के लिए तुलसी का कथन है—

कबित रसिक न राम पद नेहू। तिन्ह कहँ सुखद हास रस एहू॥
भाषा भनिति मोरि मति भोरी। हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी॥
प्रभु-पद-प्रीति न सामुझि नीकी। तिनहिं कथा सुनि लागहि फीकी॥
हरि-हर-पद-रति मति न कुतरकी। तिन कहँ मधुर कथा रघुबर की॥

जो कवित्त-रसिक हैं, जिन्होंने काव्य-साधना की है, जिनके बौद्धिक उपकरण शास्त्रीय तत्वों का विवेचन करने में समर्थ हैं, किन्तु उन्हें राम-पद से नेह नहीं है, निश्चय ही इस एक उपकरण के अभाव में सब कुछ होते हुए भी उनके लिए इस कथा में हास्य रस का आनन्द आयेगा, क्योंकि उन्हें इस कथा में गम्भीर तत्व का अभाव दिखाई देगा। ऐसे भी होंगे जिनकी न तो "सामुझि नीकी" होगी और न "हरिहर-पद रति" होगी। ऐसे महापुरुषों को यह कथा फीकी ही जान पड़ेगी। परन्तु जिन्हें प्रभु-पद प्रीति होगी और 'कुतरकी मति' न होगी उनको "भाषा-भनित" होने पर भी यह कथा मधुर ही लगेगी। इसी उपकरण-सम्पन्नता की आवश्यकता को बिहारी भी स्वीकार करता है—

सीतलता'रु सुगंध की, महिमा घटी न मूर।
पीनसवारो जो तज्यो, सोरा जानि कपूर॥

—बिहारी सतसई

३—*निमित्त-जन्य हित-प्रेरणा:*—उक्त दोनों प्रेरणाओं से भिन्न तीसरी निमित्त-जन्य हित-प्रेरणा है। ऐसी वस्तुओं के प्रति जिनमें निमित्त-जन्य प्रेरणा काम करती है, मनुष्य का राग स्वभावतः नहीं होता। परन्तु हित-साधक होने के कारण ऐसी वस्तुओं के प्रति उसका राग बँध जाता है। अनेक व्यक्ति सुरमा नित्य लगाते हैं, यद्यपि आँख थोड़ी देर रस पाती है, फिर भी यह राग इतना दृढ़ होता है कि उसे किसी प्रकार वे छोड़ना नहीं चाहते। इसका मूल

कारण यह निमित्त-जन्य हित-भावना ही है। विशेष प्रकार के साहित्य में व्यक्ति-विशेष की रुचि इसी निमित्त-जन्य हित-प्रेरणा से बँधी रहती है। कहानी साहित्य स्वभावतः आकर्षक होता है। परन्तु ऐसे भी व्यक्ति देखे गये हैं जो कहानी साहित्य को तिरस्कार के योग्य समझते हैं। इसका कारण निमित्त-जन्य हित-प्रेरणा ही है।

४—*अभ्यास-जन्य प्रेरणाः*—हम ऊपर कह चुके हैं कि तम्बाकू के प्रति रुचि विशेष का कारण केवल अभ्यास ही है, किसी रूपादि का आकर्षण नहीं। साहित्य की ओर भी इस प्रकार की प्रवृत्ति देखी जाती है। किसी न किसी प्रकार के साहित्य के निरन्तर अध्ययन करते रहने के परिणाम स्वरूप ही साहित्य-सेवन उनका व्यसन बन जाता है।

मानसिक उपकरणों की स्थिति इस प्रकार मानव-राग को विभिन्न रूपों में बाँटती रहती है। इस बटवारे में मन की दौड़ जिस ओर होती है उसके तीन परिणाम होते है। प्रिय, अप्रिय तथा हित। सेव का फल देखते ही उसका सुन्दर रूप हमें आकर्षक प्रतीत हुआ। फलतः हमने सेव प्राप्त किया, उसका आस्वादन किया और वह फल हमें प्रिय प्रतीत होने लगा। इन्द्रायण का फल भी देखने में सुन्दर प्रतीत होता है, उसकी सुन्दरता में आकर्षण का गुण भी है, परन्तु उसका स्वाद उसे अप्रिय बना देता है। नीम कटु है, परन्तु कटु होते हुए भी उसके प्रति वैद्यों का जितना राग है वह उसकी कटुता को देखते हुए अधिक प्रतीत होता है। इसी प्रकार कड़वी गुरुच को अमृता कहा जाता है। यह क्यों? केवल इसी लिए कि यह कड़वी होते हुए भी मनुष्य के लिए परम हित है।

इस प्रकार वस्तु के इन तीन सामान्य परिणामों—प्रिय, अप्रिय और हित पर यदि हम विचार करें तो प्रत्येक के दो-दो भाग और होंगे।

१—प्रिय
  अ—ग्राह्य प्रिय
  आ—अग्राह्य प्रिय
२—अप्रिय
  इ—द्वेषजनक अप्रिय
  ई—उदासीनताजनक अप्रिय
३—हित
  उ—प्रिय हित
  ऊ—अप्रिय हित

ग्राह्य प्रिय:—मानव की सहज प्रवृत्ति प्रिय वस्तुओं के प्रति दौड़ती है। उनका ग्रहण उसे तोष प्रदान करता है। किन्तु प्रत्येक प्रिय पदार्थ उसके लिए ग्राह्य हो ही, ऐसा नहीं है। हम पहिले कह चुके हैं कि हमारे लिए आवश्यक वस्तुओं की मात्रा निश्चित है। इस निश्चित मात्रा का अतिक्रमण करके जो व्यक्ति प्रिय वस्तु के पीछे दौड़ने लगता है उसका जीवन संशयापन्न हो जाता है। अतएव जिस प्रकार शारीरिक स्वास्थ्य के लिए ऐसी वस्तुओं का ग्राह्य प्रिय हो सकता है जो उनके स्वास्थ्य के लिए उपयुक्त हो, उसी प्रकार मानसिक स्वास्थ्य के लिए भी ऐसा ही साहित्य ग्राह्य प्रिय हो सकता है जो उसकी रक्षा, संवृद्धि एवं समुन्नयन के लिए उपयोगी हो। सारांश यह कि किसी भी प्रिय की वह सीमा जो मानसिक अथवा शारीरिक स्वास्थ्य के अनुकूल हो, ग्राह्य होगी। सब कुछ संग्रह करने की प्रवृत्ति ही भारतीय संस्कृत साहित्य की विशेषता रही है। अतः उसमें किसी एक ही भावना का बल कभी नहीं बढ़ पाया। इसी लिए वह साहित्य मानसिक संतुलन के लिए उपयोगी बना रहा। हिन्दी साहित्य में भी यह प्रवृत्ति बहुत काल तक कार्य करती रही है। कालान्तर में जब कविगण केवल प्रिय की ही ओर दौड़ पड़े तब उसकी ग्राह्यता एवं अग्राह्यता पर विचार करने का अवसर ही नहीं उपस्थित हुआ। फलतः मानसिक स्वास्थ्य विकृत हो गया। उसी का कुपरिणाम आज हम यत्र-तत्र देख रहे हैं।

अग्राह्य प्रिय:—कुछ पदार्थ ऐसे भी होते हैं जिनका प्रत्यक्ष स्वरूप अत्यधिक आकर्षक होने के कारण परम प्रिय होता है, किन्तु उनका परिणाम जीवन के लिए कष्टप्रद होता है। मानव-मन सांसारिक विषय-भोगों की ओर बड़ी तीव्र गति से दौड़ता है। वे जीवन में रागमयी प्रवृत्ति को तीव्रता प्रदान कर उसे अपना क्रीतदास बनाने का ही प्रयत्न करते हैं। दुर्बल मानव यह भूल जाता है कि विषयादि का आवश्यकता से अधिक प्रयोग सर्वथा हानिकारक होता है; अतः ऐसे पदार्थ प्रिय होते हुए भी अग्राह्य ही हैं। ऐसे साहित्य की कमी नहीं है जो प्रत्यक्षतः प्रिय तो है, पर परिणाम की दृष्टि से वह सर्वथा अग्राह्य है। यथा उर्दू की "ज़हर इश्क मसनवी"। यह काव्य की समस्त कलात्मक विशेषताओं से युक्त होते हुए भी मानव-वृत्तियों को दूषित करने के कारण अग्राह्य प्रिय है। हिन्दी में भी आज अपने स्वप्न-से भावखंडों को लेकर उपस्थित होने वाले कवियों की एक परपरा ऐसे ही अग्राह्य प्रिय का चित्रण करने में अपनी सफलता मानती है।

द्वेषजनक अप्रिय:—शत्रु हम पर आक्रमण करता है। हम न केवल उस के वार को बचाते हैं, अपितु उसके कार्य की प्रतिक्रिया के रूप में उसपर वार भी

करते हैं, और वह अपने इसी द्वेष-भाव के कारण हमारा अप्रिय बन जाता है। साहित्य में भी इस प्रवृत्ति ने बहुत कुछ दिया है। 'मोटेराम शास्त्री', 'मुन्शी खुशबख्तराय' आदि इसी प्रवृत्ति के परिचायक हैं।

उदासीनताजनक अप्रियः—कभी-कभी ऐसी स्थिति भी आ जाती है जब कोई हमारे प्रतिकूल काम करता है तब प्रारम्भिक अवस्था में हमारे मन में उसके प्रति एक विरक्तिमयी भावना उत्पन्न होती है। उसके प्रति उत्पन्न हुई यह विरक्ति ही कालान्तर में उदासीनता का स्थान ग्रहण कर लेती है और मनुष्य उसके हित और अहित के प्रति तटस्थ एवं उदासीन बन जाता है। कुछ लोग इस प्रवृत्ति को पलायन-वृत्ति कहते हैं। कहीं-कहीं यह वस्तुतः पलायन प्रवृत्ति ही होती है। परन्तु ऐसे अवसर भी आते हैं जब यह तटस्थ वृत्ति मनुष्य को ऊँचा उठा देती है और राग-द्वेष से ऊँचे उठकर न केवल वह अप्रिय कार्य पर विजय प्राप्त करता है, वरन्

बड़े मूँजी को मारा नफ़्से अम्मारा को गर मारा।
निहंगो अज़दहाओ शेरे नर मारा तो क्या मारा॥[1]—ज़ौक

के अनुसार वह अपनी सब से अधिक अप्रिय करने वाली अहं वृत्ति का शासक बन जाता है। ऐसे साहित्य का मूल्य जागतिक दृष्टि से भले ही न हो, परन्तु आत्मिक दृष्टि से उसका मूल्य अपरिमेय है और संसार के प्रत्येक साहित्य में ऐसी भावनाओं की कमी नहीं है।

प्रिय हितः—कुछ पदार्थ देखने में स्पष्ट प्रिय प्रतीत होते है और उन का परिणाम भी मनुष्य के लिए हितकर होता है। संसार की विषमताओं, निराशाओं एवं यातनाओं से ऊबा हुआ मानव प्रभु के उस स्वरूप का ध्यान करता है ज उसकी चित्तवृत्ति को अपनी ओर उन्मुख करके उसे परम शान्ति प्रदान करता है। प्रभु की उपासना उसे परम प्रिय प्रतीत होती है और उसका हित-साधन भी करती है। इसीलिए साधक तुलसी के शब्दों में 'राम चरन अनुराग' ही चाहता है:—

१—अभिमान के करने वाली अपनी अहंता को यदि तूने मार लिया तो तूने अपने सब से बड़े पीड़क को मार लिया। यदि भयंकर ग्राहों, सर्पों अथवा बलवान सिंह को भी मार लिया तो क्या वीरता दिखाई।

"जौ जगदीश तो अति भलो, जौ महीप बड़ भाग।
तुलसी ज्यों त्यों चाहिए, राम चरन अनुराग॥"

अप्रिय हितः—रोग-ग्रस्त प्राणी को कटु औषधि पान करने में बड़ी अरुचिकर एवं अप्रिय प्रतीत होती है, पर उसका परिणाम रोगी का हित-साधन ही होता है। एक दूसरा उदाहरण लीजिये। भौतिकता में आकंठ-मग्न प्राणी को सांसारिक वैराग्य एवं तपश्चर्यापूर्ण जीवन ही शान्ति प्रदान कर सकता है। इसके लिए जिस निराकार उपासना का विधान सन्तों ने बताया है, वह यद्यपि "ज्ञान का पंथ कृपान की धारा"-वत् है, पर उसका परिणाम अन्ततोगत्वा मानव के लिए पूर्ण कल्याणप्रद ही है।

प्रिय—हित और अप्रिय-हित पर तुलनात्मक विचार

प्रिय हितः—

"वा लकटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर कौ तजि डारौं।
आठहुँ सिद्धि नवौं निधि कौ सुख नन्द की गाय चराय बिसारौं।
कोटिक हूँ कलधौत के धाम करील की कुंजन ऊपर वारौं।
रसखान कबौं इन आँखिन सौं ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं॥

वह माधुर्य कैसा होगा जिस पर तीनों पुर का राज्य निछावर किया जा सकता होगा, अथवा वह सौन्दर्य कैसा होगा जिस पर मुग्ध होकर ताज ने "तारण नाल प्यारे हिन्दुआनी ह्वै रहूँगी मैं" कहा होगा। उस सौन्दर्य की अपरूप माधुरी का कहना ही क्या है? उसकी हित-साधकता का प्रमाण तो यही है कि शताब्दियाँ व्यतीत हो गई है, परन्तु ये दोनों सब का कण्ठहार बने हुए हैं।

दूसरी ओरः—

"जो विषया सन्तन तजी, मूढ़ ताहि लपटात।
ज्यों नर डारत वमन कै, स्वान स्वादु सों खात॥

यह भाव जीवन का अप्रिय-हित है। उपनिषद् में इस विषय की बड़ी सुन्दर व्याख्या है। भगवती उपनिषद् कहती हैः—

"अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याँ रताः॥१२॥ ईशावास्य

"अर्थात् जो मनुष्य विनाशशील स्त्री, पुत्र, धन, मान, कीर्ति, अधिकार आदि इस लोक और परलोक की भोग सामग्रियों में आसक्त होकर उन्हीं को सुख का हेतु समझते हैं तथा उन्हीं के अर्जन-सेवन में सदा संलग्न रहते हैं, ऐसे भोगासक्त मनुष्य विभिन्न भोग-योनियों को प्राप्त होते हैं। यही उनका अज्ञानरूप घोर

अन्धकार में प्रवेश करना है। दूसरे जो मनुष्य शास्त्र के तात्पर्य तथा भगवान के दिव्यगुण, प्रभाव, तत्व और रहस्य को न समझने के कारण न तो भगवान का ही भजन-ध्यान करते हैं और न श्रद्धा के अभाव तथा भोगासक्ति के कारण लोकसेवा और शास्त्रविहित उपासना में ही प्रवृत्त होते हैं, ऐसे विषयासक्त मनुष्य झूठमूठ ही अपने को ईश्वरोपासक बता कर सरल हृदय जनता से अपनी पूजा कराने लगते हैं। ये लोग मिथ्या अभिमान के कारण शास्त्रानुसार आवश्यक कर्तव्य करना भी छोड़ देते हैं। इतना ही नहीं, दूसरों को भी अपने वाक्‌जाल में फँसा कर उनके मन में अश्रद्धा उत्पन्न कर देते है। ये लोग अपने ही को ईश्वर के समकक्ष मानते-मनवाते हुए मनमाने दुराचरण में प्रवृत्त होते हैं। ऐसे दम्भी मनुष्यों को अपने दुष्कर्मों का कुफल भोगने के लिए बाध्य होकर कूकर-शूकर आदि नीच योनियों में और रौरव, कुम्भीपाकादि नरकों में जाकर भीषण यन्त्रणाएं भोगनी पड़ती हैं। यही उनका घोर अन्धकार में प्रवेश करना है"[1]

सम्भूति वे विषय हैं जिनमें प्रियत्व की भावना रहती है और असम्भूति वे विषय हैं जिनसे हमें द्वेष रहता है। दोनों ही हमें विषय की ओर प्रवृत्ति देने वाले हैं। अतएव दोनों ही अन्धकार के कारण हैं। एक यदि हमें आसक्ति की ओर प्रेरित करके अन्धकार में पहुँचाता है तो दूसरा अहंकार-पूर्वक एक का त्याग और दूसरे के ग्रहण के द्वारा उससे भी घने अन्धकार में ले जाता है। शराब पीना बुरा है, परन्तु शराब छोड़कर शराब त्याग देने का अभिमान उससे भी अधिक दोषावह है :—

"की तर्के मय तो मायले पिन्दार हो गये।
हम तोबा करके और गुनहगार हो गये॥"

परन्तु संसार इन्हीं में उलझा हुआ है। सम्भूति और असम्भूति प्रेयस् के ही दो रूप हैं। परन्तु श्रेयस् के सम्बन्ध में भगवती उपनिषद् कहती है :—

"अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुमधीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥१३॥ ईशावास्य

श्रेय क्या है? सम्भूति से वह श्रेय भिन्न है और असम्भूति से भी वह भिन्न है, जो हमारे और उसके दोनों के व्याख्यान में चतुर हैं, उनके मुँह से ऐसा सुना जाता है; अर्थात् विषयों के प्रति राग जब तक रहता है तब तक कल्याण की प्राप्ति नहीं होती। इसी प्रकार अज्ञानवश विषयों के प्रति विराग भी कल्याण

१—कल्याण, उपनिषद अंक, पृष्ठ १६७

के पथ से दूर है। फिर श्रेय का निश्चित मार्ग क्या है? भगवती उपनिषद् ने उसकी व्याख्या की है :—

"सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयँ सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥१४॥ ईशावास्य

जो आसक्तिमूलक सम्भूति को तथा द्वेष-जनक विनाश को भी साथ ही साथ जानता है वह विनाश के ज्ञान से मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है और सम्भूति के ज्ञान से अमृत का उपभोग करता है।

कवि का कौशल भी इसी सम्भूति और असम्भूति (विनाश) के तत्व को जानता है। यदि वह सम्भूति में प्रवृत्त होता है तो नग्न वासना के गीत गाता हुआ घोर अन्धकार में डूब जाता है। इसी प्रकार यदि वह अहन्ता के अभिमान-वश उथल-पुथल मच जाने के गीत गाता है तो वह उससे भी अधिक घने अन्धकार में है। कवि का कर्तव्य सम्भूति और असम्भूति को जानना और तटस्थ वृत्ति से उनका संतुलित चित्रण करना ही है। जो कवि ऐसे संतुलन का स्वामी होता है तथा ऐसा संतुलन अपने पाठकों को दे सकता है उसकी रचना में वस्तु की रागात्मकता का सम्पूर्ण सौन्दर्य होने के कारण वह मृत्यु को पार कर जाता है और मानवात्मा को ऊँची भूमि पर प्रतिष्ठित करने के कारण अमृत का अधिकारी होता है। यही कवि का प्रेयस् मिश्रित श्रेयस् है। न केवल प्रेयस् के व्याकरण से कवि कवि होता है और न केवल श्रेयस् के उपदेश से। जो प्रेयस् और श्रेयस् दोनों को जानता है वही सच्चा कवि है और यही कवि के लिए सच्ची उपनिषद् है।

वादों का उदय

वादों का उदय

वस्तुगतवाद:—काव्य-सम्बन्धिनी उन मानसिक प्रवृत्तियों पर विचार किया जा चुका है जो कवि को किसी विशेष दिशा में प्रवृत्त करती है तथा कवि-कौशल का वह आदर्श भी निश्चित किया जा चुका है जिस तक पहुँचने के लिए विभिन्न विचार-परंपरा के कवियों ने यत्न किया है। इस प्रसंग में विचार-परंपराओं का संक्षिप्त विश्लेषण करना आवश्यक है।

इतना निश्चित है कि वाद पहिले उत्पन्न नहीं हुए। कवि पहिले उत्पन्न होते हैं, आलोचक पीछे। आलोचक कवि की वृत्ति का निर्धारण करके उसे एक 'वाद' का नाम देते हैं। आगे चलकर लोग उस प्रवृत्ति का अनुसरण करके 'वादी' बन जाते हैं। इन अनुयायियों की अनुभूतियाँ उनकी प्रकृत दृष्टि का फल नहीं होतीं, वरन् वाद का सिद्धांजन लगा लेने के कारण उन्हें समस्त जगत् में अपना ही वाद दिखाई देता है और उस वाद के अनुयायी होने के कारण वे सर्वत्र अपना ही साम्राज्य स्थापित करना चाहते हैं।

'लया' अरब की सामान्य बालिका थी। उसके बन्धु का विनाश हो गया। वह शोकातुरा अपनी करुणा का संवरण न कर सकी। उसने विलाप किया और वह विलाप एक काव्य बन गया। अरबी की वह प्रथम 'मरसिया' थी। आगे चलकर ऐसे हो कुछ और शोक-गीत गाये गये होंगे। ये शोक-गीत प्रत्यक्ष अनुभूति के फल रहे होंगे। विद्वानों ने इनका विश्लेषण किया होगा और मरसिया की 'टेकनीक' निर्धारित की गई होगी। फ़ारस तक पहुँचते-पहुँचते इन शोक-गीतों से प्रत्यक्ष अनुभूति चली गई और 'मरसिये' कवि का कौशल बन गये। ठीक यही दशा भारतीय महाकाव्य की हुई। रामायण-महाभारत बहुत कुछ प्रत्यक्ष अनुभूति के फल थे। अतएव उनमें सत्य हृदय की व्यंजना जान पड़ती है। जब टेकनीक का निर्माण हो गया तब महापंडित माघ का उदय हुआ। उसके शिशुपालबध में महाकाव्य की टेकनीक का अक्षरशः पालन है। परन्तु प्रत्यक्षानुभूति का अभाव पग-पग पर खटकता रहता

है। केशव की रामचन्द्रिका की असफलता का कारण भी संभवतः यही था। और यही कारण है कि आज महाकवि कहलाये जाने वाले कुछ कवियों में कवित्व तो है, परन्तु काव्यत्व नहीं दिखाई देता।

इस प्रकार 'वाद' मूलतः कवि की प्रवृत्ति की व्याख्या है। उसका स्वतन्त्र स्वरूप सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से कुछ नहीं है। कवि की उन मौलिक प्रवृत्तियों से जिन वादों का उदय सम्भव था अथवा बाह्य प्रेरणा के अभाव में कवि-हृदय स्व-प्रवृत्ति वशात् जिस-जिस ओर झुक सकता था, वह केवल तीन रूपों में संभव था:—

१—स्व-जगत्

२—स्व-स्वत्व

३—स्व-पर-विभिन्न स्वत्व

'स्व' का संयोग इन तीनों प्रवृत्तियों के साथ रहना आवश्यक है, क्योंकि 'स्व' के अभाव में कोई कृतित्व नहीं रह सकता और जब कोई कृतित्व नहीं रह सकता तब कोई वाद भी संभव नहीं। उपनिषद् में भरद्वाज ने इसी 'स्व' की महत्ता का संकेत किया है। वेदों में इसी 'स्व' को आधार मान कर कर्म-काण्ड की प्रवृत्ति हुई है। अवेस्ता में भी 'तम यजतम......होत्रभ्यः' में 'स्व' ही असुरों के लिए सेवक के रूप में यज्ञ करता हुआ उपस्थित होता है। मिल्टन की (Last infirmity of Noble mind)[1] भी इसी 'स्व' की व्यंजना है। इसी प्रकार यज्ञकर्म में, आत्मचिन्तन में, देवपूजन में तथा अन्ततः 'तत्र को मोहः ? कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः' के रूप में उपस्थित स्व-पर-भिन्न 'स्व' का ही स्वत्व दिखाई देता है। अतएव मानव की समस्त प्रवृत्तियाँ 'स्व' को केन्द्र मानकर प्रवृत्त होती हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि कभी वृत्ति का वृत्त विस्तीर्ण होकर समस्त विश्व को अपनी परिधि में ले लेता है और कभी वह अपने क्षुद्र विषय-सुखों तक ही सीमित रहता है।

अब हम इन तीनों प्रवृत्तियों के स्वतन्त्र उद्गम पर विचार करेंगे।

स्व-जगत्:— आहार, निद्रा, भय और मैथुन मनुष्य के प्राणि-धर्म हैं। इनकी तृप्ति स्व-जगत् से ही होती है। इन प्रकृत आवश्यकताओं ने उसकी मौलिक वृत्तियों को भी सबसे पहिले इन्हीं चार मुख्य भागों में विभक्त किया होगा और संभवतः आज के कुछ वादों का मूल इन्हीं मौलिक प्रवृत्तियों में है।

1—"Fame is the spur that the clear spirit doth raise (That last infirmity of noble mind.) To scorn delights, and live laborious days." —'Lycidas'-Milton.

जब इसे भूख ने सताया होगा तब उसने सहज सुलभ फलों-फूलों के संग्रह की प्रवृत्ति संगृहीत की होगी। इस संग्रह-प्रवृत्ति ने एक ओर उसे दान, अतिथि-सेवा आदि सदाचार का उपदेश दिया होगा और आचारवाद, औचित्यवाद की ओर झुकाया होगा, दूसरी ओर लोभ, कृपणता आदि की प्रेरणा देकर दूसरे के जीवन को कठिन बनाने की प्रवृत्ति दी होगी, जिसकी प्रतिक्रिया में कार्य-विभाजन और सम्पत्ति-विभाजन के सिद्धान्त बने होंगे, जिनसे आज के यथार्थवाद, राष्ट्रीयता-वाद, समाजवाद और साम्यवाद का सीधा सम्बन्ध है।

निद्रा और भय प्रकृत आवश्यकताएँ हैं। इनका वास्तविक प्रयोजन विश्राम प्राप्त करना और सुरक्षित रहना है। इस विश्राम-प्राप्ति की भावना तथा सुरक्षा-भावना ने भी वादों के उदय में सहायता दी है। उसने एक ओर अपने विश्राम को निरापद करने की चेष्टा में झोपड़ी और अग्नि का संग्रह किया होगा जिनके विकास से अन्ततः कलावाद की उत्पत्ति हुई होगी; दूसरी ओर अकर्मण्यता और भीरुता की उत्पत्ति से पलायनवाद का जन्म हुआ होगा।

मैथुनेच्छा भी प्राकृतिक भूख है। मानव और पशु की इस भावना में थोड़ा अन्तर है। पशु का आकर्षण क्षणिक है, मनुष्य यत्न करके भी इस आकर्षण को क्षणिक नहीं रख सकता, क्योंकि उसके भीतर यह प्राकृतिक भूख केवल भूख ही नहीं है, वरन् वह एक ऐसे कोमल बन्धन का भी सृजन करती है जिसने संभवतः मानवात्मा को इतना अधिक ऊँचा उठा दिया है कि उसने त्याग का अनुपम आदर्श उपस्थित किया। संभवतः उसकी किसी अन्य आवश्यकता ने उसे इतना ऊँचा नहीं उठाया। भारतीय चिंतकों ने मैथुनेच्छा की प्रवृत्ति को उदात्त स्वरूप प्रदान करना चाहा। मानव अपने जीवन के उपरान्त भी जीवित रहना चाहता है। उसकी इस इच्छा की पूर्ति संतान के रूप में होती है। अस्तु, उस प्राकृतिक क्षुधा की तृप्ति इस उद्देश्य की पूर्ति-हेतु करवाकर आदर्शवाद की प्रतिष्ठा की गई। इस प्रकार भारतीय चिंतकों ने मैथुनेच्छा की प्रवृत्ति को उदात्त स्वरूप प्रदान करने का यत्न किया। अतः आदर्शवाद के मूल में जहाँ अन्य प्रवृत्तियों को योग है वहाँ इस प्रवृत्ति का भी बहुत बड़ा भाग है। यह प्रवृत्ति जहाँ एक ओर 'औचित्यवाद' की सहायिका रही वहाँ दूसरी ओर उसने कुछ ऐसी प्रवृत्तियों को भी उत्तेजना दी जो इस सहज प्रवृत्ति के भीतर किसी आध्यात्मिक बंधन की कल्पना करना नहीं चाहती और इस प्रकार किसी उन्मार्ग की ओर गतिमान होकर प्रगतिशीलता का अनुभव करती है। पाश्चात्य जीवन में यह प्रवृत्ति मानव

की केवल सहज प्रवृत्ति के रूप में ही स्वीकार की गई। अतः वहाँ के रोमेन्टीसिज़्म में इसी का विशिष्ट दर्शन होता है।

मनुष्य की ये आवश्यकताएँ सीमित हैं और इनकी तृप्ति के साधन भी सीमित हैं। परन्तु विषय-सेवन का यह दोष है कि ज्यों-ज्यों उसका सेवन करते जाइए त्यों-त्यों उनकी प्यास बढ़ती जाती है। मनुष्य निर्बल है, अपनी इस प्यास को रोक सकना उसके लिए सरल नहीं। परिणाम यह होता है कि 'बशर' के भीतर रहने वाला 'शर' उभर ही आता है, अर्थात् वह शरारत जो उसके ख़मीर में है और जिसके कारण वह बशर कहा जाता है, उभर कर उसे उन्मार्गगामी बनाती है। जब यह उच्छृंखल वृत्ति अधिक बढ़ जाती है तब कुछ सन्त जगत् के ही हित के लिए ऐसी दूषित वृत्तियों की निन्दा और सत् वृत्तियों की स्तुति करते हैं। इस प्रकार सुधारवाद का जन्म होता है।

सुधारकों की यह प्रवृत्ति असत् क निन्दा करने लगती है और उस निन्दा में उस सीमा तक पहुँच जाती है जिसे कभी-कभी अतिवाद कहना पड़ता है। साथ ही सत् की स्तुति में यह अतिवाद काम करने लगता है। जैसे महाभारत में जहाँ अन्नदान की महत्ता बताई गई है वहाँ अन्न को सर्वश्रेष्ठ दान कहा गया है, भूमि-दान की प्रशंसा में भूमि-दान की सर्वोत्तमता, कहीं स्वर्ण दान की सर्वोत्कृष्टता तथा अन्यत्र दीपदान की सर्वोच्चता कही गई है। इस सब को यदि 'अतिवाद' न कहा जाय तो 'अर्थवाद' अवश्य कहा जा सकता है। इस अर्थवाद और अतिवाद का उदय भी उतना ही प्राचीन है जितना मनुष्य की आवश्यकताओं से सम्बन्ध रखने वाले वादों का।

ऐसा नहीं है कि इन वृत्तियों के सम्बन्ध में जिन वादों का हम वर्णन कर चुके हैं वे वाद केवल पृथक्-पृथक् एक-एक वृत्ति से ही उत्पन्न हुए हैं। मनुष्य की सभी आवश्यकताएँ, उसकी समस्त प्रवृत्तियाँ, जैसे—उत्सुकता, जिज्ञासा, निर्माण-प्रवृत्ति आदि सभी प्रत्येक वाद के उदय में सहायक रही हैं। परन्तु उनका मूलतः उद्गम इन्हीं प्राथमिक चार प्रवृत्तियों के स्वतन्त्र अथवा परस्पर सम्मिलित रूपों से ही हुआ होगा। प्रकृति के संसर्ग में आकर उसकी उपयोगिता से लाभ उठाते हुए उसने प्रकृति के प्रति भी आदर, भक्ति अथवा भय की दृष्टि डाली होगी। इससे उसका मानसिक सम्बन्ध प्रकृति से भी हो गया होगा। उसने सूर्य की सहस्र किरणों को देखकर यदि "सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानाम् उदयत्येष सूर्यः"[1] कहकर उसकी उपासना की होगी तो उसने 'स्व' और 'जगत्' के सम्बन्ध को ही स्पष्ट किया होगा। क्षितिज के वातायन से विश्व को उग्र:-

---

१—प्रश्नोपनिषद्, १—८

कालीन छवि को झाँक-झाँक कर निहारने वाली प्रथम रश्मि ने, कोमल कुमुदावलियों के जीवन में हास बिखेरते हुए शरत्कालीन मेघखंडों के बीच लुका-छिपी करने वाले चन्द्र ने, सरोवर को अपनी टप-टप से तरंगित करने वाले कमल-दलों पर छाये हुए हिमकणों ने, समीर के स्पर्श को पाकर पृथ्वीतल को झुक-झुक कर आलिंगन करने वाले दूर्वादलों ने, कल-कल निनादिनी ह्लादिनी पावन पयस्विनी ने, अतल सागर के वक्षःस्थल पर क्रीड़ा करने वाली तरंग मालाओं ने, संपूर्ण वन-श्री को अपने पिंग-पराग से सुरभित करने वाले कुसुमच्चय ने, अनंत-निर्जनता को स्पंदित करने वाले पवन के उच्छ्‌वास ने, उषा देवी के स्तवन में मंगलपाठ करते हुए अपने-अपने नीड़ों से निकले हुए विहग-कुल ने, सघन तमिस्रा में झंझा के झंकोरों के बीच अपनी अन्तर्ज्योति—विद्युद्दाम को व्यक्त करने वाले जलद-पटल ने उसे यदि प्रकृति का पुजारी बना दिया हो तो उसकी असभ्यावस्था (Paganism) नहीं थी, वरन् जगत् के प्रति उसकी कृतज्ञता ही थी और उसका यह 'प्रकृति-प्रेम' यदि आज तक उसे छोड़ न सका तो उचित ही है। ऊपर जिन भावनाओं अथवा वादों का विवेचन किया गया है वे सब मानव के सामाजिक क्षेत्र से सम्बन्धित हैं। अतः स्वजगत् से सम्बन्ध रखने वाले जितने भी वाद होंगे उन सब की गणना समाजगत वादों के अन्तर्गत होगी।

स्व-स्वत्वः—जगत् के साथ 'स्व' का सम्बन्ध होने पर समाज का निर्माण होता है। समाज-सृष्टि के साथ ही अधिकार और कर्त्तव्यों की सृष्टि होती है। यह अधिकार और कर्त्तव्य परिस्थिति, देश और काल के अन्तर के साथ परिवर्तित होना चाहते हैं। परन्तु रूढ़ि और परंपराएँ इस परिवर्तन में बाधक होती हैं। फलतः मानसिक प्रतिक्रिया प्रारम्भ होती है। इस मानसिक प्रतिक्रिया का एक दूसरा भी कारण है। काल-विशेष में निर्धारित एक परंपरा उस काल के लिए विशेष उपयोगिनी हो सकती है। कालान्तर में उपयोगिता नष्ट हो जाती है। परन्तु प्राकृत जन कुछ तो अज्ञान के कारण, कुछ समाज के भय से और कुछ व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना से उस परंपरा से चिपके रहते हैं, इससे उन्हें कष्ट ही होता है; फिर भी वे उसका सरलतापूर्वक त्याग नहीं कर पाते हैं। मानसिक प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो जाती है और उस समय की प्रतीक्षा रहती है जब कोई शक्ति-सम्पन्न आत्मा 'स्व' की महिमा से उस रूढ़िगत परंपरा का उच्छेदन करने में समर्थ हो सके। इस प्रकार "स्व—स्वत्व" प्रधान व्यक्ति संसार में आते हैं, भस्मावृत अग्नि को उद्दीप्त कर देते हैं जिसके प्रचण्ड तेज से रूढ़ियाँ जल जाती हैं और उनके भस्मावशेष पर नवीन प्रसादों का निर्माण होता है। स्व-स्वत्व की महत्ता इसी में है।

'स्व' का इस प्रकार होने वाला प्रकाश यद्यपि उदय के लिए जगत् का ही आश्रय लेता है, परन्तु उदित होने पर जगत् आश्चर्य-चकित होकर यह नहीं समझ पाता कि यह प्रकाश उसी का प्रतिफलित प्रकाश है। इस प्रकार 'स्व' का विकास होते समय दो प्रकार की मनोवृत्तियाँ उदित होती हैं। कतिपय व्यक्ति अनाचारजन्य उत्तेजना के वशीभूत होकर कुछ कार्य प्रारम्भ कर देते हैं। यह उत्तेजना इतनी बलवती हो उठती है कि उनके समस्त कृतित्व में एक सनक-सी दिखाई देने लगती है। उनकी सनक ही उनके कृतित्व की प्रेरक रहती है जो उनके समस्त व्यापारों को भाव विशेष पर केन्द्रित करना चाहती है। साहित्य में जब इसकी प्रतिच्छाया दिखाई देती है तब हम उसे उत्तेजनावाद कह कर पुकारते हैं। कहीं यह उत्तेजना व्यक्ति विशेष की निर्बलताओं को ही चित्रित करके उसे उपहास-भाजन बनाना चाहती है और कहीं किसी भाव विशेष या समाज विशेष पर वह अपना तरकश खाली करने लगती है। प्रत्येक साहित्य में इस प्रकार का भावुकतावाद (Sentimentalism) पर्याप्त मात्रा में है। न केवल व्यंग और उपहास के रूप में वरन्, सनकी पात्रों के भाव-चित्रण में भी इसका स्पष्ट दर्शन मिल सकता है।

इनसे भिन्न कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जो भावनाओं के वेग में नहीं बहते, वरन् उनका विवेक ही मार्ग-दर्शक होता है। ऐसे व्यक्ति वही कार्य करते हैं जिनसे समाज में क्रान्ति होती है और देश को एक नवीन मार्ग मिलता है, परन्तु उनकी प्रेरणा का मूल-स्रोत क्षणिक उत्तेजना न होकर गम्भीर चिन्तन में होता है। ऐसे व्यक्तियों के कृतित्व में एक शृंखला रहती है जिसमें कार्य-कारण भावना प्रत्येक स्थान पर जागरूक दिखाई पड़ती है। साहित्य में इस का प्रतिनिधित्व सदैव से होता आया है और उसी के द्वारा हेतु-गर्भ साहित्य का निर्माण हुआ है। उनकी कला में हृदय की अपेक्षा बुद्धि को स्पर्श करने की शक्ति अधिक होती है। समस्या-प्रधान समस्त कृतियों के अन्तर में हेतुवाद अनुस्यूत रहता है।

मानव का निर्माण जिन उपादानों से होता है उनमें बाह्य परिस्थितियों से उत्पन्न मानसिक उद्वेगों का मूल स्थान है। वे उद्वेग अपने प्रभाव से मनुष्य की गति-विधि का निर्माण करते रहते हैं। जब यह सनक के रूप में रहते हैं तब इनमें गहराई कम और विस्तार अधिक होता है। परन्तु जब यही मानव-मन बन जाते हैं तब गहराई बढ़ जाती है और विस्तार सिमिट जाता है। ऐसे व्यक्ति भाव विशेष से अधिक प्रभावित होते हैं, अन्य भाव उन्हें कम छूते हैं। ऐसे भावुक-हृदय सब ओर दौड़ते हुए भी एक ही दिशा में गतिमान होते

हैं और उसी के अन्तस्तल में प्रविष्ट होकर उसी में डूबकर तरने का आनन्द लेते है। ऐसे डूबकर तिरे हुए मनुष्य संसार को भी अपनी भावनाओं में डुबाकर एक कर देना चाहते है। साहित्य में इस प्रकार के भावुकतावाद (Sentimentalism) की भी सामग्री पर्याप्त मात्रा में उपस्थित है।

हम जिन उद्वेगों का ऊपर वर्णन कर चुके हैं वे उद्वेग संस्कार से निर्मित होते हैं और संस्कार बनने के लिए उद्वेगों की आवृत्ति आवश्यक है। प्रथमतः प्राप्त होने वाला उद्वेग केवल क्षणिक आवेग के रूप में उपस्थित होता है। आज एक प्रथा चल गई है जिसमें कलाकार अपने इन क्षणिक आवेगों को ही मूर्तिमान् करने को चेष्टा करने लगे हैं। उनका कथन है कि जो मधुर स्वप्न हम देखते रहते हैं उन स्वप्नों का न कोई उद्देश्य है, न कोई कारण, न वे किसी लक्ष्य-विशेष की ओर हमें अग्रसर करने के लिए दिखाई देते हैं और न वे हमारी उस मानसिक स्थिति के परिचायक हैं जिसमें जड़ता रहती है। लक्ष्य-विहीन गतिशील मानसिक स्थिति इन स्वप्नों में आनन्द का अनुभव करती है। इसी प्रकार जाग्रत अवस्था में भी कुछ भाव-खंड ऐसे उपस्थित हो जाते हैं जो जिस क्षणिक आवेग का उदय करते हैं उसमें लक्ष्य न होते हुए भी मनोरमता अवश्य होती है। कलाकार का काम इन्ही भावखंडों का चित्रण करना है। यह आवश्यक नहीं कि इन भावखंडों में किसी आदर्श की झलक हो, कोई संदेश हो अथवा किसी समस्या का समाधान हो। यह भी आवश्यक नहीं कि इन भावखंडों की व्यंजना के लिए हमें कवि-भाषा का ही आश्रय लेना पड़े। भावखंड चाहे कैसे भी हों, भाषा कैसी ही क्यों न हो, कवि का काम उन भावखंडों को व्यक्त कर देना ही है।

इस प्रकार की वृत्ति में भी कवि का स्वत्व ही प्रधान रहता है। कवि अपनी ही अनुभूति की तीव्रता का अनुभव दूसरे को देना चाहता है। वह इसे प्रयोगवाद (Sur-realism) का नाम देता है; और हम उसे कविता का नवीन प्रयोग समझकर कवि के स्वत्व की व्यञ्जना मानते हैं। कलाकार जब सम्पूर्णतः अपने 'स्व' में ही लीन रहकर कलाकृति का निर्माण करता है तब उसकी कृति में वैयक्तिकता की ही प्रधानता रहती है। अतएव 'स्व' से प्रभावित अथवा प्रश्रित समस्तवाद वैयक्तिकता-प्रधान वाद माने जायँगे।

स्व-पर-भिन्न स्वत्व:—जीवन में अनेक अवसर ऐसे आते हैं जब हम स्वयं अपनी आलोचना करने लगते है। प्रश्न यह है कि इन स्थितियों में आलोचक कौन है और वह किसकी आलोचना करता है?

मन यदि एक है तो वह स्वयं अपनी आलोचना करते समय अपने से भिन्न होकर अपनी आलोचना नहीं कर सकता और यदि अनेक है तो एक ही समय मनुष्य अनेक काम कर सकता है। परन्तु ऐसा होता नहीं है। अतएव यह ऐसी समस्या है जिसमें मन को स्वयं 'स्व' और 'पर' मानना पड़ता है। कभी वह स्थिति होती है जब वह केवल 'स्व' में रमण करता है। साथ ही कभी ऐसी स्थिति भी आ जाती है जब वह 'पर' बनकर 'स्व' की आलोचना करता है। भारतीय दार्शनिकों ने इसीलिए मन को एक इन्द्रिय माना है जिसका काम केवल संकल्प-विकल्प करना है। वह संकल्प-विकल्पों द्वारा इन्द्रियों को प्रेरित करता है तथा जब इन्द्रिय-सन्निकर्ष से वह विषय की ओर प्रवृत्त होता है तब मन तदाकार सेन्द्रियविषयाकार हो जाता है। इस मन की आलोचना करने वाली बुद्धि है जो मन से भिन्न अन्तःकरण की दूसरी वृत्ति है। हमने अभी तक 'मन' शब्द का प्रयोग मनोविज्ञान में स्वीकृत 'मन' के अर्थ में किया है। इसलिए इस प्रसंग के अतिरिक्त जहाँ भेद-निर्देश न हो, वहाँ मन को उसी अर्थ में समझना चाहिए। 'स्व' की आलोचना करने वाली यह बुद्धि ही है जो मन के उन संकल्प-विकल्पों की आलोचना करती है जिनसे मन में कृतित्व का अभिमान उत्पन्न होता है। मनुष्य की यह मानसिक स्थिति न तो केवल 'स्व' पर केन्द्रित रहती है और न केवल 'पर' पर; न वह 'स्व' से मुक्त होती है और न 'पर' से। इस स्थिति में आकर मनुष्य 'स्व-पर-भिन्न-स्वत्व' का अनुमान करता है।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि मन का व्यापार जब बुद्धि के व्यापार का अनुवर्ती हो जाता है तब मनुष्य जागतिक राग-द्वेष से ऊपर उठता है और एक ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है जो केवल चेतन अवस्था है। उसमें किसी प्रकार का संग-शेष नहीं रहता है। एक स्थिति ऐसी भी है जब बुद्धि के इस व्यापार के बिना भी असंग-स्थिति प्राप्त होती है। वह स्थिति बुद्धि की जड़ावस्था है। इस जड़ावस्था में जागतिक विषयों के प्रति सदसद्-विवेक शेष न रहने के कारण केवल शारीरिक आवश्यकताओं की अनुभूति होती है और मन की प्रवृत्ति उसी तक सीमित रहती है। कलाकार का स्थान इससे बहुत दूर रहता है।

शुद्ध चेतन अवस्था में स्थित आत्मा 'स्व-पर-भिन्न-स्वत्व' में स्थित होना चाहता है। बुद्धि की यह अवस्था जब अभ्यास के द्वारा जागतिक विषयों के परित्याग से उत्पन्न होती है तब वह कलाकार के काम की नहीं रहती है। जो 'श्व' और 'श्वपाक' में, 'ब्राह्मण, हस्ति और गौ' में समत्व बुद्धि स्थापित कर चुका हो, वह किससे राग और किससे द्वेष करेगा। जिसका स्वरूप में अवस्थान

हो चुका हो उसे 'स्व' से भिन्न कुछ दिखाई ही नहीं देता। ऐसी स्थिति में उसकी वाणी किसका आश्रय लेकर प्रवृत्त हो? अमित 'स्वादु' और 'तोष' उत्पन्न करने वाली अवगति गति तो वह है जिसे 'सो जाने जो पावे'। वह स्थान तो 'यत्र वाचो निवर्तन्ते' है।

इस प्रकार 'स्व-पर-भिन्न' यह स्थिति भी कलाकार के काम की नहीं, क्योंकि जिसमें वाणी जैसे सूक्ष्म उपकरण का भी उपयोग नहीं हो सकता, उसका चित्र स्थूल रंग, तूलिका अथवा छेनी से कैसे बनाया जा सकता है? योग की यह स्थिति केवल मुमुक्षु के लिए है, जगत् के लिए नहीं। इस स्थिति से किसी वाद का उदय नहीं हो सकता। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि फिर दर्शन द्वारा प्रतिपादित विषय क्या है? निश्चय ही दर्शन इस स्थिति तक पहुँचाने का साधन है, परन्तु इस स्थिति और दर्शनों में साध्य और साधन का अन्तर स्पष्ट है। साधन वृत्ति की अभ्यास-अवस्था का नाम है और योग की यह वृत्ति उस साधन का चरम फल है। नदी का जल समुद्र का जल नहीं है और उसकी धारा समुद्र नहीं है। जब तक धारा है तब तक वह नदी ही है। परन्तु जब यही धारा अपांपति में मिल कर स्वत्व को विलीन कर चुकी है तब न धारा है, न नदी है, केवल जो है सो है। भले ही वारिधि की वारिधिता में कुछ बना-बिगड़ा न हो, 'बूँद' ने तो अपनी 'बूँदता' बिला ही दी। इस स्थिति की साधनावस्था में दर्शन ही नहीं, अन्य अनेक वाद भी उत्पन्न हो चुके है। सिद्धावस्था के लिए तो सभी ने 'ज्यों गूँगे मीठे फल को रस' कहा है।

हम ऊपर कह चुके हैं कि इस स्थिति में मन की गति नहीं होती, केवल बुद्धि ही साधन होती है। मन अंनुचर के रूप में केवल परिचारक रहता है, यद्यपि यह बुद्धि भी प्रकृति का ही गुण है, परन्तु अव्यक्त का प्रथम विकार होने के कारण आत्मा के यह अधिक निकट है। इसी लिए बुद्धि के इस विवेचन को अध्यात्म की संज्ञा दी गई है।

इस अध्यात्म का अधिदैवत ब्रह्म 'मन-वाणी से अगम-अगोचर' होने का कारण क्या है? इस विवेचन में उलझी हुई यह बुद्धि जिन-जिन मंतव्य रूप अधिभूतों की ओर दौड़ती है, उतने ही उतने वाद बनते जाते है। जिस ने उसे तीन रूपों में देखा, उसने त्रैतवाद की ओर दौड़ लगाई; जिस ने दो ही देखे उसने द्वैत समझा; कोई केवल एक को ही देखता है और एकेश्वरवाद की ओर प्रवृत्त होता है; कोई 'द्वितीयो नास्ति' कह कर अद्वैत का प्रतिपादन करता है। इस 'द्वितीयो नास्ति' के प्रतिपादक अद्वैतवादियों में उस अद्वैत के स्वरूप में

भी मतभेद हो गया। वे विभिन्न मार्गों पर चल पड़े। किसी ने विवर्तवाद का प्रतिपादन किया, किसी ने द्वैताद्वैत का; दूसरे ने विशिष्टाद्वैत का पक्ष लिया और अन्ततः विशुद्धाद्वैत का प्रतिपादन किया। इनका विशेष विवेचन हम आगे करेंगे। कुछ ऐसे भी विचारक हुए जिन्होंने 'है' शब्द का ही निषेध किया। अद्वैतवादी तो एक की सत्ता मानते थे, उन्होंने इस एक की भी पारमार्थिक सत्ता का निषेध कर दिया और कहा जो पहिले नहीं था, बाद में भी नहीं रहेगा, वह मध्य में भी नहीं है। इस प्रकार शून्यवाद का उदय हुआ।

बुद्धि की यह वृत्ति लोक की ओर नहीं देखती। इसलिए इसमें दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति तो संभव है, पर लोक-व्यवहार चलाने में इस वृत्ति का उपयोग कम है। कलाकार इस वृत्ति से जितना ही कम काम लेता है, उतना ही न वह स्वयं उलझता है और न दूसरों को उलझाता है। विशेषतया अनुभूति-शून्य 'आत्मानं पंडितंमन्यमानः' कलाकार जिस रहस्यमय भूल भुलैया की सृष्टि कर जाते हैं, वह उनके अध्येताओं के लिए एक दुर्वह भार बन जाती है।

अतएव इस स्थिति से बचने के लिए सच्चे कलाकार इस विषय का प्रतिपादन भी शुद्ध प्रतीकों के द्वारा करते हैं। और इस प्रकार प्रतीकवाद की उत्पत्ति हुई। ऐसी कृतियों में आध्यात्मिक विषयों के प्रतीक स्थापित किये जाते हैं। एक कहानी होती है जो अपने में पूर्ण और स्वतः एक कलाकृति होती है। परन्तु उसके भीतर चमकनेवाला अध्यात्म इतना स्पष्ट और प्रांजल होता है कि मूढ़चेता भी उसे ग्रहण करने में समर्थ होते हैं। विद्वान् उसमें आनन्द पाते हैं और सामान्य प्राणी उससे मार्ग-दर्शन। वस्तुतः प्रतीकवाद की सफलता इसी में है। न केवल प्रतीकात्मक कहानियों में, वरन् सामान्य इतिवृत्तात्मक कृतियों की रचना में भी कलाकार को 'स्व-पर-भिन्न-स्वत्व' की स्थिति में रहना पड़ता है। यदि कलाकार इस स्थिति में न रह सके तो उसकी कला में पात्रों की वैयक्तिकता का निर्वाह नहीं हो सकता। तुलसी जैसा सन्त यदि 'स्व' से पृथक् होकर मन्थरात्व में स्वत्व स्थापित न कर सका होता तो वह कैकेयी को 'कचुली' न बना सका होता और—

"बिपति बीज बरखा रितु चेरी। भुइँ भई कुमति कैकयी केरी॥
पाइ कपट जल अंकुर जामा। बर दोऊ दल दुख फल परिणामा॥

न हुआ होता। तुलसी की यही तटस्थ वृत्ति उनकी सफलता है।

यह नहीं है कि कहानीकार को सदैव तादस्थ्यवाद का ही आश्रय लेना होता है। कलाकार इस तटस्थता में भी स्वत्व बनाये रखता है और इसी लिए वह सत् के प्रति आकर्षण और असत् के प्रति विकर्षण उत्पन्न करने में सफल

होता है। जो कलाकार कला के इस तथ्य को भूल जाते हैं वे भी जगत् को वह वस्तु नहीं दे सकते जिसकी जगत् को आवश्यकता है, क्योंकि हम दिन-रात निरन्तर असफलताओं से घिरे रहते हैं, सफलताएँ क्षणिक होती हैं, असफलताएँ व्यापिनी। अतएव हमारी यह सहज प्रवृत्ति है कि हम असफलताओं का विनाश देखने के लिए उत्सुक रहें। वाद की झोंक में आकर जो कलाकार मानव-मन के इस रहस्य को भूल जाता है, वह भले ही जब तक वाद की दुन्दुभि बजती रहे तब तक तमाशबीनों को आकृष्ट करता रहे, परन्तु जिस दिन नगाड़े की खाल ढीली हो जायगी उसी दिन सारे तमाशबीन मुँह फेर लेंगे।

कलाकार की यह तटस्थवृत्ति नवीन नहीं है। मन के एक स्तर में सुख-दुःख से परे एक सहज चेतन अवस्था रहती है। यह चेतन अवस्था प्राप्त सबको होती है, परन्तु कुछ ही उसको पहचान पाते हैं। अनेक व्यक्तियों ने एकान्त क्षण में अपनी सहानुभूति के द्वारा मित्रों के दुःख का अनुभव किया है। अनाचारी के अनाचार का विश्लेषण करते हुए उसकी समस्त क्रूरताओं के मूल में किसी सुमधुर कोमलता का अनुभव भी असाधारण घटना नही है। यह स्थिति मनुष्य को 'स्व-पर-भिन्न-स्वत्व' से ही प्राप्त होती है। इसका उद्गम भी उसी दिन हो गया होगा जिस दिन मनुष्य सामाजिक प्राणी बना होगा।

हम ऊपर जिस सहज चेतन अवस्था का वर्णन कर चुके हैं, उसका एक रूप हमें और देखने को मिलता है। हम अभी तक जिस 'स्व-पर-भिन्न-स्वत्व' का वर्णन करते आये है उसमें 'स्वत्व' और 'परत्व' दोनों से भिन्न 'स्वत्व' की प्रवृत्ति थी। दूसरी 'स्व-पर-भिन्न' की स्थिति 'स्व-पर-मिश्रित' सत्य की स्थिति होगी। 'स्वत्व' तो रहेगा ही, 'परत्व' में भी 'स्वत्व' की स्थापना होगी और ऐसी दशा में सहानुभूति मूलकारण न होकर वह सहज चेतन अवस्था ही मूलकारण होगी जो समस्त 'स्व' और 'पर' में नित्य एकरस व्याप्त रहने वाली है। इस स्थिति में मानसिक वृत्ति 'स्व-भिन्न' होते हुए भी 'स्वाभिन्न' होगी, 'पर-भिन्न' की स्थिति भी 'पराभिन्न' अवस्था होगी। मन की यह स्थिति केवल दो ही अवस्थाओं में प्राप्त होती है। पहिली अवस्था तो योग है जिसका हम पहिले वर्णन कर चुके हैं और दूसरी अवस्था रसानुभूति है। इस प्रकार साहित्य में एक वाद का और उदय होता है जिसे वैज्ञानिकों ने 'रसवाद' का नाम दिया है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि स्व-पर-भिन्न-स्वत्व की अवस्था में कलाकार में आध्यात्मिकता का अधिकाधिक समावेश होता जाता है। अतः हृदय की इस स्थिति से प्रसूत जितनी भी चिन्तन-धाराएँ अथवा विचारसरणियाँ होंगी वे सब आध्यात्मिक वादों के नाम से अभिहित होंगी।

शैलीगतवाद:—मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति उसे अपने अनुभवों को अपने ही तक सीमित नहीं रखने देती। वह अपने अनुभव दूसरे को देना चाहता है। उसके स्वभाव में यह है कि वह जिस मधु का आस्वादन करके तृप्त हुआ है उसे वह भले ही दूसरे को न दे, अपने ही तक सीमित रखे, परन्तु उसका स्वाद इस प्रकार बताना अवश्य चाहता है कि सुनने वालों के मुँह में पानी भर आये। वर्णन की इसी प्रवृत्ति ने वस्तुओं और अनुभवों का नामकरण किया होगा और उन नामों को व्यक्तिगत न रखकर सामाजिक बना दिया होगा। इस प्रकार वस्तु से नाम का नित्य सम्बन्ध स्थापित कर दिया होगा। आगे चलकर उसे इन नित्य सम्बन्धों के द्वारा व्यक्त होनेवाले अनुभवों से तृप्ति न हुई होगी। इसलिए उसने नामों में अनित्य सम्बन्ध की कल्पना की होगी, क्योंकि इन अनित्य सम्बन्धों द्वारा व्यक्त किये जाने वाले भाव विच्छित्ति विशेष उत्पन्न कर देते हैं और इस प्रकार वर्णन की विभिन्न शैलियाँ उत्पन्न हुई होंगी तथा उनसे वर्णन सम्बन्धी विभिन्न वादों का जन्म हुआ होगा।

यह मनुष्य की सहज प्रकृति है कि वह अपने मनोभावों को यथासाध्य स्पष्ट और कम से कम शब्दों में कहना चाहता है। आदिम मानव का शब्द-कोष भी सीमित रहा होगा। अतएव संभवतः उसकी व्यंजना का आधार वस्तुओं के नाम रहे होंगे, तत्सम्बन्धिनी क्रिया की व्यंजना उसकी शारीरिक चेष्टाओं से हुई होगी। ये शारीरिक चेष्टाएँ भी जब उसके सम्पूर्ण भाव को व्यक्त करने में समर्थ नहीं हुई होंगी तब उसने कुछ क्रियास्वरूपों को उत्पन्न किया होगा और इस प्रकार व्याकरणिक वाक्य का निर्माण हुआ होगा। इस व्याकरणिक वाक्य में उद्देश्य और विधेय दो अंश रहे होंगे और उनमें अर्थ-बोध की शक्ति आसक्ति से उत्पन्न हुई होगी। शब्दों का भंडार जैसे-जैसे बढ़ता गया होगा वैसे-वैसे शब्द की योग्यता और वक्ता की आकांक्षा का विचार होने लगा होगा। जहाँ समान भावों के बोधक अनेक शब्द बने होंगे वहाँ एक शब्द द्वारा अनेक भावों का भी बोध होने लगा होगा, प्रथमावस्था में शब्द की योग्यता का विचार होने लगा होगा, और दूसरी अवस्था में वक्ता की आकांक्षा का। इस प्रकार शाब्दबोध[1] के लिए व्याकरण उपमान, कोष, आप्त वाक्य आदि का

१—शब्दार्थ बोध के साधक

"शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान कोषाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषात् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥

अर्थात् शब्दार्थ-बोध व्याकरण उपमान, कोष, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, व्याख्या और सिद्धपद के सान्निध्य से होता है।

सहारा लिया जाने लगा होगा। इस प्रकार मनुष्य की प्रकृत अनुभूतियाँ और आवश्यकताएँ व्यक्त करने का माध्यम जब भाषा बन चुकी होगी उस समय उसमें कवि-वाणी प्रवृत्त हुई होगी। तात्पर्य यह है कि कवि भाषा का निर्माता न होकर भाषा का केवल उपयोक्ता होता है। इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वह प्रारम्भिक गायक जिसने मानव-भावनाओं के पहिले गीत गाये होंगे, शब्द के सांकेतित अर्थ से ही काम लेनेवाला रहा होगा। शब्द के सांकेतित अर्थ को ही महत्व देने वाले कवियों की श्रेणी अभिधावादियों के नाम से पुकारी जाती है। वस्तुतः अभिधावाद ही ऐसा 'व्यापकवाद' है जिसमें व्यंजना के समस्त वादों का अन्तर्भाव हो जाता है। इसका विवेचन हम अभिधावाद की व्याख्या के साथ करेंगे।

बशर की शरारत ने न केवल उसके जीवन-व्यापारों में रंग दिखाया, वरन् शब्दों के साथ भी उसने वैसा ही व्यवहार किया। बेचारे 'हज़रत' अब जिस अर्थ में प्रयुक्त होते है, अभिधावादी ने उसकी कल्पना भी न की थी। इसी प्रकार 'महाशय' जी की भी मनुष्य की इसी शरारत ने दुर्दशा कर डाली। आज का 'नेता जी' शब्द भी उसी शरारत का शिकार बन गया। यहाँ तक कि षडैश्वर्य सम्पन्न 'भगवन्' को भी भोंदू और सनकी बना दिया। एक ही दो शब्दों के साथ यदि यह खिलवाड़ हुआ होता तो हम केवल उसे अपवाद समझते और उसे आज के मनुष्य की उपज मान लेते। परन्तु शब्दों का यह खेल संसार के सर्व प्रथम साहित्य ईश्वरीय वाणी वेद में भी विद्यमान है। वहाँ भी "जिससे हम द्वेष करें अथवा जो हमसे द्वेष करे उसको हम तुम्हारी दाढ़ों में रखते हैं।"[1] कह कर दाढ़ों में रखते है का अर्थ 'उसे तुम चबा जाओ' अर्थात् 'उसका विनाश कर दो' है, जो शब्द के सांकेतिक अर्थ की चौथी पीढ़ी में है। शब्द का यह अर्थ शब्द के साथ नित्य सम्बन्ध नहीं रखता। दाढ़ के कीड़े के लिए दाढ़ों में दवाई रखी जा सकती है, ऐसे स्थल पर दाढ़ों में रखते हैं का सांकेतिक अर्थ ही, नित्य सम्बन्ध से व्यक्त होने वाला अर्थ ही वाच्य होगा, अन्य नहीं। आगे चलकर कलाकारों ने इस अनित्य सम्बन्ध को इतनी महत्ता दी कि यही वाक्य का सबसे उत्तम अंग बन गया और इसका नाम 'व्यंजनावाद'-'ध्वनिवाद'-हुआ। हम देखते है कि इसका उदय भी आदिम मानव की प्रकृति से ही सम्बन्ध रखने वाला हैं। इतना निश्चित है कि अभिधावाद के पुष्ट हो जाने पर ही इस वाद का उदय हुआ।

१—"योऽस्मान् द्वेष्टियं वयं दुष्मस्तंभो जंभे दद्मः।"

कवि-कर्म में शब्द की इन दोनों शक्तियों का उपयोग अनादि काल से होता आया है। अतएव इन वादों के उदय की तिथि निश्चित नहीं की जा सकती। परन्तु इनके भिन्न नामकरण भिन्न परिभाषाओं के साथ भिन्न-भिन्न कालों में होते रहे हैं। कभी जब अभिधा के व्यापार में ही अनित्यार्थ बोध की शक्ति भी मान ली गई तब उसका नाम किसी ने अलंकारवाद रख दिया, किसी ने वक्रोक्तिवाद रख दिया, किसी ने शब्दों के संगठन के ढंग पर ही विशेष विचार किया और रीतिवाद का नाम दिया। इन नामों के उदय के इतिहास को ही वादों के उदय का काल नहीं माना जा सकता। वादों का उदय तो वस्तुतः मनुष्य की उस प्रवृत्ति से हुआ होगा जिसने शब्द में नित्य और अनित्य अर्थ की कल्पना की होगी।

स्व-जगत् सम्बन्धी (समाजगत) वाद

स्वजगत सम्बन्धी [समाजगत] वाद

आचारवाद, औचित्यवाद और आदर्शवाद

इतिहास

हम पहिले कह चुके है कि आचारवाद का उदय मनुष्य की मौलिक प्रवृत्ति 'आहार-निद्रा-भय-मैथुन' की प्रेरणा में निहित है। इन प्रेरणाओं पर जब समाज के संसर्ग से नियन्त्रण की आवश्यकता पड़ी होगी, उसी समय आचारवाद का जन्म हुआ होगा। यह स्वाभाविक है कि विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियों में इस नियन्त्रण के विभिन्न स्वरूप की रूप-रेखा बनाई गई होगी। हमारे पास अपनी आवश्यकता से अधिक मात्रा में सामग्री होने के कारण अतिथि-सत्कार हमारे लिए सरल है। अतएव हमारे आचार में अतिथि सत्कार को आदरणीय स्थान मिल सकता है। परन्तु ध्रुव-प्रदेश के निवासी के लिए अतिथि-सत्कार एक महँगा आचार होगा। यही दशा सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा की है। भारतीय आचार में पितृ-भक्ति और मातृ-भक्ति को विशेष महत्व दिया गया है, परन्तु शीत-प्रधान देशों में जहाँ अपना पेट भरना भी मुश्किल है, सम्मिलित कुटुम्ब-प्रथा आचार नहीं बन सकती। अस्तु, वहाँ पितृ-भक्ति और मातृ-भक्ति का वह स्वरूप नहीं पाया जाता जो हमारे यहाँ प्राप्त है। तात्पर्य यह कि आचारशास्त्र के नियम देश-काल सापेक्ष्य होते हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से मनुष्य के समस्त वादों में आचारवाद सबसे प्राचीन है, क्योंकि इसका निर्माण समाज के उदय होते ही हो जाता है। भारतीय आचार-शास्त्र का मूल वेदों में उपस्थित है:—

"सहृदयं सांमनस्यं अविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्योऽन्यमभिहर्यतु वत्सं जातमिवाघ्न्या॥"

—अथर्ववेद ३-३०-१

[अर्थ—हम सबको समान भावना और विचार वाले बनना चाहिए। हम एक दूसरे से द्वेष रहित होकर व्यवहार करें। हम परस्पर एक दूसरे के प्रति वैसे ही प्रेम करें जैसे गौ अपने वत्स से प्रेम करती है।]

"अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम्॥"

—अथर्ववेद ३-३०-२

[अर्थ—पुत्र को पिता का अनुशासन मानना चाहिए और उसे अपनी माता के अनुकूल चलना चाहिए। पत्नी का कर्तव्य है कि वह अपने पति से मीठी और शांतिप्रदायिनी वाणी बोले।]

"पृणीयात् इत् नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसं अनुपश्येत् पंथाम्।
ओहि वर्तन्ते रथ्येव चक्रा अन्यं अन्यं उपतिष्ठन्त रायः॥"

—ऋग्वेद १०-११७-५

[अर्थ—धनी को चाहिए कि वह याचक को धन दे और इस सम्बन्ध में अपने मार्ग को विशाल अनुभव करे, क्योंकि जैसे रथ का पहिया बराबर चक्कर काटा करता है इसी प्रकार धन कभी एक के पास तो कभी दूसरे के पास चला जाता है।]

"मधुमन्मे निष्क्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमत् भूयासं मधुसंदृशः॥"

—अथर्ववेद १-३४-३

[अर्थ—मेरा चलना-फिरना मधुमय हो, मैं वाणी से मीठा बोलूँ और मधु के समान ही बन जाऊँ।]

"उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं संतु पृथिविप्रसूताः।
दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम्॥"

अथर्ववेद १२-१-६२

[अर्थ—हे मातृभूमे, तेरी गोद में उत्पन्न हुए पदार्थ हमारे लिए नीरोगता प्रदायक और यक्ष्मा आदि भयंकर रोगों से बचाने वाले हों। अपनी लम्बी आयु भोगते हुए हम सदैव तेरे लिए अपना बलिदान देने वाले बनें।]

इस प्रकार आचार सम्बन्धी बहुतेरे मन्त्र वेदों में ही उपस्थित हैं। आगे चलकर भारतीय दार्शनिकों ने आचार को वैयक्तिक और सामाजिक इन दो रूपों में विभक्त कर दिया। वैयक्तिक आचार के लिए आश्रम-व्यवस्था निर्धारित हुई तथा सामाजिक आचार के लिए वर्ण-व्यवस्था। उपनिषद् काल से इस आश्रम और वर्ण-व्यवस्था का स्पष्ट रूप दिखाई देता है। महाकाव्यकाल में

आचार-शास्त्र का स्मृतियों और रामायण-महाभारत आदि में विशद रूप से विवेचन हुआ है। पुराण यद्यपि इतिहास ग्रन्थ हैं, फिर भी उनका मूल उद्देश्य इतिहास-लेखन न होकर इतिहास के उदाहरणों द्वारा आचार-शास्त्र का प्रति-पादन करना ही है।

आचार पर ही मनुष्य का मनुष्यत्व प्रतिष्ठित है। कम से कम यह दृष्टिकोण भारतीय दार्शनिक के सामने सदैव बना रहा है। "ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्" की भावना ने कभी भारतवर्ष में आदर नहीं पाया। अतएव आचार-शास्त्र का क्रमिक विकास ही होता गया। बालक को जन्म से लेकर मृत्यु तक अनेक आचार-मार्गों पर चलकर ही अपना जीवन व्यतीत करना पड़ता है। अतएव कवि का जीवन भी इससे प्रभावित हुए बिना न रहा। यही कारण है कि भारतीय साहित्य में आचार-परंपरा बराबर मिलती रही है। संस्कृत काव्य की लघुत्रयी (रघुवंश, मेघदूत और कुमारसंभव) और बृहत्त्रयी। (किरातार्जुनीयम्, शिशुपालवधम् तथा नैषधीयचरितम्) में इस आचार परंपरा का निरन्तर पालन होता हुआ दिखाई देता है। यथा :—

"तस्याः खुरन्यासपवित्रपांसुमपांसुलानां धुरि कीर्तनीया।
मार्गं मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्" ॥२॥

—रघुवंश, द्वितीय सर्ग

दिलीप वशिष्ठ की गौ चराने के हेतु वन जाते थे। आगे गाय चल रही थी, उसके पीछे दिलीप, फिर उसके पीछे पवित्र रमणियों में अग्रगण्य सुद-क्षिणा चल रही थी। उपर्युक्त श्लोक में गुरुजन के साथ चलने का आचार चित्रित किया गया है।

"तमातिथेयी बहुमानपूर्वया सपर्यया प्रत्युदियाय पार्वती।
भवन्ति साम्येपि निविष्टचेतसां वपुर्विशेषेष्वतिगौरवाः क्रियाः॥"३१॥

—कुमारसंभव, पाँचवाँ सर्ग

पार्वती तपस्या में निरत थीं। ब्रह्मचारी के वेश में भगवान शंकर उनके समक्ष आ गये। पार्वती ने उठकर उनका सत्कार किया, यद्यपि समवृत्ति में स्थित पार्वती के लिए ऐसा सत्कार करना आवश्यक न था, परन्तु विशेष शरीर वाले ब्रह्मचारी के लिए ऐसा सत्कार देकर पार्वती ने सत्कारादि क्रियाओं का गौरव बढ़ाया।

भारतीय आचार है कि पर-स्त्री का मुँह देखना पाप है। महाराज नल अदृश्य रूप में दमयन्ती के अन्तःपुर में पहुँच गये। वहाँ अनेक ललनाएँ

मुक्तावगुण्ठन विचरण कर रही थीं। यदि नल उन्हें खुली आँखों देखते हैं तो पर-स्त्री दर्शन का पाप उन्हे कदर्थित करता है, यदि आँखें बन्द कर लेते हैं तो उनके स्पर्श से कदर्थित होते हैं।[1] अतएव अर्धमुकुलित आँखों से देखते हुए वे आगे बढ़ते हैं। अर्धमुकुलित आँखों से देखना कामलोलुप का काम है। परन्तु वे इस प्रकार देखने के लिए विवश हैं। अतएव उन्हें लज्जा आती है। सज्जनों को दूसरों पर अपना अपराध प्रकट होने से जो लज्जा होती है उसकी अपेक्षा अपने आप ही अपराध की भावना से अत्यधिक लज्जा होती है।

संस्कृत-भाषा ने जब कवि-भाषा का स्थान त्याग दिया और पाली तथा प्राकृत ने कवि-भाषा का अधिकार प्राप्त कर लिया तब भी आचार-शास्त्र उसके साथ लगा रहा। बुद्ध जातक आचार-शास्त्र की ही पुस्तकें हैं। इस काल में जो गाथाएँ लिखी गईं उनमें वैदिक आचार-शास्त्र के प्रति उपेक्षा का भाव लक्षित होता है। परन्तु बौद्ध-दर्शन और साहित्य वैयक्तिक आचार की जो भावना उपस्थित करता है उसका मूल व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास ही है। केवल उन आचारों का विरोध बौद्ध-साहित्य में मिलता है जो पंथ के नाम से पुकारे जाते हैं। यह कहना अनावश्यक न होगा कि जहाँ तक मानवता के विकास का सम्बन्ध है, वहाँ तक मनुष्यमात्र का आचार एक ही होगा। गुरुजन के प्रति आदर का भाव समस्त मानवता के लिए है। परंतु साथ ही यज्ञ करना आवश्यक होते हुए भी मानवमात्र का आचार नहीं बन सकता। बौद्ध-दर्शन में यही बात दिखाई देती है। जातकों की विशेषता यह है कि बौद्ध के प्रत्येक जीवन-चरित्र में किसी विशेष आचार का उत्कर्ष दिखाने की चेष्टा की गई है। यथा शशक के रूप में आतिथ्य के लिए अपने शरीर का ही दान कर देना।[2]

१—"निमीलनस्पष्टविलोकनाभ्यां कदर्थितस्ताः कलयन्कटाक्षैः।
स रागदर्शीव भृशं ललज्जे स्वतः सतां ह्रीः परतोऽतिगुर्वी ॥"२२॥
—नैषधीयचरित, षष्ठ सर्ग

२—"ब्राह्मण, सुट्ठु ते कतं आहारत्थाय मम सन्तिकं आगच्छन्तेन, अज्जाहं मया अदिन्नपुब्बं दानं दस्सामि। त्वं पन सीलवा पाणातिपातं न करिस्ससि। गच्छ तात, दारूनि संकड्ढित्वा अंगारे कत्वा मय्हं आरोचेहि। अहं अत्तानं परिच्चजित्वा अंगारगब्भे पतिस्सामि। मम सरीरे पक्के त्वं

शेष टिप्पणी अगले पृष्ठ पर

अपभ्रंश-काल में कोई ऐसा साहित्य निर्मित नहीं हुआ जो इस दृष्टि से उल्लेखनीय हो। यत्र-तत्र आचार-परक भाव अवश्य पाये जाते हैं।[१] आगे चलकर प्रान्तीय भाषाओं का विकास होने लगा और हिन्दी का जन्म हुआ। हमें चारण-गीतों में आचार-शास्त्र ढूँढ़ने की चेष्टा करनी है। हिन्दी के प्रथम विकासकाल में निर्मित 'रायसे' यद्यपि राज-यश गायन के लिए निर्मित हुए, उनमें राजाओं के युद्ध और प्रेम-कथाओं का आधिक्य है, परन्तु आचार-शास्त्र वहाँ भी साथ लगा रहा। उदाहरणार्थ 'पृथ्वीराज रासो' में वर्णित विजयी पृथ्वीराज का शत्रु गोरी को पकड़ कर छोड़ देना भारतीय उदारता एवं सदाशयता का ज्वलंत उदाहरण है।[२]

काल की गति के साथ सांस्कृतिक संघर्ष प्रारम्भ हो जाने के दो परिणाम हुए, कुछ व्यक्तियों ने अपने आचार के बन्धन अधिक दृढ़ कर दिये तथा दूसरों ने उनमें अधिक शिथिलता दिखलाई। साथ ही कुछ ऐसे विरोधी आचार भी निर्मित हुए जो भारतीय आचार से टक्कर लेने वाले थे। अतएव इस काल में तीन प्रकार के भिन्न आचार कवि की वाणी में स्फुरित हो उठे। पहिले

शेष टिप्पणी पिछले पृष्ठ की

मंसं ? खादित्वा समणधम्मं करेय्यासीति तेन सद्धिं सल्लपन्तो चतुत्थं गाथामाह—

"न ससस्स तिला अत्थि न मुग्गा नापि तण्डुला।
इमिना अग्गिना पक्कं ममं भुत्वा वने वसाति॥

[ब्राह्मण, आहार के लिए मेरे पास आकर तुमने अच्छा किया। आज मैं पहिले न दिये हुए दान को दूँगा और शीलवान् रह कर तुम प्राण त्याग न करोगे। सो जाओ, लकड़ियों को इकट्ठा कर आग जलाओ और मुझे सूचित करो। मैं अपने को अग्नि में छोड़ दूँगा। जब मेरा शरीर पक जाय, मेरे मांस को खाकर तुम श्रमण-धर्म का पालन करना।]

१—भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि म्हारा कंतु।
लज्जेजं तु वयंसिअहु जइ भग्गा घरु एन्तु।

(हे बहिन, भला हुआ जो हमारा कांत मारा गया। यदि वह भागा हुआ घर आता तो मैं अपनी समवयस्काओं से लज्जित होती।)

रामचंद्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास (सं० १९९८) पृष्ठ सं० २९

२—पृथ्वीराज रासो, २७व समय

समुदाय ने प्राचीन आचार का दृढ़ता से प्रतिपादन किया और उसी का प्रतिनिधित्व करते हुए मानों भगवान् कृष्ण के शब्दों में यह घोषणा की कि 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।'[1] कदाचित् इसी के अनुकरण में किसी कट्टरवादी ने कहा होगा कि 'न पठेत् यावनीं भाषां प्राणैः कंठगतैरपि ।' संभवतः यही काल था जब प्राचीन सामाजिक आचार की रक्षा का भार पंचायतों ने उठा लिया होगा। खान-पान और विवाह के बन्धनों में कठोरता उत्पन्न हो गई होगी, जिसके फलस्वरूप वैष्णवों में स्मार्त सम्प्रदाय खड़ा हो गया होगा, जिसमें आचार की कठोरता आवश्यक हो गई होगी। तुलसी इस प्रकार के आचार के प्रतिनिधि कवि हैं। वे इस आचार पर अभिमान करते थे। रामचरित मानस की सीता कभी अपने मुख से अपने पति का नाम नहीं लेती और लक्ष्मण का शुक-सारण द्वारा भेजा हुआ पत्र 'बिहँसि बाम कर लीन्हेउ रावन। सचिव बोलि सठ लागि बचावन।'' भी भारतीय आचार की कट्टरता का ही स्वरूप उपस्थित करता है। भारतीय आचार यही है कि स्त्रियाँ पति का नाम नहीं लेतीं और शत्रु का पत्र सदा बायें हाथ में लिया जाता है। आचार धर्म का इस प्रकार प्रतिपादन तुलसी ने पद-पद पर किया है। आज के समाजशास्त्र-विद् उन रूढ़वादियों की निन्दा कर सकते हैं, क्योंकि उन्होंने अवसर की परीक्षा करके आचार-परंपरा में परिवर्तन नहीं किया। पर वस्तुतः वे निन्दा के पात्र तब होते जब उन्होंने वैभव-प्राप्ति की लालसा का बलपूर्वक तिरस्कार करके चोटी और जनेऊ की रक्षा न की होती। वास्तविक स्थिति तो यह है कि राम और कृष्ण का नाम शेष रखने वाले इन कट्टर 'आचारवादियों' के अभाव में काश्मीर और पूर्वी बंगाल की भाँति ही आज सारा भारतवर्ष 'चन्द्रपताका' के नीचे होता।

इन कट्टरतावादियों के साथ कुछ शिथिल आचारवान् व्यक्ति भी रहे जिन्होंने 'पंजवक़्ता' नमाज़ और रोज़े को भी स्वीकार किया। ताज़ियादारी और पीर एवं मज़ार-पूजा उनके धर्म के अंग बन गये। वेश-भूषा, भाषा तथा व्यवहार सब के सब एक नये रंग से रँग गये। साहित्य पर भी इसका प्रभाव पड़ा और आचार-शिथिल साहित्य सम्मुख आया। कुशल इतनी ही हुई कि हिन्दी-साहित्य में यह काल शृंगार-रस का काल था जिसके कारण इस आचार के पोषक कवि अपने आचार का महत्व प्रतिपादन करनेवाली कोई कृति हिन्दी साहित्य को न दे सके। विरोधी आचार जो इस समय उठ खड़ा हुआ वह

१—गीता, अध्याय ३, श्लोक ३५।

संकीर्ण साम्प्रदायिक घेरे में आबद्ध रहने के कारण साहित्य के क्षेत्र में न आ सका, जिसकी प्रतिक्रिया के रूप में समन्वय-भावना का उदय हुआ। इसका विवेचन आगे किया जायगा।

यहाँ दो बातें ध्यान में रखने की हैं। आचार जब मनुष्य का संस्कार बन जाता है तब वह मनुष्य के चरित्र का मापदण्ड बनता है। इस मापदण्ड द्वारा जो भाव या व्यक्ति पूरा नप जाता है उसे उचित कहा जाता है और जो इस मापदण्ड से अधिक होता है उसे आदर्श। अतएव आचारवाद ही औचित्यवाद और आदर्शवाद का मूल है।

आचार के निर्माण के सम्बन्ध में हम यह कह चुके है कि भौगोलिक और राजनैतिक परिस्थितियाँ उसकी मात्रा और प्रकार में विविधता उत्पन्न कर देती हैं। अतएव प्रत्येक समाज के आचार का मापदण्ड विभिन्न होना स्वाभाविक है। इस विभिन्नता के कारण औचित्य और आदर्श की मात्रा और प्रकार में भी विविधता अवश्यंभावी है। भगवान राम का चरित्र हमारे लिए आदर्श है, क्योंकि उन्होंने प्रजा की भावना का विचार करते हुए अपनी पतिपरायणा सती सीता का परित्याग कर दिया। परन्तु ऐसी ही स्थिति में ड्यूक आव विंडसर का राज्य-त्याग दूसरे प्रकार का आदर्श है।

औचित्य की स्थिति भी ऐसी ही है। वाल्मीकि -रामायण में लक्ष्मण का पिता के प्रति रोष मानव-प्रकृति के औचित्य को स्वीकार करता है, परन्तु पितृ-भक्ति के आदर्श से टकराने के कारण तुलसी वैसा न कर सके। वह केवल इतना कहकर चुप हो गये:—

मातु पिता नहिं जानहुँ काऊ। कहहुँ स्वभाव नाथ पतियाऊ॥
मोरे सबै एक तुम स्वामी। दीनबन्धु उर अन्तरयामी॥

मानव-प्रकृति में यह आचारवाद, औचित्यवाद और आदर्शवाद इतने बद्धमूल हैं कि प्रत्येक देश, प्रत्येक जाति और प्रत्येक संस्कृति अपने-अपने मापदण्डों से इनको सदैव नापती रही है। अन्य साहित्यों में प्राप्त होने वाले इस विवेचन को हम आगे के लिए छोड़ते हैं। इस औचित्य-परंपरा का हिन्दी साहित्य में जो प्रभाव पड़ा है, यहाँ हम उसी का विवेचन करेंगे।

हिन्दी साहित्य में तुलसी के उपरान्त आधुनिक युग तक भारतीय आचार को प्रधान केन्द्र मानकर कोई पुस्तक प्रायः नहीं लिखी गई है। मुक्तक अथवा गीत-काव्य जब तक शुद्ध उपदेशात्मक रीति से न लिखे जायँ, आचार प्रतिपादक नहीं हो सकते। ऐसा होने पर उनमें काव्यगत सौन्दर्य शेष नहीं रहेगा।

उन काव्यों में जो प्रासंगिक और चारित्रिक आधारभूमि लेकर आचार-शास्त्र का प्रतिपादन कर सकते हैं, इस काल की प्रवृत्तियों के प्रभावस्वरूप शुद्ध आचार प्रतिपादन की अपेक्षा विशेष विचार-धारा का प्रतिपादन उनका उद्देश्य बन गया है। विश्वबन्धुत्व, मानव-धर्म, समाजसेवा आदि कुछ चुने हुए नारे हैं जो एक ही राग में कहीं 'मन्द्र' में सुनाई पड़ते हैं, कहीं मध्य में और कहीं तार में। 'प्रियप्रवास', 'कृष्णायन' और 'साकेत—सन्त' इसके अपवाद हैं।

जब विरोधी आचार उपस्थित हुए तब उनका प्रभाव भारतवर्ष के दैनिक जीवन तथा उनकी सांस्कृतिक व्यवस्था पर भी पड़ा। कहीं तो वह प्रभाव उग्र विरोध के रूप में व्यक्त हुआ और कहीं उसने मिल-जुल कर नवीन आचार की सृष्टि की। जहाँ वह उग्र विरोध के रूप में प्रकट हुआ वहाँ

"जानि गैर मिसिल गुसीले गुसा धारि उर,
कीन्हीं न सलाम न बचन बोले सियरे।"-भूषण

के रूप में व्यक्त हुआ और जहाँ दोनों विरोधी भावों ने मिलकर समन्वय करना चाहा वहाँ 'संतो राह दोउ हम दीठा' के रूप में उपस्थित हुआ।

चिरस्थायी विरोध मनुष्य की प्रकृति सहन नहीं करती। अलग रहते हुए भी एक होने की भावना धीरे-धीरे बढ़ती ही रहती है और आचार का बाहरी विरोध मनुष्य का सह्य होने लगता है। यह विरोध अपनी कटुता छोड़ देता है और मानव मानव के मिलन की मधुरता से आच्छन्न हो जाता है। हिन्दी साहित्य में इसी आचार, औचित्य और आदर्शवाद ने धीरे-धीरे विकास पाया। जायसी इसीलिए कह सका :

"राख उठाय लीन्ह एक मूठी। दीन्ह उड़ाय पिरिथिमी झूठी॥"

अलाउद्दीन जैसे क्रूर हृदय सुल्तान के मुख से यह कहला कर कवि ने मानों इन बाह्य विरोधों को ही झूठा कहकर मानवता के आदर की भावना का आदर्श उपस्थित किया। कदाचित् इसीलिए

"रसखान कबौं इन आँखिन सों ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं॥"

× × ×

"चित्रकूट में रमि रहे, 'रहिमन' अवध नरेश।
जापै विपदा परत है, सो आवै यहि देश॥"

× × ×

"तांड़ नाल प्यारे हिन्दुआनी ह्वै रहौंगी मैं"

आदि में दोनों विरोधी भावनाओं का मिलन होकर किसी नवीन आदर्श के निर्माण की भावना जाग्रत हो रही थी। हिन्दुओं ने कदाचित् इसी लिए मुहर्रम मनाना प्रारम्भ किया था।

कबीर [1] और सेनापति [2] दोनों मानव-देह का बीच मिटा कर 'देहरे' (मन्दिर) और मसजिद से भिन्न आत्मा की ओर चलने का आदर्श उपस्थित करते है। कठोर आचार की शृंखलाओं में बँधा हुआ कवि जब व्याकुल हो उठा होगा और उसने अपने सामने एक विरोधी आचार देखा होगा तभी उसने कहा होगा—

हैं उपजे रज बीज हो तैं, बिनसे सू सबै छिति छार कै छाँड़े।
एक स देख, कछू न बिसख, जौं एक उन्हार कुम्हार के भाँड़े॥
तापर ऊँच औ नीच बिचारि बृथा बकवाद बढ़ावत चाँड़े।
वेदन मूँदि करी इन दूँदि कि सूद अपावन, पावन पाँड़े॥—देव

संवेदना का परित्याग करके, मानव मानव के प्रति पारस्परिक सहानुभूति की हत्या करके, जो केवल बाह्य आचार की ही बड़ाई करते हैं, वे द्वन्द्व ही बढ़ा रहे हैं, सत्य की ओर उनकी प्रवृत्ति नहीं। कवि का उक्त वाक्य मानों भारतीय समाज को समन्वय की ओर ले जाता हुआ प्रतीत होता है। आगे चलकर सन्तों ने इस आचार-विरोध को मिटाने को निरन्तर चेष्टा की और वह चेष्टा सफल हो जाती, यदि बीच में आने वाली राजनैतिक परिस्थितियाँ उनके छः सौ वर्षों के निरन्तर प्रयास पर पानी न फेर देती।

एक अन्य शक्ति से भारतवर्ष का संघर्ष हुआ। भारत उससे किसी भाँति पराजित हो गया। इस चतुर शक्ति ने यह समझ लिया कि जब तक भारतीय आचार की परंपरा बनी रहेगी, सन्तों की समन्वय-भावना काम करती रहेगी तब तक उसे अपनी सत्ता स्थिर करने में कठिन होगा। अस्तु, उसने भारतीय संस्कृति को नष्ट-भ्रष्ट करना चाहा। एतदर्थ उसने अप्रत्यक्ष रूप

१—"ना मैं देवल ना मैं मसजिद ना काबे कैलास में।
मैं तो रहौं शहर के बाहर, मेरी पुरी मवास में॥"
—कबीर

२—"करू न संदेह रे, कहे मैं चित्त देह रे,
कहा है बीच देह रे, कहा है बीच देहरे॥"
सेनापति —कवित्त रत्नाकर

से भारतीय आचार के विनाश का संगठित प्रयत्न प्रारम्भ किया। फलतः आचार का मापदंड बदला। इसीलिये औचित्य और आदर्श के मापदंड भी बदल गये। विभिन्न समस्याओं का जन्म हुआ और विभिन्न वादों के रूप में नवीन साहित्य का निर्माण प्रारम्भ हुआ। यह नहीं है कि इन नवीन वादों की वेगवती धारा में आचारवाद बह गया। हम कह चुके हैं कि आचार ही मनुष्य का जीवन है। उसके आदर्श में रूप-परिवर्तन हो सकता है, आत्मा का परिवर्तन नहीं। नवीन प्रभावों से प्रभावित भारतीय आचार की वेश-भूषा बदल गई, परन्तु वे आधार किसी न किसी रूप में अवश्य उपस्थित रहे। उनका रूप यथाकथंचित् प्रियप्रवास, बुद्धचरित, साकेत, वैदेही-वनवास, कृष्णायन आदि में भी प्रस्तुत है।

भारतीय साहित्य का सम्पर्क फारसी साहित्य से अधिक हुआ। अतएव फारसी साहित्य के आचारवाद पर भी थोड़ा विचार करना आवश्यक है। प्राचीनतम ईरान का साहित्य 'ज़िन्दावेस्ता' वेदों की भाँति ही आचारशास्त्र की पुस्तक है। फारस की यह भाषा अपभ्रंश काल में पहलवी के रूप में विकसित हुई। पहिली पहलवी का काल भी आचार प्रधान बना रहा। पहलवी अपने अन्तिम युग में अरब के मुसलमानों से प्रभावित हुई। बगदाद खलीफा का केन्द्र था। अतएव मुसलमान धर्म, संस्कृति और सभ्यता का प्रभाव फारस पर पड़ना आवश्यक था। अरब युद्ध-प्रिय और नेता का अनुगमन करने वाली जाति थी। अतएव फारस में नवीन साहित्य 'कसीदों' के रूप में विकसित हुआ। फारस का शासक वर्ग शिया मुसलमानों में से था। अतएव फारसी साहित्य में मरसियों ने अधिक बल पाया। इन मरसियों ने हसन के बलिदान की कहानी के आधार पर शरणागत-रक्षा, आत्मत्याग, सहनशीलता तथा आतिथ्य का उच्चतम आचार सम्बन्धी आदर्श उपस्थित किया।

बादशाहों के यशोगान के लिए वंश-परंपरा का विवेचन करने वाली मसनवियों में राजकुटुम्ब के उदार आचार की व्याख्या की गई; परन्तु यह व्याख्या मसनवियों का गौण अंश थी। आचारशास्त्र पर ही पुस्तक लिखने वाले शेख सादी [1] की 'गुलिस्तां बोस्तां' संसार के साहित्य का रत्न है। 'करीमा' दूसरी आचारशास्त्र की पुस्तक है। इनका व्यापक प्रभाव आजतक अवशेष है।

१—"गिले खुशबुए दर हम्माम रोज़े, रसीदज़ दस्ते महबूबे बदस्तम्।
मनो पुरसम् कि अम्बर या अबीरे, कि अज़ बूए दिलावेज़े तो मस्तम्।

शेष टिप्पणी अगले पृष्ठ पर

भारतवर्ष में मुसलमान-शक्ति के प्रतिष्ठित हो जाने पर यह परंपरा साहित्य में लगभग बंद-सी हो गई। मसनवियों का स्थान 'ग़ज़ल' ने लिया। यह ग़ज़ल परंपरा भी अरब और फारस होते हुए भारतवर्ष में आई थी। इसका मूल उद्देश्य प्रेम की पीर कहना था। फारस में यह प्रेम की पीर सूफी सन्तों द्वारा धार्मिक साहित्य का अंग बन गई। इन सूफियों ने बाह्य आचार पर कठोर कटाक्ष किए और एक ऐसे आचार की प्रतिष्ठा की जिसका मूल आधार अन्तरात्मा और परमात्मा का संबन्ध है। अतएव इस परंपरा को हम आचारवाद की कोटि में नहीं रख सकते। भारतीय कवियों ने भी ग़ज़ल की इसी परंपरा को अपनाया। ग़ज़ल के प्रवर्तक उर्दू साहित्य में 'वली' माने जाते हैं। इनकी रचनाओं में भी आचार-रक्षा का यत्न मिलता है। मीर, दर्द, गालिब, ज़ौक़, मोमिन आदि कवि भी आचार-शास्त्र का बिखरा हुआ उपदेश देते रहे हैं।[1]

पिछले पृष्ठ की शेष टिप्पणी

बगुफ्ता मन गिले नाचीज़ बूदम्, व लेकिन मुद्दते बागुल नशिस्तम्।
जमाले हम नशींदर मन् असर करद, वगरनामन हमा खाकम् के हस्तम्।
—शेख़ सादी

[एक दिन मैं प्रियतम के साथ स्नानागार में गया। वहाँ मेरे प्रियतम ने अपने हाथ से मुझे सुगंधित मिट्टी दी। मैंने उस मिट्टी से पूछा कि मैं तेरी हृदयहारिणी सुगंध से मस्त हुआ जा रहा हूँ। क्या तू अम्बर है या अबीर है? इस पर उसने मुझ से कहा कि मैं केवल तुच्छ मृत्तिका ही थी किन्तु बहुत काल तक फूलों के साथ उठती-बैठती रही। फलतः मेरे सहवासी का सौन्दर्य मुझे प्रभावित कर गया। अन्यथा मैं वही मिट्टी हूँ और मेरी क्या मर्यादा है?]

१—कल पाँव एक कासए सर पर जो आ गया।
एक सर वो उस्तख्वाने शिकस्ता से चूर था।
कहने लगा कि "देख के चल राह बेखबर,
मैं भी कभू किसी का सरे पुरगुरूर था।"—मीर

[कल मेरा पैर एक कपाल पर पड़ गया। वह कपाल टूटी-फूटी हड्डियों के कारण चूर-चूर हो रहा था। मुझसे उस कपाल ने कहा "अरे बेहोश, मार्ग में देख कर चल, एक दिन था जब मैं भी तेरे ही समान किसी अभिमानी व्यक्ति का सिर था।]

परन्तु निश्चित आचार परंपरा पर सुव्यवस्थित पुस्तक उर्दू साहित्य में नहीं लिखी गई।

उर्दू के वर्तमान काल में आचारिक उच्छृंखलता पर व्यंग और कटाक्षपात भी कम नहीं हुए। उनका उद्देश्य भी आचार का प्रतिपादन करना ही था। अकबर इलाहाबादी के व्यंग इस दिशा में बड़े मार्मिक हैं।

अंग्रेजी साहित्य और आचारवाद:—भारतीय साहित्य पर अंग्रेजी ने भी प्रभाव डाला। अतएव उसके आचारवाद पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। अंग्रेजी साहित्य के विकास की आयु एक सहस्र वर्ष से अधिक नहीं है। प्रथमतः इंग्लैण्ड पर रोमन साम्राज्य का प्रभुत्व ईसा से प्रथम शताब्दी पूर्व में स्थापित हुआ। रोमन साम्राज्य अपने नैतिक आचारों के लिए यूनान का उतना ही ऋणी है जितना अपने धार्मिक सिद्धान्तों के लिए। हम कह सकते हैं कि फिलिस्तीन, मिश्र और यूनान ने पश्चिमीय यूरोपीय संस्कृति और सभ्यता की विकासभूमि प्रस्तुत की थी। अतएव आचार के सम्बन्ध में भी यूनानी दार्शनिकों का प्रभाव पश्चिम की आचार-व्यवस्था पर पड़ा।

हम यह पहिले कह चुके हैं कि समाज और व्यक्ति के सम्बन्ध में अरस्तू व्यक्तिवादी था। अतएव अरस्तू का व्यक्तिवाद ही पश्चिम के समस्त आचारों की पृष्ठभूमि बना रहा। इंगलैंड में ईसाई संस्कृति का प्रवेश पाँचवीं, छठी और सातवीं शताब्दी के लगभग हुआ। इस समय तक इस देश में पैगन (Pagan) की प्रधानता थी और उसके गायक अपने गीतों में सामान्य मनुष्य के जीवन-गीत गाया करते थे। यह क्रम ईसाई धर्म के सम्पूर्ण प्रचार तक चलता रहा। ईसाई संस्कृति के विकास के साथ इस व्यक्तिवाद पर धार्मिक शासन स्थापित हुआ। अतएव इंगलैंड का आचारवाद सबसे पहिले धार्मिकता के रंग से रँगा हुआ सामने आया। गायकों ने बाजे के साथ, धार्मिक पादरियों ने अपने उपदेशों के द्वारा पूरे यूरोप में ईसाई आचार के प्रचार का संगठित प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया और इस प्रकार एक विशेष आचार-परंपरा का निर्माण हुआ। इटली, स्पेन और फ्रान्स से होते हुए कहानियों और गीतों के रूप में इस आचार ने इंगलैंड में प्रवेश किया।

इंगलैंड का इस काल का इतिहास अन्धकारमय कहलाता है। इसके दो कारण हैं। धर्मोन्मत्त ईसाई शक्ति के विकास के साथ ही अनीश्वरवादी कही जाने वाली पैगन जातियाँ ही उन्मूलित नहीं हुईं, वरन् उनके साहित्य का भी—जो उनके गीतों में निहित था, निर्दयतापूर्वक नाश किया गया। दूसरी

ओर ईसाई धर्म जो नवीन साहित्य दे रहा था, वह अधिकांशतः लैटिन भाषा में था तथा उसमें धार्मिकता की भावना अत्यन्त बलवान थी। इस प्रकार का साहित्य जब एक बार अपना साम्राज्य स्थापित कर लेता है तब वह इतना स्थायी और दृढ़ प्रभाव स्थिर कर लेता है कि वही मनुष्य की संस्कृति बन जाती है। फलतः वह पुराना आचार जो पैगन (Pagan) आचार के नाम से बहिष्कृत कर दिया गया था, विस्मृत भी हो गया। अब ईसाई धर्म का मूल तत्व दया, क्षमा, सहनशीलता और लज्जा आदि आचार बन गये जो वस्तुतः धर्म के अंग थे। इनको आचार का केन्द्र बनाकर चौदहवीं शताब्दी से साहित्य रचना प्रारम्भ हुई। सोलहवी शताब्दी तक प्रायः जितनी आचार सम्बन्धिनी पुस्तकें निकलीं वे सब अधिकांशतः इसी दिशा में प्रवृत्त थीं। जर्मन विद्वान लूथर ने जब चर्च के साम्राज्य के प्रति विद्रोह उपस्थित किया तब साहित्य की गतिविधि में परिवर्तन हुआ। अभी तक जिस पादरी का चरित्र आदर्श माना जाता था उस पादरी का नग्न रूप लूथर ने अपने पैम्फ्लेटों में उपस्थित कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि एक अन्य सम्प्रदाय का जन्म हुआ, जिसने आचार को धर्म से अलग कर दिया। अब आचार के लिए चर्च को व्यवस्था देने वाला नहीं माना गया, वरन् उदार मानवता के आधार पर आचार की परीक्षा होने लगी। इस प्रकार धार्मिक आचार चारित्रिक आचार के रूप में सोलहवी—सत्रहवीं शताब्दी में परिवर्तित हो गया। यह यूरोप के नवजागरण का काल था। अतएव शिक्षा, राजनीति और चर्च सबसे सम्बन्ध रखने वाली आचार सम्बन्धिनी समस्याएँ साहित्य-में दिखाई पड़ने लगीं। लूथर के आक्षेप इतने कठोर थे कि जिनसे चर्च को पीछे हटना पड़ा।

नवीन वैज्ञानिकयुग में आचार व्यक्तिगत वस्तु हो गये और धर्म का स्थान आर्थिक व्यवस्था ने ले लिया। अतएव यह स्वाभाविक था कि लोगों की मनोवृत्ति आचार-परक साहित्य से हटकर मनोरंजन और आमोदप्रद अथवा वैज्ञानिक विश्लेषण देने वाले साहित्य की ओर झुक जाय। ऐसा नहीं है कि इस भाव में आचार को सर्वथा त्याग दिया गया हो। डिकेन्स (१८१२–६०) की 'टेल आफ् टू सिटीज़' (Tale of Two Cities) में सिडनी कार्टन (१८५९) का प्रेम के लिए आत्म-बलिदान सदाचार का सुन्दरतम उदाहरण है। अंग्रेजी का वर्तमान काल बर्नर्ड शा के रूप में उच्च आचारवादी को जन्म देने वाला है जिसकी "लिटिल मैन" नामक कहानी उसी प्रकार दया, सहनशीलता और उदारता का आचार व्यक्त करती है जैसा कि धार्मिक पुस्तक में कहा जा सकता है।

भारतीय आचार शास्त्र पर हमारे इन नवागत मेहमानों का बड़ा भयंकर प्रभाव पड़ा। जो कुछ हमारे पास था, वह तो सब प्रायः अस्तव्यस्त हो ही गया, हम कुछ ऐसी वस्तु भी न पा सके जिससे हमें कोई स्पष्ट मार्ग मिल जाता, जिस पर हम निर्विघ्न चल सकते। सच तो यह है कि इस गड़बड़झाले में पड़कर न हम इधर के रहे, न उधर के रहे। साहित्य पर भी इसका प्रभाव पड़ा और इसीलिए कुछ ऐसी आचार-परंपराओं का निर्माण हुआ जिनके सम्बन्ध में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वे इधर की हैं या उधर की। उस पर तुर्रा यह है कि इस द्विविध मनोगत दशा को ही आज हमने अपनी वास्तविक दशा समझ लिया है और यह आशा करते हैं कि इसी से कोई ऐसा मार्ग निकल आयेगा जिस पर चलकर हम अपने गंतव्य तक पहुँच सकेंगे। प्रभु करे ऐसा ही हो।

विवेचन

आचारवाद:—आचारवाद का विवेचन करते समय हम कह आये हैं कि इसका विकास एक युग की वस्तु नहीं है। मानव के जन्म-दिन से आज तक जितने प्रयत्न हो चुके हैं, उन सब का संग्रह मनुष्य का वर्तमान आचार है। इसीलिए आचार-परंपराओं का इतना झमेला है और इसीलिए कभी-कभी परस्पर विरोधी आचार उपस्थित हो जाते हैं, जिनके सम्बन्ध में मनुष्य किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो जाता है। अतएव आचार-परंपरा को स्पष्ट समझ लेने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि आचार-मर्यादा का निर्धारण किस प्रकार होता है।

जब हम कहते हैं कि यह काम अनुचित हुआ तब उचित की एक धारणा हमारे मस्तिष्क में स्थिर रहती है। राम कैकेयी की आज्ञा से वन जाने के लिए तैयार हो कर माता कौशल्या के पास पहुँचे और उनसे कहाः—

"पिता दीन्ह मोहिं कानन राजू। जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू॥"

यहाँ एक दृष्टि से राम ने असत्य कहा। पिता ने एक बार भी राम से वन जाने के लिए नहीं कहा था। परन्तु यदि राम सत्य घटना कह देते तो वह शील-औचित्य के विपरीत होती। अतः राम का यही कहना उचित था। आगे चलकर कौशल्या के वाक्यों में आचारवाद का उत्तम उदाहरण मिलता है। वे कहती हैं:—

जो केवल पितु आयसु ताता। तो जनि जाहु जानि बड़ि माता।
जो पितु-मातु कहेउ बन जाना। तो कानन सत अवध समाना॥

—रामचरित मानस, अयोध्याकांड,

आचार का एक मापदंड है कि पिता से माता का अधिकार बड़ा है और उसका आधार है शास्त्र का यह वाक्य—"मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषोवेद।"[1] इस मापदंड से माप कर ही माता कहती है, "तो जनि जाहु जानि बड़ि माता।" इस प्रकार हम देखते हैं कि एक आचार का मापदंड शास्त्रविहित होता है। कभी-कभी ऐसे अवसर आते हैं जिनमें लोक-परंपरा ही आचार बन जाती है। कान्यकुब्जों का खान-पान-विचार शास्त्रविहित नहीं है। रोटी-बेटी के सम्बन्ध में भी वर्तमान परंपराओं में जितनी कठोरता का पालन किया जाता है, उतनी कठोरता की आज्ञा शास्त्र में नहीं है। यह दूसरे प्रकार का आचार है, जो केवल लोक-परंपरा को ही स्वीकार करता है। इसकी मापक लोक-परंपरा है।

प्रतुत निबन्ध में हम किसी आचार के औचित्य एवं अनौचित्य पर विचार नहीं करना चाहते। हम केवल आचार के विभिन्न स्वरूप जो साहित्य में दिखाई पड़ते हैं, उनका ही विवेचन करने के लिए श्रेणी विभाजन करना चाहते हैं। इसी दृष्टि से हम ने उक्त दो विभाग—शास्त्र एवं लोक परंपरा, किये हैं।

आचार की इन परंपराओं के सम्बन्ध में इतना समझ लेना और आवश्यक है कि आचार मानव-जीवन का शाश्वत अंग नहीं है। देश-काल और परिस्थितियाँ कभी इस पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालती रहती है और कभी अप्रत्यक्ष। एक दिन था जब चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था भेद-परक न होकर संगठन-परक थी। इसका मूल उद्देश्य कार्य-विभाजन करके सामाजिक-जीवन में सुव्यवस्था बनाये रखना था। उस समय चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था आचार पर यथाकथंचित् निर्भर थी, चातुर्वर्ण्य व्यवस्था पर आचार निर्भर न था। कालान्तर में यह व्यवस्था विशुद्ध आचार-परक बन गई। अब आचार कहने से ब्राह्मण का बोध नहीं होता, वरन् ब्राह्मण कहने से आचार का बोध होता है। देश भी आचार के मापदंड स्थिर करते रहते हैं। शौचाचार का नब्बे प्रतिशत भाग देश और जलवायु पर ही निर्भर है। पतलून की जेब में ब्लाटिंग के टुकड़े और लोटे का पानी दोनों देशाचार है।

इसी प्रकार परिस्थितियाँ आचार-परंपराओं को कठिन और शिथिल बनाया करती है। आज खाद्याखाद्य के सम्बन्ध में जो शिथिलता दिखाई पड़ती है, उसका कारण वर्तमान परिस्थितियाँ हैं। इसी प्रकार किसी समय इस विचार में कठोरता भी परिस्थितियों के कारण ही उत्पन्न हुई थी। काश्मीर

१—शतपथ ब्राह्मण।

और पूर्वी बंगाल में मुसलमानों को उतना अस्पृश्य नहीं समझते जितना उत्तर प्रदेश में। इसका कारण परिस्थितियों में ही निहित है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार के मापदंड दो हैं—पहिला लोकाचार और दूसरा शास्त्राचार। इतना और ध्यान रखना चाहिए कि आचार का यथातथ्य पालन भी औचित्यवाद की कोटि में आ जाता है। परन्तु यहाँ हम उसको इसलिए अलग कर लेते हैं कि आचार का अधिक सम्बन्ध सामाजिक जीवन से है। जो कुछ उसका वैयक्तिक-जीवन से सम्बन्ध है, वह भी येन-केन-प्रकारेण सामाजिक जीवन की प्रतिच्छाया है। अतएव आचारवाद का विवेचन करते समय हमें यह देखना होगा कि सामाजिक-आचार के किन मापदंडों को स्वीकार करके साहित्य में आचार की प्रतिष्ठा की गई है।

कौटुम्बिक आचार

माता का आचारः—संभवतः जब तक समाज-व्यवस्था का निर्माण नहीं हो गया होगा तब तक सन्तान का उत्तरदायित्व माता पर ही रहा होगा और स्वाभाविक भी यही है। पिता की अपेक्षा माता सन्तान की रक्षा में अधिक समर्थ है, क्योंकि माता के ही स्तन्य-पान से बालक का जीवन संभव है। इसी लिए मनुष्येतर स्तनपायियों में भी सन्तान का अधिक अनुराग माता के ही प्रति देखा जाता है। प्रकृति की इस सहज-भावना ने ही माता को सर्वोच्च पद प्रदान किया। सामाजिक-जीवन के विकास के साथ-साथ स्त्री-जीवन में पराश्रय की भावना धीरे-धीरे आती गई। कोमलता, समर्पण और प्रेम उसकी सम्पत्ति बन गये। इस दिव्य सम्पत्ति की अधिकारिणी बनने के लिए उसने बहुत बड़ा त्याग किया। उसने अपनी अहंता, अपने स्वत्व को पति और पुत्रों पर निछावर कर दिया। इससे जहाँ उसके चरित्र में अलोक-सामान्य पवित्रता का विकास हुआ वहाँ वह अबला भी बन गई। किन्तु उसके इस अबलात्व में वह बल आज भी है। पशुता की ओर निरन्तर बढ़ने वाले मनुष्य का स्वत्व जब कभी भौतिकता से कुछ क्षणों के लिए मुक्त हो पाता है, तब स्वयं माता के चरणों में लोटने की कामना करने लगता है।

माता के पद की इस उच्चता ने प्रकृति की सहज प्रेरणाओं के साथ मिलकर उसके कुछ आचारों की भी सृष्टि की है, जिनकी प्रतिच्छाया हमें साहित्य में अनादि-काल से मिलती चली आ रही है।

हम रामायण की कौशल्या, सुमित्रा, कैकेयी, महाभारत की कुन्ती, गांधारी आदि की चर्चा नहीं करेंगे, क्योंकि वे पौराणिक काल की माताएँ हैं। हिंदी साहित्य में जगनिक के आल्हखण्ड में सबसे पहिले हमें देवलदेवी के चरित्र का दर्शन होता है। आल्हा-ऊदल की यह माता अपनी सुदृढ़ निष्ठा, कर्तव्यपालन और कठोर चरित्र की प्रतिमूर्ति है। पिता के अभाव में पुत्रों के निर्माण का सारा भार उसी पर आता है। उसने पुत्रों को शस्त्र और शास्त्र की शिक्षा दी, उन्हें वीर और स्वाभिमानी बनाया। देशाभिमान की प्रेरणा का मूल स्रोत यह माता ही है। मातृ-आचार का पालन करती हुई यह माता दृढ़ कर्त्तव्य का आदर्श है। युद्धभूमि से पीछे हटने वाले आल्हा-ऊदल को अपने दूध की कसम खिलाकर जो माता अपने पुत्रों को मौत के मुँह में भेज सकती है, वह माता केवल माता ही नहीं है, अपितु माता के रूप में सन्तान की शक्ति है। इस प्रकार कर्त्तव्य की कठोर निष्ठा का आचार हमें देवलदेवी के चरित्र में देखने को मिलता है, जिसके सामने प्रेम पराजित हो जाता है।

बीसलदेव रासो और पद्मावत में भी हमें माताओं के दर्शन प्राप्त होते है। इन माताओं में कर्त्तव्य की अपेक्षा प्रेम अधिक बलवान है और इसीलिए वे अपने पुत्रों के मार्ग में रुकावट डालना चाहती हैं। ये चरित्र निर्बल हैं और कोई विशेष सन्देश नहीं देते। इसके बाद माता के दिव्य आचार का दर्शन हमें सूरदास में मिलता है। पुत्र-प्रेम की एकान्त-निष्ठा की जो दिव्य झाँकी—

"संदेशो देवकी सों कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की मया करत ही रहियो।"

में दिखाई देती है, वह कदाचित् ही संसार के किसी साहित्य में होगी। भगवान् कृष्ण गोचारण के लिए गये हुए थे, दोपहर के कलेऊ में देर हो गई—

"इहि अन्तर नन्द-घरनि कह्यो हरि भूँखे ह्वै हैं।
खेलत तैं अब आइ, भूँख कहि मोहिं सुनैहैं।"

× × × ×

"इहि अन्तर सब सखा जाइ ब्रज नन्द सुनायौ।
हम संग खेलत स्याम जाय जल माँझ धसायौ।
बूड़ि गयौ, उचक्यौ नहीं, ता बातहिं भई बेर।
कूदि पर्यौ चढ़ि कदम तैं, खबरि न करी सबेर।
त्राहि त्राहि करि नन्द, तुरत दौरे जमुना तट।
जसुमति सुनि यह बात, चली रोवत तोरति लट।

× × × ×

निठुर भये सुत आजु, तात की छोह न आवति।
यह कहि कहि अकुलाइ, बहुरि जल भीतर धावति।

× × × ×

"कहत उठी बलराम सौं, कितहि तज्यौ लघुभ्रात।
कान्ह तुमहिं बिनु रहत नहिं, तुमसौं क्यों रहि जात।
अब तुमहूँ जनि जाहु, सखा इक देहु पठाई।
कान्हहि ल्यावै जाइ, आजु अबसेर कराई।"

सूरसागर, का० ना० प्र० सभा दशम स्कंध, पद १२०७।

माता की सहज उत्सुकता, दुर्घटना सुनकर उनका लट तोड़ते हुए दौड़ना, "निठुर भये सुत आज" का उपालम्भ, जमुना के जल में कूद पड़ना और उसके बाद उसकी मूर्च्छा, उन्माद और नन्द को धिक्कारना—सब कुछ इतना सहज, स्वाभाविक और वास्तविक है कि उसके लिए किसी बाह्य प्रेरणा की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। बलराम का

"मोहिं दुहाई नन्द की, अबहीं आवत श्याम।
नागनाथि लइ आइहैं, तब कहियो बलराम।"

× × × ×

"वृथा मरत केहि काज, मरै क्यों वह अविनासी।"

कहकर प्रबोध देना ही उस समय माता के प्राणों का रक्षक हो सका। माता पुत्र को प्रेम करती है और यह प्रेम ही माता के समस्त आचरणों का आधार है, जो शास्त्रसम्मत है और लोकसम्मत भी। यही मातृ-प्रेम यहाँ अपने सम्पूर्ण रूप में प्रकाशित हो उठा है। माता के आचार के ऐसे चरित्र सूरसागर के रत्न हैं जिन सब का यहाँ संग्रह करना अनावश्यक है।

माता का दूसरा चरित्र जिसमें पुत्र की हित-कामना, कर्त्तव्य की निष्ठा और मातृ-सुलभ प्रेम न केवल आचार के रूप में, बरन् आदर्श के रूप में राम-चरितमानस में चित्रित हुआ है। हम एक प्रसंग ऊपर कह चुके हैं। उसकी आवृत्ति की यहाँ आवश्यकता नहीं। यहाँ हम सुमित्रा के चरित्र का थोड़ा विश्लेषण करेंगे। लक्ष्मण को यह आज्ञा मिली:—

"बिदा मातु सन आवहु माँगी।"

लक्ष्मण माता के समीप पहुँचे और सारा वृत्तान्त माता सुमित्रा को कह सुनाया। माता सुमित्रा

"गई सहमि सुनि बचन कठोरा। मृगी देखि दव जनु चहुँ ओरा॥"
माता की यह दशा देखकर लक्ष्मण घबरा गये। उन्होंने समझा
"लखन लखेउ भा अनरथ आजू। यह सनेहबस करब अकाजू॥"
अतएव वे आज्ञा माँगने में सकुचा रहे थे। ऐसा ही प्रसंग माता कौशल्या के समक्ष उपस्थित हुआ था और वहाँ राम ने स्पष्ट शब्दों में वनगमन की आज्ञा माँगी थी। माता कौशल्या एक क्षण के लिए विचलित हो उठी थी। इसीलिए
"राखि न सकइ न कहि सक जाहू। दुहूँ भाँति उर दारुन दाहू॥
धरम सनेह उभय मति घेरी। भइ गति साँप-छुछुंदरि केरी॥"
कदाचित् यदि उन्हें "धरम जाइ अरु बन्धु विरोधू।" का भय न होता तो वे राम को वन जाने से रोक देतीं। परन्तु सुमित्रा कौशल्या की अपेक्षा अधिक कठोर धातु की बनी हुई थी। उनका पुत्र-प्रेम ऐसा मोम नहीं था जिसे वन-गमन की आग पिघला सके। वे कहती हैं :—

"भूरि भाग भाजन भयउ, मोहि समेत बलि जाउँ।
जो तुम्हरे मन छाँड़ि छल, कीन्ह राम पद ठाउँ॥"

क्योंकि

"पुत्रवती युवती जग सोई। रघुबर भगत जासु सुत होई॥
नतरु बाँझ भलि बादि बियानी। राम विमुख सुत ते बड़ि हानी॥"

माता सुमित्रा के इन शब्दों में पुत्र के लिए अभिमान, कर्त्तव्य-पालन की प्रेरणा और माता का जैसा ऊँचा आचार उपस्थित है, न जाने क्यों आज की माता उसे छोड़कर कच्ची मिट्टी के रंगीन खिलौनों की ओर दौड़ रही है। जो ऐसी माता हो उसके सामने कौन ऐसा पशु होगा जो झुक न जाय।

हम रामचरितमानस की कैकेयी को भी पुत्र-प्रेम और कुल-मर्यादा के सहज भावों से सम्पन्न पाते हैं। वह मन्थरा से कहती है :—

"रामतिलक जो साँचेहु काली। देहुँ तोहि मनभावत आली॥
× × × ×
"पुनि अस कबहुँ कहेसि घर फोरी। तौ धरि जीभ कढ़ावहुँ तोरी॥"

यह स्थिति होते हुए भी कैकेयी से भूल हो गई। उस भूल का पश्चात्ताप भी उसने किया :—

"अवनि जमहिं जाँचति कैकेयी। महि न बीचु बिधि मीचु न देयी॥"

चित्रकूट के प्रसंग में उसका यह पश्चात्ताप हमारी समझ में जिस गम्भीर वेदना का परिणाम है वह वेदना किसी अन्य साधन से व्यक्त नहीं की जा सकती।

माता का एक और चरित्र रामचरितमानस में है जिसका पुनीत आचार महत्व का आदर्श है और वह माता है जगज्जननी सीता की माता। राम धनुष तोड़ने के लिए रंगमंच की ओर जाते हैं। माता का हृदय

"कहँ धनु कुलिशहु चाहि कठोरा। कहँ श्यामल मृदु गात किशोरा॥"
देखकर विकल हो जाता है। यही विकलता उससे कहला देती है—

"सखि सब कौतुक देखनहारे। जेहु कहावतु हितू हमारे॥"
कोउ न बुझाय कहै नृप पाहीं। ये बालक असि हठ भल नाहीं॥"
यही माता जब चित्रकूट में आती है और पुत्री सीता उससे मिलने आती है तो रात्रि का आगमन अनुभव करके कहती है :—

"सीयमातु कह विधि बुधि बाँकी। जो पय फेरि फोर पवि टाँकी॥"
संभवतः हृदय के उद्वेग के व्यक्तीकरण के लिए इससे अधिक कोमल शब्द नहीं हो सकते। लोक-मर्यादा का निर्वाह, कौशल्या सुमित्रा की ओर से तो होता ही है, सीता की माता भी उस मर्यादा को पूर्णतया समझती हैं। वे कहती हैं—
"राम जाइ बन करि सुरकाजू। अचल अवधपुर करिहहिं राजू॥"
इतना कह कर ही उसने कौशल्या के प्रस्ताव —"फेरिअहि लखन भरत गवनहिं बन।" का प्रत्याख्यान कर दिया।

इस प्रकार रामचरितमानस में माता का शील, पुत्रोचित प्रेम और कर्त्तव्यनिष्ठा के उदाहरण उपस्थित किये गये हैं।

अभी तक हमने आचार और चरित्र को एक रूप में देखा है, क्योंकि चरित्र ही आचार का नियामक है और माता शब्द की सापेक्षता के कारण नारी के हम केवल उसी अंश पर विचार कर सके हैं जिसका सम्बन्ध मातृत्व से है। यह नहीं है कि इस युग तक नारी के पत्नीत्व का विकास नहीं हुआ था। अपने पूर्ण सौन्दर्य में प्रतिष्ठित होती हुई भी नारी अभी तक केवल भोग-सामग्री नहीं बन सकी थी। मातृत्व और पत्नीत्व का संतुलन बना रहा। हमारा विचार है कि रामचरितमानस में नारी का मूल्य पत्नीत्व की अपेक्षा मातृत्व के रूप में अधिक उज्ज्वल और अधिक मनोरम है। कम से कम इतना निश्चित है कि भोग की अपेक्षा नारी ने दान अधिक अवश्य किया। आगे चलकर नारी अपने पद से नीचे उतार दी गई और इसीलिए रीतिकाल में नारी केवल विलास-सामग्री के रूप में उपस्थित होती है। उसका फल यह हुआ कि जननी-जनोचित आचार रीतिकाल में दिखाई नहीं देता।

भारतवर्ष की स्थिति में परिवर्तन होने के साथ ही कवि की प्रवृत्ति में भी परिवर्तन हुआ। अतएव भाव-मात्र का चित्रण पर्याप्त न समझा जाने के कारण प्रबन्ध-रचना की प्रवृत्ति फिर से जाग्रत हुई। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि नाटक और प्रबन्ध-काव्यों के साथ ही उपन्यास और कहानी साहित्य को बल प्राप्त हुआ। इस प्रवृत्ति के साथ ही प्रसंगवशात् माता का चरित्र भी सामने आने लगा। भारतेन्दु के सत्य हरिश्चन्द्र में शैव्या रोहिताश्व को अपने साथ ले जाती है। रोहिताश्व पिता के साथ नहीं जाता। पौराणिक घटना होते हुए भी स्वभावतः माता का यह आचार एक नवीन आदर्श है। परिस्थितियाँ यहाँ तक खींच ले जाती हैं कि पुत्र के मृत-वस्त्र के लिए माता को अपनी एकमात्र धोती फाड़नी पड़ती है। प्रियप्रवास तक आते-आते माता के इन स्वीकृत आचारों में परिवर्तन की आवश्यकता जान पड़ने लगी। केवल माता के ही चरित्र में नहीं, वरन् नारी मात्र के चरित्र में यह परिवर्तन समय की देन है। पहिले जो माता पुत्र-प्रेम की ही प्रतीक थी और जिसमें शास्त्र-विहित कर्त्तव्य की भावना थी, वह माता 'साकेत' में वाग्मिनी, 'रंगभूमि' में देश-प्रेम के लिए सन्तति का बलिदान करनेवाली दिखाई देती है। यहाँ माता का आदर्श बदल गया है और यह आदर्श एक नये साँचे में ढला है।

आधुनिक युग में कला-सृष्टि के आदर्श को लेकर अनेकानेक तर्क-वितर्क उपस्थित हुए। प्राचीनकाल की काव्य-मान्यताओं में परिवर्तन उपस्थित हुआ। फलतः प्राचीन काव्य का जीवन से सम्बन्धित जो स्वरूप था और जिसमें आचार सरीखी वस्तुओं का सन्निवेश था, आज के युग में उनकी ओर कलाकारों की दृष्टि सोद्देश्य रूप से नहीं गई। प्रसंगवशात् जीवन सम्बन्धी जो तत्व इधर-उधर सन्निविष्ट हो गये उन्हीं से उपयोगितावादी दृष्टिकोण को संतोष करना पड़ा। इस काल में भी माता के आचरण के यत्र-तत्र बिखरे हुए रूप मिलते अवश्य हैं।

क्रमबद्ध और उद्देश्य विशेष से माता के स्वरूप क व्यंजना विशेषकर "प्रियप्रवास", "साकेत", "कामायनी" आदि ग्रंथों में हुई है। "प्रियप्रवास" में माता के वात्सल्यपूर्ण हृदय की व्यंजना अत्यंत करुणोत्पादक रीति से प्राप्त होती है। करुण रस का ऐसा वर्णन अन्यत्र कठिनता से प्राप्त हो सकेगा। अक्रूर यशोदा के पुत्रों को लिये जा रहे हैं। यदि मा का वश चलता तो यशोदा के हृदय के टुकड़े कृष्ण-बलराम उसकी आँखों से ओट न हो पाते। किन्तु भावना को दबाकर कर्त्तव्य की पूर्ति करनी ही पड़ती

है। दोनों ही सुअन जाने को प्रस्तुत हैं, माँ यशोदा से बिदा माँगते हैं। अब तक के रुके हुए यशोदा के आँसू सहसा उमड़ चले—

दोनों प्यारे कुँवरवर के यों बिदा माँगते ही।
रोके आँसू जननि दृग में एक ही साथ आये।
धीरे बोली परम दुख से जीवनाधार जाओ।
दोनों भैया विधुमुख हमें लौट आके दिखाओ।

—प्रियप्रवास, पंचम सर्ग, छन्द ४४

माँ का सहज कोमल हृदय अपने पुत्र की निरंतर मंगल-कामना करता रहता है, वह प्रभु से अत्यंत विनत स्वर में यात्रा की सफलता को मनाया करती है।[1] मातृ-हृदय का यह विश्वास होता है कि अपने पुत्र की कल्याण-कामना तथा उसकी रक्षा जितनी वह कर सकती है, विश्व में कदाचित् कोई दूसरा नहीं कर सकता। सच तो यह है कि मातृ-हृदय के इस सत्य का अपवाद भी नहीं प्राप्त होता। यशोदा प्रतिक्षण अनेकानेक शंकाओं की कल्पना करती है, जिनसे उनका हृदय इसी क्षण विदीर्ण होता हुआ-सा प्रतीत होता है। उसे शंका होती है कि कंस ने कुछ और ही न सोचा हो। यह आशंका ही उसे अत्यधिक कातर बना देती है।[1]

कृष्ण एक बार जाकर फिर न लौटे। यशोदा दिन-दिन भर द्वार पर आकर बैठती थी और "प्रियपथ लखते ही वार को थी बिताती।" साथ ही—

अति अनुपम मेवे औ, रसीले फलों को।
बहु मधुर-मिठाई दुग्ध को, व्यंजनों को॥
पथश्रम निज प्यारे पुत्र का मोचने को।
प्रतिदिन रखती थीं भोजनों में सजा के॥
जब कुँवर न आते वार भी बीत जाता।
तब बहु दुखपाके बाँट देती उन्हें थीं॥

प्रियप्रवास, षष्ठ सर्ग, छन्द १४, १५

उद्धव के आगमन पर यशोदा के हृदय की वेदना असह्य हो उठी। उसके कातर स्वर को सुनकर "अपिग्रावा रोदति फटति वज्रस्यापि हृदयम्" की स्थिति उत्पन्न होती है। वह अनुभव करती है कि कृष्ण के वियोग में केवल माँ का ही हृदय व्यथित नहीं है, अपितु सम्पूर्ण प्रकृति उसके विरह में आठ-आठ आँसू रो

१— प्रियप्रवास, पंचमसर्ग, छंद ४५

२— प्रियप्रवास, पंचमसर्ग, छंद ५५,५७

रही है। वह अपने भाग्य क. दोष देती है। उसकी चेतना केवल कृष्ण के ही रूप-माधुर्य और उसकी मंगल-कामना में सीमित हो गई है। कृष्ण ही उसका सौभाग्य था और उसकी अनुपस्थिति में मानों यशोदा का दुर्भाग्य अब उन्मुक्त हो गया है:—

माँ यशोदा का हृदय यद्यपि कृष्ण से वियुक्त होकर वेदना की चरम स्थिति को अनुभव कर रहा है, किन्तु उसकी सहज उदारता दूसरे मातृ-हृदय को दुखाम्बुधि में नहीं डुबोना चाहती है। अतः वह कहती है:—

मैं रोती हूँ हृदय अपना कूटती हूँ सदा ही।
हा ऐसी ही व्यथित अब क्यों देवकी को करूँगी॥
प्यारे जीवें, पुलकित रहें औ' बने भी उन्हीं के।
धाई नाते वदन दिखला एकदा और देवें॥

—प्रियप्रवास, दशमसर्ग, छन्द ६५

'धाई नाते' शब्द यशोदा के हृदय की मर्मान्तक पीड़ा की व्यंजना तथा उसकी विवशता का दिग्दर्शक है। "छीना जावे न लकुट कभी वृद्धता में किसी का" में यशोदा की असहायावस्था व्यक्त हुई है। यशोदा सोचती है कि मैं कृष्ण के बाल्यकाल में उन पर रीझी भी हूँ, रुष्ट भी हुई हूँ और "मारा भी है कुसुम कलिका से कभी लाड़िले को", किन्तु "तो भी हूँ निकट सुत के सर्वथा मार्जनीया ?" माँ को आकुलता उस समय और अधिक मूर्तिमती हो उठती है, जब वह क्षमा-याचना करती हुई अपनी यह कामना व्यक्त करती है:—

जो चूकें हैं विविध मुझसे हो चुकीं वे सदा ही।
पीड़ा दे-दे मथित चित को प्रायशः हैं सताती॥
प्यारे से यों विनय करना, वे उन्हें भूल जावें।
मेरे जी को व्यथित न करें, क्षोभ आके मिटावें॥
खेलें आके दृग-युगल के सामने, मंजु बोलें।
प्यारी लीला पुनरपि करें, गान मीठा सुनावें॥
मेरे जी में अब रह गई एक ही कामना है।
आके प्यारे कुँवर उजड़ा गेह मेरा बसावें॥

—प्रियप्रवास, दशम सर्ग, छन्द ७६, ७७

यशोदा के इस वर्णन में यद्यपि जीवन-क्षेत्र के किसी कर्मठ स्वरूप की व्यंजना नहीं है, किन्तु उस मात्रोचित आचार का स्वरूप निश्चय ही विद्यमान

है, जिसकी कोमलता, द्रवणशीलता एवं रसमयता समस्त मातृ-जीवन का सत्य है।

'साकेत' में गुप्त जी ने कैकेयी की स्थिति का पूर्णतः ध्यान रखा है। यहाँ पर वह वाग्मिता होती हुई भी हृदय की जिस विशुद्ध भावना का परिचय देती है, वह निश्चय ही उसको साधारण माताओं की अपेक्षा कहीं अधिक उच्च स्थान प्राप्त कराती है। उसका पश्चात्ताप साकार हो उठता है और वह करुणा की प्रतिमूर्ति अपने प्रायश्चित का पथ न पाकर अत्यन्त व्यथित होती हुई तड़पने लगती है। उसकी यह तड़पन ही उसके हृदय का विशुद्ध रूप है। यहीं पर उसका पुत्र-प्रेम भी चरम कोटि पर पहुँचता है। वह अपने कलंक से भरत को कलंकित नहीं करना चाहती। वह उसे उसके वास्तविक निष्कलंक रूप में ही विश्व के समक्ष रखना चाहती है। उसकी आतुरता, दैन्य और विह्वलता अधीरता का संसर्ग पाकर मुखरित हो उठती है:—

'हाँ जन कर भी मैंने न भरत को जाना,
सब सुन लें, तुमने स्वयं अभी यह माना।
यह सच है तो फिर लौट चलो घर भैया,
अपराधिन मैं हूँ तात, तुम्हारी मैया।
दुर्बलता का ही चिह्न विशेष शपथ है,
पर अबलाजन के लिए कौन-सा पथ है।
यदि मैं उकसाई गई भरत से होऊँ,
तो पति-समान ही स्वयं पुत्र भी खोऊँ। —अष्टम सर्ग

'यशोधरा' में भी मातृ-हृदय की कोमल व्यंजना हुई है। 'राहुल' की माँ 'यशोधरा' 'गौतम' की अनुपस्थिति में एक मात्र अपने पुत्र—प्रियतम की थाती—राहुल के मनोविनोद में, उसके लालन-पालन में अपने जीवन के अवसाद को भुलाने का प्रयास करती रहती है:—

'किलक अरे, मैं नेक निहारूँ, इन दाँतों पर मोती वारूँ।

× × ×

'तू ही एक खिवैया, मेरी पड़ी भँवर में नैया।
आ मेरी गोदी में आजा, मैं हूँ दुखिया मैया।

'कामायनी' में प्रसाद जी ने 'श्रद्धा' को त्यागमयी, कर्तव्य-निष्ठ माता के रूप में उपस्थित किया है। 'मनु' को खोजने के लिए वह 'मानव' को

'इड़ा' के हाथों सौंप कर चल देती है। यहाँ वह कर्तव्यनिष्ठ होकर कहती है—

तुम दोनो देखो राष्ट्रनीति, शासक बन फैलाओ न भीति,
मैं अपने मनु को खोज चली, सरितामरु नग या कुंज गली।
—कामायनी, दर्शन सर्ग।

आगे श्रद्धा जिस कामना को व्यक्त करती है वह निश्चय ही मातृ-गौरव के अनुरूप है—

हे सौम्य, इड़ा का शुचि दुलार, हर लेगा तेरा व्यथा भार,
यह तर्कमयी तू श्रद्धामय, तू मननशील कर कर्म अभय,
इसका तू सब संताप निचय, हर ले हो मानव भाग्य उदय,
सब की समरसता का प्रचार, मेरे सुत सुन माँ की पुकार,
—कामायनी, दर्शन सर्ग।

'कृष्णायन' में द्वारकाप्रसाद मिश्र ने यशोदा का वही रूप रखा है, जो सूर और 'हरिऔध' की यशोदा का है। मथुरागमन के समय 'कृष्णायन' की यशोदा भी अपने हृदय की सहज सकुमारता, कोमलता एवं वत्सलता का परिचय देती हुई कहती है :—

बिनवति अक्रूरहिं रानी, काहे नृपति निठुरता ठानी।
हरि हलधर मोरे अति बारे, लखे कबहुँ नहिं मल्ल अखारे।
ये बालक गोचारत वन वन, यज्ञ सभा इन सुनी न श्रवनन।
गुरु द्विज कबहुँ न ग्राम जोहारा, जानहिं काह राज व्यवहारा।
बरु नृप लेंहि धाम धन गाई, मनवांछित 'कर' लेहिं चुकाई।
सर्बस लेंय देय इक श्यामू, जननी जीवन ब्रज सुख धामू।
वासर वदन विलोकि बितावहुँ, निशि शिशु अंक लाय सुख पावहुँ।
एक आस अभिलाख इक, मागहुँ शीश नवाय।
"इन आँखिन आँगन लखहुँ, खेलत सदा कन्हाय॥"
—कृष्णायन, अवतरण कांड, दोहा १८२।

आधुनिक युग के इन उद्धृत महाकाव्यों में माता के जिन-जिन स्वरूपों का अंकन हुआ है, उन स्वरूपों में केवल वात्सल्य ही प्रधान है। 'कामायनी' में अवश्य कर्त्तव्य की प्रेरणा है, शेष स्थल वियोगात्मक अथवा पश्चात्ताप से पूर्ण होने के कारण परिताप और हृदय की द्रवणशीलता से सम्बन्धित है। जिन प्रसंगों का उल्लेख हुआ है, वे अत्यन्त कारुणिक होने के कारण इतर भावना की अपेक्षा भी नहीं रखते हैं। विषय के अनुरूप ही इन प्रसंगों में भावों की

अवतारणा हुई है, अतः ऐसे स्थलों में माता के किसी अन्य आचार का दिग्दर्शन नहीं हो सका। उपस्थित अंशों में हम केवल माता के वात्सल्य-आचार को ही प्रधान रूप से पाते हैं।

आधुनिक-युग में भारतवर्ष की स्थिति में परिवर्तन होने के कारण कवि की प्रवृत्ति में भी परिवर्तन हुआ। काव्य-साहित्य के साथ ही साथ उपन्यास, कहानी और नाटक साहित्य को बल प्राप्त हुआ। इन रचनाओं में प्रसंगवशात् माता का भी चरित्र सामने आने लगा। राष्ट्रीय आंदोलन के प्रभाव से साहित्य में राष्ट्रीय भावनाओं को प्रश्रय प्राप्त हुआ। फलतः उस युग में माँ का प्रेम राष्ट्रीय स्वरूप लेकर उपस्थित हुआ। अब माँ पुत्र को बलि-पथ की ओर भेजती हुई उसके मस्तक पर रोली-अक्षत लगाती और उसके हाथ में खड्ग देती हुई उपस्थित होती है। वह पुत्र की कायरता को देखकर लज्जित होती है और उसके उत्सर्ग को देखकर अपनी कोख को धन्य समझती है। देशद्रोही पुत्र को धिक्कारती है—

कमला—"मुझे इसका दुःख है कि मैं मर क्यों न गई, मैं अपने कलंकपूर्ण जीवन को पालती रही। भटार्क, तेरी माँ को एक ही आशा थी कि पुत्र देश का सेवक होगा........भारत-भूमि का उद्धार करके मेरा कलंक धो डालेगा। मेरा सिर ऊँचा होगा, परन्तु हाय!"

× × × ×

"तू देशद्रोही है। तू राजकुल की शान्ति का प्रलय-मेघ बन गया और तू साम्राज्य के कुचक्रियों में से एक है, ओह नीच कृतघ्न!"

—प्रसाद, स्कन्दगुप्त, द्वितीय अंक

इसी प्रकार 'रंगभूमि' में देश-प्रेम के लिए मा अपनी सन्तति का बलिदान करने वाली दिखाई पड़ती है। यहाँ पर भी देश की रक्षा, उसका उद्धार और उसकी समुन्नति ही जीवन का परम कर्त्तव्य समझती है। इसीलिए उसका समस्त वात्सल्य ओजमय एवं दीप्तिमय हो उठता है। अस्तु, वह जीवन की समस्त सुकुमारता को, मृदुता को और कोमलता को देश-प्रेम की भावना के नीचे छिपाकर माता के गौरवमय स्वरूप को व्यक्त कर सिंह-प्रसूता भारत-जननी के रूप में उपस्थित होती है। 'गोदान' में दया-ममता की मूर्ति गोबर की माँ धनियाँ परिस्थितियों के प्रतिकूल विद्रोह करने वाली माता है। आगे चलकर धीरे-धीरे यह स्वरूप भी लुप्त होते गये। नवीनता के आवेश में हमारे कलाकारों

ने माता की उस महिमामयी एवं गरिमामयी मूर्ति को भुला दिया जिस पर कोटि-कोटि श्रद्धा की सुमनांजलियाँ अर्पित होती थीं। आज कलाकार की नारी ने वाचालता एवं आत्म-प्रदर्शन अपनाकर मातृत्व महानता को कदाचित् भुला दिया है और इसीलिए संभवतः मातृ-आचार भी साहित्य में अपने विकसित रूप में नहीं दिखलाई पड़ता। इसका यह अर्थ नही है कि हमारा सम्पूर्ण आधुनिक-साहित्य मातृ-आचार से शून्य है।

पिता का आचारः—हम पहिले कह चुके हैं कि कुटुम्ब निर्माण से पहिले पिता का मूल्य कुछ नहीं था। पिता शब्द भी सहज स्नेह का द्योतक न होकर प्रयोजन विशेष का द्योतक है। संभवतः इस शब्द का आविष्कार उस समय हुआ होगा जब प्रसविनी माता ने आसन्न विपत्तियों से रक्षा के लिए अपने सहचर को अपना रक्षक स्वीकार किया होगा। इसीलिए पति और पिता दोनों में रक्षा करने वाले का भाव निहित है। पिता रक्षक था, अतएव उसका पहिला आचार सन्तति की रक्षा करना था। धीरे-धीरे रक्षक से बढ़कर वह गुरु बना और गुरु से बढ़कर वह अधिदैवत् बना। इस प्रकार वे स्मृतियाँ अस्तित्व में आईं जिनके द्वारा पिता पुत्र की समस्त श्रद्धा का अधिकारी बना। साथ ही उसके कुछ कर्त्तव्य भी निश्चित हुए जिनमें सबसे प्रधान कर्त्तव्य यह था कि वह पुत्र को समर्थ और कुल मर्यादा की रक्षा करने योग्य बना दे।

दाम्पत्य-जीवन के विकास के साथ ही एतद्-विषयक आचार-परंपरा का भी निर्माण हुआ होगा जिसका विकसित स्वरूप वाल्मीकि रामायण में दिखाई पड़ता है। महाभारत में धृतराष्ट्र का मोह पुत्र-रक्षा की भावना का पालन है। वृहद्रथ की मृत्यु का कारण उसका पुत्र-प्रेम है। द्रोणाचार्य ने पुत्र के कारण शस्त्र-त्याग दिया। बौद्ध-महाकाव्यों में भी पुत्र की रक्षा का यत्न शुद्धोदन आदि के चरित्र में देखा जा सकता है। पौराणिक साहित्य में कर्त्तव्यपालन और पुत्र-प्रेम के धर्म-संकट में पड़े हुए अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जिनमें पिता ने ही नही, वरन् सारे कुटुम्ब ने मिलकर सन्तति का बलिदान स्वीकार किया।

हिन्दी का साहित्य पिता के कर्त्तव्य से प्रारम्भ नही होता, यद्यपि प्रसगवशात् चारणसाहित्य में राजा भीमजी द्वारा कर्त्तव्य के लिए ग्यारह पुत्रों का बलिदान और वश-परंपरा की रक्षा के लिए अपने बलिदान की घटना देखी जाती है। नन्द और वसुदेव का प्रेम किसी विशेष आदर्श को लेकर आगे नहीं चलता। सामान्य-जन की भाँति जैसे पिता अपने पुत्र की रक्षा के लिए आकुल होता है, वही आकुलता इन चरित्रों में भी है।

सूर के नन्द और वसुदेव प्रेम और कर्त्तव्य के प्रतीक हैं। सूर का लक्ष्य भगवान् कृष्ण का लोकोत्तर प्रेम था और उस लोकोत्तर प्रेम का आधार वसुदेव की अपेक्षा नन्द में अधिक निहित था। इसीलिए नन्द के पित्राचार का प्रत्येक अंग हमें सूर की कृति में देखने को मिल सकता है। कभी वे दम्पति श्याम को खिलौना बनाते हैं, कभी अपने साथ भोजन कराते हैं; दूध-दुहना सिखाने का काम भी नंद को करना होता है। नंद की एक विशेषता यह है कि कृष्ण की शरारतों की शिकायत महर नंद के पास नहीं आती। उपालम्भ का सारा भाग तो यशोदा को ही मिलता है। संभवतः नंद की गम्भीर प्रकृति ने उन्हें खीझ का आनन्द लेने से वंचित रक्खा। परन्तु प्रत्येक विपत्ति के समय नंद की आतुरता ठीक वैसी ही है जैसी साँसारिक पिता की होनी चाहिए।

गोस्वामी तुलसीदास ने पुत्र-प्रेम की पराकाष्ठा का कर्त्तव्य-पालन से समन्वय करने में बड़ा कौशल दिखाया है। जहाँ वाल्मीकीय रामायण में महाराजदशरथ अपने बंदी किये जाने की प्रेरणा देकर राम को वनगमन से रोकना चाहते हैं, वहाँ तुलसी ने महाराज के द्वारा न तो राम को वन जाने की आज्ञा दिलवाई है, और न किसी प्रकार का निषेध प्रदर्शित किया है। यद्यपि महाराज किसी प्रकार यह नहीं चाहते थे कि राम वन जायँ। उसके लिए उपाय भी करते हैं, परन्तु वैसी आज्ञा नहीं देते। फल यह होता है कि राम वन जाते हैं। दशरथ के हृदय में पुत्र-प्रेमोचित निर्बलता जाग्रत होती है और पुत्र को अपनी आँखों से ओट न होने देने की सहज भावना के वशीभूत होकर वे सचिव को बुलाकर कहते हैं :—

सुठि सुकुमार कुमार दोउ, जनक-सुता सुकुमारि।
रथ चढ़ाय दिखराइ बनु, फिरेहु गये दिन चारि॥

—रामचरितमानस, अयोध्याकांड

यह शास्त्र-सम्मत आचार नहीं है और न इसे हम लोक-सम्मत आचार कह सकते हैं। परन्तु यह पिता का आचार है, जो न शास्त्र की चिंता करता है और न लोक की। रामचरितमानस में एक ऐसा ही पिता और है, जो अपनी वनवासिनी कन्या को देखकर कहता है:—

"पुत्रि पवित्र किये कुल दोऊ। सुजस धवल जग कह सब कोऊ॥"

लोक और शास्त्र-सम्मत पिता जनक का यह उपदेश पितृ-चरित्र का सुन्दर उदाहरण है।

बालि का चरित्र प्रासंगिक चरित्र है। यह राम के प्रतिनायक के रूप में उपस्थित हुआ है। परंतु मरते समय वह कहता है:—

"यह तनय मम सम विनय-बल कल्याण पद प्रभु लीजिये।
गहि बाँह सुर नर-नाह अंगद दास आपन कीजिये॥"

पितृ-रूप में बालि पुत्र की रक्षा के लिए प्रयत्नशील है। परंतु वह यह नहीं चाहता है कि उसके पुत्र की रक्षा उसका भाई सुग्रीव करे। इसी परिस्थिति में उसके हृदय को ठेस पहुँचना स्वाभाविक है। अतएव वह राम की ओर देखता है। प्रणतारतिहरन सहज-कृपालु राम को सौंप देने से बालि लोक-मर्यादा और स्वाभिमान दोनों की ही रक्षा संभव समझता है।

रामचरितमानस के दो अन्य पात्र सुमंत्र और जटायु का आचरण भी पितृ-आचरण के अन्तर्गत है। वे अपनी कर्त्तव्य-परायणता एवं सदाशयता के कारण मानवता की चरम स्थिति में प्रतिष्ठित हैं। यद्यपि रघुवंशी इनकी औरस संतान न थे, परन्तु इनके प्रति उनका सहज स्नेह उसी प्रकार प्रगाढ़ एवं ममता से पूर्ण था। विचार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जहाँ तक संतान के प्रति कर्त्तव्यपालन की भावना का प्रश्न है, सुमन्त्र दशरथ से होड़ ले रहे है। अन्तर केवल इतना ही है कि सुमन्त्र का प्रेम मजिष्ठाराग के समान चिरन्तन है जो "नापेति च शोभते" है। दशरथ का प्रेम नीली राग के समान अत्यन्त तीक्ष्ण है। इससे उनकी मृत्यु होती है। सुमत्र राजा की आज्ञा राम को सुनाना चाहते है, किन्तु आज्ञा सुनाने की क्रिया अत्यन्त पीड़क है। राम का आचरण तथा सुमन्त्र का पितृ-हृदय दोनों ही मिल कर स्थिति को अधिक गम्भीर बना देते हैं। सुमन्त्र के लिए "हृदय दाह अति बदन मलीना" की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। मन्त्री सुमन्त्र की यह भाव प्रवणता राम और सीता दोनों से ही उन्हें "पितु सरिस" कहलवाती है। सुमन्त्र के अनेकानेक आग्रह करने तथा दशरथ की इच्छा व्यक्त करने के बाद भी जब राम ने लौटना स्वीकार नहीं किया तब उनकी दशा और भी अधिक गम्भीर हो उठी। कदाचित् तुलसी की ये पंक्तियाँ उसकी दशा का आभास दे सकें—

"नयन सूझि नहिं सुनहिं न काना। कहि न सकहि कछु अति अकुलाना।"
पित्रोचित स्नेह के अभाव में उक्त दशा कभी संभव न थी।

राम, सीता और लक्ष्मण को वन में छोड़कर अकेले लौटने पर सुमन्त्र की अवस्था 'मूरि गँवाये हुए' बनिक की भाँति हो जाती है। उनका हृदय आत्म-ग्लानि से भर जाता है :—

"हानि गलानि विपुल मन व्यापी। जमपुर पंथ सोच जिमि पापी॥"

—रामचरितमानस, अयोध्याकांड

उक्त स्थिति भी उसी हृदय की हो सकती है जिसमें पितृत्व समाया हुआ हो। सुमन्त्र अयोध्यानगर में प्रवेश करना चाहते हैं, किन्तु दिवानाथ अपनी अन्तिम अंशुमालाओं को समेटने का अभी प्रयत्न ही कर रहे हैं। अतएव उन्हें नगर-प्रवेश करने में भय प्रतीत होता है। उनका वात्सल्यपूर्ण हृदय प्रियजनों के प्रश्नों का उत्तर देने में कैसे समर्थ हो सकता है। वे राम-लक्ष्मण सरीखे सुकुमार एवं सुशील बालकों को वन में छोड़ आने के उपरान्त कौन-सा मुँह लेकर पुरजनों के समक्ष जायें। इसीलिए—

"बैठि विटप तर दिवस गवाँवा। साँझ समय तब अवसर पावा॥
अवध प्रवेश कीन्ह अँधियारे। पैठि भवन रथ राखि दुवारे॥"

—रामचरितमानस, अयोध्याकांड

निश्चय ही सुमन्त्र का यह आचरण पिता की उस भावना का द्योतक है जो स्नेहातिरेक के क्षणों में अपनी परवशता के कारण मन मसोस कर रह जाती है।

जटायु का चरित्र दूसरे प्रकार का है। उसमें केवल सन्तति रक्षा के लिए आत्मबलिदान का उज्ज्वल रूप दिखाई पड़ता है। निःशस्त्र जटायु रावण को उस समय तक अपने मनोरथ में सफल नहीं होने देता जब तक वह मरणासन्न नहीं हो जाता। लड़ते-लड़ते उसकी अंतिम-श्वास केवल इसलिए अवशेष है, जिससे वह अपने मित्र के पुत्र राम को सीताहरण की दुर्घटना की सूचना दे सके। मानस में यद्यपि जटायु का चरित्र एक प्रासंगिक घटना के रूप में उपस्थित हुआ है, किन्तु वह जितना भी और जिस रूप में भी है, अत्यन्त उज्ज्वल और पित्रोचित आचार से पूर्ण है। उसके कथनः—

"सीते पुत्रि करसि जनि त्रासा। करिहउँ जातुधान कर नासा॥"

में पिता की-सी प्रतिज्ञा और—

"रे रे दुष्ट ठाढ़ किन होही। निर्भय चलसि न जानेसि मोही॥"

में सन्तति के लिए कार्य-तत्परता की भावना का परिचय प्राप्त होता है।

आधुनिक युग में पिता का यह अधिदैवत-पद स्थिर नहीं रह सका। दैव-दुर्विपाक से आज तो मानवता ही भौतिकता से आच्छन्न हो रही है। ऐसी स्थिति में दिव्य-भावों की कल्पना कदाचित् अप्रासंगिक होगी। प्रेमाश्रम में ज्ञानशंकर और गोदान में होरी ऐसे पिता हैं जिनके आदर्शों में जो

उच्चता विद्यमान है उसमें भौतिकता अवश्य रही है। 'कंकाल' के महन्त देव-निरंजन का आचरण रहस्य एवं कुतूहल का आचरण है। महन्त के हृदय में पुत्र के लिए छिपी ममता उससे पुत्र की मंगल कामना करवाती है, परन्तु वह खुलकर अपने पित्रोचित आचार का पालन नहीं कर पाता। उसमें क्या है, ममता है, कुछ कर सकने की इच्छा भी है, किन्तु संसार के विविध चक्रों में फँसा हुआ उसका निर्बल हृदय पिता के दायित्व को पूर्ण-रूपेण निभाने में असमर्थ है। वह किशोरी को पत्र में लिखता है:—

"किशोरी, संसार इतना कठोर है कि वह क्षमा करना नहीं जानता और उसका सबसे बड़ा दंड है...'आत्म-दर्शन' अपनी दुर्बलता, जब अपराधों की स्मृति बनकर डंक मारती है, तब वह कितना उत्पीड़न-मय होता है। उसे तुम्हें क्या समझाऊँ, मेरा अनुमान है कि तुम भी उसे भोगकर जान सकी हो।

आज हमारा जीवन इतना जटिल एवं रहस्यमय हो गया है कि कर्त्तव्य की पुकार हमारे पार्थिवता से रुँधे कानों तक नहीं पहुँच पाती है। समस्त आचार-परंपराएँ जो जीवन को महत्ता प्रदान करती है, प्रायः विलुप्त-सी हो रही हैं और जीवन वास्तविकता से दूर हटकर मृगतृष्णा के पीछे मारा-मारा घूम रहा है।

सन्तति का आचारः—भारतीय कौटुम्बिक प्रणाली में माता-पिता यदि कुटुम्ब की रक्षा एवं व्यवस्था का उत्तरदायित्व रखते हैं तो सन्तति पर उस परंपरा के निर्वाह एवं संबर्द्धन का उत्तरदायित्व होता है। इस दृष्टि से सन्तति के लिए सब से प्रथम आचरणीय आचार है आज्ञापालन करना। आज्ञा-कारिता ही कुटुम्ब की व्यवस्था को सुरक्षित रखती है। माता-पिता का इतना महान् पद है कि उनकी आज्ञा के समक्ष आचारशास्त्र पुत्र को 'ननुनच' करने का भी अधिकार नहीं देता।[1] तुलसी इसी हेतु कहते है—

> "अनुचित उचित बिचार तजि, जे पालहिं पितु बैन।
> ते नर भाजन सुयश के, बसहिं अमरपुर ऐन।।"
>
> —रामचरितमानस, अयोध्याकांड

१—हमारा शास्त्र अन्धानुकरण नहीं मानता है, उपनिषद् में पिता कहता है कि तुम मेरे सुचरितों की ही उपासना, अनुकरण करो—"यानि अस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि"

तैत्तरीय, ७, ११

भारतीय दृष्टिकोण से पिता की आज्ञा का पालन परम कर्त्तव्य समझा जाता रहा है। इस आज्ञा-पालन के दो रूप स्पष्ट हैं। पहिला पिता के शब्दों का पालन करना और दूसरा पिता की भावनाओं की रक्षा करना।

चारण-गीतों में आज्ञापालन का एक बड़ा ही ज्वलन्त उदाहरण प्राप्त होता है। उदयपुर के राजकुमार चंड के तिलक का आया हुआ देखकर राज-दरबार में राजा ने मनोरंजनार्थ कह दिया कि 'मैं तो वृद्ध हो गया हूँ, यह तिलक कैसा!' चंड ने इस पर यह कहा, 'भले ही पिता ने मनोरंजन में कहा हो, पर अब तो जिस कन्या के विवाह का यह तिलक आया है वह तो मेरी माँ के तुल्य हो गई।' बहुत कुछ समझाने पर भी चंड ने पिता के शब्दों के पालन का ही प्रयत्न किया। इस प्रयत्न में उसे राज्याधिकार ही नहीं छोड़ना पड़ा, अपितु निर्वासित भी होना पड़ा। कर्त्तव्य का ध्यान उसे इतना अधिक था कि जब सौतेले भाई मुकुल के मामा ने मुकुल के राज्य को हड़पना चाहा तब चंड ने आकर ही उसकी रक्षा की। इस अवसर पर यद्यपि उसकी सौतेली माँ ने उसे राज्य में ही रहकर कम से कम मन्त्रिपद स्वीकार करने का आग्रह किया, किन्तु पिता के शब्दों की रक्षा को लक्ष्य में रखकर उसने माता के आग्रह को अस्वीकार कर दिया और जीवन पर्यन्त प्रवासी ही बना रहा।

वचन-पालन के अन्तर्गत हम परशुराम को अत्यन्त उज्ज्वल रूप में ले सकते हैं। उन्होंने पिता की आज्ञा का अक्षरशः पालन करने के लिए अपनी स्नेहमयी माता का भी बध कर दिया:—

परशुराम पितु आज्ञा राखी मारिअ मातु लोग सब साखी।

इसी प्रकार आज्ञाकारिता के कारण एक दूसरा उदाहरण अपनी वन्दनीयता में अत्यन्त महान है:—

तनय जजातिह यौवन दयऊ पितु आज्ञा अघ अजस न भयऊ।

साहित्य में ऐसी गाथाएँ भी मिलती हैं जिनमें पिता के शब्द नहीं प्रत्युत भावों की रक्षा के लिए पुत्रों ने बड़े से बड़ा त्याग किया और भारी से भारी संकट को आमन्त्रण दिया। कंस ने नन्द से श्यामकमल, जो कालियदह में ही होते थे, मँगवाये। कंस की चाल और असमंजस में पड़े हुए नन्द के भावों को समझकर ही कृष्ण ने अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा का परिचय दिया। पिता के भाव को समझ कर ही भीष्म ने धीवर-कन्या सत्यवती को मातृपद पर प्रतिष्ठित किया और उन्होंने आजन्म ब्रह्मचारी रहकर अपनी पितृभक्ति का परिचय दिया। सन्तति द्वारा पिता के भावों की रक्षा का अत्यन्त उज्ज्वल एवं वन्दनीय उदाहरण राम और भरत के रूप में प्राप्त होता है। दशरथ ने यद्यपि राम से कभी नहीं

कहा कि तुम वन जाओ, किन्तु उनके भावों की रक्षा के लिए ही वे कैकयी से कहते हैं:—

सुन जननी सोइ सुत बड़ भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी।
तनय मातु-पितु तोषनि हारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा॥
—रामचरितमानस, अयोध्याकांड

और इसी लिए तुलसी के शब्दों में राम का यह स्वरूप है:—

नव गयंद रघुबीर मनु, राजु अलान समान।
छूट जानि बन गवन सुनि, उर आनंद अधिकान॥
—रामचरितमानस, अयोध्याकांड

राम एक ओर अपना कर्त्तव्य पालन करते हैं और दूसरी ओर भरत अपना। दोनों ही राज्य-सुख के प्रति निर्लिप्त हैं। भरत की 'भायपभगति' चित्रकूट में अपने चरमोत्कर्ष में उपस्थित होती है, किन्तु पिता के भावों की रक्षा में रत राम भरत से कहते हैं:—

राखेउ राउ सत्य मोहिं त्यागी, तनु परिहरेउ प्रेम पन लागी।

× × ×

सो तुम करहु करावहु मोहू, तात तरनि कुल पालक होहू।
—रामचरितमानस, अयोध्याकांड

भरत अपनी चारित्रिक दृढ़ता एवं पवित्रता में अप्रतिम है। वे समझते थे कि लोकदृष्टि से तथा पिता की इच्छा से राम का ही राजा होना उचित है। अतः जब राज सम्बन्धी प्रश्न उनके सामने आते हैं तब वे स्पष्टतः कहते है—

एकहि आँक मोर हितु एहू, जाइँ राम कहँ आयसु देहू।

भरत दशरथ का मन्तव्य अच्छी तरह समझते थे :—

राज्य राम की वस्तु कौन मैं देने वाला।
स्वतःसिद्ध अधिकार कौन मैं लेने वाला॥
विवश न थे क्या पिता प्रतिज्ञाएँ कर दी जब,
शुद्ध हृदय से वही अभिलषित रहा उन्हें कब?
उनकी आज्ञा न थी राज्य मैं अपनाही लूँ,
फिर शब्दों में उलझ भाव पर चित्त न क्यों दूँ॥
—'साकेत-संत'

कौटुम्बिक आचार के अन्तर्गत सन्तति का एक दूसरा आचार है- मर्यादा पालन तथा उसकी सतत रक्षा करना। चारण-गीतों में आल्हा-ऊदल

द्वारा बारह वर्ष की आयु में ही माड़वगढ़ पर चढ़ाई करना वंश-मर्यादा की रक्षा का ही उदाहरण है।

पौराणिक गाथाओं के अनुसार साहित्य में भगवान् कृष्ण के सम्बन्ध में ऐसे अनेक आख्यान प्रचलित हैं जिनके द्वारा उनका-मर्यादा पालन तथा रक्षा का भाव स्पष्ट होता है, जैसे दावाग्नि लगने के समय अग्नि से व्रज की रक्षा करना[1]—इन्द्र के कुपित होने पर गोपवंश की मर्यादा की रक्षा के लिए गोवर्द्धन का उठाना[2] आदि वंशगत मर्यादा के पालन का ही प्रमाण है।

धनुषयज्ञ के प्रसंग में जब समस्त आगत राजा धनुष-भंग करने में अपने को असमर्थ पाते हैं और निराश होकर अपने-स्थान पर बैठ जाते हैं तब जनक का निम्नांकित कथन लक्ष्मण के क्रोध का कारण बनता है:—

"अब जनि कोउ माखै भट मानी। वीर-विहीन मही मैं जानी॥"

—रा० च० मानस, बालकांड

लक्ष्मण की भृकुटि वक्र हो जाती है, ओंठ फड़कने लगते हैं और नेत्रों में क्रोध का भाव स्पष्ट झलकने लगता है। वे अपनी वंश-मर्यादा की रक्षार्थ अत्यन्त सहज आवेशपूर्ण ढंग से कह उठते हैं:—

"रघुबंसिन महँ जहँ कोउ होई। तेहि समाज अस कहइ न कोई॥
कही जनक जस अनुचित बानी। विद्यमान रघुकुल मनि जानी॥"

—रा० च० मानस, बालकांड

लक्ष्मण का उक्त कथन धनुषयज्ञ के मध्य में कभी न हुआ होता यदि जनक ने "वीर विहीन मही मैं जानी" न कहा होता।

१—स्व साथियों की यह देख दुर्दशा, प्रचंड दावानल में प्रवीर से।
स्वयं धँसे श्याम दुरन्त वेग से, चमत्कृता-सी वन-भूमि को बना।
प्रवेश के बाद सवेग ही कढ़े, समस्त गोपालक धेनु संग ले।
अलौकिक स्फूर्ति दिखा त्रिलोक को, वसुन्धरा में कल कीर्ति बेलि बो।

—प्रियप्रवास, एकादश सर्ग,

२—"सधन गोधन को पुर ग्राम को, जलज लोचन ने कुछ काल में।
कुशल से गिरि मध्य बसा दिया, लघु बना पवनादि प्रमाद को॥

× × ×

'लख अपार प्रसार गिरीन्द्र में, ब्रज-धराधिप के प्रिय-पुत्र का।
सकल लोग लगे कहने उसे, रख लिया उँगली पर श्याम ने॥

—प्रियप्रवास, द्वादश सर्ग,

पत्नी का आचारः—नारी-जीवन के दो महत्वपूर्ण अंग हैं—मातृत्व और पत्नीत्व। मातृत्व में नारी का सम्पूर्ण देवत्व निहित है। निष्काम सेवा का यह चरम आदर्श जिसमें प्रतिष्ठित हुआ है वह सदैव लोकपूज्या रही है और रहेगी। माता को इस पद से भ्रष्ट कर सकना किसी वाद के लिए संभव नहीं है। यही कारण है कि आज का साम्यवाद न तो मातृत्व पर ही आक्षेप कर सका और न मातृत्व के अधिकार को ही संकुचित करने में समर्थ हो सका।

नारी का दूसरा रूप है पत्नीत्व। मनुष्य की सारी लौकिकता इसमें निहित है। पश्चिम के एक विद्वान का कथन है कि भगवान् की कृति में सर्वश्रेष्ठ कृति मानव है, अतएव मानव-सम्बद्ध आनन्द भी सर्वश्रेष्ठ आनन्द है। इस वाक्य में नारीत्व के जिस पत्नीत्व की ओर संकेत है उसमें ऐसा प्रबल आकर्षण है जिसमें मनुष्य अनादि काल से विवश होकर बँधता चला आया है। मनुष्य की उच्छृंखल प्रवृत्ति इस आकर्षण से उन्मार्गगामिनी हो सकती है। इस लिए बन्धन की सृष्टि की गई है और उस बन्धन को नारी ने जिस दिन स्वीकार कर लिया होगा उस दिन नारी भोग की वस्तु न रहकर स्वामिनी के पद पर प्रतिष्ठित हुई होगी और उसी दिन कुटुम्ब का जन्म हुआ होगा।

कुटुम्ब के अन्तर्गत पत्नी का आचार भी विशेष महत्व का है। वह अपने वैयक्तिक गुणों के कारण कुटुम्ब को स्वर्ग बना सकती है और अपने ही आचरण से कुटुम्ब में रौरव-नरक की सृष्टि कर सकती है। कुटुम्ब ही नहीं अपितु समस्त विश्व की सुख और शान्ति की सन्देशवाहिका के रूप में वह प्रतिष्ठित है। आज विश्व में होने वाली दानव-लीला और भीषण नर-संहार संभव न हुआ होता, यदि पत्नी ने अपने कर्त्तव्य की गुरुता को समझा होता। उसके ही अञ्चल में मानवता का जन्म और विकास होता है। वह अपनी सहज उदारता, त्याग, ममता, समता आदि कोमल भावनाओं को सजग कर मानव को विश्वबन्धुत्व का पाठ पढ़ा सकती है, किन्तु ऐसा लगता है कि पत्नी आज अपनी गुरुता को, अपने महत्व को भूल चुकी है। उसके सम्बन्ध में कहा जाता था कि वह—"गृहिणी सचिवःसखी मिथः, प्रिय शिष्या ललिते कलाविधौ॥" होती है। खेद का विषय है कि नारी के इन आवश्यक स्वरूपों का चित्रण आधुनिक साहित्य में उतनी मात्रा में नहीं उपलब्ध होता जितनी मात्रा में होना चाहिए। प्राचीन साहित्य विशेषकर रामायण आदि ग्रन्थों में नारी का परम उज्ज्वल स्वरूप प्राप्त होता है। कौशल्या, सुमित्रा और कुन्ती के आख्यान नारी के गृहिणी स्वरूप को प्रकट करते हैं।

नारी न केवल पारिवारिक सुव्यवस्था का ही ध्यान रखती है और न केवल पुरुष की तुष्टि का साधन बनती है, अपितु वह सचिव के रूप में भी मनुष्य का बड़ा भारी कल्याण करती है। बालि की स्त्री तारा उसे प्रबोध करती हुई कहती है—

"सुनु पति जिनहिं मिला सुग्रीवा। ते दोउ बन्धु अतुल बल सींवा॥"

—रा० च० मानस, किष्किन्धाकांड

मन्दोदरी भी रावण को मित्र की भाँति सम्मति देती हुई कहती है:—

"कंत विरोध राम परिहरहू। जानि मनुज जनि हठ मन धरहू॥"

—राम० च० मानस, लंकाकांड

हम ऊपर कह चुके हैं कि नारी आकर्षण का केन्द्र है। अतएव वह द्वन्द्व का मूल भी है। लोक में एक प्रवाद फैल गया है 'जन, जमीन और जर, ये तीनों झगड़े का घर।" फिर क्या किया जाय। वह झगड़े का घर न बनकर मनुष्य के लिए सुख और शान्ति का आश्रय बन सकती है। उपाय केवल दो ही है, नारी की आत्मा का हनन करके उसे कोठरी में बन्द कर दिया जाय और 'असूर्यपश्या' बना दिया जाय। भारतीय शास्त्रकार इससे सहमत नहीं हैं। उन्होंने बाह्य बन्धन की अपेक्षा आन्तरिक बन्धन पर विशेष बल दिया और नारी का चरम आदर्श पातिव्रत धर्म स्थिर किया, जिससे वह लोक-परलोक दोनों में ही प्रतिष्ठा की पात्री बनी। इस प्रकार पातिव्रत धर्म में मानवता की शान्ति-व्यवस्था निहित है।

मानव इस धर्म की सुशीतल एवं शान्तिमयी छाया में बैठकर अपना जीवन कृतार्थ कर सकता है। पौराणिक गाथाओं में इस प्रसंग के अनेकानेक उदाहरण हैं। साहित्य में भी ऐसे उत्कृष्ट उदाहरणों का अभाव नहीं है। जायसी ने 'पद्मावत' में पद्मावती और नागमती को परम सतीसाध्वी के रूप में चित्रित किया है। नारी के लिए पति ही परमेश्वर है। उसके जीवन की प्रत्येक साँस पति के ही काम आये, यही उसके जीवन की परमोत्कृष्ट साधना है और इसी साधना के परिणामस्वरूप आज वह विश्ववन्दनीय है। रत्नसेन की सांसारिक लीला समाप्त हो चुकी है। दोनों रानियाँ नागमती और पद्मावती भी उसके बिना संसार में रहना अनुचित अनुभव करती हैं। फलतः चिता का निर्माण होता है और वे दोनों ही पति के साथ उस चिता में बैठकर अपने जीवन की अन्तिम लीला समाप्त करती हैं। इसी का चित्रण जायसी इस प्रकार करता है:—

"आजु सूर दिन अथवा, आजु रैनि ससि बूढ़ ।
आजु नाचि जिउ दीजिय, आजु आगि हम्ह जूढ़ ॥"

× × ×

जियत कंत तुम हम्ह गर लाई । मुए कंठ नहिं छोड़हिं साँई ॥
औ जो गाँठि, कंत तुम्ह जोरी । आदि अंत लहि जाइ न छोरी ॥
यह जग काह जो अछहि न आथी । हम तुम, नाह दुहूँ जग साथी ॥
"गिरि पावक शशि मेघ रवि, सहि न सकहिं वह आगि ।
मुहमद सती सराहिये, जरै जो अस पिउ लागि ॥"

—पद्मावत, पृ० ३३६, ३४० ।

रामचरितमानस में पातिव्रत धर्म सम्बन्धी अनेक प्रसंग हैं । अनसूया द्वारा सीता को दिया गया उपदेश, कौशल्या, सुमित्रा, मन्दोदरी आदि का आचार भी पातिव्रत आचार के अन्तर्गत है और सीता तो आज अपने इसी आचार के कारण जगज्जननी सीता है । विवाह के पूर्व ही वह राम के प्रति अपनी अनन्य भक्तिवश कहती हैं:—

"तन मन बचन मोर पन साँचा । जो रघुबीर चरन चित राँचा ।
तौ भगवान सकल उर बासी । करिहैं मोहिं रघुपति कै दासी ॥"

—बालकांड

सीता का प्रण सच्चा हो गया । सुख में उनके पातिव्रत धर्म की परीक्षा हो गई, केवल दुख में परीक्षा और देनी थी । अतएव राम वनगमन के समय सीता को कहना पड़ा :—

"की तनु प्रान की केवल प्राना। विधि करतब कछु जाइ न जाना।"

—अयोध्याकांड ।

माता कौशल्या उस सुकुमारी सीता को, जिसने इस कठोर अवनि में पाँव भी नहीं दिया, बन जाने से रोकना चाहती हैं, किन्तु सीता अत्यन्त नम्रतापूर्वक कहती हैं—

"मैं पुनि समुझि दीखि मनु माहीं पिय वियोग सम दुख जग नाहीं।"

—अयोध्याकांड ।

इसके पश्चात् सीता ने अपने वनगमन के पक्ष में जो सहजस्वभावउद्भूत तर्क उपस्थित किये हैं वे पातिव्रत आचार का ही प्रतिपादन करते हैं:—

"जहँ लगि नाथ नेहु अरु नाते । पिय बिनु तियहि तरनि ते ताते ।
तनु धनु धामु धरनि पुर राजू । पति विहीन सब सोक समाजू ॥"

भोग रोग सम भूषन भारू। जम जातना सरिस संसारू॥
प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मों कहुँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं॥
जिय बिनु देह नदी बिनु वारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी॥

—अयोध्याकांड

रीतिकालीन साहित्य में भी स्वकीया नायिका के वर्णन में पातिव्रत आचार के उदाहरण यत्र-तत्र बिखरे पड़े है। यथा:—

"बचन सुधा-सी, बसुधा-सी त्यों सहनशील,
चंद की कला-सी ऐसी सोभा सरसति है॥
कुल की कला-सी, सील सिन्धु कमला-सी,
गुरु लोगन की दासी सी, न सेवा अरसति है॥
नजर निचौहैं कहूँ हेरत न सौंहैं 'बेनी',
सदा पतिव्रतन के पाँइँ परसति है॥
सुखद सुलाभ भरी, पति अनुराग भरी,
भाग भरी भामिनी भलाई दरसति है॥"

"प्रियप्रवास" की राधा पातिव्रत आचार का ही पालन करती हुई अपने आराध्य के हेतु की गई साधना को सफल बनाती है। वे निरन्तर यशोदा को सुखी बनाने के विभिन्न उपायों में तथा दुखियों-पीड़ितों की परिचर्या में अपना समय व्यतीत करती हैं:—

"जो आँखों से सदुख उसको देख पाती यशोदा।
तो धीरे यों कथन करतीं खिन्न हो तू न बेटी।

× × ×

हो के राधा विनत कहती मैं नहीं रो रही हूँ।
आता मेरे दृगयुगल में नीर आनन्द का है।
जो होता है पुलक करके आपकी चारु सेवा।
हो जाता है प्रकटित वही वारि द्वारा दृगों में।"

× × ×

"वे छाया थीं सुजन शिर की, शासिका थीं खलों की।
कंगालों की परम निधि थीं, औषधी पीड़ितों की।
दीनों की थीं बहिन, जननी थीं अनाथाश्रितों की।
आराध्या थीं ब्रज-अवनि की, प्रेमिका विश्व की थीं।"

—प्रियप्रवास, सप्तदश सर्ग

गुप्त जी ने यशोधरा में पातिव्रत जीवन के स्वरूप का ही चित्रण किया है। एकान्तनिष्ठा और तपश्चर्या की मूर्ति यशोधरा अपने आचार के कारण ही यशोधरा बनी है:—

"सखि वे मुझसे कह कर जाते,
कह, तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते।
मुझको बहुत उन्होंने माना,
फिर भी क्या पूरा पहचाना।
मैंने मुख्य उसी को जाना,
जो वे मन में लाते।
सखि वे मुझसे कहकर जाते॥
स्वयं सुसज्जित करके क्षण में,
प्रियतम को प्राणों के प्रण में,
हमीं भेज देती हैं रण में,
क्षात्रधर्म के नाते।
सखि वे मुझसे कहकर जाते॥

× × ×

"जायँ, सिद्धि पावें वे सुख से,
दुखी नहीं इस जन के दुख से,
उपालम्भ दूँ मैं किस मुख से?
आज अधिक वे भाते।
सखि, वे मुझसे कहकर जाते॥

उपरिलिखित पंक्तियों में यशोधरा पत्नी-जीवन की कामना और कर्त्तव्य दोनों को ही बड़ी मार्मिकता के साथ व्यक्त करती है। सच तो यह है कि पति ही पत्नी का सम्मान है, धन है और एक शब्द में वही उसका सर्वस्व है उसका दिया हुआ एक कण भी पत्नी के लिए सबसे अधिक मूल्यवान है। इसी लिए वह इस भाव को सहेजा करती है:—

"स्वामी से जो भी मिले, गृहणी का धन है वही।"

—अंगराज, दूसरा सर्ग, २२वाँ छन्द

'गोदान' की धनियाँ भी पातिव्रत धर्म का पालन करती है। यह अशिक्षित ग्रामीणा है। भाषा द्वारा व्यक्त होने वाला शिष्टाचार उससे अपरिचित

है। अतः उसका निष्कपट हृदय अपने भावों की स्पष्ट व्यंजना करने में समर्थ है। वह अपने समाजगत वर्ग के अनुरूप ही सम्भाषण करती हुई होरी के प्रति जिस ममतापूर्ण आचार का परिचय देती है, वह पतिव्रत धर्म पालन करनेवाली स्त्रियों में उसे ऊँचा उठाता है। इसी प्रकार प्रेमाश्रम में विद्यावती भी अपने पत्नी सम्बन्धी आचार के लिए प्रसिद्ध ही है।

वंशगत आचार :—कौटुम्बिक आचार के साथ ही साथ वंशगत आचार का भी वर्णन साहित्य में उपलब्ध होता है। कुटुम्ब का विकसित रूप ही वंश है। वंश का ही विकसित स्वरूप वर्ण-व्यवस्था है। रामचरितमानस में इस वंशगत आचार का वर्णन हमें वहाँ प्राप्त होता है जहाँ दशरथ की मृत्यु के पश्चात् वशिष्ठ भरत को शोक न करने के लिए समझाते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों में शोचनीय कौन-कौन है—

ब्राह्मण—

सोचिय विप्र जो वेद विहीना । तजि निज धरम विषय लयलीना ॥

क्षत्रिय—

सोचिय नृपति जो नीति न जाना । जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना ॥

वैश्य—

सोचिय वयसु कृपनु धनवानू । जो न अतिथि सिव भगति सुजानू ॥

शूद्र—

सोचिय शूद्र विप्र अवमानी । मुखर मानप्रिय ग्यान गुमानी ॥

ब्रह्मचर्याश्रम—

सोचिय बटु निज ब्रतु परिहरई । जो नहिं गुरु आयसु अनुसरई ॥

गृहस्थ—

सोचिय गृही जो मोहबस, करइ करम-पथ त्याग ।

संन्यास—

सोचिय यती प्रपंचरत, बिगत बिबेक बिराग ॥

वानप्रस्थ—

वैखानस सोइ सोचै जोगू । तपु बिहाइ जेहि भावइ भोगू ॥

—अयोध्याकांड

निम्न-वर्ग और उच्च-वर्ग के आचार को देखना हो तो निषाद और वशिष्ठ के इस मिलन को देखिये। निषाद तो यह समझता है कि मैं अस्पृश्य

हूँ, इसीलिए वह दूर से दंड-प्रणाम करता है, किन्तु वशिष्ठ उसके आचरण की पवित्रता का अनुभव करके उसे बरबस हृदय से लगाये ले रहे हैं:—

रामसखा ऋषि बरबस भेंटा। जनु महिं लुठत सनेह समेटा॥

प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' का चाणक्य अपने ब्राह्मणोचित आचार के लिए जिस आदर्श की प्रतिष्ठा करता है वह एक चाणक्य का ही नहीं, अपितु ब्राह्मण मात्र का आचरण है। स्वार्थों को तिलांजलि देकर त्याग और तपस्या-पूर्णजीवन व्यतीत करते हुए निर्भीकतापूर्वक कर्त्तव्य की वेदी पर जीवन का उत्सर्ग ही ब्राह्मण का आचार है। उसके कतिपय कथन देखिये:—

"राजकुमार, ब्राह्मण न किसी के राज्य में रहता है और न किसी के अन्न से पलता है, स्वराज्य में विचरता है और अमृत पीकर जीता है। यह तुम्हारा मिथ्या गर्व है। ब्राह्मण सब कुछ सामर्थ्य रखने पर भी स्वेच्छा से इन माया-स्तूपों को ठुकरा देता है। प्रकृति के कल्याण के लिए अपने ज्ञान का दान देता है।"

"[राक्षस से]......जिस दिन उसका [ब्राह्मण का] अन्त होगा उसदिन आर्यावर्त का ध्वंस होगा। यदि अमात्य ने ब्राह्मण-नाश करने का विचार किया हो तो जन्मभूमि की भलाई के लिए उसका त्याग कर दें, क्योंकि राष्ट्र का शुभ-चिंतन केवल ब्राह्मण ही कर सकते हैं।"

—चन्द्रगुप्त, प्रथम अंक

"[पर्वतेश्वर से]......ब्राह्मण राज्य करना नहीं जानता, करना भी नहीं चाहता, हाँ, वह राजाओं का नियमन करना जानता है, राजा बनाना जानता है।"

—चन्द्रगुप्त, तृतीय अंक

शरणागत की रक्षा भी आचार का एक अंग है। स्कन्दगुप्त में इसकी व्यंजना हुई है:—

"स्कन्दगुप्त—दूत, केवल सन्धि-नियम ही से हम लोग बाध्य नहीं हैं, किन्तु शरणागत-रक्षा भी क्षत्रिय का धर्म है। तुम विश्राम करो। सेनापति पर्णदत्त समस्त सेना लेकर पुष्यमित्रों की गति रोकेंगे। अकेला स्कन्दगुप्त मालव की रक्षा के लिए सन्नद्ध है। जाओ, निर्भय निद्रा का सुख लो। स्कन्दगुप्त के जीते जी मालव का कुछ न बिगड़ सकेगा।"

आचार के अन्तर्गत कर्त्तव्य का द्वन्द्व भी विशेष स्थान रखता है। 'प्रसाद' की पुरस्कार शीर्षक कहानी में एक ओर मधूलिका का प्रिय पात्र

अरुण है और दूसरी ओर स्वदेश-रक्षा का प्रश्न है। कर्त्तव्य और हृदय का द्वन्द्व छिड़ जाता है। प्रसाद के शब्दों में ही उनकी आन्तरिक दशा का अवलोकन कीजिये :—

"पथ अन्धकारमय था और मधूलिका का हृदय भी निविड़ तम से घिरा था। उसका मन सहसा विचलित हो उठा। मधुरता नष्ट हो गई। जितनी सुख-कल्पना थी वह जैसे अन्धकार में विलीन होने लगी। वह भयभीत थी, पहिला भय उसे अरुण के लिए उत्पन्न हुआ, यदि वह सफल न हुआ तो? फिर सहसा सोचने लगी, वह क्यों सफल हो? श्रावस्ती दुर्ग एक विदेशी के अधिकार में क्यों चला जाय? मगध कौशल का चिर शत्रु! ओह, उसकी विजय! कौशल-नरेश ने क्या कहा था, "सिंहमित्र की कन्या"। सिंहमित्र कौशल का रक्षक वीर, उसकी कन्या आज क्या करने जा रही है। नहीं, नहीं। "मधूलिका!" "मधूलिका!" जैसे "उसके पिता उस अन्धकार में पुकार रहे थे। वह पगली की तरह चिल्ला उठी। रास्ता भूल गई।"

—पुरस्कार

व्यक्तिगत आचार:—व्यक्ति समाज का अंग है। दूसरे शब्दों में वही समाज का निर्माता भी है। जब तक व्यक्ति की वैयक्तिकता सदाचार के साँचे में ढलकर जीवन की गति का निर्द्धारण नहीं करती है, तब तक समाज अथवा राष्ट्र की उन्नति संभव नहीं। हम अपने वैयक्तिक जीवन में जिन-जिन आचरणों का विधान करते हैं वे ही आचरण समाज अथवा राष्ट्र के आचरण का रूप ग्रहण करते हैं। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि हमारा व्यक्तिगत आचार जितना महान् होगा प्रकारान्तर से हमारे राष्ट्र का आचरण भी उतना ही महान् होगा। इसीलिए हमारे देश के चिन्तकों एवं साहित्यिकों ने व्यक्तिगत आचार के सम्बन्ध में पर्याप्त विवेचन किया है। रामचरितमानस में वैयक्तिक आचार का स्वरूप भरत के शब्दों में देखिये। समाज में पापी कौन है? इसका वर्णन करते हुए भरत कहते हैं :—

"बेचहिं बेद धरम दुहि लेहीं। पिसुन पराय पाप कहि देहीं॥
कपटी कुटिल कलह प्रिय क्रोधी। बेद बिदूषक बिस्व बिरोधी॥
लोभी लम्पट लोलुप चारा। जे ताकहिं परधन परदारा॥

× × ×

"जे नहिं साधु संग अनुरागे। परमारथ पथ विमुख अभागे॥
जे न भजहिं हर नर तनु पाई। जिनहिं न हरि हर सुजस सुहाई॥
तजि श्रुति पंथ बामपथ चलहीं। बंचक बिरचि वेष जग छलहीं॥"

—अयोध्याकांड

हिन्दी साहित्य की नीति सम्बन्धी जितनी रचनाएँ हैं प्रायः उनमें आचार सम्बन्धी बातों का ही वर्णन है। यथा :—

"अमी पियावत मान बिनु, "रहिमन" मोहि न सुहाय।
प्रेम सहित मरिबो भलो, जो विष देहि बुलाय॥"

× × ×

"रहिमन" रहिबो वा भलो, जौं लौं सील समूच।
सील ढील जब देखिये, तुरत कीजिये कूँच॥"

× × ×

"निन्दक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय।
बिन पानी साबुन बिना, निर्मल करै सुभाय॥"

× × ×

"तुलसी कर पर कर करौ, करतर कर न करौ।
जादिन करतर कर करौ, तादिन मरन खरौ॥"

× × ×

"साँईं बैर न कीजिये, गुरु, पंडित, कवि, यार।
बेटा, बनिता, पौरिया, यज्ञ करावन हार॥
यज्ञ करावन हार, राजमन्त्री जो होई।
विप्र, परोसी, वैद, आपको तपै रसोई॥
कह "गिरधर" कविराय, जुगन ते यह चलि आई।
इन तेरह सों तरह दिये, बनि आवै साँईं॥"

—गिरधरदास

"चाहे कुटी अति घने बन में बनावे,
चाहे बिना नमक कुत्सित अन्न खावे।
चाहे कभी नर नये पट भी न पावे,
सेवा प्रभो! पर तू न पर की करावे॥"

—आचार्य म० प्र० द्विवेदी

हम देखते हैं कि स्वीकृत आर्य परंपरागत आचार की जो व्यवस्था महा-काव्य काल तक निश्चित हो चुकी थी, उसका पालन रामचरितमानस काल तक अडिग रूप से किया जाना उचित समझा जाता रहा। रीतिकाल में साहित्य-कार इस आचार-परंपरा के प्रति उदासीन-से हो गये। आधुनिक-युग में बाहरी प्रभाव के अधिक बढ़ जाने के कारण विभिन्न विचार-सरणियों ने प्रवेश किया। अतएव नारी के आदर्श तथा व्यक्ति के आदर्श में भी अन्तर हो गया। इस आदर्श भेद ने आचार के निश्चित विधानों को भी सम्पूर्णतः स्वीकार करना अनुचित समझा। जैसे आज कुछ-कुछ ऐसा माना जाने लगा है कि पातिव्रत धर्म उत्तम वस्तु है, परन्तु वही सर्वोत्तम वस्तु है, ऐसा नहीं है। कुछ उनसे भी उत्तम वस्तुएँ हैं, यथा देश सेवा, समाज सेवा आदि। यदि इनका पालन करते हुए पातिव्रत धर्म का पालन न भी हो सके तो विशेष निन्दा की बात नहीं है। इन कर्त्तव्यों के पालन करने से जो सम्मान प्राप्त हो जायगा वही इतना अधिक है कि पातिव्रत धर्म उसका क्षुद्र मूल्य है। आज का नवीन दार्शनिक स्त्री-पुरुष सम्बन्ध को केवल प्राकृतिक भूख के शमन का साधन मानता है। इसीलिए वह विवाह को एक कृत्रिम बन्धन कहता है। फलतः आज विवाह-विच्छेद की माँग बढ़ रही है और समानाधिकार की चर्चा चल पड़ी है। जिसकी प्रतिध्वनि साहित्य में भी दिखलाई दे रही है। 'सेवासदन' की सुमन का गृहत्याग, 'गबन' की ज़ोहरा के जीवन के अन्तिम दिनों के कार्य आदि इसी प्रकार की प्रवृत्ति से प्रेरित हैं। भले ही प्रारम्भिक प्रवृत्ति ऐसी न रही हो। राजनीतिक क्षेत्र में तो ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है।

प्रगतिशीलता के नाम पर आज जो साहित्य उपस्थित हो रहा है उसमें कुछ विलक्षण विचार प्रश्रय पा रहे हैं। कौटुम्बिक, वंशगत, समाजगत और व्यक्तिगत आचार भी इसी प्रकार शिथिल होते जा रहे हैं। किंबहुना, ईश्वर और मनुष्य के सम्बन्ध में भी अपनी प्राचीन परंपरा के प्रतिकूल अनेकानेक धार-णाएँ आज के चिंतक के उर्वर मस्तिष्क से निकल रही हैं। आज जाति-भेद दूषित वस्तु है। परंपरागत व्यवसाय आवश्यक नहीं है और न तो अप्रतिग्रह धर्म है, न प्रतिग्रह में कोई अपराध। सम्पत्ति के सुवितरण के नाम पर धनिकों को लूट लेना, राष्ट्रीय सम्पत्ति को हानि पहुँचाना भी सदाचार समझा जाता है और कहा जाता है कि यही उपाय है जिससे एक नवीन वाद की रचना हो सकेगी। कोई कवि उसके लिए विप्लव-गान गाता है और कोई उसे युग-वाणी में घोषित करता है। भविष्य में क्या होना है, यह भविष्य ही बता सकेगा।

आचार, आदर्श और औचित्य का अन्तरः—यदि व्यावहारिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो सदाचार और आदर्शवाद में कोई वास्तविक अन्तर नही है। सदाचार का निष्ठापूर्वक पालन ही आदर्श है। भगवान् राम का जीवन इसलिए आदर्श है कि उनके प्रत्येक दिव्य चरित्र में सदाचार की छाप लगी हुई है, अर्थात् सदाचार का पुंजीभूत रूप ही आदर्श है।

इन दोनों में कुछ अन्तर भी है। जहाँ आचार में सदाचार और दुराचार दोनों हो सकते है, वहाँ आदर्श में दुराचार का संसर्ग नहीं रह सकता। रावण विभिन्न आचारों का पुंज है। ब्राह्मणोचित कर्म यज्ञयागादि के प्रति उसकी निष्ठा है, परन्तु सज्जनों को कष्ट भी देता है। इसीलिए रावण के चरित्र को हम आदर्श कह कर नहीं पुकारते।

जीवन में भूलें संभव है और कुछ इस कारण से भी कि आचार के सम्बन्ध में एकमत्य भी नहीं हैं। द्रौपदी के लिए पाँच पति होना भी आचार है, और अन्य पुरुष की ओर न देख सकना भी आचार है। एकपत्नीव्रत को भी आचार माना जाता है और बहुविवाह की विधि भी स्वीकृत है। इन विभिन्न आचारों का पालन करने वाला आचारी तो होगा, परन्तु उसे आदर्श कह सकना सदा संभव नहीं है।

एक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण भी है जो आचार और आदर्श की सीमाएँ निर्धारित करता है। सत्-असत् का विवेचन करते समय हमारे समक्ष एक मापदंड होता है। उस मापदंड से माप कर घटिया वस्तु को हम असत् और तदनुकूल वस्तु को सत् कहते हैं। जीविकोपार्जन के लिए व्यवसाय करना एक आचार है। परन्तु चोरी करके जीविकोपार्जन असत् आचार है, और सर्वजन प्रत्यक्ष रीति से न्यायपूर्वक जीविकोपार्जन करना सदाचार कहलाता है। इस प्रकार के मापदंड से मापा हुआ व्यक्ति सदाचारी तो हो सकता है, परन्तु आदर्श नही हो सकता। सधना कसाई था, मांस-विक्रय उसका व्यवसाय था। उस पर उचित लाभ लेता था और उस लाभ का सदुपयोग करता था। यदि सधना का जीवन इतना ही होता तो उसे हम सदाचारी अवश्य कहते। वह आदर्श नही बन सकता था। न्यायोपार्जित यह जीविका तब आदर्श बन जाती है जब वह केवल उतने ही मांस का व्यवसाय करता है जितने से उसकी जीविका का निर्वाह हो सके। इसके लिए वह स्वयं हिंसा नही करता। अर्थात् सधना के आचार को यदि हम आचार के मापदंड से मापते हैं तो वह उससे बहुत ही ऊँचा जान पड़ता है और इसीलिए हम सधना के जीवन को आचार का आदर्श मानते है।

आदर्श का एक दूसरा रूप इतना स्वतंत्र है कि वहाँ तक आचार शास्त्र की पहुँच नहीं। किसी सद्भावना के प्रति हमारा हृदय आग्रह की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है तब जो कुछ गुण भी आचार होता है वह आदर्श बन जाता है। महात्मा गांधी का जीवन ऐसा ही एक आदर्श है। इस आदर्श के सामने विधिनिषेध के बर्धन शिथिल हो जाते हैं और आचार अपने शुद्ध सात्विक रूप में विधिनिषेध की चिन्ता से परे स्वतंत्र होकर निखर उठता है। भरत पिता की आज्ञा का चौदह वर्ष तक विधिवत् पालन करके राम के लौटने पर उनका राज्य उन्हें लौटा देते हैं तो भी किसी आलोचक का यह साहस नहीं होता कि वह भरत के सदाचार पर अँगुली उठा सके। परन्तु भरत का सत्य इतना कोमल नहीं था कि लोक-सदाचार की चिन्ता करता। वह लोक-सदाचार से ऊँचा उठना चहाता था। इसीलिए वह कहता है:—

"राम पयादेहिं पायँ सिधाये। हम कहँ रथ गज बाजि बनाये।
सिर भर जाउँ उचित अस मोरा। सबतें सेवक धरमु कठोरा॥"
—रा० च० मानस, अयोध्याकांड

सेवक धर्म की यह व्याख्या विधिनिषेध का अतिक्रमण करके लोक-सदाचार से इतनी ऊँची है कि उसे सदाचार 'कहइ काह छुइ सकत न छाँही।'

एक बात और है, आचार का स्वरूप यदि वैयक्तिक है तो सामाजिक और कौटुम्बिक भी है। यह हो सकता है कि समाज विशेष के लोग विशेष आचार का नियमपूर्वक पालन करने के कारण सब के सब आचारवान् कहे जायँ, परन्तु आदर्श सम्पूर्णतः वैयक्तिक ही होता है। अतः आचार का क्षेत्र जहाँ विस्तृत है वहाँ आदर्श का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित है। हो सकता है कि सहस्रशः आचारवानों में एक भी आदर्श न हो, और हो सकता है कि एक ही हो और वह एक ही अपने में इतना पूर्ण हो कि हम उसे आदर्श की पदवी पर प्रतिष्ठित कर सकें। नरोत्तमदास के 'सुदामाचरित' के कृष्ण अपने में पूर्ण भक्त-वत्सलता के आदर्श हैं।[1]

१—बोल्यौ द्वारपालक "सुदामा नाम पाडे" सुनि,
छाँडे राजकाज ऐसे जी की गति जानेको।
द्वारिका के नाथ हाथ जोरि, धाय गहे पायँ,
भेंटे लपटाय कर, ऐसे दुख साने को।

शेष टिप्पणी अगले पृष्ठ पर

आचार से हमारा तात्पर्य सदैव सदाचार रहा है। हमने आचारवाद की सीमा में दुराचार को सम्मिलित नहीं किया। इसीलिए यह भ्रान्ति हो सकती है कि जो उचित है वही आचारवाद है। हम जहाँ औचित्यवाद का विवेचन करेंगे वहाँ यह स्पष्ट हो जायगा कि औचित्यवाद कर्त्तव्य में औचित्य का नाम नहीं है, वरन् वस्तु सारूप्य का नाम ही औचित्य है और आचार कर्त्ता की कृति के औचित्य का नाम है। यथा, हम मंथरा के व्यवहार को उचित कहकर आचार का उदाहरण नहीं मान सकते। परन्तु मंथरा के व्यवहार में उसकी प्रकृति का शुद्ध प्रतिबिम्ब दिखाई देने के कारण उसका व्यवहार उसी के अनुरूप दिखाई देता है, इसलिए मंथरा और उसके व्यवहार में वस्तु सारूप्य है। इस प्रकार का वर्णन औचित्यवाद की सीमा में आता है।

पहिले हम आचारवाद का वर्णन कर चुके हैं और यह दिखा चुके हैं कि आचारवाद आदर्शवाद से भिन्न है। आदर्शवाद भी औचित्यवाद से इसी प्रकार भिन्न है। औचित्यवाद का क्षेत्र विस्तृत है। उसका मापदंड बदलता रहने वाला है और उसमें प्रत्येक परिस्थिति में पहुँच सकने की क्षमता है। कला के प्रत्येक अंग की औचित्यवाद के सहारे परीक्षा की जा सकती है। परन्तु आदर्शवाद इन स्थितियों तक कभी नहीं पहुँच सकता।

पिछले पृष्ठ की शेष टिप्पणी

नैन दोऊ जल भरि, पूँछत कुसल हरि,
विप्र बोल्यो 'विपदा में मोहिं पहिचाने को'।
जैसी तुम करी तैसी करै को दया के सिंधु,
ऐसी प्रीत दीनबन्धु दीनन सों माने को।

—सुदामाचरित, पद ३७,

× × ×

ऐसे बेहाल बिवाँइन सों पग कंटक जाल लगे पुनि जोये।
"हाय महादुःख पायौ सखा तुम आये इतै न कितै दिन खोये।
देखि सुदामा की दीन दशा करुना करिकै करुनानिधि रोये।
पानी परात को हाथ छुओ नहिं नैनन के जल सों पग धोये॥

—सुदामाचरित, पद ४३

औचित्यवाद—पूर्व प्रकरण में आचारवाद से औचित्यवाद का अन्तर बताते हुए यह कहा जा चुका है कि वर्णन में वस्तु-सारूप्य होना औचित्यवाद है। इस प्रकार वर्ण्य विषय के अनुकूल वर्णन होना औचित्यवाद की सीमा में आता है। यहाँ औचित्यवाद के दो रूप स्पष्ट हो जाते हैं—[१] विषय का औचित्य अर्थात् विषय का तत्सम्बन्धी वर्णन के साथ सारूप्य, [२] वर्णन का औचित्य अर्थात् वर्णन का तत्सम्बन्धी विषय के साथ सारूप्य। यद्यपि वस्तुतः इन दोनों भेदों में कोई विशेष अन्तर नही है, परन्तु सुविधा के लिए इस प्रकार भेद कर लेना आवश्यक है।

विषयगत औचित्य में हम वस्तु, पात्र [प्रकृति और प्राणी], भाव और सम्पूर्ण उक्त वस्तुओं के परस्पर सम्बन्ध पर विचार करेंगे तथा वर्णन औचित्य में भाषा, गुण, छन्द और अलंकारों पर विचार किया जायगा।

विषयगत औचित्यः—विषय से तात्पर्य उन घटनाओं से है जिनके आधार पर किसी प्रबंध का निर्माण होता है। केवल प्रबंध ही नहीं, एक छोटा-सा छन्द भी जिस ओर संकेत करता है वह घटना वस्तु के अन्तर्गत गिनी जानी चाहिए। जैसे—

भौन भरे पकवान मिठाइन लोग कहैं निधि हैं सुषमा के।
साँझ सबेरे पिता अभिलाखत दाख न चाखत सिन्धु छमा के।
बाम्हन एक कोऊ दुखिया सो पाउक चाउर लायो समाँ के।
प्रीति की रीति कहा कहिये तेहि बैठे चबावत कंत रमा के।

इस छन्द में एक घटना है। भगवान् कृष्ण किसी दुखिया ब्राह्मण के लाये हुए साँवाँ के चावल कच्चे ही चबा रहे थे। इस घटना में अपने भाव को पुष्ट करने की समस्त सामग्री विद्यमान है जिनके "भौन भरे पकवान मिठाइन" हैं और 'साँझ सबेरे पिता अभिलाखत', फिर भी 'दाख न चाखत सिंधु छमा के', वे ही कृष्ण जब चावल चबाते हैं तब बरबस ही मुँह से निकल जाता है, 'प्रीति की रीति कहा कहिये।'

घटना के औचित्य पर विचार कीजिये। दुखिया ब्राह्मण के लिए साँवाँ के चावल लाना कितना स्वाभाविक है और भगवान् कृष्ण का प्रीति से चबाना कितना आवश्यक है। इस घटना में यदि तनिक भी संतुलन बिगड़ जाता तो भाव के परिपाक में शिथिलता आ जाती। भगवान् कहने ही से जिसके ऐश्वर्य का बोध होता है उसके लिए ऊपर की दोनों पंक्तियाँ व्यर्थ हैं। परन्तु साँवाँ के

चावलों के लिए 'पकवान' और 'मिठाइन' की चर्चा आवश्यक थी। इसी प्रकार 'बैठे चबावत' की भी आवश्यकता थी। यदि भगवान् उन्हें सिर पर चढ़ाकर ही ले लेते तो भी 'प्रीति की रीति' में जो उत्सुकता है, वह व्यक्त न हो सकती। इसी का नाम है वस्तु का औचित्य।

शास्त्रकारों ने वस्तुगत औचित्य की बड़ी व्याख्या की है। उन्होंने नाटकों के लिए यह नियम बनाया कि उनमें युद्ध, रक्त-पात और संभोगादि के दृश्य न दिखाये जायँ। इसका कारण भी वस्तु के औचित्य में निहित है। इसी प्रकार महाकाव्यों में प्रासंगिक वर्णनों की मिति के सम्बन्ध में जो नियम बनाये गये है वे वस्तुगत औचित्य के अन्तर्गत हैं। जैसे पताका (स्थानीय नायक से सम्बन्ध रखनेवाली घटना) फलोन्मुख तो हो सकती है, परन्तु उसका फल मुख्य घटना के नायक के फल का सहकारी होना चाहिए। रामचरितमानम में सुग्रीव पताका (स्थानीय नायक) है। उसको निष्कंटक राज्य-प्राप्ति होती है, परन्तु यह राज्य-प्राप्ति राम के फल की सहायक है। प्रकरी (चरित्र-संबद्ध घटना फलोन्मुख ही नहीं होती। वह केवल मुख्य नायक की सहायक होकर समाप्त हो जाती है।

घटना सम्बन्धी औचित्य इतना ही नहीं है। घटनावर्णन के समय स्मृति-प्रधान तथा विस्मृतिप्रधान स्थिति में कलाकार को अवश्य बना रहना चाहिए। रामचरितमानस में शबरी और सुतीक्ष्ण का चरित्र तो है, परन्तु उर्मिला, मांडवी और श्रुतिकीर्ति को कवि बिलकुल ही भूल गया है। उसका कारण है कवि का रामचरित के प्रति सोद्देश्य होना। यदि कवि रघुवंश-वर्णन के प्रति सोद्देश्य होता तो भी उर्मिला का चरित्र अधिक से अधिक एक छंद के लिए पर्याप्त होता। यदि वह उर्मिला के वर्णन के प्रति सोद्देश्य होता तो उसके चौदह वर्षों की दिनचर्या दिखाने के लिए भले ही चौदह सौ पुस्तकें लिख डालता, परन्तु उर्मिला के वर्णन में रामचरित ठूँस देना उसके लिए अनावश्यक है। यदि वह ऐसा करता तो हरिभजन के लिए आकर कपास ओटने लगता।

स्मृति-प्रधान-तत्व में भी वस्तु के इस औचित्य की मर्यादा का होना अत्यन्त आवश्यक है जिससे कि चेतना-केन्द्र में पहिले आनेवाली वस्तुओं को पहिले कहा जाय और पीछे आनेवाली वस्तुओं को पीछे कहा जाय। प्रायः यह देखा जाता है कि कविगण वस्तुगत औचित्य की इस मर्यादा का ध्यान नहीं रखते हैं। भगवान् राम धनुप-मंच पर खड़े है। उनके कोमल शरीर और धनुष की कठोरता की भावना सबसे पहिले सीता के हृदय में उत्पन्न होनी चाहिए क्योंकि राम

के सबसे अधिक निकट वही थीं। सामान्य दृष्टि से चेतना केन्द्र में सर्वप्रथम सीता आती हैं। परन्तु यदि सूक्ष्म विवेचन करके देखा जाय तो:—

"उदित उदय गिरिमंच पर, रघुबर-बाल-पतंग।"

कह कर कवि ने चेतना-क्रम का निर्माण स्वयं ही कर दिया है। धनुष-भंग का प्रसंग था। धनुष तोड़ने की आकांक्षा जितनी राजाओं के हृदय में थी उतनी सीता अथवा जनक, जाति और पौरजन के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती। कदाचित् सब चाहते थे कि धनुष तोड़ा जाय, परन्तु कोई यह नहीं चाहता था कि राम के अतिरिक्त कोई और धनुष तोड़े। अतएव राम के खड़े होने का प्रभाव भीतर से बाहर की ओर न जाकर बाहर से भीतर की ओर गया। राम दीपक नहीं थे कि वे पहिले घर को प्रकाशित करते फिर मार्ग पर प्रकाश पहुँचता। वे बाल-पतंग थे जो पहिले बाहर उजाला फैला देता है और साथ ही घर के कोने-कोने को प्रकाशित करता है। फल यह हुआ कि यह चिन्ता बाहर से भीतर की ओर गई। तुलसी ने पहिले नगरवासियों का वर्णन किया है, फिर सीता की माता का और अन्त में सीता का। सीता की चिन्ता के साथ ही धनुष टूट जाना भी आवश्यक था। इसीलिए कवि कहता है कि:—

"सियहिं बिलोकि तकेउ धनु कैसे। चितव गरुड़ लघु व्यालहिं जैसे॥"

—रा० च० मानस, बालकांड

स्मृति-प्रधान-तत्व की एक अन्य विशेषता यह है कि घटनाओं को यथारूप उपस्थित किया जाय। राम ने धनुष तोड़ दिया। राज-समाज उपस्थित था। उसका क्षुब्ध हो जाना भी स्वाभाविक था। अतएव राजाओं का यह कहना:—

"तोरें धनुष चाड़ नहिं सरई। जीवत हमहिं कुँअरि को बरई॥
जो बिदेह कछु करइ सहाई। जीतहु समर सहित दोउ भाई॥"

—रा० च० मानस, बालकांड

उचित अवसर पर उचित प्रयोग है। इस स्थिति का सामना केवल युद्ध के ही द्वारा हो सकता था, पर इससे रस-भंग उत्पन्न हो जाता। रस-भंग के इस अवसर को तुलसी ने परशुराम को लाकर रस-परिपाक का कारण बना दिया। राजाओं के वीर रस का परशुराम के रौद्र से दमन किया, जिसका फल यह हुआ कि सारी बातें भूलकर वे—

"पितु समेत कहि-कहि निज नामा। करन लगे सब दंड प्रनामा॥"

—रा० च० मानस, बालकांड

परशुराम के इस रौद्र रस का, लक्ष्मण के वीर रस से शमन किया गया, हास्य को सहचारी बनाकर वीर रस को शृंगार का मित्र रस बना दिया। इस प्रकार रस

विच्छेद से रक्षा करने के लिए परशुराम को स्वयंवर-भूमि में तुलसी ने उपस्थित किया।

इस प्रकार कवि वस्तु के विस्मृति-प्रधान-तत्व पर सदैव ध्यान रखता है। विस्मृति-प्रधान-तत्व घटना के वे अंश हैं जो घटना के साथ जुड़े रहते हुए भी अनावश्यक होते हैं। कवि का उद्देश्य होता है किसी भाव विशेष तक पाठक को पहुँचा देना। उस भाव विशेष से संबद्ध घटनाएँ स्मृति-प्रधान-तत्व होने के कारण घटना का मुख्य अंश होती हैं, शेष घटनाएँ अमुख्य होने के कारण विस्मृति-प्रधान होकर उपेक्षणीय होती हैं। हम ऊपर कह चुके हैं कि राम के प्रति सोद्देश्य होकर उर्मिला का वर्णन तुलसी ने नहीं किया। उसका कारण यही था कि उर्मिला घटना का विस्मृति-प्रधान-तत्व थी। पात्र ही नहीं जिसके प्रति कवि सोद्देश्य होता है उनके जीवन की भी अनेक घटनाएँ विस्मृति-प्रधान-तत्व बन सकती हैं। राम-लक्ष्मण-सीता वनवासी हुए थे। वे वन में पर्ण-कुटी छाकर बस गये। उन्हें किस प्रकार भोजन-वस्त्र प्राप्त होता रहा—तुलसी को चाहिए था कि वे उसका वर्णन करते, परन्तु तुलसी ने "कन्द मूल फल अमिय अहारू" कहकर उसका केवल संकेत कर दिया है। किस प्रकार उन्हें ये वस्तु प्राप्त होती थीं, इसकी चर्चा कहीं भी नहीं दिखाई देती। इसका कारण केवल यही है कि इस प्रकार की दिनचर्या का वर्णन करना कवि को अभीष्ट नहीं था। इसलिए ये बातें उसके लिए विस्मृति-प्रधान-तत्व थीं।

इसका अर्थ यह है कि प्रधान नायक की दिनचर्या का बहुत-सा अंश ही किसी घटना विशेष के प्रति सोद्देश्य होने के कारण विस्मृति-प्रधान-तत्व बन जाता है। यदि हम चाहें तो भगवान् राम की दिनचर्या रामचरितमानस से एकत्र कर सकते हैं, परन्तु इस दिनचर्या का वर्णन तुलसी ने, जहाँ वह स्मृति-प्रधान-तत्व बनकर आई है, वहीं किया है। एकत्र वर्णन के सम्बन्ध में उसकी उपेक्षा की है।

किसी घटना में कोई अंश प्रधान हुआ करता है, कोई अंश अप्रधान। कवि केवल उस प्रधान अंश के प्रति जागरूक रहता है, अप्रधान अंश के प्रति उदासीन। जिस अंश के प्रति वह उदासीन रहता है वह अंश घटना का विस्मृति-प्रधान अंश होता है। जैसे भगवान् राम गङ्गा के तट पर खड़े हैं और केवट से 'माँगी नाव' परन्तु 'न केवट आना' का प्रसंग उपस्थित होता है। एक विवाद खड़ा हो जाता है और घटना ठहर जाती है। विवाद समाप्त हो जाता है और राम कहते हैं—

"बेगि आन जल पायँ पखारू। होत बिलम्ब उतारहु पारू॥"

फिर—

"केवट राम रजायसु पावा। पानि कठौता भरि लइ आवा॥
पद पखारि जल पान करि, आप सहित परिवार।
पितर पार करि मुदित पुनि, प्रभुहि गयउ लइ पार॥"

—रा०च० मानस, अयोध्याकांड

इतने वर्णन में कवि ने विवाद का बहुत-सा अंश उपस्थित किया। केवट के जलपान का सहज मधुर दृश्य चित्रित किया और प्रभु को पार उतार दिया। केवट कब नाव लाया, किस प्रकार प्रभु को उस पर चढ़ाया गया, गंगा पार करने में कितना समय लगा, कैसे नाव चलाई गई, किनारे तक पहुँचते-पहुँचते क्या वार्तालापादि हुआ, कवि ने इन सब बातों का वर्णन नहीं किया। कवि की दृष्टि में यह विस्मृति-प्रधान-तत्व था। इसीलिए इसके प्रति उपेक्षा का भाव दिखाया गया।

तुलसी की यह विशेषता है कि उसने घटना-वर्णन के प्रति उत्सुकता कहीं नहीं दिखाई। प्रत्येक स्थल पर घटना का संकेत है और भाव का विशद चित्रण। हमारी दृष्टि में जो कलाकार इस विस्मृति-प्रधान-तत्व को लक्ष्य में नहीं रखता है वही वस्तु-चित्रण में असफल हो जाता है।

आवृत्ति से अभ्यास होता है और अभ्यास से स्वभाव बनता है। कवि इस मनोवैज्ञानिक तथ्य के प्रति भी उदासीन नहीं रहता। वह यह सदैव देखता रहता है कि कौन-सी घटना इतनी प्रभावशालिनी है कि उसका एक बार का वर्णन ही अपना स्थायी प्रभाव छोड़ सकता है तथा किस घटना की आवृत्ति की आवश्यकता है। पादप्रक्षालन का प्रसंग तुलसी ने दूसरी बार उपस्थित नहीं किया, परन्तु राम के मिलन की उत्सुकता प्रत्येक व्यक्ति में दिखलाई गई है। कारण यही है कि उस उत्सुकता का बार-बार प्रदर्शन ही भाव को स्थिर बनाने में सहायक हो सकता था। इसी प्रकार भगवान् कृष्ण का नाल-छेदन प्रसंग भी है। सूर इस एक ही घटना को अनेक बार अनेक रूपों में कहते हैं:—

जसुदा नार न छेदन देहौं।
मनिमय जटित हार ग्रीवा कौ, वहै आजु हौं लैहौं॥

औरनि के हैं गोप खरिक बहु, मोंहि गृह एक तुम्हारौ ।
मिटि जु गयौ संताप जनम कौ, देख्यौ नन्द दुलारौ ॥
बहुत दिननि की आशा लागी, झगरिनि झगरौ कीनौ ।
मन मैं बिहँसि तबै नँदरानी, हार हिये कौ दीनौ ॥
जाकै नार आदि ब्रह्मादिक, सकल विश्व आधार ।
सूरदास प्रभु गोकुल प्रगटे, मेटन कौं भू-भार ॥"

—सूरसागर, का०ना०प्र० सभा, पद ६३३

× × ×

"झगरिनि तैं हौं बहुत खिझाई ।
कंचन हार दिये नहि मानत, तुहीं अनोखी दाई ॥
बेगहिं नार छेदि बालक कौं, जाति बयार भराई ॥ आदि

—सूरसागर, दशम स्कन्ध, का० ना०प्र०स०, पद ६३४

× × ×

हरि कौ नार न छीनौं माई ।
पूत भयौ जसुमति रानी कै, अर्द्ध राति हौं आई ॥
अपने मन को भायौ लैहौं, मोतिन थार भराई । आदि

—सूरसागर, दशम स्कन्ध, का०ना० प्र०स०, पद ६३६

भगवान् की बाल-सुलभ चपलता के प्रभाव को स्थायी बनाने के लिए ही चपलता सम्बन्धी एक-सी घटनाएँ अनेक छन्दों में कही गई हैं । कवितावली का लंकादहन रामचरितमानस में जितना संक्षिप्त है, तुलसी को उतने से संतोष नहीं था । इसीलिए कवितावली में अनेक रूपों में अनेक प्रकार से यह वर्णन उपस्थित किया गया है ।[1] घटना की इस प्रकार आवृत्ति भाव को उद्दीप्त करने के लिए औचित्य की सीमा में आती है ।

१—"बालधी फिरावै बार बार झहरावै, झरै,
बूँदिया-सी, लंक पघिलाइ पागि पागि है ।
तुलसी बिलोकि अकुलानी जातुधानी कहैं,
चित्रहूँ के कपि सों निसाचर न लागि है ॥"

—कवितावली, सुन्दरकांड, छन्द १४,

शेष टिप्पणी अगले पृष्ठ पर

इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रत्येक कवि को घटनाओं की आवृत्ति करनी ही चाहिए। जबतक इस प्रकार की आवृत्ति भाव विशेष को बल नहीं देती तब तक वह आवृत्ति पुनरुक्ति दोष ही मानी जाती है।

कभी-कभी विस्मृति-प्रधान-तत्व किसी संकेत विशेष के कारण स्मृति-पटल पर सहसा छा जाता है और थोड़ी देर के लिए उसे आवृत्त करके प्रस्तुत विषय की अथवा स्मृति-प्रधान-तत्व की रागात्मकता को और भी अधिक तीक्ष्ण कर देता है। ऐसा विस्मृति-प्रधान-तत्व स्मृति-प्रधान-तत्व बन जाता है। वह जहाँ एक वैचित्र्य की सृष्टि करता है वहाँ भाव को भी उद्दीप्त करता है।

उद्धव गोपियों को ज्ञानोपदेश देने आये हैं। उस ज्ञानोपदेश को सुनकर गोपियों के हृदय में ब्रह्म और हरि की एकता के प्रतिपादन की सहज स्मृति का उभर आना स्वाभाविक था। इस सहज स्मृति का परिणाम यह हुआ कि गोपियों ने उद्धव से कहा:—

[ऊधो] नेकु सुजस हरि को स्रवननि सुनि।
कंकन काँच, कपूर करर सम, सुखदुख सम गुन औगुन॥
नाम उनहिं को सुनत गेह तजि, जाइ बसत नर कानन॥
परमहंस बहुतक देखियत हैं, आवत भिच्छा माँगन॥
बालि कपिन को राउ सँहार्‌यौ, लोक लाज उर डारी॥
सूपनखा की नाक निपाती, तिय बस भये मुरारी॥
बलि को बाँधि पताल पठायो, कीन्हे जग्य बनाइ॥
सूर प्रीति जानी नइ हरि की, कथा तजी नहिं जाइ॥

सूरसागर, दशम स्कन्ध, का० ना० प्र० सभा, पद ४१३३

तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म के उपासक कंचन, काँच, कपूर और करर (कोयला) को समान समझने वाले "परमहंस बहुतक देखियत हैं, आवत भिच्छा माँगन" (बेचारे परमहंसों की यह दुर्गति अप्रसंग ही हो गई है।) यही नहीं, निर्गुण ब्रह्म

पिछले पृष्ठ की शेष टिप्पणी

लागि-लागि आगि भागि भागि चले जहाँ तहाँ,
धीय को न माय, बाप पूत न सँभारहीं।
छूटे बार, बसन उघारे, धूमधुंध अंध,
कहैं बारे बूढ़े 'बारि बारि' बार बार हीं॥ आदि

—कवितावली, सुन्दरकांड, छन्द १४,

के साथ अभेदरूपता होते हुए भी मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् राम भी खरी-खोटी सुनने से न बच सके। वे "लोक लाज उर डारी, बालि कपिन को राउ सँहार्यौ, सूपनखा की नाक निपाती" जैसे जघन्य कर्मों के कर्त्ता बन गये। जिस बलि ने सौ यज्ञ किये थे उस बलि को तो "बाँधि पताल पठायो" और ऐसे ही न जाने कितने यज्ञ बना-बना कर किये होंगे। हमें तो यह कथा ऐसी रुचती है कि 'नई हरि की प्रीति' जानकर भुलाई नहीं जा सकती। निश्चय ही राम और बामन भगवान् भी प्रकृत विषय के लिए विस्मृति-प्रधान-तत्व थे, परन्तु भाव विशेष के उद्दीपन के लिए इन अप्रासंगिक चरित्रों का ग्रहण जिस वैचित्र्य की सृष्टि करता है उसका अनुभव सहृदय पाठक ही कर सकता है।

साँवरो साँवरी रैनि को जायौ।
आधी राति कंस के त्रासन, बसुधौ गोकुल ल्यायौ॥
नंद पिता अरु मातु जशोदा, माखन मही खवायौ।
हाथ लकुटि कामरि काँधे पर, बछरुन साथ डुलायौ॥
कहा भयौ मधुपुरी अवतरे, गोपीनाथ कहायौ।
ब्रज बधुअनि मिलि साँट कटीली, कपि ज्यौं नाच नचायौ॥
अबलौं कहाँ रहे हो ऊधौ, लिखि लिखि जोग पठायौ।
सूरदास हम यहै परेखौ, कुबरी हाथ बिकायौ॥

सूरसागर, दशम स्कन्ध, का० ना० प्र० सभा, छन्द ४२६६

कृष्ण कृष्णपक्ष में उत्पन्न हुए। कंस के भय से वसुदेव उन्हें अर्द्धरात्रि में ही गोकुल ले आये। पिता नन्द और माता यशोदा ने मक्खन और मही खिलाया। हाथ में लकुटी और कंधे पर कमली डाले हुए बछड़ों के साथ मारे-मारे फिरते रहे, आदि।

भगवान् कृष्ण के जन्म की इस कथा का चित्रण प्रसंग में आवश्यक नहीं था। इसलिए विस्मृति-प्रधान-तत्व था। कृष्ण का जन्म कैसे भी क्यों न हुआ हो, ये उनके परम प्रिय थे। परन्तु योग का संदेश देकर भेजने वाले श्याम के हृदय की श्यामता का स्मरण दिलाने के लिए 'साँवरो साँवरी रैनि को जायो' कहा गया है। इस प्रकार एक वैचित्र्य की सृष्टि कर दी गई है।

सुदामा कृष्ण के यहाँ से निराश लौट चले और लौटते समय सोचने लगे—

और कहा कहिये जहाँ, कंचन ही के धाम।
निपट कठिन हरि को हियो, मोको दियो न दाम॥

—सुदामा-चरित

ठीक है, जहाँ हरि के हृदय की कठिनता का प्रश्न था वहाँ तक यह उक्ति सहज स्वाभाविक और स्मृति-प्रधान-तत्व थी। सद्यःप्रत्यक्ष उन्हे इस कथन की प्रेरणा देता था। परन्तु इसी समय एक भावना सुदामा के हृदय में चमक उठती है। वे सोचने लगते हैं कि मनुष्य का सहज स्वभाव नहीं छूटता, इसीलिए तो—

घर घर कर ओड़त फिरै, तनिक दही के काज।
कहा भयो जो अब भयो, हरि के राज समाज॥

—सुदामा-चरित

स्मृति-पटल पर अकस्मात् उपस्थित हो जाने वाली इस घटना ने सुदामा के हृदय का क्रोध शांत करने में विलक्षण सहायता दी होगी। और इसी लिए सुदामा-पुरी लौटने पर उनके मुख से कृष्ण के प्रति उपालम्भ का शब्द नही निकलता, वरन् वे कहते हैं:—

चौंतरा उखारि कोऊ चामीकर धाम कीन्हे,
छानी तौ उपारि डारी छाईं चित्रसारी जू।
हौं तो हो न घर काहू लोभ लाभ को दिखाय,
महल उठाय लयो हाय सुखागारी जू॥
जो पै घर हो तो तौ काहे को उठन देतो,
होनहार ऐसी खोटी दशाई हमारी जू।
लामी लूम वारी दुख भूख को दलनहारी,
गइया बनवारी हाय सोऊ मारि डारी जू॥

—सुदामा-चरित

प्रकृति का औचित्यः—हम पहिले कह चुके हैं कि संसार मनुष्य के लिए है। मनुष्यता के विकास में जन्म-जन्मान्तर के संस्कार उसकी मानसिक पृष्ठभूमि का निर्माण करते आये हैं। यह भी हम कह चुके है कि किस प्रकार मनुष्य के ये संस्कार उसकी वंश-परंपरा और परिस्थितियों से नियंत्रित होकर एक विशेष दशा में गतिमान होते हैं। फल यह होता है कि जितने मनुष्य होते हैं उतनी ही भिन्न प्रकृतियाँ बन जाती हैं। मनुष्य का व्यक्तित्व इन्हीं भिन्न प्रकृतियों के द्वारा व्यक्त होता है। कलाकार का यह काम होता है कि मनुष्य की प्रकृति की पहिचान करके तदनुरूप आचरण की सृष्टि करे। इस बात का विचार रख कर जब कलाकार पात्रों का चित्रण करता है तब वह प्रकृति के औचित्य का निर्वाह कर पाता है।

भारतीय शास्त्रकारों ने कलाकार का यह कार्य सरल कर दिया था। उसने व्यक्ति का चित्रण करने की अपेक्षा प्रकृति विशेष का चित्रण करना अधिक उपयोगी समझा। इसीलिए उसके सामने उलझन नहीं थी। आज का कलाकार व्यक्ति को सामने रखने की चेष्टा करता है। इसलिए उसका परिश्रम अधिक श्रम-साध्य बन जाता है। कारण यह है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में यदि समस्त बातों का ध्यान न रखा जाय और उससे प्रकृति-विरुद्ध कार्य कराये जायें तो प्रकृति के औचित्य का निर्वाह न हो सकेगा। भारतीय विचारकों ने नायक को चार श्रेणियों में विभक्त कर दिया है। उसका उद्देश्य यह है कि नायक में चार विशेषताओं में से कोई एक विशेषता अवश्य होनी चाहिए। धैर्य सामान्य गुण है जो सब नायकों में होना परम आवश्यक है। इसके अतिरिक्त उदात्तता, ललितता, प्रशान्तता अथवा उद्धतता में से कोई एक और, केवल एक गुण नायक में अवश्य होना चाहिए। इन्हीं गुणों की विशेषता के कारण नायक भी चार प्रकार के—धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रशान्त और धीरोद्धत माने गये है।

भारतीय दृष्टिकोण को समझने ने लिए यह आवश्यक है कि हम मनोविज्ञान की थोड़ी सहायता लेलें। हम पहिले स्वयंभू मनोवृत्तियों का विवेचन कर चुके है। उन स्वयंभू मनोवृत्तियों में उन्नयन (Sublimation) उत्पन्न करने के लिए मनोवैज्ञानिकों ने विभिन्न उपायों का आश्रय लेने को कहा है। जितने भी उपाय मनोवैज्ञानिकों ने कहे हैं वे प्रायः बाह्य प्रेरणा से सम्बन्ध रखते हैं। भारतीय दृष्टिकोण इन बाह्य प्रेरणाओं को स्वीकार नहीं करता। वह प्रकृति की ज्वलन्त अग्नि को बाह्य प्रेरणा के पट्ट वस्त्र से आच्छादित करके उसकी दाहकता को छिपाना नहीं चाहता, वरन् उस अग्नि के मूल आधार को नष्ट करने की दिशा में संकेत करता है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि भारतीय दार्शनिक इन मनोवृत्तियों की तीव्रता का अनुभव नहीं करता है। इसका केवल इतना ही अर्थ है कि उसने इन मनोवृत्तियों की तीव्रता का अनुभव करके इनके प्रवाह में बहने वाले प्रकृत मानव को नायक के पद पर प्रतिष्ठित नहीं किया। न तो अहंबोध का दास बालि नायक बन सका और न काम वासना का अनुचर नरकासुर इस योग्य था कि उसका चरित-गान भारतीय कवि करता। संग्रह प्रवृत्ति असुरों की उन्नत प्रवृत्ति थी। परंतु इस उन्नत प्रवृत्ति के कारण ही असुर भारतीय काव्य साहित्य के नायक नहीं बन

सके । इस सब का कारण केवल यही है कि हमने कभी मौलिक प्रवृत्ति की प्रेरणा को उन्नत करना आवश्यक नहीं समझा । हमने जो कुछ समझा वह केवल इतना ही कि प्रकृति हमारे परिमार्जन की वस्तु नहीं है । हम उसे माँज कर साफ नहीं कर सकते । यह वह दर्पण नहीं है कि जिसका मुँह कोई दूसरा पोंछ दे । इसे तो अपने भीतर से अपने आप ही साफ होना है ।

इस परिमार्जन के लिए मनुष्य में जिस गुण के सर्वाधिक विकसित अवस्था की आवश्यकता है, वह गुण है धैर्य । संतोष, सहनशीलता, प्रतीक्षा और समय पर साहस, इसी धैर्य के अन्य पर्याय हैं । रुपये की चमक पर ललक पड़ना धैर्य नहीं जानता । यौवन की वेगवती सरिता धैर्य को नहीं बहा सकती । अहंकार की आँधी से धैर्य नहीं हिलता । ऐसा धैर्य बाहर से नहीं दिया जा सकता, वह तो भीतर से ही उत्पन्न होता है । दूसरे की प्रेरणा से नहीं, वरन् अपने विवेक और निष्ठा से यह धैर्य प्राप्त होता है । इसीलिए भारतीय कलाकार नायक की सामान्य विशेषता धीरता मानता है ।

जिस व्यक्ति में धैर्य है उसमें मानों मनुष्योचित सभी गुण हैं । फिर उसके इन गुणों का प्रदर्शन किन परिस्थितियों में किस प्रकार होता है, इस दृष्टिकोण को सामने रख कर नायक के भेद किये गये हैं । संसार की सभी परिस्थितियाँ तीन प्रकार की प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करती हैं । या तो वे हमें अपनी ओर आकृष्ट करती हैं अथवा हम उनसे बचना चाहते हैं । कुछ ऐसी भी परिस्थितियाँ उत्पन्न होती है जिनसे न हमारे मन में बचने की भावना उत्पन्न होती है और न उनसे लिपटने की । ऐसी परिस्थितियों में हम तटस्थ भाव से व्यवहार करते है । इस प्रकार परिस्थितियों का विभाजन तीन रूपों में किया जा सकता है :—१. रागात्मक परिस्थिति, २. विरागात्मक परिस्थिति, ३. तटस्थ भावात्मक परिस्थिति ।

हम ऊपर कह चुके हैं कि तटस्थ भावात्मक प्रवृत्ति में वस्तु के साथ मन का संसर्ग नहीं होता । "पदुम पत्र इव जग जल जाये" के समान समस्त परिस्थितियों में "यथा दीप निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता" की भाँति रहने वाला नायक धीर-प्रशान्त नायक कहलाता है । रामचरितमानस के भरत धीर-प्रशान्त नायक हैं ।

यही तटस्थ प्रवृत्ति जब लोक-हितैषणावश संसार में प्रवृत्त होती है तब उदात्त रूप धारण करती है, जब रागात्मक प्रवृत्ति बलवती होती है तक नायक की संज्ञा धीर-ललित होती है और जब विरागात्मक स्थिति के कारण प्रतिक्रिया

बलवती हो उठती है तब धीरोद्धत अवस्था होती है। आगे हम उन चारों भेदों का विशेष विवेचन करेंगे।

धीरोदात्त नायक:—सहनशील उदार गुणों से युक्त नायक धीरोदात्त नायक कहलाता है। भगवान् राम धीरोदात्त नायक हैं। प्रत्येक स्थल पर उनकी उदारता और सर्वजनप्रियता स्पष्ट परिलक्षित होती है। केवल एक स्थल पर उनका धीरोदात्तत्व खंडित होता है और वह है बालि-बध का अवसर जब वे धीरोद्धत नायक का-सा व्यवहार करते हैं और प्रकृति की यह उदात्तता सेवा, त्याग, सहनशीलता, दूसरों के विचार और भावों का सम्मान तथा सदाचार से परिपुष्ट हुआ करती है। यद्यपि इस प्रकृति में माधुर्य का अंश रहता है, परन्तु यह माधुर्य इतना व्यापक और बलवान नहीं होता कि व्यक्तित्व को सम्पूर्णत: आच्छन्न करके अन्य भावनाओं को स्थान न रहने दे तथा उनके कार्यों का प्रेरक भी माधुर्य नहीं हुआ करता, वरन् लोक-हितैषणा हुआ करती है। इस दिशा में सबसे अधिक सफलता आधुनिक युग में श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र को प्राप्त हुई। साहित्य में अभी तक कृष्ण का चरित्र प्राय: धीर-ललित नायक के रूप में ही चित्रित हुआ है। नरोत्तमदास के "सुदामा चरित्र" में अवश्य ही कृष्ण धीरोदात्त रूप में उपस्थित हुए हैं। "कृष्णायन" में मिश्र जी ने कृष्ण को विशुद्ध धीरोदात्त स्वरूप प्रदान किया है। आधुनिक युग की दो विशिष्ट रचनाओं 'प्रियप्रवास' और 'विदेही-वनवास' में भी भगवान् कृष्ण और राम के स्वरूप का जितना अंकन हुआ है वह धीरोदात्त नायक का ही है, किन्तु इन ग्रन्थो मे धीरोदात्ततत्व का गुण नायकों की प्रकृति में न होकर उन परिस्थितियों में विद्यमान है जो उन्हें धीरोदात्त नायक बना डालती हैं। इन दोनों ही चरित्रों में आज की परिस्थितियों की छाप तथा बुद्धिवादी प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

धीर-ललित:—धीरोदात्त के वर्णन के समय धीर-ललित के वर्णन में यह कहा जा चुका है कि धीर-ललित नायक में माधुर्य भाव की प्रधानता रहती है। यहाँ माधुर्य की यत्किन्चित् विवेचना आवश्यक है। रागात्मक प्रवृत्तियों की तीव्रता तथा तदनुकूल स्नेह-प्रवण-प्रवृत्ति माधुर्य-भाव की पोषिका होती है। इस माधुर्य भाव द्वारा प्रेमाभक्ति का भाव अभिव्यक्त हुआ करता है। ऐसा व्यक्ति सबको प्रेम करता है और उसका त्याग और उसकी तपस्या, उसका सदाचरण, उसकी सहनशीलता, उदारता सब का केन्द्रीय भाव प्रेम होता है। प्रेम की परिभाषा धीर-ललित नायक के लिए व्यक्ति अथवा पात्र विशेष तक

सीमित नहीं रहती, वरन् राम का अनुसरण करती हुई बहुमुखी भी हो सकती है। सूरसागर के भगवान् कृष्ण धीर-ललित नायक हैं जिनका प्रेम गोप-गोपियों से लेकर पांडवों तक एक-रस व्याप्त है। उनकी समस्त नीति-मत्ता, वीरता, साहस सब का सब उस प्रेम पर ही केन्द्रित है।

कहा जाता है कि रामचरितमानस के राम भी इसी प्रकार प्रेम के प्रतीक हैं। ठीक है, विश्व-प्रेम की दृष्टि से इन दोनों चरित्रों में एकरूपता है, परन्तु दोनों के प्रेम की परिभाषा भिन्न-भिन्न है। राम को जीवन-यात्रा में प्रेम मार्ग में मिला हुआ साथी है, और कृष्ण प्रेम का सम्बल लेकर ही जीवन-पथ पर अवतीर्ण हुए हैं। एक कर्त्तव्य से प्रेरित होकर प्रेम-पथ पर चलता है और दूसरा प्रेम से प्रेरित होकर कर्त्तव्य-पथ पर। धीरोदात्त और धीरललित नायक में यही मौलिक अन्तर है। विश्व-प्रेम की आसक्ति के सम्बन्ध में हम कह ही चुके हैं कि दोनों में एक-रूपता है।

आधुनिक युग में प्रसाद के 'ध्रुवस्वामिनी' के नायक चंद्रगुप्त में धीर-ललित नायक की प्रवृत्ति दिखाई देती है। यद्यपि इसकी प्रवृत्ति विशुद्ध धीर-ललित प्रकृति नहीं है, क्योंकि उसमें धीर-प्रशान्त प्रकृति का भाव—भाई के लिए अपनी प्रिया का त्याग, फिर धीरोद्धत प्रकृति का अंश—भाई के रहते हुए उसी का ग्रहण, दोनों उपस्थित हैं। यह आज के युग की विशेषता है कि विशुद्ध प्रकृति का चित्र खींचना कलाकार नहीं चाहते।

धीर-प्रशान्त प्रकृतिः—हम ऊपर धीर-प्रशान्त प्रकृति का एक अंश ध्रुवस्वामिनी के "चंद्रगुप्त" के प्रसंग में कह आये है। वस्तु-विशेष के प्रति रागात्मक वृत्ति का अभाव धीर-प्रशान्त प्रकृति की मुख्य विशेषता है। ऐसे नायक का कृतृत्व रागात्मक प्रवृत्ति से रहित स्वाभाविक गति पर हुआ करता है। गम्भीर विवेक उसके प्रत्येक कार्य में लक्षित होता है। उसकी उदारता, उसका त्याग, उसकी सहनशीलता, सब की प्रेरणा उसे विवेक से प्राप्त होती है। सफलता-असफलता में समत्व की भावना रखते हुए भी कर्त्तव्य पथ पर निश्चित गति से चलते रहना ही धीर-प्रशान्तत्व है। नरोत्तम के सुदामा धीर-प्रशान्त प्रकृति के उज्ज्वलतम उदाहरण होते यदि लौटते समय उनके मुख से कृष्ण के लिए दो चार खरी-खोटी बातें न निकल गई होतीं। ऐसा जान पड़ता है कि भगवान् ने इस धीर-प्रशान्त सत्व-गुण-प्रधान-प्रकृति को अपनी धीरोदात्त प्रकृति की रगड़ से राजस् गुण संयुक्त थोड़ा-सा उदात्तत्व दे दिया जिसमें अधिक संघर्ष होने पर थोड़ी-सी चमक पैदा हो ही जाती है। श्री बलदेवप्रसाद जी मिश्र के

"साकेत संत" के भरत, "रामचरित मानस" के भरत की भाँति ही धीर-प्रशान्त प्रकृति के विशुद्ध उदाहरण है।

धीरोद्धत प्रकृतिः—मायापर, प्रचंड, चपल, दर्प, अहंकार—गुण वाला नायक धीरोद्धत कहलाता है। ऐसे नायक साध्य पर लक्ष्य रखते हैं, साधन की चिन्ता नहीं करते। उनके लिए साध्य ही सब कुछ है, साधन कुछ नही। साध्य के सत्य पर उनकी अविचल निष्ठा उन्हें भारतीय साहित्य में नायक की पदवी पर प्रतिष्ठित होने की योग्यता प्रदान करती है। यदि यह निष्ठा भी न रही होती तो भारतीय शास्त्रकार उसे नायक की परिभाषा से बाहर कर देते क्योंकि नायक की परिभाषा करते हुए दिव्य गुणान्वित होना आवश्यक माना गया है; और ऊपर कहे हुए विशेषकों में दिव्यता का अंश भी नहीं है। तुलसी के लक्ष्मण लगभग इसी प्रकार के नायक हैं। यद्यपि मर्यादा-वादी तुलसी उन्हें "चपलोऽहंकार भूयिष्ठः" ही चित्रित कर सका। मायापर उसने उन्हे कहीं नहीं दिखाया। मुद्राराक्षस का चाणक्य विशुद्ध धीरोद्धत नायक है। प्रसाद के 'चंद्रगुप्त' का चाणक्य धीरोद्धत नायक होते हुए भी कहीं वह धीर-ललित दिखाई देता है और कहीं धीर-प्रशान्त। ऐसे अवसरों की भी कमी नहीं है जिसमें हम उसे धीरोदात्त नायक के रूप में पाते हैं।

भारतीय काव्य-शास्त्र की दृष्टि से हमने नायक के चरित्र पर विचार किया है। आधुनिक युग इसके अनुकूल नहीं है। इस युग में गुण की प्रतिष्ठा व्यक्ति में नहीं की जाती, वरन् व्यक्ति में गुण देखे जाते हैं। अर्थात् आज पहिले एक व्यक्ति उपस्थित किया जाता है, उससे परिस्थितियों आदि के सहारे कुछ काम करा लिये जाते हैं और तब उसके आचरण की विशेषताएँ ढूँढ़ी जाती हैं। कलाकार मुक्त और स्वतंत्र है। वह जिस व्यक्ति में चाहे, उस व्यक्ति में मन चाहें गुणों का समारोप कर दे और परीक्षकों के लिए छोड़ दे कि वे व्यक्ति की परीक्षा करते समय उसके गुण-अवगुणों को ढूंढ़ते रहें। प्रेमाश्रम के ज्ञानशंकर शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार उद्धत नायक हैं, परन्तु उनमें सत् साध्य की अपेक्षा असत्-साध्य की ही निष्ठा अत्यधिक मात्रा में है। प्रेमशंकर उपनायक है, परन्तु उनमें धीरोदात्त गुणों की प्रतिष्ठा की गई है। रंगभूमि के नायक 'विनय' को धीरोदात्त चित्रित करते-करते लेखक धीरललित, धीरोद्धत, धीरप्रशान्त तक घसीट ले गया और अन्त में धीरोदात्त तक पहुँचा कर मूढ़ नायक की भाँति आत्महत्या करा दी। यहाँ भी हम साध्य के प्रति अविचल निष्ठा का क्षण भाव और क्षण अभाव देखते हैं जो उन्हें किसी कोटि में बैठाने नहीं देता।

न केवल इन शास्त्रीय लक्षणों में नायक के चरित्र के सम्बन्ध में विशृं-खलता देखी जाती है, वरन् अन्य पात्रों के सम्बन्ध में भी यह विशृंखलता आवश्यकता से अधिक है। भारतीय साहित्य-शास्त्रकार नायक के अतिरिक्त प्राकृतजनों में मानवीय निर्बलताओं का अंश और प्रकृति की चंचलता दिखाना ग्राह्य समझते है। इसका तात्पर्य यह है कि भारतीय शास्त्रकार यथार्थ का चित्रण नायक को छोड़कर अन्य पात्रों में करना चाहते थे और अन्ततः नायक के उदार चरित्र से अन्य चरित्रों को प्रभावित करके उनकी प्रकृतिगत चंचलता मिटाने का यत्न करना चाहते थे। उनका उद्देश्य था विश्व को सत्पथ प्रदर्शित करना। आज न तो ऐसा उद्देश्य है और न कलाकार के लिए ही वैसे कुछ नियम हैं। अतएव आज के नायक का चरित्र यदि ढीला बना रहे तो बना रहे, प्रासंगिक पात्रों में चरित्र की दृढ़ता जहाँ-तहाँ देखने को मिल सकती है। 'गोदान' का नायक होरी साधारण प्रकृत जन है जब कि मिर्जा खुरशेद सम्पूर्णतया धीरललित और मेहता सम्पूर्णतया धीरोदात्त नायक है।

हम मनोवैज्ञानिक वृत्तियों का विश्लेषण करते हुए दूषित भाव-ग्रंथियाँ (Complexes) और रेचनवाद (Catharis Theory) का वर्णन कर चुके हैं। इन दूषित भाव-ग्रंथियों का प्रभाव आज के पात्रों में दिखाना आज के मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार का लक्ष्य हो गया है। हम यह भी कह चुके है कि साहित्य में दमित वासनाओं का उन्नयन भी होता है। हमें खेद है कि आज के कलाकार साहित्य के इस तथ्य को भूल गये हैं कि भाव-ग्रंथियों का चित्रण कर देना ही कला का मुख्य उद्देश्य नहीं है, वरन् दमित वासनाओं का उन्नयन करने के लिए पथ-प्रदर्शन भी कलाकार का काम है। हम आज के यथार्थवादी उपन्यासकार से सहमत हो सकते हैं, परन्तु आदर्शविहीन यथार्थ-वाद हमारी दृष्टि में समाज के लिए हितकर नहीं होगा। अतएव जिन उलझे हुए चरित्रों का चित्रण आज का कलाकार कर रहा है, और जिनकी कमी नहीं है, उनमें यदि कोई सत्प्रेरणा चित्रित की जा सकती, फिर चाहे वह किसी वाद की पोषिका क्यों न होती, तो हेनरी मिलर (Henry Miller) को यह कहने का साहस न होता कि:—

"we have had traitor to race, country, religion, but we have not bread any real traitor, traitor to the human race which what we need. yet it seems to me that there have been and are, only, too many such traitors—at least in the world of art."

प्रकृति का यह औचित्य नायक के लिए ही आवश्यक नहीं, अपितु किसी कथानक के प्रत्येक पात्र के लिए भी आवश्यक है। कलाकार का यह काम होता है कि पात्र की मनोवृत्ति के साथ तन्मयता स्थापित करके तदनुरूप वृत्तियों का चित्रण कर सके। इस प्रकार चित्रित चरित्र ही सत्य के निकट होता है और चरित्र के निकट की यह सत्यता ही औचित्य की सीमा में आती है। यह आवश्यक नहीं है कि पात्र सदाचारी ही हो या ऊपर कहे हुए उदात्त आदि नायकों के-से चरित्र वाला हो। चरित्र का उत्थान-पतन दिखाते हुए भी यदि कलाकार इस तथ्य को नहीं भूल जाता तो उसके द्वारा उपस्थित पात्र औचित्यपूर्ण ही रहते हैं।

राम का राजतिलक होने जा रहा है। मन्थरा को उसकी सूचना मिलती है। मन्थरा का सहज कुटिल हृदय इस शास्त्र-सम्मत घटना में भी छल का आभास पा जाता है। वह 'भरत मातु पहँ गई बिलखानी।' अब कुटिल हृदय की व्यंजना सामने आती है। वह कौशिल्या के प्रपंच, राजा की 'कपट-चतुराई' का बखान करती है, साथ ही कैकेयी के भोलेपन का दुखड़ा भी रोती है और 'कुशल केवल राम की ही है' ऐसा कहकर वह आसन्न विपत्ति की आशका सूचित करती है।

काली साँपिन के समान साँस छोड़ने वाली इस मन्थरा के कपट-प्रपंच से आशंका-ग्रस्त, राम महिपाल की कुशल पूछने वाली कैकेयी मन्थरा के इस घरफोर व्यवहार पर रुष्ट होती है और उसे ताड़ना देती हुई समझाती है

'पुनि अस कबहुँ कहेसि घरफोरी। तौ धरि जीभ कढ़ावहुँ तोरी॥'

तथा भरत की शपथ देकर जब उसके प्रपच का कारण पूछती है तब कुटिल प्रकृति का औचित्य देखने योग्य है। वह कहती है:—

एकहिं बार आस सब पूजी। अब कछु कहब जीभ करि दूजी॥
फोरै जोगु कपारु अभागा। भलेहु कहत दुख रौरेहि लागा॥
कहहिं झूठि फुरि बात बनाई। ते प्रिय तुमहिं करुइ मैं माई॥
हमहुँ कहब अब ठकुर सोहाती। नाहिंत मौन रहब दिन राती॥

—रा० च० मानस, अयोध्याकांड

मन्थरा के ये कपट-वाक्य यदि थोड़े भी शिथिल होते तो प्रकृति का औचित्य न बना रहता।

प्रकृति का यही औचित्य रामचरितमानस में रावण के चरित्र में भी देखा जाता है जिसने मरते दम तक अपने शत्रु राम का नाम अपने मुँह से नहीं निकाला।

ऊपर के दो-एक उदाहरणों से यह स्पष्ट हो गया होगा कि कलाकार जहाँ सत्प्रकृति का उचित वर्णन करता है वहाँ असत्प्रकृति की भी भाव-ग्रंथियों को पहचान लेता है और उनका यथावत् चित्रण करके प्रकृति के औचित्य का निर्वाह करता है। शास्त्रकारों ने तीन प्रकार की प्रवृत्तियाँ बताई हैं:—(१) दिव्य, (२) अदिव्य और (३) दिव्यादिव्य। इन प्रकृतियों के लिए कार्य-विभाजन भी कर दिया है जो इस प्रकार है—

दिव्य प्रकृतियों में उत्तम मानुषी प्रकृति के अनुसार रति, हास, शोक, आश्चर्य आदि भावों का वर्णन करना उचित कहलाता है। दिव्य प्रकृतियों का संभोग-शृंगार-वर्णन उचित नहीं समझा जाता। उनका क्रोध अनुभाव रहित और सद्यःफलप्रद वर्णन करना चाहिए। असंभव कार्य, जैसे समुद्र-लंघन, पर्वत उठाना आदि दिव्य प्रकृतियों में ही वर्णन करना चाहिए। अदिव्य प्रकृतियों का पुराणादि में प्रख्यात अबाधित वर्णन नहीं करना चाहिए। इन प्रकृतियों पर अंकुश रखने की आवश्यकता है। दिव्यादिव्य प्रकृतियों में दोनों बातें वर्णन की जा सकती हैं।

भाव का औचित्यः—कलाकार का उद्देश्य किसी भाव विशेष का प्रतिपादन करना होता है। यह तभी संभव होता है जब किसी रचना में कवि की दृष्टि निरन्तर उस भाव पर ही केन्द्रित बनी रहती है, उसमें व्यवधान नहीं उत्पन्न होने पाता। बहुधा यह होता है कि प्रवाह में बहता हुआ कवि अपनी धारा छोड़कर ऐसी दूसरी प्रतिकूलगामिनी धारा में पहुँच जाता है जो उसे पथभ्रष्ट कर देती है। कलाकार का काम भाव की धारा में तैरना नहीं है, वरन् उसमें अपने को निश्चेष्ट होकर छोड़ देना है, क्योंकि कवि-प्रयत्न ही

१—**रतिस्तथैव हासश्च शोक आश्चर्यमेव च।**
दिव्यानामुचितं वर्ण्यमदिव्योत्तमनेतृवत्॥
किं तु संभोगशृंगारो वर्ण्यो नोत्तमदेवयोः।
सद्यः फलप्रदः क्रोधो भ्रकुट्यादि विवर्जितः॥
उत्साहः स्वर्गपातालगत्यब्धिलंघनादिषु।
दिव्यानामेव नेतृणां वर्ण्यते ह्युचितं बुधैः॥
ख्यातं लोकपुराणादौ यच्चान्यत्स्यादबाधितम्।
वर्णनीयमदिव्यानामन्येषां तूभयं बुधैः॥

—साहित्यदर्पण, सप्तम परिच्छेद।

जब दिखलाई पड़ने लगता है तब धारा के वेग की ओर से भावुक पाठकों का ध्यान हट कर प्रयत्न की ओर चला जाता है।

शास्त्रकारों ने इस सम्बन्ध में रसशास्त्र का निर्माण किया है और वे नियम स्थिर कर दिये हैं जिनसे इस भावधारा में विच्छेद नहीं उत्पन्न होता। उनका कथन है कि रस-अवरोधिता अथवा विरोधिता तीन प्रकार से होती है:— १—आश्रय की एकता से, २—आलम्बन की एकता से, ३—नैरन्तर्य से।

पदार्थ विशेष से व्यक्ति विशेष में भाव विशेष की उत्पत्ति होती है। भाव विशेष की संज्ञा रस है, व्यक्ति विशेष की संज्ञा आश्रय और पदार्थ विशेष आलम्बन कहलाता है। यथाः—

रानी मैं जानी अयानी महा, पवि पाहन हूँ ते कठोर हियो है।
राजहु काज अकाज न जान्यो, कह्यो तिय को जिन कान कियो है।
ऐसी मनोहर मूरति ये, बिछुरे कैसे प्रीतम लोग जियो है।
आँखिन में सखि राखिबे जोग, तिन्हें किम कै वनवास दियो है।

—कवितावली, अयोध्याकांड

इस छन्द में राम-लक्ष्मण-सीता के प्रति वन-वधूटियों का रति-भाव व्यक्त हुआ है। वन-वधूटियाँ आश्रय हैं, राम-लक्ष्मण-सीता आलम्बन हैं और रति-भाव है। इस प्रकार एक ही आश्रय में जहाँ शृंगार का चित्र उपस्थित हुआ है, उसी आश्रय में समकालव्यापी घृणा-बीभत्स चित्रित नहीं किया जा सकता। उक्त छंद में हम देखते हैं कि "बिछुरे कैसे प्रीतम लोग जियो है" में करुण रस का आश्रय, 'प्रियतम लोग' और जुगुप्सा का आश्रय 'रानी मैं जानी अयानी महा' है। फिर भी भिन्न आश्रय होने के कारण रति के स्थायित्व में कोई बाधा नही पड़ती।

आलम्बन की एकता से भी रस का विरोध होता है। इस विचार से जहाँ पर वीररस होगा वहाँ शृंगार रस नही होना चाहिए। यदि ऐसा होता है तो वहाँ दोष माना जायगा। यथाः—

अलि आज गई ब्रजमंडल हौं,
मधु गोरस लै कछु बेचिबे काजन।
लखि लोग लुगाई लगे अवलोकन,
हौं हूँ निहारी कछू भरि लाजन।
तरपै लगे बींधे से बीर सबै,
है कहा गुन तीरन के इन आछन।

उतही को निहारे भोरी भटू,
कहा मारिहै मेरेहू तीछे कटाछन।

उक्त पद में नायिका आलम्बन है, रति स्थायीभाव है। प्रथम दो पंक्तियों में शृंगार रस स्पष्ट है और बाद में वीररस की सृष्टि हुई है। इस प्रकार एक ही आलम्बन में वीर और शृंगार दोनों ही रस उपस्थित होकर विरोध उत्पन्न करते है। अतः रस-विच्छेद की भावना उत्पन्न होती है।

संभोग शृंगार के विरोधी रस हास्य, रौद्र और वीभत्स माने गये हैं तथा विप्रलम्भ शृंगार के लिए वीर, करुण और रौद्र रस विरोधी हैं। यथा—

"चिरजीवौ जोरी जुरै, क्यों न सनेह गँभीर।
को घटि, ये वृषभानुजा, वे हलधर के बीर॥"

—बिहारी

प्रस्तुत दोहे में राधा-कृष्ण आलम्बन हैं, रति स्थायी भाव है, शृंगार रस है, पर श्लेष के द्वारा वृषभ अनुजा अर्थात् गाय और हलधर (किसान) के वीर (साथी) अर्थात् बैल का अर्थ लेकर हास्य की सृष्टि होती है जो आलम्बन गत होने के कारण रस-विरोध उत्पन्न करती है। रस विरोधी है अतः अनुचित है। इसी प्रकार अन्य रसों की भी स्थिति है।

एक ही आलंबन में शांत और शृंगार रस का समकाल प्रयोग (नैरन्तर्य से प्रयोग) अनुचित समझा जाता है। न केवल एक ही आलम्बन अथवा आश्रय में, वरन् भिन्न आलम्बन और भिन्न आश्रयों में भी एक ओर शान्त और दूसरी ओर शृंगार का प्रयोग रस-विरोधी भावनाएँ उत्पन्न करता है। इस लिए रस की आस्वाद्यमानता में बाधा पड़ती है। शास्त्रकारों ने इसीलिए इनके प्रयोग में अन्तर की व्यवस्था की है। जैसे उर्मिला विरहिणी है, विप्रलम्भ शृंगार का प्रसंग चल रहा है और वह अपनी सखी से कहती है:

"दीपक सग शलभ भ' जला न जोत सत्व स तम को।
क्या देखना दिखाना क्या करना है प्रकाश का हम को॥"

—साकेत, नवम सर्ग

शलभ के प्रति दया का यह भाव और क्या 'देखना दिखाना' में उदासीनता, 'क्या करना है प्रकाश का हमको' में वैराग्य शांतरस के संचारी है जो

शृंगार रस का विरोधी रस है। एक ही आलम्बन में समकालव्यापी विप्रलम्भ और शांत का यह प्रयोग शास्त्रीय दृष्टि से दूषित है।

हमारा उक्त वर्णन केवल निदर्शन मात्र है। वास्तविकता यह है कि रस-धारा में जहाँ कहीं अटकाव आ जाता है वहीं रस-औचित्य अथवा भाव-औचित्य की हानि हो जाती है। अविरोधी रूप में इनका प्रयोग उचित होता है और इससे रस-परिपाक में सहायता मिलती है। उदाहरणार्थ:—

"कन दैबो सौंप्यौ ससुर, बहू थुरहथी जानि।
रूप रहँचटे लगि लग्यो, माँगन सब जग आनि॥"

—बिहारी

बिहारी के इस दोहे का वर्ण्य विषय बहू का रूप वर्णन है, विशेष कर उसके छोटे छोटे हाथों की प्रशंसा करना अभीष्ट है, क्योंकि कामशास्त्र और सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार छोटे हाथ होना स्त्री की रूपशालिता और भागवत्ता का सूचक है। अतएव स्पष्ट ही रति स्थायी भाव का परिपोष करना अभीष्ट है। परन्तु श्वसुरगत हास्य इस भाव का विरोधी न बनकर सहायक हो रहा है। आलम्बन भेद से उपस्थित होता हुआ यह हास्य शृंगार के परिपाक में अत्यन्त उपयुक्त सिद्ध हुआ है। क्योंकि यदि श्वसुर महोदय कंजूस न होते तो थुरहथी बहू को 'कन दैबो' न सौंपते। लज्जाशीला वधू अपने समस्त शरीर को आवृत्त करके छोटे-छोटे हाथों से थोड़ी-सी भिक्षा देकर गई होगी। भिक्षुक ने उन हाथों का सौन्दर्य यत्र-तत्र सराहा होगा। अतएव 'रूप रहँचटे' के कारण सब जग का माँगने के लिए उत्सुक हो उठना स्वाभाविक ही है।

यहाँ हास्य रस को प्रधान मान कर शृंगार को उसका सहायक माना जा सकता है। कुछ भी हो, यहाँ दोनों रस एक दूसरे के मित्र हैं। अतएव दोनों एक दूसरे के सहायक हैं। भिन्न रसों का ऐसा प्रयोग उचित समझा जाता है।

भाव-प्रवाह के सम्बन्ध में भी शास्त्रकारों ने कुछ नियम बना दिये हैं। उनका कथन है कि जो मुख्य रस है उसका पुनः-पुनः अनुसंधान करते रहना चाहिए। रामचरितमानस में राम-चरण के प्रति रागानुगा भक्ति मुख्य भाव है। इसीलिए तुलसी प्रत्येक प्रसंग के आदि और अन्त में बार-बार इसका अनुसंधान करते रहते हैं। कुछ लोगों ने यह आक्षेप किया है कि तुलसी के देवता हर

समय फूल बरसाने के लिए आकाश में खड़े ही रहते थे। उनसे हमें यही कहना है कि तुलसी तो यही कहना चाहते थे। इसीलिए उनके देवता हर समय फूल बरसाते हैं। यदि वे केवल रामचरित कहनवाले होते तो हम उन्हें अवश्य अपराधी ठहरा देते। इस प्रकार जिस भाव के प्रति कवि यत्नवान होता है उसका बार-बार अनुसंधान करता रहता है।

न केवल अनुसंधान ही, वरन् उसकी पुनः-पुनः दीप्ति के लिए भी वह यत्नवान होता है। सूर-प्रेमानुगा भक्ति के अनुयायी हैं। अतएव भगवान् कृष्ण की एक ही लीला के प्रति अनेक छन्द, अनेक प्रकार और अनेक वचन-भंगियों से कहने का मुख्य उद्देश्य यही पुनः-पुनः दीप्ति का भाव है।

मुरली प्रभु को प्यारी है। गोपियाँ प्रभु को प्यार करती हैं। अतएव मुरली के प्रति असूया की भावना स्वाभाविक है। यह असूया अनेक छन्दों में इस प्रकार व्यक्त हुई है :—

"मुरली हम सों बैर बढ़ायौ।
चली निपट इतराइ नैंकुही, हरि अधरनि परसायौ॥

सूरसागर, का० ना० प्र० सभा, पद १८८४

चेतनाविहीन बाँस में इतराने की क्षमता कहाँ? पर श्याम के अधर में होने के कारण ईर्ष्यावश गोपियाँ उसके अभिमान को अनुभव करती है :—

"मुरली स्यामहिं मूँड़ चढ़ाई।
बारंबार अधर धरि याकौं, काहै गर्व बढ़ाई॥

—सूरसागर, का० ना० प्र० सभा, पद १८८८

कृष्ण मुरली को पाकर गोपियों को भूल गये हैं। उनका पुरातन सम्बन्ध अब पीछे पड़ गया है। इसीलिए उन्हें और भी अधिक दुःख है। फलतः वे किसी न किसी प्रकार मुरली को कृष्ण से दूर करने का उपाय सोचती हैं, पर कोई उपाय दिखाई नहीं पड़ता :—

"मुरलिया अपनौ काज कियौ।
आपुन लूटति अधर सुधा हरि, हमकौं दूरि कियौ॥
नँदनंदन बस भये बचन सुनि, तिनहिं बिमोह कियौ।
स्थावर चर जंगम जड़ कीन्हें, मदन विमोह कियौ॥
जाकी दसा रही नहिं वाही, सबहीं चकित कियौ।
सूरदास प्रभु चतुर सिरोमनि तिनकौ हाथ कियौ॥"

—सूरसागर, का० ना० प्र० सभा, पद १८९४.

यदि गोपियाँ भी हरि का सान्निध्य-सुख पाती रहतीं और मुरलिका का उन पर एकान्त आधिपत्य न हो जाता तो कदाचित् गोपियों के हृदय की ईर्ष्या इतनी अधिक न बढ़ पाती:—

"मुरलिया स्यामहिं और कियो।
औरै दसा, और मति ह्वै गई और विवेक हियौ॥
तबतें निठुर भये हरि हमसौं, जबतें हाथ लई॥
निसि दिन हम उन संगति रहती, मनु ह्वै गई नई॥
इहिं औरै करि डारे मारे, हम कहँ दूरि करी।
घर को बन, बन को घर कीन्ही, सूर सुजान हरी॥"

—सूरसागर, का० ना० प्र० स०, द० स्कन्ध, १८६५

मुरली का श्याम पर कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि जीवन में बिलकुल उलट फेर हो गया। जो अपने थे वे पराये हो गये और पराये अपने हो गये। वनवासिनी मुरली अब नित्यप्रति प्रतिक्षण कृष्ण के हाथ और अधर पर रहती है, और गोपियाँ जिनके साथ उन्होंने रास रचाया, नाना क्रीड़ाएँ कीं, उन्हीं को वे अब बिलकुल ही भूल गये।

स्पष्ट है कि समस्त छन्दों में न केवल शब्द साम्य है, वरन् भाव-साम्य भी है। परन्तु गम्भीर विचार करने पर हमें यह प्रतीत होता है कि असूया एक ऐसी खटक है कि जो काँटे की भाँति गड़कर सदैव कसकती रहती है। एक और बात है, दिव्य प्रेम विरही का ही होता है। इसीलिए सूर कहता है :

"ऊधौ विरही प्रेम करे।"

प्रेम का रहस्य संभोग की अपेक्षा विप्रलम्भ में मधुरतर होता है। शाश्वत विरह में वह मधुरतम हो जाता है। समकालीन विरह और शाश्वत विरह दोनों भाव साधकों की साधना में आये हैं। समकालीन विरह में प्रभु उपस्थित है और हमें नहीं मिलता। इसलिए खंडितात्व की भावना का उदय होता है। यह भावना लोक प्रत्यक्ष भी हो सकती है। हम प्रभु की कृपा पाते हुए अनेक को देखते हैं अथवा कम से कम समझते हैं। अतएव हममें असूया का भाव सहज स्वाभाविक है। यह असूया अन्य कृपापात्र के प्रति विद्वेष के भाव में व्यक्त नहीं होती। केवल एक प्रकृति-सुलभ ईर्ष्या को ही परिचायिका होती है। ईर्ष्या मानव-मन की उत्तेजित परिस्थिति होती है। इसलिए उसमें तीक्ष्णता होती है और इसीलिए खंडिताभाव में रति का तीक्ष्ण परिपाक होता है। यही कारण है कि सूर तथा अन्य शृंगारी कवियों में खंडिताभाव के पुनः-पुनः दीप्त करने वाले

छन्दों की प्रचुरता है। इस मुरली के उपालम्भ-प्रसंग में भी खंडिताभाव की ही अभिव्यक्ति है।

"फूलन सों बाल की बनाइ गुही बेनी लाल,
भाल दीन्हीं बेंदी मृगमद की असित है।
अंग अंग भूषन बनाइ ब्रज भूषन जू,
बीरी निज कर तै खवाई अति हित है॥
ह्वै कै रस बस जब दीबै कौ महाउर कै,
'सेनापति' स्याम गह्यो चरन ललित है।
चूमि हाथ नाथ के लगाइ रही आँखिन सौं,
कही प्रानपति यह अति अनुचित है॥"

—कवित्त रत्नाकर, दूसरी तरंग, छन्द ३६

संयोग शृंगार अनेक उपचारों के द्वारा पुनः-पुनः दीप्त हो रहा था, परन्तु अपनी चरम सीमा में पहुँच कर जब, 'दीबे कौ महाउर कै स्याम गह्यो चरन ललित है' की स्थिति में पहुँचा तब अनौचित्य की सीमा में पहुँचता देखकर स्वकीया-प्रवृत्ति की मर्यादा का उल्लंघन न होने देने के लिए 'चूमि हाथ नाथ को लगाय रही आँखिन सौं' पद की अवतारणा हुई। अकस्मात् भावावेश टूट गया और कर्त्तव्य की मर्यादा से दीप्त पवित्रता का उज्ज्वल स्वरूप उपस्थित हो गया। एक भाव की शान्ति और दूसरे भाव के उदय का यह छन्द अत्युत्तम उदाहरण है। ऐसा नहीं हुआ कि विरहिणी अपना विरह-विनोदन करने के लिए अपनी 'सम दुःखनियों'[1] को भाव-शान्ति के लिए पास बुलाना चाहती हो।

"दिशि विदिशान तैं उमड़ि मढ़ि लीन्हें नभ,
छोड़ि दीन्हें धुरवा जवा से जूथ जरिगे।
डहडहे भये हम रंचक हवा के गुन,
चहूँ ओर मुरवा पुकारि मोद भरि गे॥
रहि गये चातक जहाँ के तहाँ देखति ही,
'सोमनाथ' कहै बूँदाबूँदी हू न करि गे।
शोर भयो भोर चहुँ ओर नभमण्डल में,
आये घन, आये घन, आय के उघरि गे॥"

१—साकेत, नवम सर्ग

'आये घन आये घन' में भाव अपनी चरम-सीमा तक पहुँच चुका था। परन्तु 'आयके उघरिगे' ने उसे अकस्मात् भूमि पर गिरा दिया। भाव-शान्ति का यह एक उत्तम उदाहरण है।

"अरजै न मान्यो नाहिं गरज्यो चलत बैर।
एरे घन बैरी अब काहे गरजतु है॥"

में नवोदित मेघों की नवीन गर्जना से विप्रलम्भ शृंगार की तीक्ष्णता बढ़ जाना भावोदय का उदाहरण है।

"प्रेम-पयोधि परे गहिरे अभिमान कौ,
फेन रह्यौ गहि रे मन।
कोप तरंगनि सों बहिरे पछिताय,
पुकारत क्यों बहिरे मन॥
'देव जू' लाज जहाज ते कूदि,
रह्यो मुख मूँदि अजौं रहि रे मन।
जोरत-तोरत प्रीति तुही अब,
तेरी अनीति तुही सहि रे मन॥"

इस छंद को हम पहिले भी उद्धृत कर चुके हैं। तन्मयता, अभिमान, पश्चात्ताप, मान, लज्जा, अज्ञान, मति, वितर्क भावों की सबलता का यह छंद अच्छा उदाहरण है।

इस प्रकार भावौचित्य के विषय में हम यह देखते हैं कि कवि या कलाकार दो बातों की ओर विशेष सावधान रहता है। पहिली बात भाव विशेष के प्रति निरन्तर दृष्टि और दूसरी विरोधी भावों का यत्नपूर्वक परिहार। आज के महान् कलाकार जिसे 'थीम' (Theme) कहते हैं वही प्राचीन कलाकारों का फल था। उस फल के प्रति प्राचीन कलाकार की एकान्त निष्ठा थी। आज का कलाकार इस 'थीम' के प्रति उदासीन है। यदि कोई पूछे कि 'गोदान' का थीम (Theme) क्या है, तो कदाचित् एक बात में उत्तर नहीं दिया जा सकता है। 'रंगभूमि' का परिणाम और उसके थीम में आकाश-पाताल का अन्तर है। प्रेमाश्रम शान्त पर समाप्त होता है, परन्तु यह शान्ति इतनी अस्वाभाविक रूप से उपस्थित हो गई है कि हम उसे गले में बरबस पहिनाई हुई समझते हैं। आज की अनेक कृतियों में हमें इस प्रकार की एकवाक्यता का अभाव ऐसा खटकता है मानों कलाकार का कोई निश्चित उद्देश्य ही नहीं है।

बंध का औचित्यः—कलाकार किसी अनुकृति का चित्रण क्यों करता है ? प्रश्न सीधा है । इसका उत्तर भी सरल एवं स्पष्ट यही है कि वस्तु ने उसे प्रभावित किया । उस प्रभाव को व्यक्त करने के लिए वह अनुभूति का प्रयत्न करता है । स्पष्ट है कि कलाकार पर वस्तु का पड़ा हुआ प्रभाव ही उसकी मूल-प्रेरणा है । साधारणतः किसी घटना का सर्वांश प्रभावशाली नहीं होता । इसी प्रकार किसी जीवन का सर्वांग प्रभावित नहीं करता है । किसी घटना अथवा जीवन में कुछ अंश ऐसे होते हैं जो अपना स्थायी प्रभाव छोड़ने के कारण कला के विषय बन जाते है । साथ ही यह भी नही कहा जा सकता कि किसी घटना का कौन-सा भाव अथवा किस जीवन का कौन-सा अंश अधिक प्रभावशाली होगा । हो सकता है कि किसी घटना का आदि इतना वेगवान् हो कि उसका स्थायी प्रभाव पड़ जाय, जैसे जासूसी उपन्यासों में सबसे प्रथम उपस्थित होने वाला रहस्य अत्यंत प्रभावशाली होता है । कही सम्पूर्ण घटना का मध्य अत्यन्त प्रभावशाली होता है, जैसे भारतीय-साहित्यशास्त्र के अनुसार बने हुए नाटक, जिनमें गर्भ-संधि अत्यन्त प्रभावशालिनी होती है । ऐसा भी होता है कि घटना का अन्त अत्यंत तीक्ष्ण प्रभाव डालने वाला हो । इसे पश्चिम के कलाकार क्लाइमेक्स (चरमस्थिति) कहते हैं और उसकी स्थिति अन्त के निकट स्वीकार करते हैं । इसी प्रकार मनुष्य का जीवन भी भिन्न-भिन्न समयों पर भिन्न-भिन्न प्रभाव उपस्थित करता है । महात्मा गांधी के वार्धक्य में जितनी शक्ति थी उतनी शक्ति उनके बाल्य जीवन में न थी । भगवान् शकराचार्य का ब्रह्मचर्य-काल भारत के सांस्कृतिक पुनरुत्थान का युग-प्रवर्तक है । परन्तु गौतम बुद्ध का यौवन उनकी तपस्या से दीप्त और तीक्ष्णतम प्रभाव डालने वाला है ।

कलाकार इस प्रकार की स्थिति में किसी घटना अथवा व्यक्ति के उस अंश को पकड़ता है जहाँ से इस प्रभावोत्पादक शक्ति का सूत्रपात होता है । बंध की पहिली विशेषता यही है । इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी कलाकृति का उद्गम सामान्य-जीवन में व्यतिक्रम उत्पन्न करने वाली घटना से प्रारम्भ होता है । हिन्दू-समाज में एक प्रथा प्रचलित है कि वह अपने महापुरुषों का जन्म-दिवस मनाता है । इसका कारण भी यही है । वहाँ पुरुष का जन्म ही एक ऐसी घटना है जिससे प्रचलित दोषों अथवा बुराइयों के शमन का सूत्रपात होता है । इसीलिए रामायण और महाभारत काव्य जन्म से प्रारम्भ होते हैं । ऐसे महाकाव्य अथवा वर्णन व्यक्ति-प्रधान होते हैं । इनमें व्यक्तित्व के

विकास के साथ घटनाक्रम का विकास होता है। साथ ही व्यक्ति पर पड़े हुए प्रभाव का प्रदर्शन भी इन महाकाव्यों का मुख्य लक्ष्य होता है।

दूसरी कलाकृतियाँ घटना-प्रधान होती हैं। इनमें बंध का उदय घटना से होता है। संस्कृत के महाकाव्यों (शिशुपाल वध, किरातार्जुनीयम्, श्री हर्षचरित, मेघदूत आदि) में इसी शैली का प्रयोग किया गया है। घटना-प्रधान होने के कारण इनका उदय घटना से होता है। अर्थात् नायक अथवा मुख्य-पात्र के जीवन में विभ्रम परिस्थितियों का सूत्रपात जिस समय से होना प्रारम्भ होता है, उसी समय से महाकाव्य, नाटक अथवा उपन्यास का उदय होता है।

प्रारम्भः—हम वस्तु के औचित्य के सम्बन्ध में यह कह आये हैं कि कलाकार के पास कुछ स्मृति-प्रधान तत्व होता है और कुछ विस्मृति-प्रधान। वस्तु के इन तत्वों का बंध के प्रारम्भ में उपयोग अत्यन्त आवश्यक होता है। अतएव जो कलाकार आरम्भ के औचित्य का निर्वाह कर लेते है उन्हे अपनी कृति में आधी सफलता पहिले ही मिल जाती है।

प्रयत्न—भारतीय शास्त्रकारों ने बंध का दूसरा अंश प्रयत्न बतलाया है। एक बात सदैव ध्यान रखने की है कि समस्त भारतीय-कथा-साहित्य फलोन्मुख है। इसका अर्थ यह है कि भारतीय-कलाकार अकस्मात् कथा का प्रारम्भ नहीं करता है। वह गंतव्य निश्चित करने के बाद ही बढ़ता है। आज कुछ कलाकार इस प्रवृत्ति पर भी आक्षेप करते हैं। उनका मत है कि गतव्य निश्चित करके चलने से कलाकार अस्वतन्त्र हो जाता है। इस पर विशेष विचार हम आगे करेंगे। यहाँ भारतीय-बंध की विशेषता देखने के लिए भारतीय-दृष्टिकोण समझ लेना आवश्यक है।

फलोन्मुख होने के कारण उस फल की प्राप्ति के लिए प्रयत्न स्वाभाविक है। आरम्भ से प्रयत्न की सहज संबद्धता जितनी आवश्यक है उतनी का उपयोग करते रहना बंध के औचित्य का मूल-मंत्र है। रामचरितमानस में यदि यह फल होता कि राम के द्वारा दुष्टों का दमन और सज्जनों का प्रतिपालन दिखाया जाय तो बंध की दृष्टि से आरम्भ का सम्पूर्ण बालकांड व्यर्थ हो जाता। परन्तु रामचरितमानस का फल केवल इतना नहीं है, वरन् शांतरस में पर्यवसायी रामचरित द्वारा जन-प्रवृति को सत्वोन्मुख बनाना है। अतएव बालकांड की आवश्यकता है। इस फल को ही लक्ष्य में रख कर आरम्भ का यत्न से सम्बन्ध, बालकांड का अयोध्याकांड से योग, औचित्य की सीमा में आता है। कामायनी में कार्यव्यापार की अवस्थाओं में परस्पर संबद्धता का अभाव खटकनेवाला है।

शास्त्रीय-दृष्टि से कथा में आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम क्रमशः संबद्ध होने चाहिए। किन्तु कामायनी में 'यत्न' की अवस्था नहीं दिखाई पड़ती। श्रद्धा का मिलन प्रारम्भिक रूप में है, इसके बाद ही मनु श्रद्धा को छोड़ कर भाग जाते हैं। श्रद्धा के लिए एक भयंकर विपत्ति आ उपस्थित होती है। यही घटना प्राप्त्याशा के अन्तर्गत ली जा सकती है। भारतीय-दृष्टि से यह प्राप्त्याशा किसी कथानक की चरमस्थिति (Climax) है। कामायनी के कथानक में बीच की कड़ी 'यत्न' के अभाव में आरम्भ और प्राप्त्याशा का परस्पर जोड़ नहीं बैठ पाता है। अतः शास्त्रीय-दृष्टिकोण से यहाँ पर बंध का औचित्य नहीं प्रतीत होता।

प्राप्त्याशा:—फलोन्मुख-यत्न यदि फलोन्मुख ही बना रहता और उसमें कोई व्यवधान न पड़ता तो सामान्य-जीवन की भाँति उसका कोई महत्व न होता और न घटना में कोई वेग अथवा प्रभाव ही होता। इसलिए आवश्यक होता है कि इस यत्न के मार्ग में कोई बाधा होवे। बंध का यही औचित्य है कि बाधा इतनी स्वाभाविक रीति से उत्पन्न हो कि उसमें कवि की प्रेरणा न जान पड़े। 'साकेत' में घटनावली अप्रत्यक्ष है। अतः इस में क्रम का अभाव हो सकता है। इस दृष्टि से उसकी आलोचना भी नहीं की जा सकती। परन्तु एक घटना प्रत्यक्ष है, वह है हनुमान का द्रोणाचल लिये हुए अयोध्या होकर निकलना। इस छोटी-सी घटना के लिए जितना हुड़दंगा अयोध्यापुरी में मच गया था उसे भारतीय-साहित्य-शास्त्र की दृष्टि से यत्न-विधान नहीं कहा जा सकता है। कथानक का यह अंश फल की वह अन्तिम स्थिति है, जब फल विघ्न-बाधाओं से निकलता हुआ दिखाई देता है। रामचरितमानसकार ने यत्नविधान के इस अंश को अत्यन्त तीक्ष्णता के साथ लक्ष्मण-शक्ति के रूप में प्रदर्शित किया है। प्राप्त्याशा का यत्न से यह सम्बन्ध-निर्वाह औचित्य की उपेक्षा करता है।

नियताप्ति—कुंभकरण और मेघनाद-वध के उपरांत रावण की शक्ति का क्षय निश्चित हो गया। केवल रावण-वध और भगवान् का अयोध्या तक पहुँचना शेष था। प्राप्त्याशा की बाधा का अधिकांश भाग रावण-वध में निहित था और भगवान् का अयोध्या लौट जाना तथा राज्य-स्वीकार कर लेना नियताप्ति का अंश था। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस नियताप्ति और प्राप्त्याशा में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि बाधाओं में उछलते-डूबते हुए फल की स्पष्ट झाँकी दिखाई देती है। रावण का शिर-भुज-छेदन हो जाता है। फलागम सम्मुख दिखाई देने लगता है। 'काटत ही पुनि भये नवीने'

में फिर फल बाधा में डूब जाता है। एक वाण ने नाभि का अमृत-शोषण कर लिया और शिर–भुज भी कट गये। तब भी 'धरनि धँसी धर धाव प्रचंडा' में फल निश्चित नहीं जान पड़ता। उधर भरत के इन शब्दों में:—

"रहेउ एक दिन अवधि अधारा। समुझत मन दुख भयउ अपारा।
कारन कवन नाथ नहिं आयउ। जानि कुटिल किधौं मोहिं बिसरायउ॥
अहह धन्य लछिमन बड़ भागी। राम पदारविन्दु अनुरागी।
कपटी कुटिल मोहिं प्रभु चीन्हा। ताते नाथ संग नहिं लीन्हा॥"
—उत्तरकांड

बाधाओं के बीच फल की उपस्थिति नियताप्ति का यथार्थ रूप प्रस्तुत करती है। बंध के औचित्य की वह चौथी सीमा है।

फलागम—नियताप्ति का परिणाम फलागम होता है। भारतीय-शास्त्रकार फलागम की दो प्रकार की स्थितियाँ मानता है, आकस्मिक और सहज। आकस्मिक फलागम उस स्थिति को कहते हैं जब अफलोन्मुख वस्तु किसी दैवी प्रेरणा अथवा अतिमानवीय शक्ति से फलोन्मुख हो जाय, जैसे 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में मरणासन्न स्थिति में पहुँचे हुए रोहिताश्व, शैव्या और हरिश्चन्द्र की रक्षा विष्णु के द्वारा हुई। सहज फलागम मुद्राराक्षस में राक्षस का बन्धन है। तुलसी ने इन दोनों प्रकार के फलागम को बड़े कौशल से मिला दिया है। राम की दृष्टि से उनका अयोध्या पहुँचना सहज फलागम है और भरत की दृष्टि से यह फलागम—

"राम बिरह सागर महँ, भरत मगन मन होत।
विप्र रूप धरि पवनसुत, आइ गयउ जनु पोत॥"

आकस्मिक फलागम है। —उत्तरकांड

भारतीय-शास्त्र की दृष्टि से हमने बंध-विस्तार में बंध के औचित्य का ऊपर विवेचन कर दिया है। यहाँ संधियों का भी विवेचन किया जा सकता है, परन्तु हमारे लिये वह अंश अधिक आवश्यक नहीं है। अतः उसे यहीं छोड़कर पश्चिम के कलाकारों की दृष्टि से बंध के औचित्य पर विचार करेंगे। पश्चिम के कलाकार बंध को तीन भागों में विभक्त मानते हैं—

(१) उत्थान, (२) पठार, (३) गिराव।

उत्थान में बीज का अंश अथवा आरम्भ आ जाता है, पठार में संदिग्धावस्था (Suspense) की स्थिति रहती है। यह स्थिति जब अपनी चरम-सीमा

पर पहुँच जाती है तब उसे क्लाइमेक्स (Climax) कहते हैं। क्लाइमेक्स से गिराव (Fall) द्रुतगामी होता है, फल तक अत्यंत शीघ्र पहुँचा देता है। यह स्थिति उत्सुकता उत्पन्न करने और आघात करने के लिए अत्यंत उपयुक्त है। अतएव आज के कुछ कलाकार इसका ही उपयोग करने में कुशलता प्रदर्शित करना चाहते हैं। कामायनी का बंध लगभग इसी प्रकार का है। प्रियप्रवास में कथानक के अभाव के कारण बंध-शैथिल्य स्पष्ट है। 'वैदेही-वनवास' में कथानक के होते हुए भी बंध की किसी 'टेकनीक' का पालन न किये जाने के कारण बंध-शैथिल्य उपस्थित है।

हमारा यह मंतव्य नहीं है कि पूर्व या पश्चिम के किसी न किसी बंध का पालन किया जाना ही चाहिए, तभी बंध में दृढ़ता आ सकती है। हमारा प्रयोजन केवल इतना ही है कि कलाकार कोई व्यवस्था करे। बंध के अङ्गों का परस्पर संगठन अत्यावश्यक है। घटनाक्रम पर बंधों का विकास पारसी कवियों की शैली है। जायसी ने पद्मावत की रचना की है। इस क्रम से बंध में दृढ़ता उपस्थित है। केवल कहीं-कहीं जैसे नागमती के वियोग में, पद्मावती-नागमती के संवाद में प्रसंग-बाह्य वस्तुओं का संचय बंध की शिथिलता का कारण है। पद्मावत का उत्तरार्ध पूर्वार्ध से सहज क्रम से जुड़ा हुआ नहीं है। इसीलिए कवि ने राघवचेतन की कल्पना के द्वारा बंध के औचित्य का निर्वाह किया है।

संकलत्रयः—पश्चिम के नाट्य-शास्त्रकारों ने संकलनत्रय की एक योजना बंध के औचित्य के लिए बनाई है। परन्तु न तो पश्चिम के नाटककार इसका सर्वत्र प्रतिपालन कर सके और न पूर्व के नाटककार ही। इसका यह अर्थ नहीं है कि यह संकलनत्रय व्यर्थ की वस्तु है। कम से कम नाटकीय कथानक में काल का व्यवधान तो नहीं ही होना चाहिए, क्योंकि इसके बिना या तो ऐतिहासिक सत्य की रक्षा नहीं हो सकेगी, अथवा नाटकीय रस-परिपाक में बाधा उपस्थित हो जायगी। प्रसाद के 'चंद्रगुप्त' में इस काल के व्यवधान को न स्वीकार करने के कारण कार्नेलिया और चन्द्रगुप्त के विवाह में उपहास-योग्य समय का अन्तर हो गया है।

स्थान की एकता का औचित्य है ही। यदि घटना की एकता बनी रहती है तो स्थान की अनेकता स्वतः सिद्ध हो जाती है। परन्तु यदि घटना में भी अनेकता हुई तो स्थान की अनेकता औचित्य की सीमा में किसी प्रकार नहीं रह सकती।

वक्ता तथा बोद्धव्य का औचित्यः—यहाँ तक जो विवेचन हमने किया है वह विवेचन बंध के अंग-संगठन के विचार से हुआ है। अब हम वक्ता और बोधव्य की दृष्टि से बंध के औचित्य पर विचार करेंगे।

निश्चय ही प्रत्येक साहित्यिक कृति में वक्ता कवि या लेखक होता है, बोद्धव्य पाठक अथवा श्रोता होते हैं। परन्तु कवि सब कुछ अपनी ही वाणी से नहीं कहता। कुछ तो वह स्वयं कहता है और कुछ वह अपने पात्रों से कहला देता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि कवि के पात्र जो कुछ कहते हैं वह सब कवि का ही कथन है। हम प्रकृति के औचित्य का विचार करते समय यह कह आये हैं कि कवि प्रकृति विशेष के साथ अंतरंगता स्थापित करके प्रकृति विशेष के लिए उचित वाक्य ही अपने पात्रों से कहला सकता है। यह औचित्य की सीमा से बाहर होगा कि पात्र के मुख से कवि अपनी बात कहलाये। साथ ही यह भी अनुचित होगा कि हम—

'अवगुण आठ सदा उर रहहीं। नारि स्वभाव सत्य कवि कहहीं॥
साहस अनृत चपलता माया। भय अविवेक अशौच अदाया॥'

रा० च० मा० लंकाकांड

का उद्धरण देकर स्त्री-चरित्र को दोष-पूर्ण चित्रित करने का अपराध तुलसी के मत्थे मढ़ दें। फिर भी कवि की वाणी का आभास उसके पात्रों में दिखाई दे सकता है, किन्तु केवल उन्हीं पात्रों में जिनके साथ उसकी प्रकृति का सादृश्य हो। यथा रामचरितमानस में तुलसी की भावनाएँ शंकर, भरत, लक्ष्मण, सुतीक्ष्ण, हनुमान, नारद, शबरी तथा विभीषण के वार्तालाप में देखी जानी चाहिए, राम-रावण की वाणी में नहीं।

वक्ता का औचित्यः—इस कथन का यह भी अर्थ नहीं है कि किसी कलाकृति में कवि को प्रत्यक्षतः कुछ कहने का अधिकार नहीं है। महाकाव्यों, उपन्यासों, खंडकाव्यों और कहानियों में यदि कवि या लेखक चाहे तो सब कुछ स्वयं ही कह सकता है। अप्रत्यक्ष-भाषण (Indirect Speech) की विधि का प्रयोग पश्चिम के कलाकार करते ही हैं। भारतीय कलाकारों के लिए भी ऐसा कोई प्रतिबंध नहीं है कि वे अप्रत्यक्ष भाषण-विधि का प्रयोग न करें। भारतवर्ष का प्राचीन कहानी-साहित्य 'एक राजा था, एक रानी थी' इत्यादि के रूप में कहानीकार का ही कथन था। परन्तु यदि कहानीकार सम्पूर्णतः प्रत्यक्ष ही बना रहे तो अप्रत्यक्ष भाषण-विधि का प्रयोग करके बंध में दृढ़ता नहीं बनाये रख सकता। इसलिए उसके लिए प्रत्यक्ष-भाषण विधि (Direct Speech) का प्रयोग करना उचित ही नहीं, आवश्यक भी होता है।

औचित्य-विचार में इस बात पर भी ध्यान रखना आवश्यक होता है कि कवि को क्या कहना चाहिए और कितना भाग पात्रों के कहने के लिए छोड़ देना चाहिए। इस विषय में कोई निश्चित दिशा न अभी तक निर्धारित हो पाई है और न की जा सकती है। कुछ विद्वानों का मत है कि कथा-प्रसंग को जोड़ने वाले वाक्य और परिस्थितियों का वर्णन ही कवि या लेखक को करना चाहिए, शेष भाग पात्रों के लिए छोड़ देना चाहिए। कुछ लोग मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण भी कवियों के लिए कथनीय मानते हैं। हमारा अपना मत है कि लेखक सब कुछ कह सकता है, परन्तु न तो वह उपदेशक की पदवी ले सकता है, न किसी पात्र के आलोचक की और न स्वयं वक्ता की। उसे वक्ता की बातवक्ता के लिए छोड़ देनी चाहिए, पात्रों की आलोचना पाठकों के लिए और उपदेशक का काम अपनी सम्पूर्ण कृति के लिए। प्रेमचन्द अपनी समस्त कृतियों में इस औचित्य का पालन नहीं कर सके। मैथिलीशरण "वाचक विलोको" या "पाठक विचारो" जब कहने लगते हैं तब वे अपनी सीमा लाँघ जाते हैं। कवि या लेखक को यह समझते रहना चाहिए कि उसकी कृति के पाठक अंधे और मूर्ख नहीं हैं।

बोद्धव्य का औचित्य:—नाटक के पात्र का वार्तालाप भी इन्हीं सिद्धान्तों पर निर्धारित किया जा सकता है। पुरोहित का उपदेश जब किसी सैनिक के मुख से निकलता है अथवा कोई पात्र अपने मुख से अनावश्यक व्याख्यान देने लगता है, तब या तो वह पात्र पागल है अथवा ऐसा कथन कवि या लेखक की असंतुलित मानसिक स्थिति का द्योतक है। 'गोदान' में रायसाहब ने होरी को जो लम्बा व्याख्यान सुनाया है उससे और चाहे कुछ प्रकट न हुआ हो पर रायसाहबों के लिए प्रेमचन्द के हृदय में भरी हुई खीझ अवश्य झलक उठती है। मातादीन और दातादीन की वाणी में भी कुछ ऐसी ही बात जान पड़ती है।

कम से कम पात्र के वार्तालाप के सम्बन्ध में औचित्य की इतनी मर्यादा का अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि :

१—वार्तालाप कथानक को बढ़ाने वाला हो।
२—वार्तालाप घटना के रहस्य को खोलने वाला हो।
३—वार्तालाप किसी चरित्र का विश्लेषण करने वाला हो।
४—वार्तालाप मूल उद्देश्य के प्रति सचेष्ट हो।

वर्णनगत औचित्य

भाषा का औचित्यः—हमारी समस्त अनुभूतियों का विकास भाषा के द्वारा होता है। इसी के माध्यम से हम अपना राग, द्वेष, क्रोध, घृणा, आदेश आदि दूसरों पर व्यक्त करते हैं। संसार की सम्पूर्ण क्रिया-शीलता भाषा के अभाव में बाधित हो सकती है। हमारी भाषा ही अपने सरल स्नेहसिक्त प्रयोगों द्वारा शत्रु को मित्र बनाती है और उसका रूक्ष प्रयोग मित्र को यदि शत्रु नहीं तो उदासीन अवश्य बना देता है। विश्व के समस्त साहित्य की सुरक्षा का श्रेय भाषा को ही है।

साहित्य में भावों की दीप्ति और उनका प्रसार भाषा की ही शक्ति पर निर्भर रहता है। इसीलिए कुशल कलाकार इस दिशा में विशेष सतर्क रहता है। फारसी के एक कवि का कथन है कि एक उचित शब्द के प्रयोग की चिन्ता में कलाकार सारी रात जागकर दिन कर देता है। जबकि पक्षी और मछलियाँ सोती रहती हैं तब भी उस शब्द की चिन्ता में वह जागता रहता है।[1]

अतएव जहाँ कलाकार भाषा की चिन्ता करता है, वहाँ न केवल भाषा की, वरन् उस महावाक्य की भी चिन्ता करता है जो उसका प्रतिपाद्य है। महावाक्य का यह अर्थ है कि कृति अपने सम्पूर्ण रूप में किसी ऐसी व्यापक अनुभूति की व्यंजना करना चाहती है जो उसके एक वाक्य, परिच्छेद, अध्याय या खण्ड द्वारा व्यक्त नहीं होती, वरन् इन सबके सम्मिलित प्रभाव का फल होती है। इस सम्पूर्ण सम्मिलित प्रभाव को व्यक्त करने वाली कृति ही अपने समस्त अंग-उपांगों के साथ एक महावाक्य बन जाती है। भाषा के औचित्य की पहिली परख यही है कि समस्त कृति एक महावाक्य है अथवा नहीं। आज का कलाकार इस महावाक्यता के प्रति कुछ उदासीन-सा हो रहा है। इसीलिए उसकी कृति में सुन्दर शब्द-योजना होते हुए भी वह शक्ति नहीं होती जो पाठक या श्रोता के मर्मस्थल को आहत करके विकल बना सके।

यहाँ पर यह विचार करना भी आवश्यक है कि इस महावाक्यता के प्रतिपादक अंगभूत समस्त वाक्य किस प्रकार औचित्य की सीमा में रहकर उस एक वाक्यता के सहायक रहते हैं। किसी भी सत्काव्य का फल भाव की अनुभूति है। यह व्यापक अनुभूति कभी-कभी अनेक अंगभूत अनुभूतियों का समन्वय होती है और कभी-कभी समष्टि में व्याप्त विशेष अनुभूति सबको एकाकार

१—बराए पाकिए लफ़्जे शबे बरोज़ आरन्द।
कि मुर्ग़ माही व बाशन्द ख़ुफ्तः औ बेदार॥

करके स्वरूप में स्थिर रखना चाहती है। ऐसी अवस्था में भाषा में एकरसता होना ही उसका औचित्य है। उपदेश-प्रधान महावाक्यों का एकरस भाषाप्रवाह इसीलिए औचित्य की कोटि में गिना जाता है। सिद्धान्त-प्रतिपादन और शास्त्र-चर्चा अथवा आलोचना विषयक गंभीर विवेचन इसीलिए एकरस भाषा का आश्रय लेते हैं। जब यह महावाक्यानुभूति अनेक अनुभूतियों का समन्वित रूप होती है तब अनुभूति विशेष के अनुसार भाषा में परिवर्तन आवश्यक है। लोक में देखा जाता है कि क्रोध से पागल मनुष्य कभी-कभी ऐसे व्यंग्यों का प्रयोग करता है जो क्रोध के ज्ञापक नहीं होते, परन्तु वे व्यंग्य पूर्ववर्ती अपशब्दों के साथ मिलकर क्रोध की तीक्ष्णता अधिक बढ़ा देते हैं। ऐसे अवसरों पर भाषा का परिवर्तित होते रहना ही औचित्यवाद के अंतर्गत आता है। परशुराम क्रोध से व्याकुल हो रहे थे। लक्ष्मण ने कहा:—

"बहु धनुहीं तोरेउँ लरिकाईं। कबहुँ न अस रिस कीन्ह गुसाईं॥"

—रामचरितमानस, अयोध्याकांड

लक्ष्मण का यह प्रश्न यदि तटस्थ व्यक्ति के द्वारा हुआ होता तो इसमें क्रोध उत्पन्न करने की कोई बात नहीं थी, परन्तु क्रोध के प्रसंग में यह कोमल वाक्यावली ही अधिक कटु जान पड़ती है। इसीलिए 'सुनि रिसाय कह भृगुकुल-केतू।' लक्ष्मण पुनः कहते हैः

"टूट चाप नहिं जुरइ रिसाने। बैठिय होइहैं पायँ पिराने॥"

—राम चरित मानस अयोध्याकांड

बैठने की प्रथा का यह सत्कार अपमान की अग्नि में घृत डालने वाला है। सावधान कवि इसी प्रकार महावाक्य की एकवाक्यता का निर्वाह करता हुआ भी उसके अंग-प्रत्यंगीभूत क्षुद्र भावानुकूल भाषा का आवश्यक परिवर्तन करता है। यही उसके लिए उचित है और ऐसा न करना अनौचित्य की सीमा में है। कुशल कलाकार भाषा को भावानुगामिनी बनाने में ही अपना कौशल व्यक्त करता है। दो एक उदाहरण देखियेः—

"अब हौं नाच्यौं बहुत गोपाल।
काम-क्रोध कौ पहिर चोलना, कंठ विषय की माल॥"

—सूरसागर का० ना० प्र० सभा, पद १५३

"कबहुँक अम्ब अवसर पाइ।
मेरिऔ सुधि द्याइबी, कछु करुन कथा चलाइ॥"

विनय पत्रिका

अभिमान की भाषा :—

"आजु हौं एक एक करि टरिहौं,
कै हमहीं कै तुमहीं माधव अपुन भरोसे लरिहौं॥"

—सूरसागर का० ना० प्र० सभा, पद १३४

"हौं अब लौं करतूति तिहारिय,
चितवत हुतो न रावरे चेते।
अब तुलसी पूतरो बाँधि है,
सहि न जात मोपै परिहास एते॥"

—विनय पत्रिका

भाव विशेष पर विशेष बल देने के लिए कभी-कभी कल्पना का प्रयोग भी उचित होता है यथा:—

"वह अपूर्व दृश्य था। मानों आराधना, साधना एवं सिद्धि के मध्य में महामाया की विमल आनन्दमयी अक्षय ज्योति प्रोद्भासित हो रही थी, मानों विलासश्री आनन्द की आभा एवं वैभव की विभा के मध्य में सौन्दर्य की सजीव शोभा विलसित हो रही थी, मानों कल्पना, चिन्ता एवं अनुभूति के मध्य में कविता की कलित कान्ति स्फुरित हो रही थी, मानों ताल, लय एवं मूर्च्छना के मध्य में मूर्तिमती वसन्त-रागिनी सरसित हो रही थी, मानों स्वर्ग की शोभा पृथ्वी की श्री एव रसातल की रमणीयता के मध्य में साक्षात् राजराजेश्वरी महामाया त्रैलोक्य सुन्दरी देदीप्यमान हो रही थीं। कैसा पावन, कैसा प्रोज्ज्वल, कैसा मनोरम एवं कैसा शान्तिमय सजीव चित्र था।"

—चंडीप्रसाद 'हृदयेश' (पर्यवसान शीर्षक कहानी)

हम ऊपर कह आये हैं कि अंगीभूत वाक्य अंगभूत वाक्य के द्वारा सिद्ध होता है। यहाँ इतना आवश्यक होता है कि कवि की मानसिक और अध्ययन सम्बन्धी स्थितियों पर भी ध्यान रखा जाय। भाषा में शब्दों का भारीपन (गुरुत्व) औचित्य का आवश्यक अंग नहीं है। साधारण अध्ययनशील कवि या लेखक जब भारी-भारी शब्दों का प्रयोग करने लगता है तब वह न केवल अपनी कृति का रूप बिगाड़ देता है, वरन् शब्दों का मूल्य भी गिरा देता है। अधकच्चरे और अल्पशिक्षित कलाकार तो ऐसी भूलें करते ही हैं।

कहीं-कहीं ख्यातनामा कलाकारों की कृतियों में भी ऐसे प्रयोग देखे जा सकते हैं। बहुधा व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग भी हो जाते हैं। ऐसे प्रयोग भले ही कवि की अल्पज्ञता के बोधक न हों, फिर भी शब्दों पर उसके अधिकार की कमी वे अवश्य व्यक्त करते हैं।

आज एक प्रथा चल गई है। बहुतेरे विशेषवादी कवि शब्द के साक्षात् अर्थ से काम नहीं लेना चाहते। वे—

"मगस को बाग में जाने न देना,
कि नाहक़ ख़ून परवाने का होगा।"[1]

जैसे पदों-वाक्यों का प्रयोग करना चाहते हैं। दूसरे शब्दों में वे दूर की कौड़ी लाने का प्रयास करते हैं। ऐसा नहीं है कि सर्वत्र यह दूरान्वय सदोष ही बना रहे, कहीं-कहीं तो ऐसे सांकेतिक शब्द मर्म पर सीधा आघात करते हैं और उनकी वेदना बड़ी तीक्ष्ण होती है। परन्तु जहाँ पर यह वेदना नहीं उत्पन्न होती, वहाँ कवि या लेखक का एक खिलवाड़-सा प्रतीत होता है। भाषा के अन्तर्गत आवश्यकता इस बात की रहती है कि शब्द और अर्थ में सीधा सम्बन्ध स्थापित हो।

"यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारे भुइँ धरै, तब पैठे घर माँहिं॥" —कबीर

जब सीस ही उतार दिया जायगा तब पैठने वाला कौन होगा। यह असम्बन्ध असाक्षात् अर्थ द्वारा जितना सुसंबद्ध हो गया है संभवतः साक्षात् अर्थबोधी शब्दों से उतना प्रभावशाली न हो सकता। अतएव यहाँ "सीस उतारै भुइँ धरै" का औचित्य ही है। भाव किसी प्रकार का हो शब्द कैसा ही क्यों न प्रयुक्त किया जाय, यदि शब्द और अर्थ में ऐसा सम्बन्ध बना रहता है कि उसके समझने के लिए क्लिष्ट कल्पना नहीं करनी होती तो वह शब्द-औचित्य की सीमा में आता है, अन्यथा नहीं। यथा, निम्नांकित पद केवल कवि-कौशल व्यक्त करते हैं, इसमें इनका अधिक मूल्य नहीं है—

१—मधुमक्खी को बाग में न जाने देना, अन्यथा पतिंगे का प्राण व्यर्थ जायगा अर्थात् मधुमक्खी छत्ता लगायेगी, छत्ते से मोम बनेगा, मोम से मोमबत्ती बनेगी। फिर वह जलेगी। पतिंगा उस जलती मोमबत्ती के पास जायगा और जलकर राख हो जायगा।

"कहत कत परदेशी की बात,
मंदिर अरध अवधि हरि बदि गये, हरि-अहार चलि जात।
सिसु रिपु बरस, भानु रिपु जुग सम, हर रिपु किये फिरै घात।
मघ पंचक लै गये स्यामघन, तातें जिय अकुलात।
नखत वेद ग्रह जोरि अरध करि, को बरजै हम खात।
'सूरदास' प्रभु तुम्हरे मिलन को, कर मींजत पछितात॥"

सूर—'साहित्यलहरी'

आज के कितने ही तथाकथित छायावादी, रहस्यवादी स्वयंभू कवियों की रचनाओं में ऐसे ही जटिल शब्दों एवं क्लिष्ट कल्पनाओं का प्रयोग पाया जाता है और स्वतः इनके रचयिता ही अर्थ के सम्बन्ध में यह कहते हुए पाये गये हैं कि कविता करते समय भाव की जिस परिधि में हृदय और मस्तिष्क विचरणशील था, उसी स्थिति में पुनः होने पर इसके विषय में कुछ कहा जा सकता है। तात्पर्य यह कि वे लिखने को तो लिख जाते हैं, पर उसमें निहित भावों की अभिव्यक्ति वे स्वतः नहीं कर पाते।

विद्वानों ने साहित्य में पात्रोचित भाषा के प्रयोग के सम्बन्ध में बड़ा बल दिया है। संस्कृत नाटकों में भी इस दिशा में विशेष ध्यान रखा गया है। वहाँ तो उच्चवर्गीय पात्र सदा संस्कृत भाषा का ही प्रयोग करते हैं, किन्तु निम्नवर्ग के पात्र तथा स्त्रीपात्र प्राकृत भाषा का ही प्रयोग करते हुए पाये जाते हैं। हिन्दी में भी पात्र के कुल-शील तथा भौगोलिक सीमाओं का ध्यान रखकर भाषा का प्रयोग करना उचित माना गया है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य के निर्माता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इस नियम का पालन बड़ी सतर्कता से किया है। यथा—

"दूसरा सर्दार—खुदाबंद व इस्लाम के आफताब के आगे कुफ्र को तारीकी कभी ठहर सकती है ? हुजूर अच्छी तरह से यक़ीन रखें कि एक दिन ऐसा आवेगा जब तमाम दुनियाँ में ईमान का जल्वा होगा। कुफ्रबार सब दाखिले दोज़ख होंगे और पयगम्बरे आखिरूल जमां सल्लल्लाह अल्लेहुसल्लम का दीन तमाम रूए ज़मीन पर फैल जायगा।

× × × ×

बंगाली—(खड़े होकर) सभापति साहब जो बात बोला वह बहुत ठीक है। इसका पेश्तर कि भारत दुर्दैव हम लोगों का शिर पर आ पड़े, कोई उसके

परिहार का उपाय सोचना अत्यंत आवश्यक है। किन्तु प्रश्न एई है जे हम लोग उसका दमन करने शाकता कि हमारा वीर्जोबल के बाहर का बात है।

—भा० नाटकावली, भारतदुर्दशा, पाँचवाँ अंक।

पात्रानुसार भाषा के प्रयोग की ओर प्रेमचन्द ने भी पर्याप्त ध्यान दिया है। यथाः—

होरी—तुझे रस पानी की पड़ी है, मुझे यह चिन्ता है कि अबेर होगई तो मालिक से भेंट न होगी। असनान पूजा करने लगेंगे तो घंटों बैठे बीत जायगा।

× × × ×

मिर्जा—जानता हूँ मेहरबान, जानता हूँ। आपकी दुआ से दुनियाँ देख चुका हूँ।

—गोदान, पृष्ठ ४४५,

असमत हिन्दुस्तानी तहज़ीब की आत्मा है।

—गोदान, पृष्ठ ४४६,

साधारण बोलचाल की भाषा का प्रयोग करने वाले यशपाल पात्रोचित भाषा की ओर ध्यान रखते हैः

"सहाअत ने कहा—तुम कलमा पढ़कर मुझे जिबह करदो। मैं बहिश्त चली जाऊँगी, वहीं तुम्हारा इन्तजार करूँगी।"

—'वो दुनिया' जहाँ हसर नहीं, पृष्ठ १२१,

"माथुर ने उत्तर दिया—आप समृद्धि में पली हैं। संकीर्णता आप से दूर रही है। इसीलिए आप उदार हैं।"

—'वो दुनिया'—नई दुनिया, पृष्ठ १३५

हिन्दी के अधिकांश लेखक पात्रोचित भाषा के प्रयोग के पक्षपाती हैं, किन्तु जयशंकर प्रसाद की दूसरी ही दिशा है। उन्होंने अपने सभी पात्रों से हिन्दी और अपने स्वभावानुकूल संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का प्रयोग करवाया है। उनके विदेशी-पात्र भी भारतीय-पात्रों के ही अनुरूप हिन्दी बोलते हैं। यथाः—

"कार्नेलिया—नहीं चन्द्रगुप्त, मुझे इस देश से जन्मभूमि के समान स्नेह होता जा रहा है। यहाँ के श्यामल कुंज, घने जंगल, सरिताओं की माला पहिने हुए शैलश्रेणी, हरी-भरी वर्षा, गर्मी की चाँदनी, शीतकाल की धूप और भोले कृषक तथा सरला कृषक बालिकाएँ बाल्यकाल की सुनी हुई कहानियों की जीवित प्रतिमाएँ हैं। यह स्वप्नों का देश, यह त्याग और ज्ञान का पालना,

यह प्रेम की रंगभूमि, मातृभूमि क्या भुलाई जा सकती है ? कदापि नहीं । अन्य देश मनुष्यों की जन्मभूमि है, यह भारत मानवता की जन्मभूमि है ।"

चंद्रगुप्त, तृतीय अंक ।

"बदन (गूजर डाकू)—तुम जानते हो कि हम लोग डाकू हैं,हम लोगों को माया ममता नहीं । परन्तु हमारी निर्दयता भी अपना निर्दिष्ट पथ रखती है, वह है केवल धन लेने के लिए । धोखा देना, चोरी करना, विश्वासघात करना, यह सब जो तुम्हारे नगरों के सभ्य मनुष्यों की जीविका के सुगम उपाय हैं, हम लोग उनसे घृणा करते हैं ।"

—कंकाल, तृतीय खंड ।

पात्रों की भाषा के सम्बन्ध में ऊपर कतिपय उद्धरण दिये गये हैं । इन उद्धरणों में 'नीलदेवी' का और "चंद्रगुप्त" का उद्धरण अपनी-अपनी कोटि में है । नीलदेवी में भारतेन्दु ने मुसलमान पात्र से जिस भाषा का प्रयोग करवाया है,वह हिन्दी भाषा-भाषी जनता की पहुँच के लिए दुरूह है । ऐसी भाषा से युक्त अभिनय भावों की अस्पष्टता के कारण रस-सृष्टि करने में असमर्थ सिद्ध होगा। प्रसाद के 'चंद्रगुप्त' में विदेशी-पात्रों द्वारा प्रयुक्त संस्कृतनिष्ठ भाषा के सम्बन्ध में इतनी शंका अवश्य उठती है कि क्या ऐसी भाषा के प्रयोग की संभावना उनसे की जा सकती है ।

इस सम्बन्ध में हमारा विचार यह है कि यदि पात्रोचित भाषा के नियम का कट्टरता से पालन किया जायगा तो न केवल लेखक की कठिनाई होगी वरन् उस कृति में पद-पद पर रस-विच्छेद की आशंका बनी रहेगी । भाषा-शास्त्रज्ञों का मत है कि प्रत्येक चौबीस मील की दूरी पर भाषा में परिवर्तन होता है ।, मथुरा, कन्नौज और कानपुर ये तीनों नगर एक दूसरे से अधिक दूर नही हैं, परन्तु इनकी भाषा में अन्तर इतना स्पष्ट है कि उसे एक अनभिज्ञ पाठक भी सरलता से समझ सकेगा । अतएव इस प्रकार की निश्चित भाषा के द्वारा किसी कृति के भाव-प्रवाह में अवश्य बाधा पड़ेगी । इसी प्रकार किसी रचना में सिक्ख, बंगाली, मुसलमान और अंग्रेज पात्र आ जाने पर वह रचना विभिन्न भाषाओं का नमूना बन जायगी ,वह आनन्द की सृष्टि करने वाली कृति न होगी । अतः निम्न-वर्ग के पात्रों या विदेशी-पात्रों द्वारा अपेक्षाकृत सरल भाषा का प्रयोग ही समीचीन होगा । पात्र विशेष की भाषा में उसकी संस्कृति, सभ्यता और भौगोलिक प्रभाव भी यदि यत्र-तत्र परिलक्षित हो तो अनुचित न होगा ।

गुण का औचित्यः—प्रसंगानुसार भाषा के स्वरूप में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। क्रोध के प्रसंग में भाषा अधिक ओजपूर्ण होगी, शान्ति के क्षणों में भाषा आवेशहीन, सरस एवं सरल होगी। हमारी चित्तवृत्ति जिस क्षण जिस रस का अनुगमन करती है, उसी के अनुसार भाषा भी कठोर, कोमल अथवा सरस हुआ करती है। युद्ध के समय चित्तवृत्ति दर्पयुक्त एवं ऊर्जस्वित हो जाती है। फलतः भाषा में कर्कशता-कठोरता का आ जाना स्वाभाविक है। यथाः—

कतहुँ बिटप भूधर उपारि, परसेन बरक्खत।
कतहुँ बाजि सों बाजि, मर्दि गजराज करक्खत।
चरन चोट चटकन चकोट अरि उर सिर बज्जत।
बिकट कटक बिद्दरत बीर, बारिद जिमि गज्जत।
लंगूर लपेटत पटकि भट, 'जयति राम जय' उच्चरत।
तुलसीस पवननन्दन अटल, जुद्ध क्रुद्ध कौतुक करत॥"

—तुलसी, कवितावली, लंकाकांड।

ऊपर के उद्धरण में बरक्खत, करक्खत, बिद्दरत आदि शब्दों में उत्तेजना एवं कर्कशता विद्यमान है। यहाँ ओज[1] गुण हुआ। इस गुण का प्रयोग वीर, वीभत्स और रौद्र रस में क्रमशः प्रखर होता जाता है।

कारुणिक प्रसंगों में अथवा हास्ययुक्त स्थलों में तथा शांतरस के प्रकरण में भाषा का कोमल होना स्वाभाविक है। यथाः—

"मैंने कभी सोचा वह मंजुल मयंक में है,
देखता इसी से उसे चाव से चकोर है।
कभी यह ज्ञान हुआ वह जलधर में है,
नाचता निहार के उसी को मंजु मोर है॥
कभी यह हुआ अनुमान वह फूल में है,
दौड़ तभी जाता भृंग वृन्द उस ओर है।
कैसा अचरज है न जान पाया मैंने कभी,
मेरे चित में ही छिपा मेरा चितचोर है॥"

—गोपालशरण सिंह

१—"दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीर रसस्थितिः"
चित्त को भड़का देने (उत्तेजित करने) वाले गुण का नाम ओजस् है और यह गुण वीररस के वर्णन में रहता है।

—काव्य-प्रकाश, अष्टम उल्लास, सू० ९२

अलबेली कहुँ बेलि द्रुमन सों लिपटि सुहाई।
धोए धोए पातन की अनुपम कमनाई॥
चातक चलि कोयल ललित बोलत मधुरै बोल।
कूकि कूकि केकी कलित कुंजन करत कलोल॥
निरखि घन की छटा।

कविरत्न सत्यनारायण—"पावस पंचक"।

× × ×

ले चल मुझे भुलावा देकर,
मेरे नाविक धीरे-धीरे।
जिस निर्जन में सागर लहरी,
अम्बर के कानों में गहरी।
निश्छल प्रेम कथा कहती हो,
तज कोलाहल की अवनी रे।

—प्रसाद

ऊपर के उद्धरणों को पढ़ कर हृदय द्रवित हो जाता है और एक प्रकार का विशिष्ट आनंद अनुभव होने लगता है। अतएव यहाँ माधुर्य गुण[1] हुआ। माधुर्य गुण का प्रयोग करुण, श्रृंगार और शांत रस में पाया जाता है।[2]

वर्ण्य विषय कैसा ही क्यों न हो। यदि भाषा में उसको ठीक-ठीक व्यक्त करने की क्षमता नहीं है तो वह वर्णन निश्चय ही प्रभावहीन तथा व्यर्थ होगा। अतएव प्रत्येक वर्णन में भाषा का सुस्पष्ट एवं सुबोध होना आवश्यक होता है। इसीलिए आचार्यों ने साहित्य में ओज और माधुर्य गुण के अतिरिक्त एक तृतीय गुण माना है 'प्रसाद'। इसकी व्याप्ति सभी रसों

१—आह्लादकत्वं माधुर्यं। 'काव्यप्रकाश, अष्टम् उल्लास, सू० ९०।
माधुर्य उस गुण का नाम है जो चित्त को प्रसन्न कर देता है।

२—'करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्।'
काव्यप्रकाश, अष्टम् उल्लास, सूत्र ९१।
[वह माधुर्य गुण] करुण, विप्रलम्भ श्रृंगार और शांत रस के प्रकरण में चित्त को अत्यन्त विगलित कर देने के कारण प्रकृष्ट उत्कर्ष युक्त होता है।

में मानी गई है।[1] यदि किसी काव्यांश अथवा गद्यांश को समझने के लिए कोष-ग्रंथों का सहारा लेना पड़ा अथवा विशिष्ट मानसिक व्यायाम करना पड़ा तो वहाँ आनंद की सृष्टि सम्भव नहीं है। भाषा की सुबोधता एवं भाव की स्पष्ट अभिव्यक्ति ही इस गुण का प्रधान लक्षण है। यथाः—

तू है गगन विस्तीर्ण तो मैं एक तारा क्षुद्र हूँ।
तू है महासागर अगम, मैं एक धारा क्षुद्र हूँ।
तू है महानद तुल्य तो मैं एक बूँद समान हूँ।
तू है मनोहर गीत तो मैं एक उसकी तान हूँ।

—गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'

उपरि लिखित पद में भाषा की सरलता एवं सुबोधता द्रष्टव्य है। अत्यंत स्निग्ध एवं कोमलकांत पदावली में भाव की जो मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है वही कवि का प्रसाद-गुण है। यहाँ कवि न तो अलंकारों के जाल में फँसा है और न किसी दूर की कौड़ी के लाने का प्रयास ही है। काव्य का यह सहज प्रसाधन व्यापार ही सहृदय पाठक के आह्लाद का विषय बनता है।

छंद का औचित्यः—रुदन और गान मानव-जीवन के शाश्वत सहचर हैं। संसार में कदाचित् ऐसा कोई मनुष्य न होगा जो गाता अथवा रोता न हो, और कदाचित् ऐसा रुदन भी न होगा जिसमें गान न हो। सच तो यह है कि रुदन जिस स्वर-लहरी को पकड़ लेता है उस स्वर-लहरी का स्वाभाविक चढ़ाव-उतार अपने आप छंद बन जाता है। अन्त-विहीन इस आदि छंद ने मनुष्य के मन को उसके जन्मदिन से ही पकड़ लिया है। मनुष्य का अन्त हो जायगा, पर इस छंद का अंत न होगा।

छंद के प्रति मनुष्य की सहज अनुराग वृत्ति ने उसे अपने मनोविकारों को व्यक्त करने के लिए एक प्रबल साधन दे दिया है। यही कारण है कि

१—शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः।
व्याप्नयोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः।

का० प्र० अष्टम् उल्लास, सूत्र ९४

[जो सूखे हुए ईंधन में आग की भाँति, स्वच्छ वस्त्रादि में जल की भाँति तुरंत मन में व्याप्त हो जाता है। अर्थात् पढ़ने वाले अथवा सुनने वाले के चित्त को शीघ्र व्याप्त कर लेता है। वह प्रसाद नामक गुण है, उसकी स्थिति सर्वत्र (सभी रसों और भावादिकों में) रहती है।]

संसार की प्रत्येक भाषा का प्राचीनतम साहित्य छंदोबद्ध है। मनुष्य के मनोविकार सदा एकरस नहीं रहते और न उसके लिए एक ही छंद काम में आता है। रुदन के स्वर में और क्रोध के स्वर में जो अन्तर है वह केवल लहजे का अन्तर नहीं है, वरन् शब्दों के संगठन और स्वरों के उतार-चढ़ाव का अंतर है। क्रोध की स्थिति में वाक्य सहज ही लम्बे और खंड-खंड में बँटे हुए होते हैं जब कि विनोद के वाक्य छोटे और अपने में पूर्ण होते हैं। इसी कारण क्रोध के लिए दूसरा छंद है और हास्य के लिए दूसरा। अतएव शास्त्रकारों ने विभिन्न मनोविकारों को व्यक्त करने की शक्ति विभिन्न छंदों में स्वीकार की है।

परिवर्तन युग-चेतना की कसौटी है। प्रत्येक परिवर्तन अपने युग की वाणी के रूप में यत्र-तत्र-सर्वत्र व्याप्त हो जाता है और युग-वाणी मानव-हृद्-तन्त्री की झंकार के रूप में व्यक्त होती है। यह झंकार ही नाद के स्वरूप का निर्माण करती है जिसे हम काव्य-साहित्य में लय-छंद के रूप में जानते है। हमारी प्रत्येक अभिव्यक्ति प्रायः अपनी नवीन शैली को अपनाना चाहती है। अतः पुरातनता के प्रति मोह का विशेष आग्रह न करते हुए अनेकानेक नवीन विधानों का निर्माण होता है। इसीलिए आजकल हम हृदयवीणा से झंकृत होने वाले नाना स्वरों को सुनते हैं। पिंगल शास्त्र में प्रयुक्त होने वाले विभिन्न छंद अपनी-अपनी युगानुभूतियों को अपनी शैलीगत विशेषताओं के साथ साहित्य की संपत्ति को सहेजे हुए हैं। इस सम्बन्ध में पन्त का कथन है:—

"नूतन युग संसार की शब्द-तंत्री में नूतन ठाठ जमा देता है, उसका विन्यास बदल जाता है, नवीन युग की नवीन आकांक्षाओं, क्रियाओ, नवीन इच्छाओं, आशाओं के अनुसार उसकी वीणा से नये गीत, नये छंद, नये राग, नई रागिनियाँ, नई कल्पनाएँ तथा नई भावनाएँ फूटने लगती हैं।"

—पल्लव।

इसमें सन्देह नहीं कि युग-भावनाओं के अनुसार छंद बदलते रहते हैं। काव्य-साहित्य के लिए छन्द एक आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य उपकरण है। छंद में स्वर के नियमित उतार-चढ़ाव की एक विशिष्ट क्रिया है। स्वर का कार्य रंजन करना है।[1] हृदय जब भावों से पूर्ण हो जाता है तब एक विशिष्ट गति के साथ उन भावों की अभिव्यक्ति होती है और उस गतिमय अभिव्यक्ति में ही एक आकर्षण विशेष होता है। गति का महत्व सर्व विदित है। शब्द ब्रह्म

१—स्वतः रंजयति इति स्वरः।

की भी विशेषता इसीलिए है कि उसमें एक गति है। संसार की क्रिया में भी एक गति है। सूर्य-चन्द्रादि सभी में एक नियमित गति है। इसीलिए उनका महत्व है। काव्य-साहित्य में होने वाली नियमित गति ही छंद की सृष्टि करती है। गति शब्दों के विशिष्ट क्रम का नाम है और प्रत्येक शब्द, प्रत्येक अक्षर अपना राग रखता है। इसीलिए एक भाषा की कविता का अनुवाद दूसरी भाषा में नहीं किया जा सकता है, क्योंकि उसमें व्याप्त स्वरमय संगीत की सृष्टि अन्य भाषा में कैसे सम्भव हो सकती है?

हमारे हृदय की भाषा ही कविता बनती है और कविता लय विशेष का आश्रय लेकर जीवन की परिपूर्णता का, उसकी आकांक्षाओं एवं कल्पनाओं का इतिहास लिखने लगती है। पंत के शब्दों में:—"कविता तथा छन्द के बीच बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है, कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छंद हृत्कम्पन। कविता का स्वभाव ही छंद में लय होना है।.........कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है। हमारे जीवन का पूर्ण रूप, हमारे अन्तरतम प्रदेश का सूक्ष्माकाश ही संगीतमय है, अपने उत्कृष्ट क्षणों में हमारा जीवन छंद ही में बहने लगता है, उसमें एक प्रकार की सम्पूर्णता, स्वरैक्य तथा संयम आ जाता है प्रकृति के प्रत्येक कार्य, रात्रि-दिवस की आँखमिचौनी, षड्ऋतु परिवर्तन, सूर्य-शशि का जागरण-शयन, ग्रह-उपग्रहों का अश्रान्त नर्तन, सृजन, स्थिति, संहार सब एक अनन्त छंद, एक अखंड संगीत ही में होता है।"[1]

साहित्य में मात्रिक एवं वर्णिक छदों का प्रयोग होता है। संस्कृत साहित्य में गणात्मक छंदों का प्रयोग प्रचलित है जब कि हिन्दी साहित्य में मात्रिक छंद ही प्रधान रूप से प्रचलित हैं। वर्णिक सवैया छंद अवश्य ही अपवाद रूप में विशेष प्रचलित हैं। कतिपय कवियों ने संस्कृत वर्णवृत्तों का भी प्रयोग किया है, किन्तु उनकी संख्या अँगुलियों पर ही गिनी जाने वाली है यथा हरिऔध, अनूपशर्मा, राजाराम शुक्ल 'राष्ट्रीय आत्मा' आदि। मात्रिक छंदों में काव्य-रचना वर्णवृत्तों की अपेक्षा अधिक सुन्दर होती है।

प्रत्येक कवि अपनी रुचि विशेष के अनुसार काव्य-रचना के लिए छंद विशेष का चयन तो करता ही है, साथ ही विषय के अनुसार भी छंद का प्रयोग आवश्यक होता है। यथा प्रसंगबद्ध काव्य के लिए परंपरागत छंद, दोहा, चौपाई, हरिगीतिका, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, वंशस्थ आदि उचित माने

१—पंत—पल्लव।

गये हैं। हिन्दी में प्रथम तीन छंद ही विशेष प्रचलित हैं। जायसी का पद्मावत और तुलसी का रामचरितमानस दोहा चौपाई छंद में है।

नीतिपरक काव्य प्रायः दोहा, कुंडलियाँ और चौपदों में लिखा गया है। हिन्दी साहित्य में कबीर, तुलसी, रहीम, वृन्द, बिहारी आदि कवियों के दोहे पर्याप्त प्रसिद्ध हैं। गिरधर और दीनदयाल की कुंडलियाँ अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने चौपदों में बहुत ही सुन्दर नीतिपरक साहित्य लिखा है।

शृंगार रस के वर्णन के लिए सवैया, घनाक्षरी, गीत और दोहा छंद विशेष रूप से प्रयुक्त किये जाते हैं।

वीर, अद्भुत, रौद्र, वीभत्स आदि रसों के लिए शिखरणी, मंदाक्रांता, घनाक्षरी, छप्पय आदि छंदों का प्रयोग किया जाता है। हास्य रस के लिए दोधक, दोहा, घनाक्षरी, छंद विशेष रूप से उपयुक्त होता है। शांत रस के लिए दोहा, चौपाई, सवैया, गीत, घनाक्षरी, हरिगीतिका आदि छंद विशेष रूप से प्रचलित हैं।

आधुनिक युग में कतिपय महाकवियों द्वारा काव्य में मन चाहे वर्णन भी हुए हैं। उनके लिए शास्त्रमत की आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई। इसीलिए उन्होने अपने मनचाहे वर्णनों के लिए मनचाहे छन्दों को भी गढ़ लिया है। अतएव कतिपय आलोचकों ने इन मनचाहे छंदों का नामकरण रबड़ छन्द और केंचुआ छन्द करके, इन्हें भी छंदों की श्रेणी में परिगणित करने की सिफारिश की है।

अलंकार का औचित्य—प्रत्येक भावुक हृदय अपनी वाणी अथवा अभिव्यक्ति को विशिष्टता प्रदान करना चाहता है। उसका उद्देश्य होता है अपनी अनुभूति का श्रोता अथवा पाठक के हृदय में तीव्रतम प्रभावोत्पादक स्वरूप प्रदान करना। उसके लिए वह एक विशिष्ट शैली का प्रयोग करता है। कभी वह उपमा का आश्रय ग्रहण करता है, कभी अनेकानेक अनुप्रासों की योजना करता है, कभी अनेकार्थवाची शब्दों का प्रयोग करता है, कभी रूपक बाँधता है, कभी अन्योक्ति का सहारा लेता है, कभी वस्तु को घटा-बढ़ा कर उपस्थित करता है। कथन के ये विभिन्न स्वरूप अलंकृत शैली का विधान करते हैं। इसी शैली के माध्यम से वह अपनी अभिव्यक्ति में तीव्रता एवं चमत्कार की सृष्टि करता है।

आचार्यों ने वर्ण्य विषय की दृष्टि से अलंकारों का भी विधान किया है और निश्चय किया है कि अमुक विषय के लिए अमुक अलंकार का प्रयोग

उचित होगा। उदाहरणार्थ-रूप-वर्णन अथवा सादृश्य-वर्णन के लिए सादृश्य-मूलक अलंकारों यथा उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, अपह्नुति आदि का प्रयोग करना उचित है। जैसे :—

"सोनित छींटि छटान जटे तुलसी प्रभु सोहैं महा छवि छूटी।
मानो मरकत सैल-विसाल में फैलि चली वर वीर-बहूटी॥"

उक्त छन्द में उत्प्रेक्षा अलंकार द्वारा युद्धभूमि स्थित राम के रूप का वर्णन किया गया है।

किसी सिद्धान्त का पुष्टीकरण करने के लिए हेतुमूलक अलंकार अनु-मान, निदर्शना, काव्यलिंग अर्थान्तरन्यास, ललित, कारणमाला आदि उपयुक्त माने गये हैं। यथा :—

"जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं॥
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आक फिरहिं पय-लागी॥"

उक्त उद्धरण में दो बातें अलग-अलग कही गई हैं। दोनों का अर्थ भिन्न है। पर निदर्शना अलंकार द्वारा दोनों का बलपूर्वक सम्बन्ध जोड़कर एक सिद्धान्त की पुष्टि की गई है।

उपदेश प्रधान स्थलों में अन्योक्ति अलंकार का प्रयोग विशेष प्रचलित है। यथा :—

"माली की सहिसासना, सुनि गेंदे मति भूल।
बिन सिर दै पैहै नहीं, वहै हजारे फूल॥
वहै हजारे फूल, जौन सुर सीस चढ़ैगो।
दियो आपनो आप? अधिक तें अधिक बढ़ैगो॥
बरनै दीनदयाल, किती तू पैहै लाली।
तेरे ही हित हेत, देत सिख तोकों माली॥"

उक्त पद में अन्योक्ति द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है कि महानता की प्राप्ति के लिए उत्सर्ग वांछनीय है।

व्यंग्योक्तियों में वक्रोक्ति, अतिशयोक्ति, सहोक्ति आदि अलंकारों का प्रयोग उचित माना गया है। यथा :—

"राम लखन सिय कहँ बन दीन्हा। पठै अमरपुर पति हित कीन्हा॥
लीन्ह विधवपन अपजसु आपू। दीन्हेहु प्रजहिं सोक संतापू॥
मोहिं दीन्ह सुखु सुजसु सुराजू। कीन्ह कैकयी सब कर काजू॥

उक्त उद्धरण में "हित", "सुखु सुजसु सुराजू" और "काजू" में व्यंग्य निहित

है। 'हित' का व्यंग्यार्थ 'अहित' और 'सुखु सुजसु सुराजू' का व्यंग्यार्थ 'दुःख, अपयश एवं कुराज्य', तथा 'काजू' का व्यंग्यार्थ 'अकार्य' होगा।

वीर, रौद्र, वीभत्स, अद्भुत आदि रसों में यमक, अनुप्रास तथा अन्य वक्रोक्ति, गूढ़ोक्ति आदि प्रयत्नसाध्य अलंकारों का प्रयोग समीचीन माना गया है। यथा :—

"ऊँचे घोर मंदर के अन्दर रहनवारी,
ऊँचे घोर मंदर के अन्दर रहाती हैं।
कंद मूल भोग करैं, कंदमूल भोग करैं,
तीन बेर खातीं, जे वे बीन बेर खाती हैं।
"भूखन" सिथिल अंग भूखन सिथिल अंग,
विजन डुलाती जे वे बिजन डुलाती हैं।
"भूषन" भनत सिवराज वीर तेरे त्रास,
नगन जड़ाती जे वे नगन जड़ाती हैं॥"[१]

उक्त पद में भय की सृष्टि की गई है और इसके लिए एक ही पदांश का विभिन्न अर्थों में दो बार प्रयोग करके यमक अलंकार की सृष्टि की गई है।

रस और अलकार के सम्बन्ध का विवेचन करते हुए ध्वन्यालोककार का मत है कि अनुप्रास शृङ्गार के किसी अंग का प्रकाशक नहीं होता है।[१] समर्थ होते हुए भी यदि कवि शृङ्गार रस में विशेषतः विप्रलम्भ शृङ्गार में यमकादि यत्नसाध्य अलंकारों का निबंधन करता है तो यह उसका प्रमाद ही है।[२] रस में मनोनिवेश रखने के कारण अपृथक् यत्न से सिद्ध हो जाने वाला और सहज क्रिया से सम्पन्न हो सकने वाला अलंकार ही उचित है।[३]

१—"शृंगारस्याङ्गिनो यत्नादेकरूपानुबन्धवान्।
सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रासः प्रकाशकः॥"
ध्वन्यालोक, द्वितीयोद्द्योतः, १४।

२—"ध्वन्यात्मभूते शृंगारे यमकादि निबंधनम्।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः॥" वही, १५।

३—"रसाक्षिप्तस्तयायस्य बंधः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः॥" वही, १६।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि छंद, अलंकार, वक्रोक्ति अथवा ध्वनि वर्णन की विशेष शैलियाँ हैं। अतएव इनका परिगणन शैलीगत वादों में होना चाहिए। निश्चय ही ये वर्णन की शैलियाँ हैं। परन्तु जो कवि करुणा की व्यञ्जना छप्पय छन्द में करता है, अथवा शृङ्गार के लिए वीर छंद का प्रयोग करता है, वह प्रमाद करता है। यही प्रमाद छंद के औचित्य की विचार-चर्चा में आता है। इसी प्रकार शृङ्गार में दृष्टान्त अथवा अर्थान्तरन्यास या नीति में प्रतिवस्तूपमा अथवा दीपक अलंकार का प्रयोग औचित्य के अनुकूल नहीं है। इसी औचित्य-विचार के कारण हमने इन शैलीगत वादों का भी औचित्यवाद के अन्तर्गत विवेचन किया है। वैसे जहाँ ये कलाकार विशेष की शैली बनेंगे वहाँ उनका विवेचन शैलीगत वादों में ही होगा।

आदर्शवाद:—मानव का मूल उसके आचरण, उसकी सभ्यता और संस्कृति में निहित है। वर्तमान में उसके जिस स्वरूप को हम देखते हैं वह अतीत की देन है। दूसरे शब्दों में कल का देखा हुआ उसका स्वप्न आज उसकी क्रिया में सत्य हो रहा है। हमारे जीवन का उपस्थित स्वरूप ऐसा कभी न हुआ होता यदि हमारे पूर्व-पुरुषों ने अपनी चिन्तना एवं कल्पना में इसके रूप की रेखाएँ निर्मित न की होतीं।

सृष्टि की प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक घटना, प्रत्येक व्यापार अपने निरन्तर साहचर्य के कारण जीवन के इतने निकट आ जाती है कि हमें उससे एक प्रकार की अरुचि-सी उत्पन्न होने लगती है। अतएव हम उससे सुन्दरतर और सुन्दरतर से सुन्दरतम स्वरूप की कामना करने लगते हैं। यह कामना निश्चय ही अलोक-सामान्य होती है। अतः उसकी संज्ञा होती है अलौकिक। जब तक हमारा व्यापार लौकिक रहता है, सर्वजन-सुलभ होता है, तब तक उसकी संज्ञा रहती है यथार्थ। और जब हम ऐसा सत्-आचरण करने लगते हैं जो सर्वजन सुलभ नहीं होता तब हम उसे आदर्श कहने लगते हैं।

हमारा प्रत्येक आदर्श कल्पना-प्रसूत होता है। मनुष्य उच्चतर और उच्चतर से उच्चतम बनने की कामना से साधना के जिन-जिन स्वरूपों का विधान करता है वे सब आदर्श रूप का निर्माण करते हैं।

मनुष्य का यथार्थ जीवन सुख-दुःख का मिश्रण है। इसमें अनेकानेक विषमताएँ भी हैं। इस वैषम्य को किसी प्रकार स्वीकार करता हुआ जब तक

कोई विशेषता नहीं आती, उसका जीवन एक साधारण जीवन होता है। वह जीवन का सुख-दुःख भोगता चला जाता है तब तक उसके जीवन में परंतु जीवन में ऐसे क्षण आते अवश्य हैं जब वह वर्तमान के बंधनों को तोड़ कर, यथार्थ के आवरण को फेंक कर एक ऐसे संसार की सृष्टि करता है जो वर्तमान से पूर्ण भिन्न होता है। निश्चय ही उसकी इस नवीन सृष्टि में उसके साहस, शक्ति, बुद्धि और विवेक की परीक्षा होती है। जो व्यक्ति इस परीक्षा में जितना ही अधिक सफल हो पाता है वह उतने ही अधिक उच्चतम आदर्शों का निर्माण कर पाता है। इस प्रकार हमारा आदर्श जन-जीवन के आचरण से भिन्न होता है।

आदर्श की भावना ही हमारे यथार्थ जीवन को बल प्रदान करती रहती है। हमारे महान् देवोपम चरित्र आदर्श-प्रसूत ही हैं। आदर्श भले ही सम्पूर्णतः हमारे जीवन में उतर न सकें, पर उसके प्रति लालसा एवं कामना प्राणी को विपथ-गामी होने से बचाती अवश्य है। यथार्थ का अनुकरण करते-करते प्राणी जब ऊब जाता है तब आदर्श ही उसे अपने मनोरम प्रदेश में ले जाकर उसे सुख और शान्ति प्रदान करता है तथा जीवन-यात्रा के लिए नवीन शक्ति एवं स्फूर्ति प्रदान कर उसके लक्ष्य की पूर्ति के लिए उसे कर्त्तव्य-पथ पर अग्रसर करता है।

देश, काल एवं भौगोलिक परिस्थितियों की भिन्नता के कारण सर्वत्र एक ही प्रकार का आदर्श पाया जाना दुस्साध्य है। काल-क्रमानुसार आदर्शों के स्वरूप में परिवर्तन होना स्वाभाविक ही है। किन्तु प्रत्येक युग में, प्रत्येक देश में आदर्शों के मूल में इस बात की समता अवश्य रही है कि हमारा आदर्श जीवन को विकसित करने वाला हो, उससे सुख और शान्ति की सृष्टि हो।

हिन्दी का प्रारम्भिक साहित्य जीवन के लिए अनेकानेक आदर्श प्रस्तुत करने वाला रहा है। इसमें वीरोचित भावनाओं को ही विशेष रूप से प्रश्रय प्राप्त हुआ है। राजस्थानी भूमि का कुछ ऐसा ही प्रभाव है कि वहाँ के कवियों ने निरन्तर वीरोचित आदर्शों की स्थापना की है। यथाः—

घर आंगण मांहे घणा, त्रासे पड़ियां ताव।
जुध आंगण सोहै जिके, बालम बास बसाव।।

—बांकीदास

[घर के आंगन में शोभा देने वाले बहुत हैं जो कष्ट आ पड़ने पर भयभीत हो जाते है। हे प्रिय, जो रणांगण में शोभा देने वाले हों उनके पास बास बसाओ—घर बनाओ।]

हथ लेवे ही मूठ किरण, हाथ विलग्गा माय।
लाखां बातां हेकला, चूड़ी मो न लजाय॥
—कविराजा सूर्यमल्ल,

[पाणिग्रहण के अवसर पर उनकी हथेली पर की तलवार की मूठ के निशान मेरे हाथ में चुभने से हे माता मैं समझ गई कि युद्ध में अकेले हो जाने पर भी वे मेरे चूड़े को नहीं लजावेंगे।]

× × ×

नायण आज न मांड़ पग, काल सुणीजै जंग।
धारा लागीजै धणी, तौ दीजै घण रंग॥
—कविराजा सूर्यमल्ल

[हे नाइन, आज मेरे पाँवों को मत रँग। कल युद्ध सुना जाता है। यदि पति धारातीर्थ में स्नान करें "तलवार के घाट उतरें" तो फिर "सती होते समय" खूब रंग देना।]

हिन्दी का भक्तिकालीन साहित्य जीवन के विविध आदर्शों से पूर्ण है। कबीर ने जन-जीवन में फैले हुए मिथ्याचार, आडम्बर तथा असत् को दूर करने के लिए जिस विमल-वाणी का उद्घोष किया उसमें जीवन के लिए अनेकानेक सन्देश के साथ उच्चतम आदर्श की भी व्यंजना हुई। यथा प्रेम के आदर्श की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं:—

यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारै भुँइ धरै, तब पैठे घर माँहिं॥

साधारणतः भक्ति के मार्ग में सभी लोग चलना चाहते हैं और भगवत्-प्रेम का उपदेश देते हुए भक्ति के क्षेत्र में प्रेम की महत्ता का प्रतिपादन भी करते हैं, किन्तु 'कथनी' और 'करनी' में बड़ा अन्तर होता है। इसी लिए साधना असफल हो जाती है, 'कथनी' और 'करनी' का एकत्व ही सफलता की शर्त है। कबीर का कथन है कि भगवत्-प्रेम के सम्बन्ध में जो चर्चाएँ चल रही हैं वे केवल वाणी तक ही सीमित हैं। उसके आचरण के लिए यह आवश्यक है कि सर को उतार कर प्रेम के घर में प्रवेश किया जाय अर्थात् अहंकार का पूर्णतः विनाश कर दिया जाय। फलतः प्रेमी के अहंकार

का त्याग ही प्रेम का आदर्श है। जायसी नागमती के वियोग-वर्णन में वियोगिनी पत्नी की आदर्श-भावना की व्यंजना करते हुए कहते हैं :—

"यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाव।
मकु तेहि मारग गिरि परे, कन्त धरे जहँ पाँव॥

—पदमावत

प्रेमी का आदर्श होता है कि प्रिय के लिए अपने जीवन को सम्पूर्णतः निःशेष कर देना अर्थात् उसे प्रिय के लिए समर्पित कर देना। इसीलिए नागमती यदि अपने जीवन-काल में अपने प्रिय से नहीं मिल सकी तो वह मरकर ही उसके चरणों के स्पर्श की कामना करती है। महात्मा तुलसी ने भी चातक के रूप में प्रेम के समुज्ज्वल आदर्श की अभिव्यंजना करके भक्त के लिए भक्त के चरमोत्कृष्ट आदर्श की स्थापना की है। गंगा-तट पर स्थित एक वृक्ष पर चातक बैठा हुआ स्वाति बूँद की आशा में ऊपर की ओर टकटकी लगाये हुए था। उसकी आँखों की यह विशेषता होती है कि वह चारों ओर देख सकती है पर ध्यानावस्थित होने के कारण वह बहेलिया को नहीं देख पाती है। अस्तु, बहेलिये ने उसे मार दिया। वह गंगा जी में गिर पड़ा। साधारणतः मरते समय मुक्ति पा जाने की कामना से मरते हुए प्राणी के मुख में तुलसी और गंगाजल डाल दिया जाता है किन्तु चातक के प्रेममय-जीवन का यह आदर्श है कि जिस स्वाति-बूँद के लिए उसने जीवन-पर्यन्त साधना की है उसको छोड़ कर वह मुक्तिदायक गंगाजल को भी नहीं लेना चाहता है। इस प्रकार उसके प्रेमपट का फटना तो दूर रहा उसमें खोंच तक भी न लग सकी :—

बध्यो बधिक पर्यो पुन्य जल, उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेम-पट, मरतहु लगी न खोंच॥

—दोहावली

प्रेममय आचरण में प्रायः आदान-प्रदान का भाव चलता है, किन्तु जब यह प्रेम आदर्श रूप हो जाता है तब वह केवल अपने प्रेम का दान करना ही जानता है दूसरे के प्रेम का आदान नहीं चाहता। इसीलिए भक्त रूप चातक:—

"नहिं जाँचत, नहिं संग्रही, सीस नाय नहिं लेय।"

—दोहावली

प्रेम के जगत् का इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्रेमी को निरन्तर प्रिय की उपेक्षा मिलती है। उसने अपनी कोमलता के प्रति कठोरता पाई है

और अपने समर्पण के बदले उसे साधारणतः प्रिय का रोष ही प्राप्त हुआ है। फिर भी उसने अपनी साधना में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं आने दी। यही उसका आदर्श है। प्रेमी चातक निरन्तर मेघों की ओर अपने सहज प्रेम के वशीभूत होकर देखा करता है, परन्तु मेघ द्रवित होने के स्थान पर उस पर उपल की वृष्टि करते हैं, फिर भी चातक अपनी साधना में कभी कमी नहीं आने देताः—

"उपल बरसि गरजति तरजि, डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि, कबहुँ कि दूसरि ओर॥"

—दोहावली

जलद जनम भरि सुरति बिसारौ। जाँचत जल पविपाहन डारौ॥
चातक रटनि घटे घटि जाई। बिढ़इ प्रेम सब भाँति भलाई॥

—रामचरितमानस

तुलसी ने अन्यत्र भी अनेक आदर्शों की सृष्टि की है। भरत की भ्रातृ-भक्ति का आदर्श देखिये। भरत राम से मिलने के लिए वन जा रहे हैं। साथ में समस्त परिजन-पुरजन भी है। मार्ग में लोग भरत से सवारी पर बैठ-कर चलने के लिए कहते हैं। भरत जल्दी ही राम के पास पहुँच जाने के विचार से यदि किसी वाहन पर बैठ जाते तो कदाचित् कुछ विशेष अनुचित न हुआ होता, किन्तु उन्हें तो अपने आदर्श का पालन करना था और अपने लोक-पावन चरित्र द्वारा सेवक धर्म के आदर्श की प्रतिष्ठापना करनी थी। इसीलिए वे कहते हैं:—

"राम पयादेहिं पायँ सिधाये। हम कहँ रथ गज बाजि बनाये॥
सिर भर जाउँ उचित अस मोरा। सब तें सेवक धरमु कठोरा॥

—रामचरितमानस, अयोध्याकांड

सती ने राम की परीक्षा लेने के लिए सीता का वेश धारण किया। शंकर राम के भक्त थे। अतः उन्होंने परीक्षा लेकर लौटी हुई सती का परित्याग करके राम-भक्ति के प्रति जो आदर्श उपस्थित किया, वह 'न भूतो न भविष्यति' ही है :—

"बिनु अघ तजी सती अस नारी।"

मानस तो अनेकानेक आदर्शों की सुललित मंजूषा है। इसमें मातृ-पितृ एवं गुरु-भक्ति, पत्नी-व्रत, पति-भक्ति, भ्रातृ-प्रेम, प्रजा-वत्सलता आदि के अनेका-नेक आदर्श रूप पाये जाते हैं। विस्तार-भय से मानस में केवल राजा के आदर्श का ही उल्लेख करके हम अन्य ग्रन्थों में पाई जाने वाली आदर्शमयी-भावनाओं पर विचार करेंगे।

राजा के कर्त्तव्यों की विवेचना करते हुए तुलसी कहते हैं:—

"मुखिया मुख सों चाहिए, खान पान को एक।
पाले पोषै सकल अंग, तुलसी सहित विवेक ॥"

राजा का कर्त्तव्य है कि जिस तरह से खाता तो मुँह है, किन्तु खाये हुए पदार्थ के रस से शरीर के प्रत्येक अंग को समृद्ध करता है, उसी प्रकार राजा प्रजा से कर तो ले, किन्तु उसका उपयोग प्रजा के हित में ही करे।

मीरा ने भगवत्-प्रेम का जो आदर्श उपस्थित किया है वह भी अपने ढंग का एक ही है। उसने कृष्ण-प्रेम में 'सन्तन ढिंग बैठि-बैठि लोक-लाज खोई' और प्रेमातिरेक के कारण विष का प्याला भी पिया जो उसके लिए अमृत हुआ। अन्ततः वह उस परम प्रिय प्रभु से मिली जिसकी 'सूली ऊपर सेज' थी। गिरधर-रँगराती होकर उसने सचमुच गोविन्द को मोल ले लिया। यह उसके आदर्श-प्रेम का ही प्रभाव था कि वह मार्ग में आने वाली समस्त बाधाओं को नष्ट करके कृष्ण-भक्ति में तल्लीन हो सकी।

हिन्दी का रीतिकालीन साहित्य विशेषतः केवल प्रेम की, और उस प्रेम की ही, जो पारिवारिक सीमाओं से बँधा हुआ था, व्यंजना करने के कारण किसी विशिष्ट आदर्श की स्थापना न कर सका, यद्यपि वियोगी-जीवन के कुछ परमोज्ज्वल स्वरूप वहाँ अवश्य प्राप्त होते हैं।

आधुनिक-साहित्य में यशोधरा की 'यशोधरा', साकेत की 'उर्मिला', प्रियप्रवास की 'राधा' अपना विशिष्ट आदर्श रखती है। 'साकेत सन्त' के भरत भी भक्त का आदर्श उपस्थित करते है।

'प्रसाद' के 'चंद्रगुप्त' नाटक में शकटार का चरित्र प्रतिशोध की भावना से कष्ट-सहिष्णुता एवं साहस का अनुपम आदर्श उपस्थित करता है:—

"**शकटार [चाणक्य से]**......'दुःख! दुःख का नाम सुना होगा, या कल्पित आशंका से तुम उसका नाम लेकर चिल्ला उठते होगे। देखा है कभी—सात-सात गोद के लालों को भूख से तड़प कर मरते? अन्धकार की घनी चादर में, बरसो भूगर्भ की जीवित समाधि में एक दूसरे को अपना आहार देकर स्वेच्छा से मरते, देखा है—प्रतिहिंसा की स्मृति को, ठोकरें मार कर जगाते-जगाते, और प्राण-विसर्जन करते? देखा है कभी यह कष्ट—उन सबों ने अपना आहार मुझे दिया और पिता होकर भी मैं पत्थर-सा जीवित रहा! उनका आहार खा डाला, उन्हें मरने दिया! जानते हो क्यों? वे सुकुमार थे, अतः सब मर जाते। मैं बच रहा प्रतिशोध के लिए! दानवी-प्रतिहिंसा के लिए! ओह! उस अत्याचारी नर-

राक्षस की अंतड़ियों में से खींचकर एक बार रक्त का फुहारा छोड़ता ! इस पृथ्वी को उसी से रँगा देखता !"

—'चंद्रगुप्त', तृतीय अंक, दृश्य आठवाँ

प्राचीनकाल में युद्ध का यह आदर्श माना जाता था कि केवल सैनिकों में ही लड़ाई होती थी। युद्ध के कारण कभी किसी प्रजाजन को, उसकी खेती आदि को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचाई जाती थी। वे अपनी शस्य-श्यामला का सुखोपभोग करते हुए स्वच्छन्दतापूर्वक निष्कंटक जीवन यापन करते थे। युद्ध-भूमि में ही पृथ्वी रक्तरंजित होती थी, अन्य भू-भाग हँसते हुए फूलों से सुवासित रहता था। इसी आदर्श की ओर संकेत करते हुए 'चंद्रगुप्त' नाटक का चन्द्र सिंहरण से कहता है:—

"यवन लोग आर्यों की रणनीति से नहीं लड़ते। वे हमीं लोगों के युद्ध हैं, जिनमें रणभूमि के पास ही कृषक स्वच्छन्दता से हल चलाता है। यवन आतंक फैलाना जानते हैं और उसे अपनी रणनीति का प्रधान अंग मानते हैं। निरीह साधारण प्रजा को लूटना, गाँवों को जलाना, उनके भीषण परन्तु साधारण कार्य है।"

—द्वितीय अंक, दृश्य आठवाँ

'स्कन्दगुप्त' नाटक में 'देवसेना' के रूप में आदर्श प्रेमिका के चरित्र की भावना 'प्रसाद' के कल्पनाप्रवण मस्तिष्क की परिचायिका है। देवसेना स्कन्द को प्रेम करती है। उसे ज्ञात है कि विजया भी स्कन्द के प्रति आकर्षित है, किन्तु एक क्षण के लिए भी वह विजया के प्रति ईर्ष्या का अनुभव नहीं करती। देवसेना का भाई बंधुवर्म्मा स्कन्द की सहायता करता है। किन्तु इसके बदले में वह स्कन्द के प्रणय को खरीदना नहीं चाहती, वह अपनी अलौकिक साधना में तल्लीन है। इसीलिए जहाँ एक ओर विजया प्रणय के लिए द्वार-द्वार भटकती फिरती है, वहाँ वह द्वार पर आये हुए प्रणय को ठुकरा देती है। वह स्कन्द से कभी अपनी प्रेम-चर्चा भी नहीं करती। उसके प्रेम के आदर्श को उसके ही शब्दों में देखिये:—

"मैंने कभी उनसे प्रेम की चर्चा करके उनका अपमान नहीं होने दिया है। नीरव-जीवन और एकान्त व्याकुलता, कचोटने का सुख मिलता है। जब हृदय में रुदन का स्वर उठता है, तभी संगीत की वीणा मिला लेती हूँ। उसी में सब छिप जाता है।

—स्कन्दगुप्त, तृतीय अंक

भगवतीचरण-वर्मा कृत 'चित्रलेखा' में बीजगुप्त चित्रलेखा से प्रेम के आदर्श का निरूपण करते हुए कहते हैं:—

"चित्रलेखा, तुम भूलती हो। प्रेम का सम्बन्ध आत्मा से है, प्रकृति से नहीं। जिस वस्तु का प्रकृति से सम्बन्ध है वह वासना है, क्योंकि वासना का सम्बन्ध वाह्य से है। वासना का लक्ष्य वह शरीर है जिस पर प्रकृति ने कृपा करके उसको सुन्दर बनाया है। प्रेम आत्मा से होता है, शरीर से नहीं। परिवर्तन प्रकृति का नियम है, आत्मा का नहीं। आत्मा का सम्बन्ध अमर है।"

—आठवाँ परिच्छेद

'शेखर' में शशि के निम्नांकित वाक्य भी आदर्श की पुष्टि करते हैं—

"तुमने मुझे जो दिया है, वह मैंने कृतज्ञ होकर स्वीकार किया, वर मान कर नहीं, यह कल्पना मैंने नही की कि मैं उसे सदा बाँध रखूंगी। तुम्हारी आवश्यकता मुझे है, क्योंकि मेरा खंडित व्यक्तित्व तुम्हारे द्वारा अभिव्यंजना का मार्ग पाता है। तुम्हारे द्वारा, और तुम्हारे लिए मैं जो स्वप्न देखती हूँ उनके द्वारा, किन्तु मैं जानती हूँ, देखती हूँ, तुम खंडित नहीं हो, और इसलिए मेरा निश्चय है कि जहाँ तक मेरा वश है, वह मेरा प्यार नही होगा जो तुम्हे बन्दी बनाने का यत्न करेगा...शेखर, मेरा तुम पर अगाध स्नेह है, पर मैं चाहती हूँ कि तुम जानो कि मैंने तुम्हें बाँधा नही, बाँधती नहीं... न अब, जब मै हूँ, और न पीछे...।"

—पृष्ठ २४७

"जो चला गया है उसका प्यार केवल वेदना है और वेदना को चुप रहना चाहिए।"

—पृष्ठ २४८

आधुनिक युग में भारतीय-राष्ट्रीय आंदोलन के अवसर पर त्याग के कितने ही वन्दनीय और चिरस्मरणीय रूप उपस्थित हुए। कोटि-कोटि नर-नारियों ने इस स्वातंत्र्य-यज्ञ में आहुति दी। त्याग और तपश्चर्यापूर्ण जीवन का आदर्श उपस्थित किया। महामानव गांधी ने अपने राष्ट्र-प्रेम के गगन-भेदी नारे से समस्त दिक्मंडल को गुंजायमान किया। उनके आह्वान को सुनकर मातृ-वेदी पर बलिदान होने के लिए कितने ही सेननी—

माँ कर विदा, आज जाने दे रण चढ़ लौह चबाने दे।
मिट जाये सरकार, क्रान्ति की चिनगारी सुलगाने दे॥

—'कंटक'

के पावन-मन्त्र का उच्चारण करते हुए 'कृष्ण-मन्दिर' (जेल) की ओर बढ़ते चले गये। परिणाम यह हुआ कि गांधी के भारत का भाल आततायी के समक्ष कभी झुका

नहीं। साहित्य में इस राष्ट्रीय-सत्याग्रह की घटनाओं का चित्रण भी हुआ है। अनेक कहानियाँ, उपन्यास, नाटक और काव्यग्रंथों का प्रणयन भी हुआ जिसमें भारतीय-लालों की अमर-गाथाएँ अंकित की गई। लक्ष्मीबाई, तात्या टोपे, नानाराव, चन्द्रशेखर 'आजाद', भगतसिंह आदि के स्वातंत्र्य-वेदी पर बलि होने वाले आख्यानों ने भी आदर्श की सृष्टि की। महात्मा गांधी के आदर्शों का कभी उन्हीं के नाम का प्रयोग करके और कभी उन्हीं के आदर्शों के अनुरूप कल्पित पात्रों की सृष्टि करके चित्रण किया गया। वीर-जीवन की अनेकानेक आदर्श गाथाएँ आज के युगावतार गांधी के तथा उनके अनुयायी व्यक्तियों के जिन्होंने साहित्य में स्थान पाया है, चरित्र में देखी जा सकती हैं। यथा:—

> तुम मांस हीन, तुम रक्त हीन,
> हे अस्थि शेष! तुम अस्थि हीन।
> तुम शुद्ध-बुद्ध आत्मा केवल,
> हे चिर पुराण! हे चिर नवीन॥
> तुम पूर्ण इकाई जीवन की,
> जिसमें असार भव शून्य लीन।
> आधार अमर, होगी जिस पर,
> भावी की संस्कृति समासीन॥

पंत—'युगपथ'

मैथिलीशरण गुप्त, 'भारतीय आत्मा', 'राष्ट्रीय आत्मा', 'दिनकर', बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', हरिकृष्ण 'प्रेमी' आदि अनेक कवियों ने युगावतार गांधी के आदर्शों की चर्चा अपनी रचनाओं में की है।

आधुनिक काल में उपन्यासकारों ने राष्ट्रीयता, सामाजिकता तथा धार्मिकता को लेकर अनेकानेक आदर्श-स्वरूपों की प्रतिष्ठापना की है। ऐसे लेखकों की यदि सम्पूर्ण रचना आदर्शवादी नहीं भी है, तो भी उन्होंने अपने कतिपय पात्रों द्वारा आदर्श की अवतारणा करवाई है। उदाहरणार्थ प्रेमचन्द ने रंगभूमि में सोफिया के द्वारा कर्त्तव्यनिष्ठा, सेवा-परायणता, देश-प्रेम आदि के उच्चतम स्वरूपों की व्यंजना की है। 'कायाकल्प' में अनुराग और त्याग मनोरमा के रूप में मूर्तिमान हो उठा है। 'गबन' के अशिक्षित देवीदीन के दोनों पुत्रों को विदेशी वस्त्र-बहिष्कार-आंदोलन में गोली से उड़ा दिया जाता है। उसकी छाती गर्व से

फूल उठती है। अतः वह भी राष्ट्र-प्रेम सम्बन्धी अपना एक आदर्श रखता है। 'गोदान' के मेहता निश्चय ही अपना एक विशिष्ट आदर्श रखते हैं और मालती भी अपने जीवन को कुछ ऐसा मोड़ लेती है, जिससे वह 'तितली' से बदल कर श्रद्धा की पात्री बनती है।

प्रसाद के 'कंकाल' में यमुना का आदर्श अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उसका सम्पूर्ण जीवन एक तपस्या है। वह सती-साध्वी देवी अपना सम्पूर्ण जीवन उच्चादर्शों की साधना में ही व्यतीत कर देती है।

'कौशिक' ने अपने उपन्यास 'माँ' में सुलोचना के रूप में एक आदर्श माता का चित्रण किया है। चंडीप्रसाद 'हृदयेश' अपनी काव्यमयी गद्य-भाषा के लिए हिन्दी-जगत् में प्रख्यात हैं। इनके 'मंगल-प्रभात' नामक उपन्यास में आदर्शवाद की ही प्रतिष्ठा है। प्रायः वे समस्त आचरण जो जीवन को आदर्श कोटि में ले जाते हैं, इस कृति में विद्यमान हैं। अन्नपूर्णा, सुभद्रा, आनन्दस्वामी, राजेन्द्र, बसन्त आदि पात्रों द्वारा विद्वान् लेखक ने प्रेम, त्याग, तप, सेवा, पवित्रता, कर्त्तव्यपरायणता आदि के परमोज्ज्वल स्वरूप उपस्थित किये हैं।

वृन्दावनलाल वर्मा की प्रतिभा (तूलिका) ने अतीत के चित्रों को एक अनुपम सजीवता प्रदान की है। आज बुन्देलखंड की अमर-गाथाएँ उनकी रचनाओं के रूप में एक-एक करके बोल रही हैं। 'झाँसी की रानी' में रानी का चरित्र आदर्श भारत-ललना का चरित्र है। उसने 'झाँसी का सिन्दूर अमर हो' की भावना को साकारता प्रदान कर दी है।

प्रतापनारायण श्रीवास्तव के उपन्यास 'विदा' में भारतीय पारिवारिक-जीवन के उच्चतम आदर्शों की सृष्टि की गई है। माता-पिता, पुत्र-पत्नी ही मिलकर एक परिवार की सृष्टि करते हैं। यही अपने आचार द्वारा परिवार को महान् बनाते हैं। शान्ता, लज्जा, मुरारी, चपला, माथुर आदि इस उपन्यास के प्रमुख पात्र हैं जो अपने-अपने पारिवारिक सम्बन्धों में आदर्श की सृष्टि करते हैं।

संक्षेप में आज का साहित्य अपने यथार्थ-चित्रण के बीच में ही यत्र-तत्र आदर्शमयी भावनाओं की प्राण-प्रतिष्ठा करता हुआ चल रहा है। इन आदर्शों का निर्माण जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में हुआ है, कहीं पर यह राजनीतिक धरातल पर विभिन्न राजनीतिक वादों को लेकर और कहीं धार्मिक एवं सामाजिक रूप में है। साधारणतः आधुनिक-साहित्य में वर्तमान का ही अधिक महत्व है।

कवि या लेखक अनेक स्थलों पर सीधे या तिरछे शब्दों में वर्तमान के गीत गाते हुए दिखाई देते हैं। यह सत्य है कि वर्तमान उपेक्षणीय नहीं है। परन्तु वर्तमान ही सब कुछ है, भूत बीता स्वप्न और भविष्यत् केवल कल्पना है, इसे हमारा हृदय कभी स्वीकार नहीं कर सकता। हमारा मत है कि भविष्यत् का निर्माण भूत के बल पर होना चाहिए जिसे वर्तमान ने केवल नींव के रूप में शेष रखा है। इसीलिए हमारी दृष्टि में आज भी आदर्श की आवश्यकता है। इन आदर्शों के द्वारा ही समाज का जो नवनिर्माण होगा वह सुखद और शान्तिप्रद होगा।

राष्ट्रीयतावाद

इतिहास

समस्यामूलकवादः—हम ऊपर कह चुके हैं कि वर्तमानकाल में आचारवाद की शिथिलता के कारण ही आधुनिक समस्याओं का जन्म हुआ। जिस समय आचारवाद न रहा होगा उस समय भी समस्याएँ उत्पन्न हुई होंगी और उनके समाधान के लिए नैतिक-सामाजिक आचारों का निर्माण हुआ होगा। वस्तुतः आचारवाद से पूर्व ही इन समस्यामूलक वादों की स्थिति रही है। महाभारत में एक आख्यान है। "श्वेतकेतु" की स्त्री का कुछ दस्युओं ने अपहरण कर लिया। जब वे उससे अपनी वासना तृप्त कर चुके तब उन्होंने उसे पुनः "श्वेतकेतु" के समक्ष उपस्थित कर दिया और पशुधर्म की आड़ लेकर अपने इस कृत्य को न्याय-संगत बताने लगे। संभवतः इससे पूर्व इस सम्बन्ध की कोई व्यवस्था नहीं थी। अतएव "श्वेतकेतु" ने कहा कि 'मैं आज से ऐसी व्यवस्था करता हूँ कि एक स्त्री केवल एक ही पुरुष की स्त्री हो सकती है।'[1] समस्या थी कि क्या स्त्री का भी उपभोग पशु के समान सब को प्राप्त करने की स्वतन्त्रता है। उसका समाधान बना कि स्त्री केवल एक ही व्यक्ति की स्त्री हो सकती है। आज वह समाधान फिर समस्या बन रहा है और साम्यवाद के नाम पर एक नया समाधान दिया जा रहा है। इसी प्रकार की व्यक्ति-स्वतन्त्रता जब अपनी सीमा का अतिक्रमण कर जाती है तब सामाजिक आचारविधान प्रस्तुत होता है। सामाजिक आचारविधान जब इतना कठोर अथवा इतना असमर्थ हो जाता है कि उसके कारण नवीन परिस्थितियों का सामना करने में कठिनता प्रतीत होने लगती है तब उक्त दोनों स्थितियों में समस्याएँ सामने आती हैं तथा विचारकों का दल उनके समाधान के विभिन्न मार्गों पर विचार करने लगते हैं। यह समाधान दो स्थितियों में उपस्थित होते हैं; पहिली प्रयोग-दशा, दूसरी परिणाम-

---

१—महाभारत, आदिपर्व १२२ । १७६.

दशा। प्रयोग-दशा समाधान की वह स्थिति है जब भोजन प्राप्त करने के लिए खिचड़ी चढ़ाई हुई होती है। परिणाम-दशा खिचड़ी की पकी हुई दशा है।

इस प्रकार उपस्थित होने वाली समस्याएँ मुख्यतः तीन भागों में बाँटी जा सकती हैं :—१. सामाजिक अथवा नैतिक, २. आर्थिक और, ३. राजनैतिक। हम यहाँ विपरीत क्रम से उन पर विचार करेंगे।

राजनैतिक समस्याओं से सम्बद्धवाद:—जिस काल तक का साहित्य हमें उपलब्ध होता है, उस काल तक आते-आते वंश-परंपरागत राजधर्म की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। वैदिक-साहित्य में "दिवोदास", "सुदामा" और "बलि" जैसे राजाओं का परिचय हमें प्राप्त होता है; तथा तत्सम्बन्धिनी ऋचाओं से यह व्यक्त हो जाता है कि राजशक्ति का आविर्भाव हो चुका था। साथ ही विश, गोप आदि गणपतियों तथा राजन्यकों का भी हमें परिचय वैदिक-साहित्य में प्राप्त होता है। महाकाव्य-काल तक गणराज्यों का स्थान राजन्यकों ने ले लिया। गणराज्यों का महत्व घट गया और राजन्यक-राज्य ही गणराज्य के नाम से पुकारे जाने लगे। महाभारत में जहाँ संसप्तक राजन्यक-गणराज्य का परिचय मिलता है वहाँ विशुद्ध गोपगण-राजा नन्द का भी परिचय प्राप्त होता है। भगवान् कृष्ण का सम्पूर्ण राज्य राजन्यक-गणराज्य था तथा जरासंध, दुर्योधन आदि स्वतन्त्र एकछत्र राजा थे।

बौद्ध-काल में भी यही राजन्यक-गणराज्य तथा एकतन्त्र-राज्य मिलते हैं। अन्तर केवल इतना मिलता है कि जहाँ वैदिककाल के राज्य धार्मिक होते हुए भी धर्मान्ध नहीं थे वहाँ बौद्धकाल में ऐसे भी राज्य मिलते हैं, जिनमें धर्मान्धता की भावना दिखाई देती है। काशिराज बौद्ध-धर्म का अनुयायी हो गया। उसने बलपूर्वक वैदिक आचार का विनाश करा दिया। उसी की कन्या इस धर्मान्धता से दुखी होकर कहती है :—

"किं करोमि, क्व गच्छामि, को वेदानुद्धरिष्यति।"

यह धर्मान्धता अधिक काल तक न ठहर सकी। बलपूर्वक धर्म-प्रसार की भावना एक समस्या बन गई। फलतः प्रतिक्रिया हुई और शकारि विक्रमादित्य ने पुनः वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा की। इस काल तक आते-आते राजन्यक गणराज्यों का विनाश हो गया। आगे चलकर स्वतन्त्र वंश-परंपरागत राज्य व्यवस्था ही शेष रह गई। राजाओं के यशोगीत गाये जाने लगे। हिन्दी का आदिकालीन युग इसी प्रवृत्ति का निदर्शक है।

सामन्तवाद:—आगे चलकर भारतवर्ष का सम्पर्क मुसलमान-शक्ति से हुआ। यह नवोदित शक्ति स्व-संगठन के बल पर ऐसी समर्थ हो गई थी कि

उसने उदय के प्रारम्भिक तीन सौ वर्षों में ही अपने जन्मस्थान अरब से लेकर पश्चिम में स्पेन तक तथा पूर्व में चीन तक पादाक्रान्त कर डाला। इसके प्रबल झंझावात के सम्मुख यूनान साम्राज्य उखड़ गया, रोम उलट गया, स्पेन और पुर्तगाल झुक गये, मोरक्को–मिस्र की संस्कृतियाँ अपनी सत्ता शेष न रख सकीं, ईरान की राजशक्ति उड़ गई, तुर्किस्तान और चीन काँप उठे।

इस शक्ति का केन्द्र था बग़दाद, जहाँ इनका नेता ख़लीफा रहता था। वह धार्मिक नेता था और उसकी समस्त शक्ति धार्मिकता के आधार पर संगठित थी। ख़लीफा की सेना जिस ओर जाती थी उस ओर का भूभाग स्वाधीन करके एक बादशाह निश्चित कर दिया जाता था जिसका काम था मुसलमान धार्मिक आदर्शों के अनुसार शासन करना तथा ख़लीफा को राज-कर देना अर्थात् सार्वभौम सत्ता का एकमात्र अधिकारी धार्मिक नेता ख़लीफा था तथा प्रादेशिक शक्ति बादशाहों के हाथ में थी। दूसरे शब्दों में एकतन्त्र के अधीन संघराज्य की व्यवस्था मुसलमान-शासन-व्यवस्था थी।

महमूद ग़ज़नवी अपने विस्तृत साम्राज्य की स्वीकृति के लिए ख़लीफा के पास प्रार्थनापत्र भेजकर ही सुलतान की पदवी का अधिकारी हुआ। परन्तु मुसलमान साम्राज्य की इस बढ़ती हुई कला के समक्ष ख़लीफा की शक्ति क्षीण हो गई, यद्यपि ख़लीफा की शक्ति के विनाश का मूल-कारण साम्राज्य-विस्तार ही है, परन्तु यूरोपीय शक्तियों के धार्मिक युद्ध 'क्रूसेड' (Crusade) भी उसे शिथिल कर देने में सहायक हुए। फल यह हुआ कि जिस समय भारतवर्ष में मुसलमान साम्राज्य की प्रतिष्ठा हुई, उस समय ख़लीफा की शक्ति का विनाश हो चुका था। मुसलमानों के आगमन के साथ ही भारतवर्ष में सामन्तवादी शासन-व्यवस्था का सूत्रपात हुआ, जिसकी प्रतिक्रिया इस समय होती हुई प्रतीत होती है।

हिन्दी-साहित्य पर सामन्तवादी प्रथा का कुछ कम उपकार नहीं है। यद्यपि वाद के रूप में उसका यशोगान नहीं हुआ, परन्तु 'वाद' ने उपकार अवश्य किया। केन्द्रीय शासक सदैव गुण-ग्राही रहे हैं। उन्होंने हिन्दी-कवियों का सत्कार किया। औरंगजेब जैसे कठोर और धार्मिक राजा के दरबार में भी हिन्दी और संस्कृत के कवि उपस्थित थे। इसका अनुकरण सामन्तों ने भी किया। फल यह हुआ कि साहित्य-जीवी विद्वानों के लिए आश्रय के स्थान सर्वत्र सुलभ हो गये। साहित्य की गति में सहायता प्राप्त हुई। सामन्तवाद का हिन्दी-साहित्य पर यह उपकार वाद के लिए न सही, तो विस्तार के लिए बड़ा मूल्यवान हुआ।

राष्ट्रीयतावाद—मुसलमानों की ख़लीफाई शक्ति का संगठन उनका सम्पूर्णतः मौलिक रहा हो, ऐसा नहीं है। ईसाई सम्प्रदाय ने इसका प्रयोग पहिले से ही कर रक्खा था। रोम का 'पोप' सर्व-शक्तिमान बिना छत्र का सम्राट था। इस शक्ति ने यूरोप में अपना प्रभाव इतना दृढ़ कर लिया था कि वह लगभग १०० वर्ष से अधिक धार्मिक युद्ध चला सकी। इन धार्मिक युद्धों में इंग्लिस्तान से लेकर रूस तक के ईसाई राजा अपने सैनिक भेजने के लिए बाध्य थे। साथ ही उनकी राज्यशक्ति भी 'पोप' के अनुग्रह पर निर्भर रहती थी। मुसलमान शक्ति के साथ टक्कर खाकर पोप की शक्ति भी क्षीण हो गई। फलतः प्रादेशिक स्वतन्त्रताओं का उदय हुआ।

यूरोप का जलवायु और उसकी प्राकृतिक दशा इस योग्य नहीं थी कि वह अपने निवासियों के निश्चित जीवन में सहायक होती। वहाँ के निवासियों को नित्य प्रकृति से लड़कर अपना जीवन बिताना पड़ता था। यह स्वाभाविक था कि ऐसे व्यक्ति अथवा देश परस्वार्थ की अपेक्षा निज स्वार्थ पर विशेष ध्यान देते। इसी का फल हुआ कि भिन्न-भिन्न राज्य-शक्तियाँ अपने प्रादेशिक स्वार्थ की ओर विशेष ध्यान देने लगीं। राष्ट्रीयता इसी तुच्छ स्वार्थ भावना का सुनहली पालिश किया हुआ रूप है। इसी सुनहली पालिश की चमक ने लोगों को आकृष्ट किया और राष्ट्रीयता के गीत गाये जाने लगे। संभवतः वाद ने सबसे पहिले साहित्य में यही अपना रूप प्रकट किया। यूरोपीय शक्तियों के साथ यह इन्द्रायण का सुन्दर फल भारतवर्ष में भी आया जिसपर मुग्ध होकर अनेक हिन्दी-कवियों ने राष्ट्रीय-कवि की उपाधि धारण कर ली।

पूँजीवाद—राष्ट्रीयतावाद की परिभाषा में राजनैतिक सीमा से निर्धारित भूमि की गणना तो थी, परन्तु मनुष्य की गणना न थी। अतएव यह स्वाभाविक था कि राष्ट्रीयतावाद के सहारे शक्ति का आधार सामन्त से हटकर सम्पत्ति की ओर पहुँच जाता, क्योंकि राष्ट्रीयतावाद सम्पत्ति के वितरण की समस्या का समाधान नहीं देता। फल यह हुआ कि जो सम्पत्ति लगा सकते थे उनके द्वारा औद्योगीकरण की भावना तथा उनसे अधिकाधिक लाभ उठाने की इच्छा सामने आ गई। अब पूँजीवाद का जन्म हुआ। यूरोपीय-शक्तियों के साथ यह पूँजीवाद भी भारतवर्ष में आया। इसने साहित्य में यद्यपि साक्षात् सहायता नहीं दी, परन्तु जनता की मनोवृत्ति में सम्पत्ति-उपार्जन से कुत्सित लोभ के प्रति घृणा की एक भावना अवश्य उत्पन्न की जिसकी प्रतिक्रिया

'भैंसागाड़ी' अथवा 'इलाहाबाद के पथ पर' जैसी कविताओं में दिखाई पड़ती है।

साम्यवाद—राष्ट्रीयतावाद से पोषित पूँजीवाद भी सार्वजनीन समाधान न दे सका। अतएव समस्याएँ सुलझने की अपेक्षा उलझ अधिक गईं। व्यक्ति का व्यक्तित्व पूँजीवाद के जुएँ के बोझ से तड़प उठा और उसे उतार फेंकने का उपाय सोचने लगा। महात्मा मार्क्स ने एक नवीन समाधान उपस्थित किया। उन्होंने कहा कि राष्ट्र में सुख-शान्ति की व्यवस्था पूँजीवाद की समाप्ति पर ही निर्भर है। पृथ्वी और सम्पत्ति पर व्यक्ति का अधिकार न हो कर समाज का अधिकार होना चाहिए। कार्ल मार्क्स के अनुयाइयों में मौलिक सिद्धान्तों की एकता होते हुए भी उनके क्रियात्मक स्वरूप की दृष्टि से दो भेद हो गये। एक समाजवादी और दूसरा साम्यवादी। साम्यवादी विचारधारा समाजवादी विचारधारा की अपेक्षा अधिक उग्र रूप में उपस्थित हुई। समाजवाद ने जन-जीवन में समानता उत्पन्न कर सकने वाले पूँजीवादी-प्रथा का विनाश, कारखानों का राष्ट्रीयकरण आदि समस्त कार्य वैधानिक ढंग से करना निश्चित किया। किन्तु साम्यवाद ने सभी संभावित उपायों द्वारा मार्क्स के सिद्धान्तों की पूर्ति करनी चाही। यहाँ तक कि उसने क्रान्ति एवं हिंसा को भी अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए उपयुक्त समझा और इस प्रकार सशस्त्रक्रान्ति द्वारा राज्यहीन-वर्गहीन समाज की स्थापना ही का राष्ट्रोन्नति एक मात्र साधन बताया। पूँजीवादी व्यवस्था से त्रस्त जनता ने साम्यवादी विचारधारा को अपनाया और साहित्य में भी उसी के गीत गाये जाने लगे।

भारतवर्ष में इन गीतों में एक नया रंग देखने में आया। अपने सुख की एक दमड़ी भी दूसरों को दिये बिना सामन्तवाद और पूँजीवाद की दासता से मुक्ति देने की घोषणा करने वाले महाकवि गांधी जी को भी खरी-खोटी सुनाने से नहीं हिचके। साम्यवादी यह भूल गये कि व्यक्ति एक नहीं हैं तथा प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व भी एक नहीं है। व्यक्ति और उसके व्यक्तित्व का मूल्य निर्धारित किये बिना सुख का समान बटवारा उतना ही अस्वाभाविक और असत्य है जितना पूँजी का एक स्थान पर एकत्र हो जाना अथवा राज-शक्ति का एक व्यक्ति में केन्द्रित हो जाना।

हमारे देश में समाजवादी एवं साम्यवादी विचारधाराओं ने एक विशिष्ट स्थान पाया है। कारण स्पष्ट है, देश की त्रस्त एवं दीन-हीन प्रजा के लिए जो भी सुख-संदेश देगा उसके विचारों का प्रतिनिधित्व करेगा,

वही इसका नेतृत्व करेगा। हिन्दी-साहित्य में भी इन भावनाओं का वहन करने वाली एक विशिष्ट धारा चल पड़ी, जिसमें उत्तेजनात्मक प्रवृत्तियों को विशेष प्रश्रय प्राप्त हुआ। प्रत्येक नवीन वस्तु के प्रति उत्सुकता एवं कुतूहल की भावना के कारण विशेष आकर्षण होता है। कदाचित् यही स्थिति आज के साम्यवादी विचारधारा से पोषित साहित्य की है। अभी भारत में साम्यवाद का इतिहास अत्यन्त अल्पकाल का है। अस्तु, साम्यवादी साहित्य का अभी इतिहास ही क्या? साहित्य का इतिहास तो शताब्दियों के उपरान्त निर्मित होता है।

विवेचन

प्राचीनकाल में मुसलमानों के आने के पूर्व भारत विभिन्न भागों में बँटा हुआ था। उन भागों के शासक अपनी वैयक्तिक स्वतन्त्रता एवं वैभव की रक्षा में ही तत्पर रहा करते थे। केन्द्रीय-शासन के अभाव में भारतीय राष्ट्र का स्वरूप भी नहीं बन सका था, यद्यपि इसकी कल्पना सुदूर भारतीय इतिहास में प्राप्त होती है, किन्तु इस कल्पना में भी भरतखंड और आर्यावर्त ही प्रधान था। साधारणतः मौर्यकालीन इतिहास भारतीय राष्ट्र के स्वरूप को उपस्थित करता है। शक और हूणों के आक्रमणों का विरोध करने के लिए समस्त भारतीय शक्तियाँ एकत्र होकर सामूहिक रूप से प्रयत्नवान् होती थीं। इतिहास में इस तथ्य के अनेकानेक प्रमाण प्राप्त होते हैं। यवनों का आक्रमण-काल भी यद्यपि भारत के राष्ट्रीय-जीवन की विश्रृंखलता का प्रमाण है, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उस काल में राष्ट्रीय-भावना थी ही नहीं। भारत में अंग्रेजों के आगमन के साथ ही साथ हमारी राष्ट्रीय-भावना में एक विशिष्ट सजीवता उत्पन्न हुई और इसी के परिणामस्वरूप हम भारतीय राष्ट्र की जागरित भावना को प्राप्त करते हैं। अंग्रेजी शासन के प्रारम्भिक काल में यह भावना प्रायः सामाजिक एवं धार्मिक सुधारों के रूप में ही व्यक्त हुई, किन्तु कुछ ही समय पश्चात् भारतीय चिन्तना राजनैतिक क्षेत्र में पहुँची और स्वराज्य की भावना का प्रादुर्भाव हुआ। अनेकानेक राष्ट्रीय आन्दोलनों का जन्म हुआ जिसमें भारत के समस्त प्रदेशों ने यत्किंचित् मात्रा में अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार योगदान दिया। यहाँ पर हमें यह न भूल जाना चाहिए कि आधुनिक-काल में भारतीय राष्ट्र की भावना को दृढ़ करने का श्रेय हमारी राष्ट्रीय कांग्रेस को है, यद्यपि इससे पूर्व भी सन् १८५७ में स्वातंत्र्य-संग्राम हुआ था।

उसने ही भारतीय राष्ट्र को जागृति का संदेश दिया था। यह वह स्वातंत्र्य संग्राम था जिसमें हिन्दू और मुसलमानों ने सम्मिलित रूप से स्वतंत्रता देवी की अर्चना में अपनी भेंट चढ़ाई थी। कांग्रेस द्वारा संचालित अनेकानेक आन्दोलनों में भारत की विभिन्न जातियों ने मिलकर कार्य किया। वर्तमान स्वतंत्रता के मूल में भारत के समस्त प्रदेशों एवं जातियों का ही पूर्ण योग निहित है।

साहित्य में भी राष्ट्रीयता की भावना आधुनिकयुग, विशेषकर स्वातंत्र्य-युद्ध-काल की देन है। देश के उत्थान के लिए सरस्वती के अनेक भक्तों ने अपनी पवित्र वाणी की ओजमयी ध्वनि को घर-घर में गुंजा दिया। इस प्रकार हिन्दी-साहित्य में एक राष्ट्रीय धारा चल पड़ी। इस राष्ट्रीय कविता के विषय थे:.मातृभूमि का स्तवन, स्वदेश-गौरव-गान, अतीत-चिन्तन, वीर-प्रशस्ति, राष्ट्रीय-चेतना, संघर्ष की भावना, अंग्रेजों के प्रति घृणा, स्वदेशी वस्तुओं का प्रचार तथा विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, चरखा और खादी, हिन्दू-मुसलिम ऐक्य, पारस्परिक एकता, एक भाषा का प्रयोग, अछूतोद्धार आदि।

मातृभूमि का स्तवन:—मातृभूमि की वंदना करते समय साहित्यकारों ने भारत की भौगोलिक-स्थिति, प्राकृतिक सुषुमा तथा भारत की विद्या, बल, वैभव आदि का वर्णन किया है। प्रारम्भ में ही श्रीधर पाठक ने इस दिशा में अनेकानेक रचनाएँ प्रस्तुत कीं। यथा: भारतोत्थान, भारतश्री, भारतप्रशंसा भारतगीत, हिन्दवन्दना आदि। उनकी रचनाओं में एक प्रकार की विशिष्ट आत्मीयता एवं देश-भक्ति सम्बन्धिनी तन्मयता पाई जाती है:—

"गिरिवर भ्रूभंग धारि गंगधार कंठहार।
सुरपुर अनुहार विश्व वाटिका बिहारी।
उपवन-वन-वीथि जाल सुन्दर सोइ पटदुसाल
कालिमाल विभ्रमाऽलि मालिकाऽलिकाऽली।"

—भारतप्रशंसा

महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी भारत की वन्दना करते हुए लिखा है:—

जय जय प्यारे देश हमारे। तीन लोक में सबसे न्यारे।
हिमगिरि मुकुट मनोहर धारे। जय जय सुभग सुवेश॥

× × ×

जय जय हे देशों के स्वामी। नामवरों में भी है नामी॥
हे प्रणम्य, तुमको प्रणमामी। जीते रहो हमेश॥
जय जय सुभग सुवेश॥

—द्विवेदी काव्य माला

मैथिलीशरण गुप्त मातृभू की वन्दना में कहते हैं :

"नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है।
सूर्य चन्द्र युग मुकुट मेखला रत्नाकर है।
नदियाँ प्रेम प्रवाह फूल तारे मंडन है।
बन्दीजन खग वृन्द शेष फन सिंहासन है॥
करते अभिषेक पयोद हैं बलिहारी इस देश की।
हे मातृभूमि तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की॥

—स्वदेश संगीत,

भारत का प्राकृतिक वैभव इतना आकर्षक, इतना मोहक है कि भाव-प्रवण हृदय उसकी ओर सहज ही उन्मुख हो जाता है और वह उसकी सुषुमा के गीत गाने लगता है। यथाः—

भाल पै धौल हिमाकृति चन्दन,
जासु छटा नभ माँहि लसी रहै।
अंक मैं खेलति ब्रह्मजा जह्नुजा,
भानुजा सिन्धु सदा हुलसी रहै।
विन्ध्य बनावत मेखला मंजु,
सदा अरि ही झनकार धँसी रहै।
पूजत जा पद सिन्धु सदा,
सोइ भारत भू मन माँहि बसी रहै।

× × ×

जो सुजला सुफला कमलापति,
भानु प्रभा सों सदा विकसी रहै।
सारद सोम सुधामयि चाँदनी,
जा बसुधातल पै बिहँसी रहै।
प्रेम-पगी सुमनावलि मानिक,
राशि सदा जेहि क्रोड़ लसी रहै।

दिव्य विभूति प्रसूतिमयी,
सोइ भारतभू मन माँहि बसी रहै ॥
—मुन्शीराम शर्मा 'सोम'

भारत के शीर्षभाग पर हिमालय मुकुट के समान विद्यमान है। इसकी प्रशस्ति में भी अनेक कवियों ने अनेक प्रकार से लिखा है। इसकी विशालता तथा उपयोगिता कवियों के लिए आकर्षण का कारण बनी है। 'दिनकर' भी इसी आकर्षण से प्रेरित होकर लिखते हैं:—

"मेरे नगपति मेरे विशाल।
साकार दिव्य गौरव विराट,
पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल,
मेरी जननी के हिम किरीट,
मेरे भारत के दिव्य भाल,
मेरे नगपति मेरे विशाल ॥"
—हिमालय के प्रति

कितने ही व्यक्तियों ने अनेकानेक रूप से भारत-भू की वन्दना की है। किन्तु सोहनलाल द्विवेदी भावना की चरम सीमा पर पहुँच कर भारत भू की पूजा इस प्रकार करना चाहते हैं:—

"वन्दना के इन स्वरों में,
एक स्वर मेरा मिला लो।
बंदिनी माँ को न भूलो,
राग में जब मत्त झूलो।
अर्चना के रत्नकण में,
एक कण मेरा मिला लो।
जब हृदय का तार बोले,
शृंखला के बंध खोले।
हों जहाँ बलि शीश अगणित,
एक सिर मेरा मिला लो।"

स्वदेश गौरव गानः—मातृभूमि की वन्दना करते समय कवि केवल उसका वैभव, उसकी शक्ति और उसकी सुषमा को ही देखता है; किन्तु जब स्वदेश-गौरव-गान करता है तब स्वदेश के वैभव के वर्णन के साथ ही साथ उसकी संस्कृति, उसकी सभ्यता, उसकी शक्ति, उसका कृतित्व तथा

उसके निवासियों आदि का भी वर्णन करता है। स्वदेश के महत्व को व्यक्त करते हुए बड़े गर्व के साथ 'नहुष' में यह भाव व्यक्त किया गया है:—

"ऊँचे रहे स्वर्ग, नीचे भूमि को क्या टोटा है।
मस्तक से हृदय कभी, क्या कुछ छोटा है।
व्योम रचा जिसने, उसी ने वसुन्धरा रची।
किस कृति हेतु नहीं, उसकी कला बची।
मेरी भूमि तो है पुण्यभूमि वह भारती।
सौ नक्षत्र लोग करें आके आप आरती।

भारतीय-संस्कृति, भारतीय-सभ्यता और भारतीय-ज्ञान का अभिमान भारतीय-कलाकार को निरन्तर रहा है। यथा:—

"हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार।
उषा ने हँस अभिनन्दन किया और पहनाया हीरक हार।
जगे हम, लगे जगाने विश्व, लोक में फैला फिर आलोक।
व्योम तम-पुंज हुआ तब नष्ट, अखिल संसृति हो उठी अशोक।"

—प्रसाद, स्कंदगुप्त

इसमें सन्देह नहीं कि भारत का प्राकृतिक-वैभव तथा यहाँ के निवासियों का कृतित्व भी यहाँ के कवियों के लिए गर्व का विषय रहा है। यथा:—

"मनमोहिनी प्रकृति को जो गोद में बसा है।
सुख स्वर्ग-सा जहाँ है वह देश कौन-सा है?
जिसका चरण निरन्तर रत्नेश धो रहा है।
जिसका मुकुट हिमालय वह देश कौन-सा है?
नदियाँ जहाँ सुधा की धारा बहा रही हैं।
सींचा हुआ सलोना वह देश कौन-सा है?
जिसके बड़े रसीले फल, कन्द, नाज, मेवे?
सब अंग में सजे हैं वह देश कौन-सा है?

—रामनरेश त्रिपाठी

इसी प्रकार:—

"आर्यों का वह देश धन्य है करके जहाँ तपोबल संचय।
विधि-विधान विपरीत यशस्वी मर्त्यजीव बनता मृत्युंजय।

कर्मभूमि वह परम धन्य है होता जहाँ आत्म-उत्थापन।
अमरा से भी धन्य धरा है करते जहाँ देव भिक्षाटन ।।"

—अंगराज

स्वदेश के इस गौरव के कारण ही प्रतापनारायण मिश्र ने कहा था:—

"चहहु जो साँचौ निज कल्यान।
तौ सब मिलि भारत सन्तान ।।
जपहु निरन्तर एक जबान ।
हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान ।।
रीझै अथवा खीझै जहान ।
मान होय चाहें अपमान ।।
पै न तजौ रटिबे की बान ।
हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान ।।"

—प्रताप-पीयूष

अतीत का चिन्तन:—मानव का स्वभाव है कि वह तुलनात्मक दृष्टि से वस्तुओं के मूल्य को आँकता है। वस्तु की महत्ता तथा उपयोगिता तुलना की अपेक्षा रखती भी है। स्वदेश-भक्तों ने भी अपने वर्तमान को अतीत से मिलाया। उन्हें वर्तमान में कुछ अभाव खटका, अतः अतीत का मोह और भी अधिक दृढ़ हुआ। परिणामस्वरूप अतीतकाल के भारतीय जीवन का विभिन्न रूपों में स्मरण हुआ। अतीत की झाँकी मनोरम थी ही, इसमें सन्देह का अवकाश ही नहीं है। निम्नलिखित पंक्तियों में कवि इसी तथ्य को प्रमाणित कर रहा है :—

"जगत् ने जिसके पद थे छुए,
सकल देश ऋणी जिसके हुए,
ललित नाम कला थी सब जहाँ,
अब हरे वह भारत है कहाँ?"

गुप्त जी ने "भारत-भारती" में अतीत का ही बड़ा सूक्ष्म दर्शन किया है। यहाँ की विद्या, बल, कौशल, उदारता, वीरता, धीरता, क्षमा, धर्म-परायणता, परहितचिन्तन-परता आदि ऐसे ही गुण थे जिनके कारण भारत भारत था। इसी के स्मरण से कवि कभी तो प्रसन्न होता है और कभी इसका प्रभाव उसके रुदन का कारण बनता है। स्वदेश की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करते हुए सियारामशरण गुप्त कहते हैं :—

"संसार भर में यह हमारा देश ही सिरमौर था।
सौन्दर्य में, सुख-शान्ति में, ऐसा न कोई और था।
निष्पक्ष होकर मानते हैं बात यह सादर सभी।
सर्वोच्च उन्नति के शिखर पर स्थिर रहा था यह कभी।
बल बुद्धि वीर्य सभी हमारा हो चुका निःशेष है।
जातीयता तो नाम को भी अब न हममें शेष है।"

अतीत का गौरव और वर्तमान का पतन जब कवि के मस्तिष्क में एक अव्यवस्था उत्पन्न कर देता है तब वह आकुलता के क्षणों में कह उठता है :—

"सर्वत्र ही कीर्तिध्वजा उड़ती रही जिनकी सदा,
जिनके गुणों पर मुग्ध थी सुख शान्ति संयुत संपदा।
अब हम वही संसार में सबसे गये बीते हुए,
हैं हाय! मृतकों से बुरे अब हम यहाँ जीते हुए॥"

—सियारामशरण गुप्त

मानव का यह स्वभाव है कि जब उसका वर्तमान उसके ऊपर दुःख और विषाद की चादर डालता रहता है तब वह अपने अतीत के स्वर्णिम-विहान को स्मरण करता है। नीचे की पंक्तियों में कवि भारत के विभिन्न गौरव-स्तंभों को, जो समय की धूल से आच्छन्न हो गये हैं, अश्रुओं से धोता हुआ कहता है :—

"तू पूछ अवध से, राम कहाँ।
वृन्दा बोलो, घनश्याम कहाँ।
ओ मगध, कहाँ मेरे अशोक।
वह चंद्रगुप्त बलधाम कहाँ।

× × ×

री कपिलवस्तु, कह बुद्धदेव
के वे मंगल उपदेश कहाँ।
तिब्बत इरान जापान चीन
तक गये हुए सन्देश कहाँ।
वैशाली के भग्नावशेष से
पूछ, लिच्छवी शान कहाँ।
ओ री उदास गंडकी बता,
विद्यापति कवि के गान कहाँ।

—रामधारीसिंह "दिनकर"

वीर-प्रशस्ति:—हमारे अतीत के स्वरूप को सँवारने में जिन-जिन ने अपना पुण्य योग-दान दिया है उनमें उन व्यक्तियों का भी एक विशेष स्थान है जिनका उद्देश्य रहा है :—

"हो नौजवानों की कभी जब माँग प्यारे देश को,
मातृ-बलिवेदी पर प्रथम रक्खा हमारा प्राण हो।"

महाराणा प्रताप, शिवाजी, लक्ष्मीबाई, नानाराव, तात्या टोपे, स्वामी दयानन्द, विवेकानन्द, तिलक, बिस्मिल, अशफाक उल्ला, भगतसिंह, चंद्रशेखर 'आजाद', गणेश शंकर विद्यार्थी तथा प्रातःस्मरणीय महात्मा गांधी आदि ऐसे ही नर-रत्न थे जिन्होंने अपना रक्तदान देकर भारत के भाल को ऊँचा किया है। ऐसे ही देशभक्तों की स्मृति में अथवा स्तुति में लिखी गई रचनाएँ भी राष्ट्रीय-भावना के प्रचार में बहुत बड़ा बल प्रदान करती रही हैं। इस दिशा में मैथिलीशरण गुप्त ने "भारत-भारती" की रचना की, सियारामशरण गुप्त ने "मौर्य विजय" लिखा, जयशंकर प्रसाद ने "महाराणा का महत्व" निर्मित किया तथा कामताप्रसाद गुरु ने भी अनेक प्रकार की प्रशस्तियाँ लिखीं। क्रांतिकारी नवयुवकों के जीवन-चरित्रों तथा उनके द्वारा घटित विभिन्न घटनाओं का उल्लेख कर वर्तमानकाल में अनेक व्यक्तियों ने अनगिनत रचनाएं प्रस्तुत की हैं। कुछ लेखकों ने तो ऐतिहासिक महापुरुषों के नाम से नाटक—उपन्यास आदि भी लिखे, यथा 'मिलिन्द' का "प्रताप प्रतिज्ञा" नामक नाटक और वृन्दावनलाल वर्मा का "झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई" नामक उपन्यास। "जननायक" नाम का एक महाकाव्य रघुवीरशरण 'मित्र' का है जिसमें उन्होंने जननायक महात्मा गांधी के सम्पूर्ण जीवन को लेकर काव्य की रचना की है। लाला भगवानदीन 'दीन' ने भी बहुत से ऐतिहासिक एवं पौराणिक वीरों की अर्चना में रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। इस दिशा में उनकी प्रमुख पुस्तक है "वीर-पंचरत्न"। अनेक कवियों ने नौरोजी, गोखले, मालवीय, लाला लाजपतराय आदि राष्ट्रीय वीरों पर रचनाएँ की हैं। वर्तमान काल में कतिपय अभिनन्दन ग्रन्थ भी निकले हैं; गांधी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, नेहरू-अभिनन्दन-ग्रन्थ, पटेल-अभिनन्दन-ग्रन्थ आदि। इनमें राष्ट्रीय संग्राम के इतिहास तथा व्यक्ति विशेष से सम्बन्धित रचनाएँ पाई जाती हैं।

राष्ट्रीय-चेतना:—अतीत के दर्शन ने और भारतीय महापुरुषों की जीवन झाँकियों ने जन जन के हृदय में राष्ट्रीय भावना का संचार कर दिया और वह उच्चस्वर से यह मंत्र जपने लगा :—

"जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।
वह नर नहीं नर पशु निरा है और मृतक समान है॥"

—"सनेही"

भारत में राष्ट्रीय-चेतना की भावना दमन के साथ विशेष रूप से प्रज्वलित हुई, यद्यपि विदेशी शासन के परिणामस्वरूप क्रान्ति की आग भीतर ही भीतर सुलग रही थी। इस दिशा में बंगाल के साहित्यकारों का भी एक विशेष स्थान है। बंकिम का "वन्दे मातरम् गान" और रवि बाबू का "जन-गण-मन अधिनायक" गान सचमुच प्रेरक बनकर साहित्य में अवतरित हुए। साधारणतः भारती के विभिन्न उपासकों ने भी इस दिशा में अपनी अर्चना की सुमनांजलियाँ अर्पित की हैं, जिनमें कहीं उद्‌बोधन है, कहीं कर्त्तव्य की दृढ़ता है और कहीं वातावरण का, युग की स्थिति का निदर्शन है। यथा :—

"हुआ प्रबुद्ध वृद्ध भारत नित आरत दशा निशा का।
समझ अन्त अतिशय प्रमुदित हो तनिक जब उसने ताका॥
उन्नत पथ अति स्वच्छ दूर तक पड़ने लगा दिखाई।
खग वन्देमातरम् मधुर ध्वनि पड़ने लगी सुनाई॥
उठो आर्य सन्तान सँभल मिलि न विलम्ब लगाओ।"

—"प्रेमघन"

राष्ट्रीय-चेतना ने न केवल भारतीय स्वतंत्रता को ही प्राप्त करने की कामना जाग्रत की अपितु भावना के आवेश में सागर के पार भी अपने तिरंगे को फहराने की कामना को बल प्रदान किया।

"सागर पार हो राज हमारा, अम्बर पर अधिकार हमारा।
वायुयान औ' जलयानों पर, उड़े तिरंगा झंडा प्यारा।
नव प्रभात हो भारत भर में, हो ऐसा अनुपम उजियारा।
अंधकार मिट जाय, मुक्ति के गीतों से गूँजे नभ सारा।
भारत के कोने-कोने में, झंडा फहरे आज हमारा।
उठ जाये तूफान देश में, कर दे जिस दिन एक इशारा।

—'प्रेमी'

ठंडे रक्त में उष्णता लाने के लिए और आत्मशक्ति का ज्ञान कराने के लिए अनेकानेक जागृति-सन्देश उद्‌बोधन के रूप में दिये गये। यथाः

"अरे, भारत उठ आँखें खोल !
उड़कर यन्त्रों से खगोल में घूम रहा भूगोल ।
अवसर तेरे लिए खड़ा है,
फिर भी तू चुपचाप पड़ा है,
तेरा कर्मक्षेत्र बड़ा है,
पल-पल है अनमोल ।"

—स्वदेश संगीत, मैथिलीशरण गुप्त

इसी प्रकार अन्यत्र भी—

"उठ-उठ ओ मेरे वन्दनीय,
अभिनन्दनीय भारत महान् ।
जागो, अशोक वह स्वर्ण-मुकुट,
पश्चिम दिशान्त में हुआ त्रस्त ।
जागो, विक्रम वह सिंहासन,
वह छत्र तुम्हारा हुआ ध्वस्त ।

× × ×

जागो गौतम धरणी पर फिर,
कर रहा मनुज है रक्त-स्नान ।
जागो-जागो हे महावीर,
होता है नरबलि का विधान ।
जागो-जागो हे वन्दनीय,
अभिनन्दनीय भारत महान् ।

—सुधीन्द्र

इस राष्ट्रीय चेतना का परिणाम यह हुआ कि भारत के कोटि-कोटि जन 'सदा शक्ति बरसाने वाला, वीरों को हरषाने वाला, मातृ-भूमि का तन-मन सारा" झंडा लेकर स्वतन्त्रता के भीषण रण में कूद पड़े और देश-धर्म पर बलिदान होने के लिए तथा स्वराज्य के 'अविचल निश्चय' को पूर्ण करने के लिए एक साथ मिलकर गाने लगे—

"विजयी विश्व तिरंगा प्यारा ।
झंडा ऊँचा रहे हमारा ॥

इसकी शान न जाने पावे ।
चाहे जान भले ही जावे ॥

विश्व विजय करके दिखलावे।
तब होवे प्रण पूर्ण हमारा॥
झंडा ऊँचा रहे हमारा।
विजयी विश्व तिरंगा प्यारा॥

पारिषद

संघर्षकाल—जन-जीवन में राष्ट्रीय भावनाओं के संचार होने का परिणाम यह हुआ कि दासता के बन्धन से मुक्ति पाने के प्रयास उत्तरोत्तर वृद्धि पाते गये। अंग्रेजों का शासन भारतीय-स्वातन्त्र्य को, भारतीय-संपत्ति को एवं भारतीय-गौरव की भावना को विनष्ट करने में प्रयत्नशील था। भारतीय-जीवन में एक कसमसाहट उत्पन्न हुई। वर्षा प्रारम्भ होने के पहिले जो एक ऊमस उत्पन्न होती है वैसी ही कुछ स्थिति अंग्रेजी-शासन में दबे हुए भारतीय-जीवन की थी। इसीलिए प्राणों को हथेली पर लेकर और सर पर कफन बाँधकर शहीदों की टोलियाँ यह गाते हुए निकलीं—

"बलि होने की परवाह नहीं,
मैं हूँ, कष्टों का राज्य रहे।
मैं जीता जीता जीता हूँ,
माता के हाथ स्वराज्य रहे।"

—"हिमकिरीटिनी"

हिन्दू-मुसलमान का भेद मिटाकर राष्ट्रीय नेताओं ने आह्वान किया—

"कह दो हर-हर यार या अल्ला-अल्ला बोल दो"

—सनेही"

और यह कामना जागृत हुई:—

"हे मातृ वह दिन कब होगा, तुझ पर बलि-बलि जाऊँगा।
तेरे चरण सरोरुह में मैं, निज मन-मधुप रमाऊँगा॥"

—"सनेही"

कवियों ने क्रान्ति की चिनगारी सुलगाने के लिए प्रलय का आह्वान किया और उनकी भावनाएँ इस प्रकार व्यक्त हुई:—

"कवि प्रलय के गीत गा दे।
क्रान्ति के इस अमर युग में,
हृदय की ज्वाला जगा दे।
× × ×

खो चुके सर्वस्व अपना,
शीश पर दासत्व लेकर,
धूल में वैभव मिला, आश्रित
हुए निज स्वत्व देकर,
रक्त शोषित धमनियों में,
आज फिर शोणित बहा दे।
कवि प्रलय के गीत गा दे।"

—शील, 'अंगड़ाई'

संघर्ष ने भारतीयों को अंग्रेजों की जेलों का दर्शन कराया। देश-भक्तों ने इन जेलों को कृष्ण-मंदिर समझा और हथकड़ियों को हाथ का सुन्दर आभूषण। कवि ने यह गान गाया—

"कोई नभ से आग उगल कर, किये शान्ति का दान,
कोई माँज रहा हथकड़ियाँ, छेड़ क्रान्ति की तान।

× × ×

आशा मिटी, कामना टूटी, बिगुल बज पड़ी यार,
मैं हूँ एक सिपाही पथ दे, खुला देख वह द्वार।"

संघर्ष की इस पावन वेला में बड़ी उमंग और उत्साह के साथ मरण-त्यौहार मनाने के लिए कवियों ने अपनी-अपनी भावनाएँ व्यक्त कीं। 'युद्ध' देहि, युद्ध देहि' का घोष करते हुए जन-जन की भावनाओं का प्रकटीकरण इस प्रकार हुआ—

"कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाये,
एक हिलोर इधर से आये, एक हिलोर उधर से आये,
प्राणों के लाले पड़ जायें, त्राहि-त्राहि रव नभ में छाये,
नाश और सत्यानाशों का, धुआँधार जग में छा जाये,
बरसे आग, जलद जल जाये, भस्मसात भूधर हो जायें,
पाप-पुण्य सद्सद् भावों की, धूल उड़ उठे दायें बायें,
नभ का वक्षस्थल फट जाये, तारे टूक-टूक हो जायें,
कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाये।
माता की छाती का अमृत-मय पय कालकूट हो जाये,
आँखों का पानी सूखे, वे शोणित की घूँटें हो जायें,

एक ओर कायरता काँपे, गतानुगति विगलित हो जाये,
अंधे मूढ़ विचारों की वह, अचल शिला विचलित हो जाये।"

—बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

युद्ध की पुण्यवेला में जागरण का संदेश सुनाते हुए कवि ने कहा—

जाग-जाग मिट्टी के पुतले, मानस का उल्लास जगे।
ज्योति जगे बलिदानों की, वह खोई-सोई प्यास जगे॥
तरल-गरल पी नीलकंठ हो, अक्षर बन विश्वास जगे।
काँपे गतानुगति विगलित हो सदियों का इतिहास जगे॥
आज युगों के चौराहे पर शाप लुटा वरदान चले।
एक नया संसार बसाने फिर मनु की संतान चले॥

—छैलबिहारी दीक्षित 'कंटक'

'मनु की संतान' के रूप में कवि संघर्ष के क्षेत्र में कितनी दृढ़ता के साथ चलने के लिए आकुल है—

कौन कहे फिर कब लौटेंगे ?
किन्तु अटल प्रस्थान हमारा।
सत्य लक्ष्य, पथ प्रगतिशील हो—
आजीवन अभिमान हमारा।
जूठे वैभव के टुकड़ों से,
हो न सका सम्मान हमारा।
आँसू-स्वेद-रक्त-रंजित है,
छोटा-सा बलिदान हमारा।
आज विश्व वीणा के स्वर में,

गाथा गूँजी नये सृजन की, नव साधना सँजोलो।
देर हो रही अब तो साथी, ये विजड़ित पट खोलो॥

—छैलबिहारी दीक्षित "कंटक"

एक बार जब संघर्ष के सागर में जीवन-नौका को छोड़ दिया तब फिर पीछे मुड़कर क्या देखना, पारिवारिक एवं अन्य वैयक्तिक माया-ममता से क्या सम्बन्ध ! अस्तु—

माया-ममता छोड़ बढ़ादो, किश्ती को मँझधार अकेली,
आज खेलने दो किश्ती को, सृजन और संहार अकेली,

माँझी ! डरो न आँधी से, क्या किश्ती पहिली बार चढ़े हो,
युग-युग से पीढ़ी दर पीढ़ी तुम लहरों को चीर बढ़े हो,

—रामेश्वर गुरु 'कुमार हृदय'

अपने उद्देश्य की सफलता पर पूर्ण विश्वस्त कवि अपने उत्तेजक स्वर में गा उठता है—

टकराने दो किश्ती को माँझी, टूटी है डगमगा रही है।
अब मुर्दनी न छाये साथी, दुनिया तुमको जगा रही है ॥
यह तूफान उठा है इसमें, धनवानों के महल गिरेंगे।
यह तूफान उठा है इसमें, झोपड़ियों के भाग जगेंगे।

—रामेश्वर गुरु 'कुमार हृदय'

भारतीय-जनता ने अपने स्वातन्त्र्य-संग्राम-काल में प्रतिवर्ष २६ जनवरी को स्वतन्त्रता-दिवस मनाना प्रारम्भ किया। इस दिवस को लक्ष्य करके कवियों ने अपनी राष्ट्रीय भावनाओं को अनेक रूपों में व्यक्त किया—

उन्नत नभ में उड़ी पताका, आया फिर स्वातन्त्र्य दिवस,
बही उमंगे गंगा उर में, जागी बलिवेदी पुर-पुर में,
फूटे निखिल कण्ठ मधु सुर में, मन्त्र-मुग्ध शुचिप्रेम विवश
आया फिर स्वातन्त्र्य दिवस

× × × ×

सागरमंथन हुआ आज फिर, कालकूट विष जला आज फिर,
देवासुर सब त्रस्त आज फिर, किन्तु चले शिव से हम हँस,
आया फिर स्वातन्त्र्य दिवस।
तीक्ष्ण हलाहल पान कर रहे, ज्वाला से हम गले मिल रहे,
हम सब सैनिक अचल, चल रहे सहस एक हम एक सहस,
आया फिर स्वातन्त्र्य दिवस।

—रामनाथ गुप्त—"स्वतन्त्रता दिवस"

संघर्ष-पथ पर चलने वाले राष्ट्रसेवी पथिक से किसी ने पूछा, कहो, इस पथ के पथिक कैसे बने, इसके अथ-इति का भी क्या तुम्हे ज्ञान है। कवि ने बड़ी अल्हड़ता से उत्तर दिया—

"होता क्या ? आगे क्या होगा ? मैं क्या जानूँ भाई,
एक लहर-सी उठी और वह मुझे बहा ले आई,
उठा पुनः हुंकार आज प्रलयंकर डमरू वाला,
फेर रहा वह मुझे बनाकर अपने कर की माला।
मैं सैनिक हूँ, इतना ही बस, आज क्रान्ति की वेला,
ताण्डव-पद-विक्षेप बनूँगा, यह अद्भुत शिव खेला।"

रामनाथ गुप्त—"आज क्रान्ति की बेला"

इसी प्रकार की विभिन्न भावनाओं से पूर्ण न जाने कितने राष्ट्र के वीर गायकों उस भैरव राग की सृष्टि की जिसने एकबार सभी को मन्त्र-मुग्ध-सा करके स्वातन्त्र्य-बलि-पथ की ओर अग्रसर कर दिया।

कतिपय लेखकों ने अंग्रेजों के अत्याचारों की ओर ध्यान आकर्षित किया। यथा सन् सत्तावन की याद दिलाते हुए प्रतापनारायण श्रीवास्तव लिखते हैं:—

"कानपुर से झाँसी तक जितने वृक्ष राजमार्ग के दोनों ओर पड़ते थे, भारतीयों के कंकालों से भरे हुए थे। विद्रोहियों को प्रत्येक वृक्ष की प्रत्येक डाल पर फाँसी दी गई और उनके शवों को सूखने के लिए छोड़ दिया गया। उन कंकालों की आँखें और जीभ बाहर निकली हुई अपनी व्यथा की कहानी आज दिन तक कह रही हैं।" —"बयालीस"

उक्त घटना के प्रतिशोध के लिए एक दूसरा वातावरण निर्मित हुआ जिसका स्वरूप यह है कि:—

"इस समय भारतीय-युवक क्रान्ति के लिए बिल्कुल तैयार है। समय और परिस्थिति ने वे सब साधन स्वयं पैदा कर दिये हैं। हमें ऐसे व्यक्ति चाहिए जो उनका नेतृत्व करें। अतएव आप लोग वह नेतृत्व ग्रहण करें और भारत के एक सिरे से दूसरे सिरे तक वह अग्नि प्रज्वलित करें जिसमें ब्रिटिश साँड़ जलकर नष्ट हो जाय, जिन सींगों से वह हमें कुचल रहा है, वे सींग हमेशा के लिए तोड़ दिये जायँ।

—प्रतापनारायण श्रीवास्तव 'बयालीस'

और अन्ततोगत्वा कोटि-कोटि जन दृढ़ संकल्प हो बन्दिनी माँ की बेड़ियों को काटने के लिए बलि-पथ पर यह कह कर चल पड़े:—

कलेजा माँ का मैं सन्तान, करेगी दोषों पर अभिमान।
मातृवेदी पर घंटा बजा, चढ़ा दो मुझको हे भगवान॥
सुनूँगी माता की आवाज, रहूँगी मरने को तैयार।
कभी भी उस वेदी पर देव, न होने दूँगी अत्याचार॥
न होने दूँगी अत्याचार, चलो मैं हो जाऊँ बलिदान।
मातृ-मंदिर में हुई पुकार, चढ़ा दो मुझको हे भगवान॥

—सुभद्राकुमारी चौहान

और बलिदान की पुण्य घटिका के अवसर पर अत्यंत शांत एवं उदात्त भाव से उत्सर्ग की इस कामना को व्यक्त किया:—

तोड़ो सुन्दर सुमन हमारे, कोमल कलिकाएँ तोड़ो।
मृदुल मधुर फल और विपिन में, एक न प्रिय पल्लव छोड़ो।
माली ! ओ माली !! जी चाहे तब तक तनिक न मुँह मोड़ो।
बन जायें वर माल सभी की, तुम ऐसा ताँता जोड़ो।
अन्त अन्त हा हन्त, अन्ततः अह्लादित अनन्त होगा।
कर देगा हेमन्त अन्त वह तब अपना बसन्त होगा।

—राजाराम शुक्ल 'राष्ट्रीय आत्मा'

स्वदेशी-प्रचार:—हमारे राष्ट्रीय नेताओं ने आंदोलन की सफलता के लिए केवल संघर्ष को ही महत्व नहीं दिया, किन्तु उन साधनों को भी देखा जिनके द्वारा विदेशी जातियाँ भारत की सम्पत्ति को अपने देशों की ओर खींच रही थीं। शासन का लोभ सम्पत्ति की इच्छा से होता है। अंग्रेजों का शासन भी भारतीय-सम्पत्ति को दृष्टि में रखता रहा है। अतएव निश्चय किया गया कि समस्त विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करके स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग को प्रोत्साहन दिया जाय, जिससे भारतीय-सम्पत्ति भारत में ही रह सके। इसके लिए सबसे पहिले चर्खा और खादी की ओर ध्यान दिया गया। स्वदेशी-वस्त्रों के प्रयोग की प्रेरणा देने के लिए द्विवेदी जी ने लिखा:—

विदेशी वस्त्र क्यों हम ले रहे हैं ?
वृथा धन देश का क्यों दे रहे हैं।
न सूझे है अरे भारत भिखारी।
गई है हाय तेरी बुद्धि मारी॥
हजारों आज भूखों मर रहे हैं,
पड़े वे आज या कल कर रहे हैं।

इधर तू मंजु मलमल ढूँढता है,
न इससे और बढ़कर मूर्खता है ॥
—द्विवेदी—काव्यमाला

चर्खा-प्रचार को प्रेरणा देते हुए लिखा गया:—

चल-चल चरखा तू दिन-रात।
लंका से लंकाशायर का कर विलम्ब बिन घात ॥
शक्ति सुदर्शन चक्र की दिया हरि ने तुझे दिखात।
ज्यों-ज्यों तू चलता त्यों-त्यों आता स्वराज्य नियरात ॥
—'प्रेमघन'

आत्मगौरव, मातृ-भू का सम्मान, बच्चों का सुमधुर दुलार, संजीवनी-शक्ति आदि खादी में ही देखे गये और यह विश्वास प्रकट किया गया कि स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए यही एक अमोघ अस्त्र है:—

खादी के धागे-धागे में अपनेपन का अभिमान भरा।
माता का इसमें मान भरा, अन्यायी का अपमान भरा ॥
खादी के रेशे-रेशे में अपने भाई का प्यार भरा।
माँ-बहिनों का सत्कार भरा, बच्चों का मधुर दुलार भरा ॥
खादी की रजत चंद्रिका जब आकर तन पर मुसकाती है।
तब नवजीवन की नई ज्योति अंतस्तल में जग जाती है ॥
खादी से दीन बिपन्नों की उत्तप्त उसाँस निकलती है।
जिससे मानव क्या पत्थर की भी छाती कड़ी पिघलती है ॥

× × × ×

खादी की गंगा जब सिर से पैरों तक बह लहराती है।
जीवन के कोने-कोने की तब सब कालिख धुल जाती है ॥
खादी ही भर-भर देश प्रेम का प्याला मधुर पिलायेगी।
खादी ही दे-दे संजीवन मुर्दों को पुनः जिलायेगी।
खादी ही बढ़ चरणों पर पड़ नूपुर-सी लिपट मनायेगी।
खादी ही भारत की रूठी आजादी को घर लायेगी ॥
—सोहनलाल द्विवेदी

राष्ट्र की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए यह आवश्यक था कि हिन्दू-मुसलिम, इन दोनों सम्प्रदायों के बीच में एकता स्थापित हो। इसके लिए प्रारम्भ

से ही प्रयत्न किये गये। भारतेन्दु तथा द्विवेदी युग में कवियों ने इस प्रकार की रचनाएँ लिखीं जिनमें साम्प्रदायिक ऐक्य की भावना को प्रोत्साहन दिया गया। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने साम्प्रदायिक एकता को लेकर लिखा था:—

'ईसा'वादी, पारसी, सिक्ख यहूदी लोग।
मुसलमान हिन्दी यहाँ है सबका संयोग॥
है सबका संयोग नाव पानी में जैसे।
हिलिये मिलिये भाव बढ़ाकर मित्रों के-से॥
गुण उपकारी नहीं दूसरा एक दिली-सा।
हैं भ्राता सब मनुज दे गया सम्मति ईसा॥

—'पूर्ण प्रवाह'

साम्प्रदायिक एकता स्थापित करने के लिए माधव शुक्ल का यह गीत कितना प्रभावपूर्ण है:—

मेरी जां न रहे, मेरा सर न रहे,
सामाँ न रहे, न ये साज रहें।
फकत हिन्द मेरा आज़ाद रहे,
मेरी माता के सर पर ताज रहे।
सिख हिन्दू मुसलमां एक रहें,
भाई-भाई-सा रस्म-रिवाज़ रहे।
गुरु ग्रन्थ कुरान पुरान रहें,
मेरी पूजा रहे औ नमाज़ रहे।

वर्तमान काल में भी इस दिशा में प्रयत्न हो रहे हैं, किन्तु उनका परिणाम भविष्य के गर्भ में है। सुधीन्द्र का यह गीत इसी दिशा की ओर है:—

'रे क्या हिन्दू, क्या मुसलमान।
इन दो देहों में एक जान॥
दोनों इस धरती पर बसते,
दोनों के ऊपर आसमान।
रे क्या हिंदू क्या मुसलमान।
दोनों ही मिट्टी के पुतले
दोनों ही में है हाड़-मांस
दोनों हैं खाते अन्न एक
लेते हैं दोनों एक साँस

दोनों मिट्टी में मिलते हैं
फिर कब्र हो कि वह हो मसान ॥

वर्तमान समय में हमारे राष्ट्र की सबसे बड़ी समस्या है—साम्प्रदायिक एकता। नोआखाली, पंजाब, बिहार आदि स्थानों में जिस बर्बरता पूर्ण साम्प्रदायिक भावनाओं का परिचय प्राप्त हुआ है वह हृदय को दहला देता है। इन परिणामों की कल्पना करके ही भविष्य-द्रष्टा साहित्यकार प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में साम्प्रदायिक ऐक्य की भावनाओं को प्रोत्साहन दिया है।

अछूत समस्याः—भारतीय राष्ट्र के विकास में अछूत समस्या अनेकानेक जटिलताओं की सृष्टि करने वाली रही है। इस समस्या की गम्भीरता को समझ कर ही राष्ट्रपिता गांधी को अनशन का सम्बल ग्रहण करना पड़ा। उनके इस अनशन-काल में विभिन्न कवियों ने भारतीय समाज में व्याप्त अछूत प्रथा की घोर भर्त्सना की। धीरे-धीरे कट्टरता की भावनाएँ समाज से उठने लगीं और हरिजनों का जीवन अपेक्षाकृत कुछ अधिक सुखमय हो गया।

अभी हम पहिले कह आये हैं कि वर्तमान काल में राष्ट्रीय साहित्य का निर्माण अधिकाधिक हुआ। हिन्दी का आधुनिक काव्य भारतेन्दु बाबू के समय से प्रारम्भ होता है। उन्होंने सच्चे अर्थों में कवि-हृदय पाया था। उन्होंने स्वजाति और स्वदेश सेवा-व्रत को पूर्ण करने के लिए ही उस समय स्पष्टतापूर्वक अंग्रेजी शासन-विरोधी बातें कहीं जिनको आज के जागृति-काल में भी लोग अंग्रेजों के समय में कहने में भय खाते थे। वे इससे बड़े दुखी थे कि भारत का धन विदेश चला जाता है और मँहगी तथा रोग बढ़ते हैं और इस सब के ऊपर अनेकानेक टैक्सों का बढ़ना तो भारत की दुर्दशा का मूल कारण बन रहा है।[1]

१—"अंगरेज राज सुखसाज सबै अति भारी।
पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी ॥
'ताहू पै मँहगी काल रोग' विस्तारी।
दिन-दिन दूने दुख देत ईस हा हारी ॥
सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई।
हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई ॥"

—भारत दुर्दशा.

भारतेन्दु काल में ही उनके मंडल के सदस्यों—प्रतापनारायण मिश्र 'प्रेमघन' आदि ने उस समय देश की दशा पर कभी गंभीरतापूर्वक और कभी हास्य-व्यंग्य के द्वारा विचार किया है। द्विवेदी युग तक आते-आते राष्ट्रीय चेतना विशेष रूप से विकसित हो चुकी थी। फलतः इस युग के साहित्यकारों ने ऐसी दशा पर विशेष रूप से लिखा है। सन् १६२० के बाद तो अनेकानेक सत्याग्रह तथा क्रान्तिकारियों के द्वारा रचित योजनाओं का क्रियान्वित स्वरूप सामने आया। जेलें देशभक्तों द्वारा भरी गईं और शासकों द्वारा घर जलाये गये, गाँव लूटे गये। देश के दीवानों ने अपनी जवानी के खून की उष्णता का परिचय हँसते हुए फाँसी पर चढ़ कर दिया। एक ओर महात्मा गांधी का अहिंसाव्रत से पूर्ण सत्याग्रह-आन्दोलन था और दूसरी ओर क्रूर शासकों की गोलियों की बौछारें थीं। भारतीय वीरों ने शान्ति का मंगल पाठ करते हुए अपने जीवन-सुमनों को स्वतन्त्रता की अर्चना में अर्पित किया। ऐसे अवसर पर भला कब संभव था कि एक ओर जीवन की होलियाँ जलतीं और दूसरी ओर कवि प्रणय के गीत गाता। फलतः भगवती वीणापाणि के वरद् पुत्रों ने अपनी वाणी और लेखिनी का प्रयोग राष्ट्र के उन्नयन के लिए किया। राष्ट्रीय संग्राम-युग का कोई भी कलाकार ऐसा नहीं है जिसने राष्ट्रीय गान द्वारा अपनी वाणी को पवित्र न किया हो। कवि अपनी अन्तर्वेधिनी दृष्टि के द्वारा अतीत के गहरे गर्त में छिपे हुए जिन दृश्यों को देखता है, वर्तमान को सँवारने के लिए एक बार फिर उन्हें अपनी वाणी के स्वरों में प्रतिष्ठित करता है और वर्तमान के चित्रों को अपनी सहज भावना की तूलिका से अनुभूति का ऐसा गहरा रंग देता है कि वे चित्र देश और काल की सीमाओं को लाँघकर भविष्य की सम्पत्ति बनते हैं। आज का कलाकार राष्ट्रीय महासमर की जिन आहुतियों का संकलन कर सका है, कौन कह सकता है कि भविष्य की पीढ़ियाँ उन पर गर्व करके अपने भविष्य-निर्माण में बल न प्राप्त करेंगी।

गांधी-वादः—युग की चेतना भी साहित्य-सृजन में प्रेरणा का कार्य करती है। इस दृष्टि से साहित्य में राजनैतिक विचारों का विशिष्ट स्थान है। आधुनिक साहित्य का एक बहुत बड़ा अंश राजनैतिक क्षेत्र से सम्बन्धित है। भारतीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन के अवसर पर देश के सभी मान्य साहित्यकारों ने विभिन्न रूपों से स्वातंत्र्य देवी की प्रार्थना में अपनी श्रद्धांजलियाँ अर्पित की है। राजनीति में गांधी जी का प्रभुत्व स्थापित होते ही हमारी राजनैतिक-चिंतनधारा में क्रमशः आमूल परिवर्तन उपस्थित हो गया। अतएव स्वातंत्र्य-

संग्राम का रूप भी बदल गया। फलतः साहित्य में भी यत्र-तत्र उसका प्रभाव परिलक्षित होने लगा, किन्तु यहाँ पर यह बात स्मरणीय है कि जिस प्रकार गांधी-विचारधारा राजनीति का प्रधान अंग होकर उपस्थित हुई, उस प्रकार उसका ग्रहण साहित्य में कभी नहीं हुआ। राजनीतिक क्षेत्र में तथा जीवन के वैयक्तिक विकास में तो गांधीवादी विचार अपना विशेष प्रभाव रखते अवश्य रहे हैं, किन्तु साहित्य ने कभी इसे लक्ष्यरूप से स्वीकार नहीं किया है। यही कारण है कि हमारी साहित्यिक रचनाओं में प्रसंग-वशात् यत्र-तत्र गांधी-विचारधारा का दर्शन भले ही हो जाता है, किन्तु वाद के रूप में उसी को मानकर रचनाएँ नहीं की गई हैं। इस प्रकार गांधी जी के विचार दर्शन के रूप में अवश्य आये, साहित्यिक विषय-वस्तु अथवा शैली के रूप में नहीं।

साहित्य में जो स्थान गांधीवाद का है वही स्थान समाजवाद या साम्यवाद का भी है। इन विभिन्न विचारधाराओं ने जन-जीवन को प्रभावित किया है। फलतः साहित्य में भी उनका प्रतिबिंबित होना नितान्त स्वाभाविक है। ये विभिन्न विचार उद्देश्य में साम्य रखते हुए भी अपने प्रकार और प्रयोग में भिन्न होने के कारण दलगत-वस्तु बन गये हैं। यहाँ हम संक्षेप में इनके मौलिक स्वरूपों पर विचार करेंगे।

साम्यवादी विचारों को प्रेरणा मार्क्स से प्राप्त होती है। इसमें संदेह नहीं, मार्क्स को अपने देश में वही स्थान प्राप्त हुआ जो गांधी जी को भारत में और कदाचित् मार्क्स की मान्यता गांधी जी से कुछ अंशों में अधिक स्वीकार की गई। वर्तमान समय में ये ही विचार आज राजनैतिक क्षेत्र में और वहाँ से आकर साहित्य में, चर्चा के विषय बन गये हैं। दोनों ही विचारधाराएँ भारत के बौद्धिक जीवन में उच्चस्तर पर प्रतिष्ठित है और प्रत्येक विचार का विचारक अपनी सम्पूर्ण शक्ति से जनता के समक्ष आकर्षक बनने के लिए प्रयत्नवान है। जब तक भारतवर्ष को स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त हुई थी, तब तक गांधीवाद असंदिग्धरूप से इतना अधिक प्रबल था कि कोई अन्य विचारधारा इसके समक्ष टिक ही नहीं पाती थी। यहाँ तक कि साम्यवाद भी अपने पोषण के लिए परिस्थितियों को ढूँढ़ने में लगा रहता था, किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् विचार-स्वातंत्र्य की ओर ध्यान देने के लिए विचारकों को अधिकाधिक अवकाश मिला। विभिन्न विचारों के स्वरूपों को देखा-समझा गया तथा उनके परिणामों पर गम्भीरतापूर्वक ध्यान दिया गया। साम्यवाद समता का उपासक

होने के नाते अपने में सहज आकर्षण रखता अवश्य है, किन्तु गांधीवाद समय की धूलि से धूमिल हो गया हो अथवा व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा से प्रतिष्ठित होने के कारण आकर्षणहीन हो गया हो, ऐसा नहीं है। जहाँ तक दोनों पक्षों में विचार स्वातंत्र्य का प्रश्न है, वहाँ तक यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि आज दोनों ही व्यक्तित्व के प्रभाव से मुक्त हैं, क्योंकि इस समय न मार्क्स हैं और न गांधी।

मार्क्स की विचारधारा में परिस्थितियों का विवेचन एक शास्त्रीय पद्धति के रूप में प्राप्त होता है। गांधी-विचारधारा का दृष्टिकोण ही दूसरा है। उसका प्रत्येक विचार आत्मशक्ति को लेकर चल रहा है। अतः उस पर आध्यात्मिकता की छाप लगी रहती है। कतिपय आलोचकों ने दोनों वादों पर अत्यन्त स्थूलरूप में विचार करते हुए यह कह दिया है कि यदि साम्यवाद से हिंसा की प्रवृत्तियों को निकाल दो तो वह गांधीवाद हो जायगा, दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि गांधीवाद यानी हिंसावर्जित साम्यवाद, पर दोनों के मूल में कुछ मौलिक भेद विद्यमान है। साम्यवाद संघर्ष पर विश्वास करके चलता है। उसे जीवन की प्रत्येक क्रिया में, प्रकृति के प्रत्येक व्यापार में संघर्ष ही संघर्ष दिखाई पड़ता है। उसमें तात्त्विक परीक्षण का अभाव भी है। अतः इसमें सद्गुणों की वह मान्यता नहीं जो गांधीवाद के आध्यात्मिक आधार में है। साम्यवाद तो अध्यात्म के स्थान पर अर्थशास्त्र को गरिमा प्रदान करता है।

गांधीजी की कार्य-पद्धति की यह विशेषता रही है कि उन्होंने विचार स्वातन्त्र्य के लिए, आत्मपरीक्षण के लिए पर्याप्त अवकाश दिया। उन्होंने अपने विचारों को तर्क के आधार पर लोगों को मनवाया नहीं, अपितु व्यक्ति को स्वानुभूति के आधार पर उसमें आस्था उत्पन्न करवाई। इस विचार-परंपरा की एक विशेषता है बुद्धि के सतत प्रयोग द्वारा विचारों एवं परिस्थितियों का सतत अध्ययन एवं विवेचना। इस प्रक्रिया में यदि किसी प्राचीन विचार में कहीं कोई त्रुटि या भूल प्रतीत हो तो आत्म-परिष्कार द्वारा उस अशुद्धि का त्याग तथा प्रत्येक कल्याणकारी नवीनता के सत्य का ग्रहण करना आवश्यक समझा गया, किन्तु साम्यवाद मे ऐसा नहीं है। वहाँ तो एक निश्चित सिद्धान्त है, उसमें नवीन तर्क-वितर्क का कोई स्थान नहीं है। आप अंकगणित के रूप में प्रत्येक क्रिया को करते चले जाइये। अन्त में उत्तर मिल ही जायगा। इस दृष्टि से विचार-स्वातन्त्र्य का जितना स्थान गांधीवाद में है उतना साम्यवाद में नहीं। गांधीवाद में विचार-स्वातन्त्र्य का एक कारण यह भी है कि गांधी जी का

जीवन प्रारम्भ से लेकर अंत तक निरन्तर प्रयोग ही करता रहा है। ये प्रयोग ही उनकी महानता एवं देश की स्वतंत्रता के मूल कारण बने। अतः प्रयोग का जीवन में विशिष्ट महत्व है। इसके द्वारा मानव महत् से महत्तर और महत्तर से महत्तम बनता है।

गांधीवाद के सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए किशोरलाल मशरूवाला ने उसे तीन भागों में विभक्त किया है:—

१—वर्ण व्यवस्था,

२—विश्वस्त-वृत्ति (ट्रस्टीशिप)

३—विकेन्द्रीकरण।

ये तीनों ही विभाग व्याख्या-सापेक्ष्य है। इनके पीछे एक निश्चित तर्क एवं जीवन की एक निश्चित अनुभूति विद्यमान है। आचार्य बिनोवा भावे की व्याख्यानुसार गांधी जी समाज की बँधी हुई कल्पनाओं को तोड़ने के स्थान पर उनका परिष्कार करके उन्हें विकसित रूप प्रदान करना चाहते थे। इस प्रकार न वह विध्वंस के स्थान पर सुधार को ही महत्व देते थे। भारतीय वर्ण-व्यवस्था समन्वय प्रधान है। आधुनिक युग में गांधी जी ने (१) मज़दूरी (पारिश्रमिक) की समानता, (२) होड़ का अभाव, (३) आनुवंशिक संस्कारों से लाभ उठाने वाली शिक्षण-योजना को प्रसारित किया। उनके द्वारा मान्य वर्ण-व्यवस्था का यही तत्व है। विश्वस्त-वृत्ति अर्थात् ट्रस्टीशिप के अन्तर्गत आत्मविश्वास की पूर्णता के साथ समस्त प्राणिमात्र के कल्याण के लिए कार्य करना होता है। लोकसंग्रह अथवा लोककल्याण की भावना यहीं पुष्ट होती है। विकेन्द्रीकरण शब्द प्रायः नया-सा है। पर, सच तो यह है कि यांत्रिक सभ्यता के पूर्व समाज में विकेन्द्रीकरण ही प्रचलित था। गाँवों में उद्योगों के विकेन्द्रित होने के प्रमाण मिलते ही हैं, किन्तु यह विकेन्द्रीकरण गाँवों की सीमाओं को लाँघ कर राजसत्ता को भी प्रभावित करना चाहता है।

गांधीवाद तथा साम्यवाद में अन्य मौलिक मतभेद कितने ही क्यों न हों, पर जहाँ तक लोककल्याण-भावना का प्रश्न है, वहाँ तक दोनों में किसी प्रकार का कोई भी मतभेद नहीं है। भारत की शोषित प्रजा को दोनों ही हरा-भरा करना चाहते है। पर साधना की समता होते हुए भी साधन में विपरी-तता विद्यमान है। बिनोवा भावे ने इस अंतर को स्पष्ट करते हुए साम्यवादी विचारधारा को माता की पाली ममता का रूप दिया है जो अपने उद्देश्य

की पूर्ति में क्षण भर के विलम्ब को भी असह्य मान कर सद्यःपूर्ति पर ही बल देती है। भले ही यह सद्यःपूर्ति किसी स्थायी परिणाम को न प्रसव करे।

जैसा अभी संकेत कर आये हैं, साम्यवादी आर्थिक प्रश्नों को सबसे पहिले हल करना चाहते हैं। उनका विश्वास है कि अर्थ की उलझी पहेली ही समस्त अशान्ति का मूल हेतु है, पर गांधीवाद इस अर्थ के प्रश्न को विशेष महत्व नहीं देता। साथ ही वह अर्थ-भावना को भी धर्म-भावना के साँचे में ढाल कर व्यक्त करना चाहता है।

गांधीवाद में अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए कतिपय विशिष्ट-साधनों का प्रयोग आवश्यक समझा गया है। यथाः—

(१) सत्य—प्रत्येक स्थिति में सत्य का ही ग्रहण और सत्य का ही आचरण करना। सत्य की रक्षा अपने प्राण देकर भी करना।

(२) अहिंसा—प्रत्येक अधार्मिक कार्य का अपनीआत्मिक शक्तियों द्वारा विरोध करना। प्रतिपक्षी के हृदय को अपने त्याग एवं कष्ट सहन द्वारा अपने अनुकूल बनाना।

(३) सेवा—अहिंसा की पूर्ति के लिए सेवा अपेक्षित है। सत्य और अहिंसा की भावना ही इसे प्रश्रय एव प्रोत्साहन देती है।

गांधीवाद में सत्य, अहिंसा और सेवा ये तीन ऐसी अमोघ शक्तियाँ हैं जिनके द्वारा समस्त बर्बरताओं एवं क्रूरताओं का शमन करके मानवोचित आचार की प्रतिष्ठा की जा सकती है। यही कारण है कि जहाँ एक ओर साम्यवाद, पूँजीवाद तथा पूँजीपतियों का विनाश करके सम्पत्ति को श्रमिकों और कृषकों में बाँट देना चाहता है, वहाँ गांधीवाद पूँजीपतियों को यह आदेश देता है कि वे अपने जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक-धन स्वतः लेकर शेष धन श्रमिकों एवं कृषकों को दे दें। इस प्रकार वह अर्थ को धर्म से नियंत्रित करना चाहता है। अतः गांधीवाद जीवन के उच्च आदर्शों की प्राप्ति के लिए एक पद्धति विशेष है, व्यवस्था विशेष नहीं। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि गांधीवाद के अन्तर्गत हमें कोई नई विचारधारा नहीं उपलब्ध होती। जिन भावनाओं, विचारों, कार्यों एवं आदर्शों ने भारतीय जीवन को उच्चतम एवं अभिवन्दनीय बनाया था, गांधीवाद उन्ही का एक प्रकार से पुनः सन्देश देता है। विशेषता यह है कि महात्मा बुद्ध के पश्चात् महात्मा गांधी ही एक ऐसे व्यक्ति हुए जिन्होंने जीवन के उच्चादर्शों को भारतीय संस्कृति की मान्यताओं का स्वतः क्रियात्मकरूप में पालन

करने के उपरान्त उनका उपदेश दिया । इस प्रकार वर्तमान युग में हमारी प्राचीन मान्यताएँ प्रयोग के रूप में पुनः नवीन हो उठीं और महात्मा गांधी के वैयक्तिक जीवन में उतर आने के कारण उन सबके संकलित रूप की संज्ञा हुई गांधीवाद ।

गांधीवादी विचारधारा अपनी प्राचीनता के कारण साहित्य में आदि-काल से व्यक्त होती रही है, क्योंकि हमारा साहित्य जीवन के उच्चादर्शों से कभी रिक्त नहीं रहा । समय-विपाक के फलस्वरूप हम अपने को भूल चले थे । गांधी-वाद ने हमें हमारी स्थिति का ज्ञान करा दिया । उदाहरणार्थ शत्रु के प्रति भी उदारता का भाव रखते हुए गांधीवाद उसे पराजित करके पददलित नहीं करना चाहता, अपितु शत्रु के हृदय-परिवर्तन पर बल देता है । गांधी जी ने अपने जीवन भर कभी कोई कार्य दबाव से नहीं करवाया । प्रतिपक्षी के हृदय ने जब उनके कार्य के औचित्य को स्वेच्छापूर्वक स्वीकार कर लिया तभी उन्हें संतोष हुआ । निम्नलिखित पद में उसी अहिंसा की भावना व्याप्त है :—

"हमारी असि न रुधिर रत हो ।
न कोई कभी हताहत हो ।
शक्ति से शक्ति न अवनत हो ।
भक्तिवश जगत एकमत हो ।
वैरियों का वैर-क्षय हो ।
दयामय भारत की जय हो ॥"

—मैथिलीशरण गुप्त

भगवतीप्रसाद वाजपेयी अपने उपन्यास पतवार में गांधीवादी विचारधारा का पोषण करते हुए एक स्थल पर लिखते हैं—

"मेरी यह धारणा अब धीरे-धीरे दृढ़ हो गई है कि एक स्थायी विश्व शान्ति और मनुष्य मात्र का कल्याण सत्य और अहिंसा द्वारा ही संभव है ।"

सत्य और अहिंसा की भावना आत्मबल का संचार किस प्रकार करती है, यह नीचे के पद्य से स्पष्ट हो जाता है:—

"मैं निडर हूँ, मौत से डरता नहीं ।
सत्य हूँ मिथ्या डरा सकती नहीं ।
मैं निडर हूँ सत्य का क्या काम है ?
मैं अहिंसक हूँ, न कोई शत्रु है ॥"

—रामनरेश त्रिपाठी

सुमित्रानन्दन पंत की काव्य-धारा जीवन के विभिन्न अंगों का स्पर्श करती हुई प्रवाहित होती है। एक ओर जहाँ वे सुकुमार भावनाओं का आकलन करते हैं, कल्पनालोक में विचरण करते हैं, वहाँ दूसरी ओर जीवन की वास्तविकताओं का भी वर्णन करते है। निम्नांकित कविता में साम्यवाद और गांधीवाद दोनों का विवेचन किया गया है—

"साम्यवाद ने दिया विश्व को, नव भौतिक दर्शन का ज्ञान।
अर्थशास्त्र औ' राजनीति गत विशद ऐतिहासिक विज्ञान।
साम्यवाद ने दिया जगत् को, सामूहिक जनतन्त्र महान।
भव-जीवन के दैन्य दुःख से किया मनुजता का परित्राण॥
अंतर्मुख अद्वैत पड़ा था, युग-युग से निष्क्रिय, निष्प्राण।
जग में उसे प्रतिष्ठित करने दिया साम्य ने वस्तु विधान।
गांधीवाद जगत् में आया ले मानवता का नव मान।
सत्य, अहिंसा से मनुजोचित नव संस्कृति करने निर्माण॥
गांधीवाद हमें देता जीवन पर अंतर्गत विश्वास,
मानव की निःसीम शक्ति का मिलता उससे चिर-आभास।
व्यक्ति पूर्ण बन, जग-जीवन में भर सकता है नूतन प्राण,
विकसित मनुष्यत्व कर सकता पशुता से जन का कल्याण।
मनुष्यत्व का तत्व सिखाता निश्चय हमको गांधीवाद
सामूहिक जीवन-विकास की साम्य योजना है अविवाद।"

—युगवाणी

स्पष्ट है कि गांधीवाद पूर्णतः प्रजातन्त्रात्मक शासन को मान्यता प्रदान करता है। हिंसा का विनाश, समता का प्रसार, गृह-उद्योगों का प्रचलन, ग्राम्य समितियों की स्थापना आदि के द्वारा कवि गांधीवादी राम-राज्य की कल्पना करता है। 'हंसमयूर' नामक रचना में वृन्दावनलाल वर्मा इसी राम-राज्य के स्वरूप का आभास इस प्रकार देते हैं:—

इन्द्रसेन—'...जनता की भूमि जनता को लौटाई जाय, क्योंकि जनता ही उसकी स्वामी है। राजा उसका स्वामी नहीं। अपने-अपने वर्ण में रहकर लोग अपना काम सुख पूर्वक करें। सबको अपने-अपने धर्म का अनुकरण करने की स्वाधीनता होगी। जनमार्ग सुरक्षित रक्खे जायँगे जिससे कृषि और उद्योगों की

उपज दूर दूर तक आ-जा सके। किसी से भी बलात् काम, धन या अन्न नहीं लिया जायगा। ग्राम्य-समितियाँ, शिल्पियों के संघ और श्रेणियाँ फिर से संगठित हों। नीति और शौर्य के समन्वय से जीवन और मरण को सुन्दर बनाया जाय।"

गांधी-विचारधारा का पोषण बहुत कुछ उन स्थलों में पाया जाता है जहाँ उनके अभिनन्दन में कवियों ने अपनी भावनाओं को व्यक्त किया है। यथा:—

"ईश के सब पूत पावन हैं बड़ा छोटा न कोई।
फिर बताया हिन्दुओं को चिर पुरातन ज्ञान तूने।
मानवोचित हरिजनों को फिर दिलाया स्थान तूने।
कर्म कोई है न ऊँचा, कर्म कोई है न नीचा।
उच्च वर्णों के हृदय का, कम किया अभिमान तूने।
मानवोचित हरिजनों को फिर दिलाया स्थान तूने॥"

—'वन्दना के बोल'

साम्यवाद शोषण को नहीं सहन कर सकता। अतः वह शोषण के प्रतिकूल क्रान्ति की सृष्टि करना चाहता है। गांधीवाद भी शोषण का समूल विनाश चाहता है—

"उन शोषित, पीड़ित, दलितों की, सेवा में मर-खप जाने में।
गांधी-पथ की खोज मिलेगी, अपरिग्रह के अपनाने में।
शोषण की तलवार उठाकर, मुख से गांधी-जय न निकालो।
ऐ शासन-सत्ता-धन वालो, अपने डगमग चरण सँभालो॥"

—जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द'

साम्यवाद प्रगति पर विश्वास व्यक्त करता है।[1] गांधीवादी भी प्रगति-पथ में पीछे रहने वाला नहीं है। इस प्रगति की विशेषता यह है कि वह साधना-समन्वित है। उसमें द्वेष-रोष का पूर्ण तिरोभाव है। गांधी जी का जीवन ही स्वतः गांधीवाद की व्याख्या करता है। उन्होंने जिस नीति को व्यक्त करना चाहा अथवा जिस काम को दूसरे से करवाना चाहा उसे पहिले स्वतः प्रयोग किया। इसी से तो कवि कहता है—

१—साम्यवादी विचारधारा का पोषण करने वाले उद्धरण प्रगतिवाद शीर्षक अध्याय में दिये गये हैं।

"प्रगति-चिह्न गांधी-पथ का, केवल गांधी जयघोष नहीं है,
वह पथ वीतराग का, जिस पर द्वेष नहीं है, रोष नहीं है।
प्रतिपल प्रगति, साधना प्रतिक्षण, गांधी में यह सत्य निहित था,
समता, संस्थापन के पथ पर गांधी का बढ़ना निश्चित था।"

हिन्दी-साहित्य में गांधीवादी विचार-धारा का पोषण तथा उसकी अभिव्यक्ति मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, सुमित्रानन्दन पंत, सोहनलाल द्विवेदी, सुभद्राकुमारी चौहान, भारतीय आत्मा प्रभृति कवियों की रचनाओं में विशेषरूप से प्राप्त होती है। गांधी जी के जीवन को लेकर रघुवीरशरण मित्र ने एक 'जननायक' नामक महाकाव्य लिखने का प्रयास किया है। प्रकाशक ने भी इसे आकर्षक बनाने का प्रयत्न किया है।

इतिहास

जब समस्याएँ उपस्थित होती हैं तब उनकी अभिव्यक्ति के दो ही साधन हैं: पहिला वैज्ञानिक ढंग से उन पर विचार किया जाय, दूसरा उनका ऐसा रूप उपस्थित कर दिया जाय कि उसे देखकर सहसा उसकी ओर चित्त आकृष्ट हो जाय। संसार के साहित्य में इन दोनों रूपों में समस्याओं पर विचार किया गया है। रूप-चित्रण जन साधारण को आकृष्ट कर लेता है, अतएव उसका प्रभाव अधिक होता ही है। एक गंदी नाली है, उसमें कीड़े बिलबिला रहे हैं, कालापानी भरा हुआ है, कीचड़ को देखकर घृणा लगती है। ऐसा वर्णन यदि सामने आ जाय तो घृणा उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है, क्योंकि यही उसका यथार्थ रूप है और यथार्थवाद का काम भी यही है कि वह नग्न समस्या उपस्थित करके उसकी ओर लोगों का ध्यान पहुँचा दे। यह नहीं है कि इस प्रकार की वर्णन-शैली कोई आज की वस्तु हो। अनादि काल से मानव यही करता आया है। इस प्रकार का यथार्थ स्वरूप चित्रण करना कलाकार को तब अभीष्ट होता है जब उसके साथ मानवात्मा के रागात्मक सम्बन्ध की व्यंजना आवश्यक होती है। इस आवश्यकता के भी दो रूप हैं: पहिला सामाजिक, दूसरा आर्थिक। यहाँ दोनों पर अलग-अलग विचार किया जायगा।

सामाजिक यथार्थवादः—समाज की व्यवस्था निश्चित हो जाने पर कुछ ऐसे नियम उपस्थित होते हैं जो सम्पूर्ण समाज की दृष्टि से हितकर होते हैं। उनकी यह हितकारिता काल-विशेष तक सीमित हो सकती है। यह भी संभव है कि कालान्तर में भी उनकी उपयोगिता बनी रहे। साथ ही यह भी संभव है कि व्यक्ति का अपना स्वार्थ समाज विशेष के नियमों से काल-विशेष में रगड़ खाता रहे अथवा कालान्तर में वह विशेष व्यवस्था समाज के अधिक भाग को अप्रिय रूप से प्रभावित करने लगे। इन दोनों दिशाओं में नियम कष्टकर प्रतीत होता है। जब यह कष्टकारिता अधिक बढ़ जाती है तब इस काल के

चित्रण के द्वारा कलाकार नियम विशेष का दूषित अंश उपस्थित करना चाहता है। दान समाज का एक विशेष नियम था, परन्तु 'विष्णुस्त्रैधाविचक्रमे' में उस दान के यथार्थ रूप पर विचार किया गया है। आगे चलकर रामायण काल में महाराज दशरथ की तीन रानियों के कारण उत्पन्न होने वाले कलह के द्वारा बहु-विवाह के यथार्थ रूप का ही चित्रण किया गया है। महाभारत कौरव-वंश की उत्तराधिकार व्यवस्था का प्रत्यक्ष परिणाम है। पुराणकाल में भी ऐसे यथार्थ चित्र देखने को मिल सकते हैं।

वैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर हिन्दी का आदिकाल तात्कालिक अवस्था का यथार्थ चित्र व्यक्त करता है। किस प्रकार राजपूतों ने अपनी तुनुक-मिज़ाज़ी के द्वारा मुसलमानों के लिए भारतवर्ष का द्वार खोल दिया—यह कहानी यदि पढ़नी हो तो 'राजयशो'—'रायसा' देखना चाहिए। हम उन राजपूत वीरों की आन-बान की प्रशंसा करेंगे, परन्तु उनकी राजनैतिक दृष्टि का अभाव हमें अवश्य खलता है। यह काल भी सामाजिक यथार्थ का ही निदर्शक है। राज-पूत राजशक्ति के लिए परस्पर नहीं कट मरा, वरन् समाज-व्यवस्थागत क्षत्रिय-धर्म के मिथ्याभिमान ने उसे यह प्रेरणा दी थी। परमाल के बाग में पृथ्वीराज के कुछ योद्धा ठहर गये। मालियों ने इसका विरोध किया। योद्धाओं ने मालियों को दण्ड दिया और यही एक घटना महोबा और दिल्ली के विनाश का कारण बनने वाली हुई। इसी ने परमाल को कन्नौज का सहायक बनाया और आल्हा-ऊदल की शक्ति से टक्कर खाकर पृथ्वीराज की सैनिक शक्ति लँगड़ी हो गई।

भक्तिकाल भी हमारे सामने तात्कालिक परिस्थितियों का यथार्थ चित्र उपस्थित करता है। कबीर के अधिकांश उपदेश परक पद और तुलसी का कलियुग वर्णन वस्तुतः यथार्थ चित्र ही है। भारत में गौरांग-शक्ति के पधारने पर प्राचीन और क्रमशः विकसित होकर आने वालो समाज-व्यवस्था एकबारगी भ्रष्ट-विकृत और त्याज्य समझी जाने लगी। हम ऊपर कह चुके है कि व्यक्ति का महत्व समाज के लिए भी हो सकता है और व्यक्ति के लिए भी समाज की रचना हो सकती है। इस युग में व्यक्ति और समाज का यह संघर्ष अधिक प्रबल हो गया है। अतः इस संघर्ष की व्यंजना के जो चित्र आज उपस्थित होते हैं, वही वर्तमान-कालीन यथार्थवादी साहित्य है।

आर्थिक यथार्थवाद—यथार्थवादी साहित्य का दूसरा पार्श्व आर्थिक दृष्टिकोण से प्रकट होता है। अर्थ-व्यवस्था भी वस्तु-विनिमय के सिद्धान्तों के साथ प्रारम्भिक वैदिक-काल में ही उदित हो चुकी थी। परन्तु उस समय अर्थ का

मूल्य इतना नहीं था, जितना आज है। कार्य का विभाजन इस समस्या का पहिला समाधान था। संभवतः उस समय सम्पत्ति के नियमित बटवारे के लिए ही कार्य का यह विभाजन किया गया था। भारतवर्ष के इतिहास में उस समय से लेकर मुगल काल तक आर्थिक व्यवस्था सम्बन्धी साहित्य दिखाई नहीं देता। उसके केवल दो ही कारण हो सकते हैं। पहिला भारतवर्ष की सम्पत्ति इतनी अधिक थी कि अर्थ का अभाव नहीं था। दूसरा सम्पत्ति की विभाजन-व्यवस्था इतनी व्यवस्थित थी कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन-निर्वाह की सामग्री सहज ही पा लेता था। अतएव उसके हृदय में धनपतियों अथवा शक्ति-सम्पन्नों के प्रति विद्वेष की भावना का उदय ही नहीं होता था। यदि आर्थिक-व्यवस्था से अधिक व्यक्तियों को कष्ट हुआ होता तो उसकी प्रतिध्वनि कम से कम कबीर की कठोर वाणी में अवश्य सुनाई देती। आर्थिक व्यवस्था का मूल अंग्रेजी शासन के साथ जुड़ा हुआ है।

सम्पत्ति का स्वतः मूल्य कुछ नहीं है। वह हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन मात्र है। अतएव जब इस साधन के परिमाण में कमी होने लगती है तब इसका महत्व समझ में आता है। अंग्रेजी शासन के साथ यह कार्य प्रारम्भ हुआ। तीन वर्ग स्पष्ट दिखाई देने लगे। पहिला इन नवागत शासकों की कृपा पर निर्भर जमींदार वर्ग था, दूसरा इन विदेशी व्यापारियों के लिए मध्यस्थ का काम करने वाला व्यापारी वर्ग और तीसरा वर्ग साधारण श्रमजीवियों का था। क्रमशः श्रमजीवी के घर से, विभिन्न छिद्रों के द्वारा बहकर सम्पत्ति का स्रोत इन व्यापारियों और दलालों की मध्यस्थता से विदेशी निधि में एकत्र होने लगा। देश की दरिद्रता बढ़ती गई और आर्थिक व्यवस्था जटिल होती गई। इस जटिल आर्थिक व्यवस्था ने पराधीनता के साथ मिलकर एक समस्या का रूप धारण कर लिया और उसका चित्रण करने के लिए वर्तमान यथार्थवाद का जन्म हुआ।

जो कार्य भारतवर्ष में अंग्रेजों के पधारने पर हुआ वह कार्य यूरोपीय देशों में अतिप्राचीन काल से प्रचलित था। वहाँ की प्रकृति इतनी सम्पत्ति उत्पन्न नहीं करती थी कि सब का उदर-पोषण किया जा सके। इसलिए वहाँ दो वर्ग सदैव बने रहे : पहिला धनिक-वर्ग, दूसरा निर्धन-वर्ग। धनिक-वर्ग निर्धनों के शोषण के द्वारा अपनी शान्ति-रक्षा में व्यस्त रहा। व्यापारिक-क्रान्ति के अवसर पर भी इस निर्धन-श्रमिक-वर्ग का जीवन-स्तर ऊँचा न उठ सका। असमसाहसी कुछ विदेशी व्यापारियों ने चारों दिशाओं से सम्पत्ति खींचकर एक

तीसरा व्यापारिक धनिक-वर्ग भी बनाया। इस वर्ग ने औद्योगिक क्रान्ति से भी सहायता प्राप्त की और स्वाभिमानी कृषक-जीवन की आत्म-निर्भरता के महत्वपूर्ण भावको दासता में बदल कर उसका जोवन-स्तर नीचे गिरा दिया। अतएव जो कार्य भारतवर्ष में सत्रहवीं शताब्दि से प्रारम्भ हुआ, वह कार्य यूरोप में बहुत पहिले से हो रहा था। कलाकृतियों में इसका प्रदर्शन औद्योगिक और व्यापारिक-क्रान्ति के साथ ही होने लगा।

वर्गगत सामाजिक अव्यवस्था दो रूपों में चित्रित हो सकती है। पहिला करुण और दूसरा व्यंग्य रूप। करुण रूप में कलाकार यथार्थ-चित्रण द्वारा हमारे हृदय में पात्र के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करना चाहता है। परन्तु व्यंग्य-रूपों का उद्देश्य उन व्यवस्थाओं का उपाहासात्मक चित्र उपस्थित करना होता है जिनके द्वारा वह दुखद और अव्यवस्थित स्थिति उत्पन्न होती है। डैनियल डिफो (Daniel Defoe) का 'गुलिवर्स ट्रैवैल' (Gulliver's Travel) इसी प्रकार का एक व्यंग्य-चित्र है। डान क्विक्ज़ोट (Don Quixote भी एक सुन्दर व्यंग्य-चित्र है। एलिज़ाबेथ-काल में रोमान्टिक नाटकों की प्रतिक्रिया में भी मनोरंजनात्मक यथार्थवादी नाटकों का विकास हुआ। इस प्रकार यथार्थवाद के विकास का प्रधान काल इंग्लैंड में सत्रहवीं शताब्दि से प्रारम्भ होता है। इसके उपरान्त कहानी-साहित्य तो लगभग अब तक यथार्थ-वादी ही बना रहा। 'हार्डी' का "जूड दि आब्सक्योर" (Jude the Obscure) ऐसा उपन्यास है जो करुण यथार्थ चित्र के द्वारा बलात् सहानु-भूति आकृष्ट कर लेता है। 'हार्डी' की दूसरी कृति "मेयर आव कैस्टर ब्रिज" (Mayor of Casterbridge) में करुणा और मनोरंजन दोनों का ही समावेश है। डिकेन्स के "डेविड कापर फील्ड" (David Copper-Field) आदि में ऐसी ही कहानियाँ हैं जो तात्कालिक सामाजिक व्यवस्था के यथार्थ चित्र उपस्थित करती हैं।

यह प्रवृति किसी समय किसी दूसरे वाद के द्वारा आच्छन्न नहीं की जा सकती। जैसे-जैसे वैज्ञानिक सभ्यता का विकास होता गया, वैसे ही वैसे व्यक्ति 'स्व' पर अधिक केन्द्रित होने लगा और व्यक्ति का स्थितियों से संघर्ष बढ़ता गया। आर्थिक व्यवस्था ने इस संघर्ष को अधिक तीव्र गति प्रदान की। फलतः पूरे यूरोप में कलाकार इसी के यथार्थ चित्र उपस्थित करने में प्रवृत्त हो गया। हमारी राजनैतिक दासता ने हमारे विचार-स्वातन्त्र्य पर भी प्रभाव डाला। फलतः अपने साहित्यिक क्षेत्र में भी पाश्चात्य साहित्यिक परंपराओं का अनु-

करण करना प्रारम्भ किया। आज हिन्दी-साहित्य में यथार्थवाद का जो स्वरूप उपस्थित किया जा रहा है उसमें रूसी तथा पश्चिमी साहित्य की छाप यत्र-तत्र प्रभूत मात्रा में विद्यमान है। प्रेमचन्द पर रूसी साहित्यकार गोर्की का प्रभाव स्पष्ट है। इंगलैण्ड के साहित्यकार गाल्सवर्दी, शॉ, थैकरे आदि ने भी जन-जीवन के यथार्थ स्वरूप के अंकन में आधुनिक साहित्यकारों को प्रेरणा प्रदान की है।

विवेचन

यथार्थ जीवन का सत्य और आदर्श जीवन की कल्पना है। मानव अपने विकास के प्रारम्भिक क्षणों से यथार्थ का वरण और आदर्श की कल्पना करता आ रहा है। उसकी कल्पना आदर्श के रूप का निर्माण करती है, किन्तु जब वही कल्पना भविष्य को छोड़कर वर्तमान जीवन के विभिन्न रूपों में साकार हो उठती है तब वह यथार्थ बनती है। मानव स्वभावतः स्वप्नद्रष्टा प्राणी है। उसके स्वप्नों में ही उसकी महत्वाकांक्षा पलती है। आशा के तन्तुओं से बँधी हुई मानव की महत्वाकांक्षा उनकी जीवन-यात्रा का सम्बल बनती है। अपने यात्रा-पथ में संचरणशील मानव जिस सत्य का दर्शन करता है, जिस सत्य का प्रयोग करता है, वही उसका यथार्थ स्वरूप है। वह अपने देश-काल की सीमाओं से सीमित पूर्णता की केवल कल्पना कर पाता है, उसकी उपलब्धि नहीं। साथ ही मानवगत दुर्बलताएँ तथा उसके परिणाम भी उसके साथ रहते हैं। इस प्रकार वह अपने जीवन में एक प्रकार की त्रुटि या अभाव की अनुभव करता रहता है। आदर्श इन अभावों को पूर्ण करने का प्रयत्न उपस्थित करता है। फलत: जीवन में एक गतिविशेष उत्पन्न होती है जो अपनी मोहकता में, आकर्षण में एक स्वस्थ वातावरण का निर्माण करती है और मानव उसी वातावरण में पहुँचकर अपने अभावों को भूल-सा जाता है। अतएव जीवन के लिए आदर्श उतना ही आवश्यक है जितना यथार्थ। जीवन की सार्थकता आदर्श और यथार्थ के मिश्रण में ही संभव है।

साहित्यकार अपनी कृतियों में अधिकांशतः यथार्थ का ही चित्रण करता है। वह यथार्थ को बल प्रदान करने के लिए आदर्श की मनोरम झाँकी भर दिखा देता है। यथार्थ अपने प्रकृत रूप में जीवन की वास्तविकताओं का ही चित्रण है। प्रसाद के शब्दों में "यथार्थवाद में लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात्" होता है। यथार्थवादी लेखक साधारणतः वैयक्तिक जीवन को देखता है, उसका अनुभव करता है और फिर उसी पर चिंतन करता है। इस

प्रकार वह जीवन के सत्य को जानता है, उसका वास्तविक दर्शन प्राप्त करता है और फिर अपनी कृति में उसी की व्याख्या करता है। इस व्याख्या में न तो आदर्श की भावना रहती है और न रोमांस की, केवल सहानुभूति की भावना को उद्दीप्त करके लेखक अपनी इतिकर्त्तव्यता समझता है।

साहित्यकार की कृति युग का दर्शन होती है, इस अर्थ में यथार्थवादी साहित्य इतिहास के निर्माण में सहायक होता है। आज यदि तुलसी के समय का इतिहास उपलब्ध न भी हो, तो भी उनकी रचनाओं द्वारा उस युग की राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक स्थिति का पता लग सकता है। कलियुग का वर्णन करते समय जब तुलसी कहते है कि, 'द्विज श्रुति के बेचने वाले हैं, वेद की आज्ञा कोई नहीं मानता है, लम्बे नाखून और लम्बी जटाएँ ही साधु का लक्षण रह गया है, स्त्री के वश में होकर लोग बन्दर की भाँति नाचते रहते हैं,.........सुहागिनी स्त्रियाँ शृंगार से हीन और विधवाएँ शृंगार से युक्त हैं,......लोग धन के लिए ब्राह्मण और गुरु की हत्या कर डालते हैं।'[1] तब वर्तमान स्थिति का चित्र उपस्थित हो जाता है। समाज की जो विकृति तुलसी के समय में उत्पन्न हुई थी वह आज तक बढ़ती ही चली जाती है। वस्तुतः तुलसी ने जीवन के यथार्थ स्वरूप को देखा था। अतः वे मानवगत निर्बलताओं का यथातथ्य चित्रण भी कर सके। उनका निम्नलिखित वर्णन भी मानव की दुर्बलता एवं समाज की विशृंखलता का रूप उपस्थित करता है :—

"सुत मानहिं मात पिता तब लौं।
अबलानन दीख नहीं जब लौं॥
ससुरारि पियारि लगी जब तें।
रिपु रूप कुटुम्ब भयो तब तें॥
नृप पाप परायन धर्म नहीं।
करि दंड विडंब प्रजा नितहीं॥

× × ×

कविवृन्द उदार दुनी न सुनी।
गुन दूषक बात न कोऽपि गुनी॥

१—रामचरितमानस, उत्तरकांड।

कलि बारहिं बार दुकाल परै।
बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै ॥''

रामचरितमानस, उत्तरकांड

रीतिकाल में भूषण का काव्य यद्यपि अतिशयोक्ति पूर्ण है, फिर भी उसमें तत्कालीन हिन्दू-जीवन की स्पष्ट अभिव्यक्ति हो सकी है। अतः जब वे चोटी, जनेऊ और मन्दिर-विनाश की बात कहते हैं तब हिन्दू-समाज पर होने वाले मुसलमानों के अत्याचार का स्वरूप उपस्थित हो जाता है। आधुनिक काल में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की रचनाओं में यथार्थवाद का ही रूप मिलता है। 'प्रेम-योगिनी' नाटिका में उन्होंने काशी की दयनीय स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है :—

देखी तुमरी कासी लोगों, देखी तुमरी कासी।
जहाँ बिराजै बिश्वनाथ विश्वेश्वर जी अविनासी ॥
लोग निकम्मे भंगी गंजड़ लुच्चे बेविश्वासी।
महा आलसी झूठे शुहदे बेफिकरे बदमासी ॥
अमीर सब झूठे औ' निंदक करैं घात विश्वासी।
साहेब के घर दौड़े जावें चंदा देहिं निकासी ॥
चढ़ै बुखार नाम मंदिर का सुनतहिं होय उदासी।
घालि रुपैया काढ़ि दिवालामाल डकारें ढाँसी ॥
राम नाम मुँह से नहिं निकसे सुनतहिं आवे खाँसी।
देखी तुमरी कासी मैया, देखी तुमरी कासी ॥

भारतेन्दु की स्पष्टवादिता उनके जीवन की एक बड़ी विशेषता है। उन्होंने समाज पर बड़े कठोर व्यंग्य किये हैं। उनके समक्ष एक ओर विद्या-नगरी काशी का दृश्य था और दूसरी ओर उसी का अत्यन्त दयनीय स्वरूप। इसी से वे अत्यन्त व्यथित होकर कहते हैं : 'हा! क्या इस नगर की यही दशा रहेगी। जहाँ के लोग ऐसे मूर्ख हैं वहाँ आगे किस बात की वृद्धि की संभावना करें। केवल यह मूर्खता छोड़ इन्हें कुछ आता ही नहीं। निष्कारण किसी को बुरा भला कहना। बोली ही बोलने में उनका परम पुरुषार्थ है। अनाब-शनाब जो मुँह से आया बक उठे, न पढ़ना, न लिखना। हाय भगवान् इनका कब उद्धार करेगा!' —प्रेमयोगिनी

अकाल, अन्नाभाव, भुखमरी आदि का चित्रण यथार्थवाद की ही कोटि में आता है। 'भारत-दुर्भिक्ष' शीर्षक कविता में महावीरप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं:—

"गली-गली कंगाल पेट पर हाथ दोऊ धरि धावैं।
अन्न-अन्न, पानी-पानी कहि शोर प्रचंड मचावै॥
बालक, युवा, जरठ नारी-नर भूख-भूख कहि गावैं।
अविरल अश्रुधार आँखिन ते बारंबार बहावैं॥"

× × × ×

"पानी-पानी-पानी माँगत थकी विश्व की बानी।
ज्वार बाजरा मोठ मूँग सब जहँ की तहाँ सुखानी॥
लेन जाय यदि ऋण कोऊ कहुँ कौड़िहु मिलै न कानी॥
अस दुर्भिक्ष देखि लोगन की सुधि-बुधि सबै भुलानी।"

—द्विवेदी काव्यमाला

मैथिलीशरण गुप्त ने 'भारत-भारती' में भारतीय जीवन के अनेकानेक यथार्थ स्वरूपों का अंकन किया है। कतिपय लेखकों ने भारतीय समाज की दुर्व्यवस्था पर भी आँसू बहाये हैं। दहेज, अशिक्षा, बालविवाह, वृद्ध-विवाह, मदिरा-सेवन आदि विषयों पर लिखकर द्विवेदी-युग में साहित्यिकों ने समाज की कुरीतियों को दूर करने का प्रयत्न किया था। इस प्रकार जितना भी हिन्दी का सुधारवादी साहित्य है उस सबके मूल में यथार्थवादी चित्रण की ही प्रधानता है। वर्तमान काल में लेखकों का ध्यान राजनैतिक विषयों की ओर अधिक है। अतएव घूस, लूट, नेतागीरी, अराजकता आदि से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार की यथार्थवादी भावनाएँ साहित्य में पाई जाती हैं। यथा:—

"नैतिक जागृति! अजी साहब यह सब नई परिभाषाएँ हैं और क्या? मैं खूब समझता हूँ इस नैतिक जागरण को। जहाँ पहिले जागीरदार लूटते थे, वहाँ अब नेता लूटते हैं। जनता तो एक अस्तव्यस्त बिखरी-बिखरी-सी शक्ति है।"

—कृष्णचन्द्र एम० ए०—'पराजय'

"आज की समाज-रचना अहिंसा की बुनियाद पर नहीं है। उसमें दल हैं, पक्ष हैं और विषमता है। आपसी सम्बन्ध कुछ ऐसे आधार पर बनते हैं कि स्नेह कठिन और शोषण सहज होता है।"

—जैनेन्द्र—'जड़ की बात'

आधुनिक-युग विभिन्न वादों का युग है। राजनैतिक वादों ने साहित्य के क्षेत्र में भी अनेक वादों की सृष्टि की है। प्रगतिवाद, प्रयोगवाद राजनैतिक विचारों की ही देन है। इन वादों के अन्तर्गत जिस साहित्य का निर्माण हुआ है वह अधिकांशतः यथार्थवाद ही है। इसमें कृषकों, श्रमिकों की आर्थिक एवं सामाजिक अवस्था का विशेष रूप से चित्रण किया गया है। यथाः—

"मुख मलीन गालों पर आँसू,
लेकर रधिया घर आई।
फूसफास की बनी झोपड़ी,
बँधी एक मरियल गैया॥
चिथड़ों में लिपटा सोता था,
रधिया का छोटा भैया॥
झूला अभी डाल दे मुझ को,
नीबीं पर मेरी मैया।
मैं तू झूलूँगी झूलेगी,
झूलेगा मेरा भैया॥

—'शील'-अंगड़ाई

उक्त रचना आधुनिक-युग की प्रगतिवादी रचना है जिसमें एक निर्धन के जीवन की कहानी है। प्रस्तुत चित्रण यथार्थवादी है। किन्तु हमारे प्राचीन साहित्य में भी ऐसे यथार्थ स्वरूपों का अभाव नहीं है। यदि इस यथार्थ को लेकर प्रगतिवाद का नामकरण किया जा सकता है तो हम तो यह कहेंगे कि यह यथार्थवादी प्रगतिवाद नितान्त प्राचीन है। प्रतापनारायण मिश्र ने निर्धनता का चित्र उपस्थित करते हुए लिखा है:—

हा दुरदैव आज निज पापन नहिं पेटहु की तृपति हमार।
किन सो कहा लाय किमि पालैं छोटे सिसु अरु कृशतन बाम॥
वे दिन कबहूँ फेरि फिरैंगे ? कहँ धौं गये हाय रे राम।
जब हम कहत रहे निज बूते सकल सृष्टि सो तृप्यन्ताम॥

—'प्रताप-पीयूष'

इसी प्रकार मैथिलीशरण गुप्त भी कृषकों का यथार्थवादी चित्र उपस्थित करते हैं:—

कड़ी धूप में तीक्ष्ण ताप से तनु है जलता,
पानी बनकर नित्य हमारा रुधिर निकलता।
तदपि हमारे लिए यहाँ शुभ फल कब फलता,
रहता सदा अभाव नहीं कुछ भी वश चलता।।

× × ×

वर्षा का सलिल खुले सिर पर है झड़ता,
विकट शीत में अस्थिजाल तक आप अकड़ता।
है बैलों के साथ बैल भी बनना पड़ता,
जलता तो भी उदर अहो! जीवन की जड़ता।।

—'किसान'

यदि मानव की आर्थिक दुर्दशा एवं करुणा का यथार्थ चित्र देखना है तो ये पंक्तियाँ देखिये:—

लपक चाटते जूठे पत्ते जिस दिन मैंने देखा नर को।
उस दिन सोचा क्यों न लगादूँ आग आज इस दुनिया भर को।
यह भी सोचा क्यों न टेंटुआ घोंटा जाय स्वयं जगपति का।
जिसने अपने ही स्वरूप को रूप दिया इस घृणित विकृति का।।

—बालकृष्णशर्मा 'नवीन'

मनुज खड़े हैं मरे-मरे,
वसुधा माता के अंचल पर कृमि कीटों से हैं बिखरे
किसने देखा, किसने लेखा,
इनके कपड़े कहाँ गये?
क्यों न गये नंगे भिखमंगे
इनके कपड़े जहाँ गये।
इन मनुजों में आग लगादो अपनी लाजों आप मरे।
वसुधा माता के अंचल पर कृमि कीटों से हैं बिखरे।

—भवानीप्रसाद तिवारी—"प्राण-पूजा"

दान-दक्षिणा के नाम पर समाज में कितना आडम्बर होता है, लोग किस प्रकार वास्तविक सेवा-क्षेत्र की उपेक्षा करते हैं और किस प्रकार अपनी भौतिक लिप्साओं एवं ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए पाखंड रचते हैं, इस यथार्थ

का चित्रण प्रसाद ने किया है:—

"दशाश्वमेध घाटवाली चुंगी चौकी से सटा हुआ जो पीपल का वृक्ष है, उसके नीचे कितने ही मनुष्य कहलाने वाले प्राणियों का ठिकाना है। पुण्य स्नान करने वाली बुढ़ियों की बॉस की डाली में से निकल कर चार-चार चावल सबों के फटे अंचलों में पड़ जाते हैं, उनसे कितनों के विकृत अंग की पुष्टि होती है। काशी में बड़े-बड़े अनाथालय, बड़े-बड़े अन्न-सत्र हैं, और उनके संचालक स्वर्ग में जाने वाली आकाश-कुसुमों-सी सीढ़ी की कल्पना छाती फुलाकर करते है। पर इन्हें तो झुकी हुई कमर, झुर्रियों से भरे हाथोंवाली, रामनामी ओढ़े हुए अन्नपूर्णा की प्रतिमाएँ ही दो दाने दे देती हैं।"

—प्रसाद 'कंकाल'

ऊपर के विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि साहित्यिक यथार्थ-वाद के दो रूप होते है, एक वर्णनात्मक और दूसरा भावात्मक। वर्णन-प्रधान रचनाओं में वस्तु-वर्णन की प्रधानता होती है। जैसे यदि किसी कृषक का वर्ण-नात्मक चित्र उपस्थित करना है तो हम उसके हल, बैल, खेत, उसके खान-पान आदि का ही विशेष ध्यान रखेंगे। किन्तु जब भावात्मक प्रणाली का अनुगमन करना होगा तब उसके वैयक्तिक जीवन की आन्तरिक अवस्था का परीक्षण करेंगे। उसकी भावनाओं, कल्पनाओं, आकांक्षाओं को समझेंगे, उसके टूटने वाले स्वप्नों को देखेंगे और उसकी मनुहारों से परिचय प्राप्त करेंगे। इस प्रकार दैन्य–दुःख-दग्ध जीवन का स्वरूप भावात्मक होगा। यहाँ पर काशी की दशा का चित्रण वर्णनात्मक शैली में हुआ है और 'लपक चाटते जूठे पत्ते जिस दिन मैंने देखा नर को' से भावात्मक पद्धति का अनुकरण किया गया है। इस प्रकार यथार्थवादी साहित्य की दोनों ही शैलियों में लोक सामान्य की भावना का ही प्रकटीकरण होता है। इसके मूल में वेदना की विवृत्ति भी वांछनीय होती है। यह वेदना ही जन-जन की संवेदना को यथार्थवादी स्वरूपों की ओर आकृष्ट करती है।

संक्षेप में यथार्थवादी साहित्य साधारणतः कोरी भावुकता से बहुत दूर है। उसमें रोमांटिक साहित्य की भाँति कल्पना-प्रवणता नहीं है। यह तो जीवन का प्रत्यक्ष दर्शन है। यथार्थवादी साहित्यकार जीवन के ही सम्बन्ध में यथार्थ अनुभव प्राप्त करने एवं उसी के सम्बन्ध में चिन्तन करने में निरन्तर प्रयत्नवान रहता है। एतदर्थ उसका जीवन-दर्शन प्रायः अधिकाधिक मनोवैज्ञानिक होता जाता है। अस्तु, उसकी अभिव्यंजना में भावुकता की अपेक्षा वर्णनात्मकता अधिक होती है।

वर्तमान काल में यथार्थवाद के नाम पर जो साहित्य निकल रहा है वह हमारे दयनीय जीवन के अतिशयोक्तिपूर्ण चित्रों के भार से दबा-सा जा रहा है। वास्तविकता का अभाव आडम्बर की सृष्टि करता है। फलतः साहित्य के द्वारा जिस स्वस्थ वातावरण का निर्माण होना चाहिए, वह नहीं हो पाता है। हमारा विचार है कि अतिशयोक्ति पूर्ण कोरा यथार्थ-चित्रण मानव की रागात्मक प्रवृत्ति को समुन्नत नहीं कर सकता है। उलटे इस बात की अधिक संभावना है कि यथार्थवादी चित्र अरुचिकर एवं निराशात्मक होकर मानव को कर्त्तव्य विमुख कर दे। अतएव उन्हें अधिकाधिक प्रभावपूर्ण बनाने के अभिप्राय से उनमें आदर्श का समन्वय अपेक्षित है। हमारे साहित्य का प्रासाद समन्वय की आधार शिला पर ही स्थिर है। फलतः उस प्रासाद के एक अंग यथार्थ को भी आदर्श का समन्वय स्वीकार करना होगा।

सुधारवाद

इतिहास

राजनीति के क्षेत्र में जिसे राष्ट्रीयतावाद कहा जाता है और आर्थिक क्षेत्र में जिसे प्रगतिवाद, सामाजिक क्षेत्र में उसे ही सुधारवाद कहते हैं। ये तीनों वाद व्यवस्था के प्रति क्रान्ति का सन्देश देते है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन तीनों के लिए पहिले किसी न किसी व्यवस्था का होना आवश्यक है। आदि मानव संभवतः व्यवस्था से परिचित न था। इसलिए उसमें जब पहिली बार व्यवस्था लाई गई होगी तब आचारशास्त्र का निर्माण हुआ होगा। काल-विशेष के लिए वह आचारशास्त्र उपयोगी सिद्ध हुआ होगा। अतएव उसके प्रति सम्मान की भावना बन गई होगी। आज भी हम जो अपने प्राचीन आचारशास्त्र की दुहाई देकर नवीन व्यवस्थाओं के प्रति अवहेलना का भाव प्रदर्शित करते हैं, उसके मूल में यही मनोवैज्ञानिक तथ्य है।

भारतीय दर्शन में इस प्रकार व्यवस्थाबद्ध आचार के प्रति क्रान्ति की भावना का सर्वप्रथम उदय उपनिषद्-काल में देखा जाता है। यहाँ आपद्धर्म का निर्माण करने वाले विश्वामित्र श्वपाक के घर उच्छिष्ट मांस भोजन करते है। यह एक प्रकार की क्रान्ति थी जो रूढ़ चांडाल और आर्य के परस्पर सम्बन्ध न होने देने की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुई थी। उपनिषद् में इसी प्रकार की अन्य कथाएँ प्रचलित समाजशास्त्र के अपवाद के रूप में मिलती हैं। ऐसा जान पड़ता है कि समाज की व्यवस्था की कठोर श्रृंखलाओं से मुक्ति पाने की इच्छा परिस्थिति विशेष में अवश्य उत्पन्न होती रही। रामायण में राम और शबरी का मिलन, राम द्वारा बानर जाति का संगठन इसी प्रकार की व्यवस्थाएँ हैं। महाभारत काल निश्चय ही सामाजिक क्रान्ति का काल है। बहुविवाह, स्वयंवर-प्रथा और सामाजिक विद्वेष, इन तीनों के प्रति महाभारत युद्ध-घोषणा करता है। संभवतः भारतवर्ष में राम द्वारा प्रचारित एकपत्नी-व्रत की भावना महाभारत काल में नष्टप्राय हो चुकी थी। अतएव उसका कुफल यादवों को भोगना पड़ा।

महाभारत काल में दो विचित्र बातें मिलती हैं जिन्हें शुद्ध सुधार की भावना ही के अन्तर्गत लिया जा सकता है। पहिली क्षेत्रज सन्तान को वंश-परंपरा का अधिकार, दूसरी बहुपति-व्यवस्था। इस समय तक हिन्दू शास्त्र केवल औरस सन्तान को ही वंश-परंपरा का अधिकारी मानता था। साथ ही बहुपति प्रथा को तो शास्त्रीय दृष्टि से कोई समर्थन प्राप्त नहीं था। यह ऐसी क्रान्ति थी जिसे स्वीकार कर सकना आर्यजाति के लिए असंभव था। कम से कम भारतीय आर्यों ने इस सुधार को स्वीकार नहीं किया, यद्यपि महाभारतकार ने इन दोनों के समर्थन में बड़ा बल दिया है।

सामाजिक सुधार की तीसरी क्रान्ति बौद्ध काल में हुई। संभवतः व्यापक अर्थ में यही सबसे बड़ी क्रान्ति थी जिसने हिन्दू जाति को प्रभावित किया। समाज-व्यवस्था के बन्धन शिथिल हो गये और सब वर्ग एकाकार-से होते हुए दिखाई दिये। यज्ञयागादि पर कठोर आक्षेप होने लगे, अहिंसा के नाम पर वैदिक यज्ञों का विरोध किया जाने लगा। स्त्री-पुरुषों के अधिकारों में समता के प्रयोग किये गये। परन्तु सामान्य स्त्री के अधिकार नियंत्रित ही रहे। बहुविवाह की प्रथा भी जैसे-तैसे चलती ही रही।

बौद्ध काल अपनी इस सर्वतोमुखी सामाजिक क्रान्ति के लिए सर्वश्रेष्ठ काल है। परन्तु यह सुधार भी समय पाकर पुराने हो गये और उनके दोष भी इतने तीखे हो उठे कि उनका प्रतिकार आवश्यक हो गया। फलतः गुप्त-काल फिर नवीन समाज-सुधार लेकर आया। चातुर्वर्ण्य व्यवस्था और समाज-संगठन की भावना फिर बल पकड़ने लगी। संभवतः यही वह काल है जब शूद्र का पद गिरना प्रारम्भ हुआ। अब वह समाज का अंग न रहकर एक अस्पृश्य अंश बनने लगा। कदाचित् इसी काल में हिन्दू जाति में राम और कृष्ण के सार्वजनीन प्रेम को संकुचित करके द्विजेतर को उससे वंचित करना प्रारम्भ किया। उस समय इस सुधार की आवश्यकता थी, क्योंकि शुद्ध आर्य-रक्त में अनेक बाह्य-रक्त मिश्रित हो रहे थे। अतएव रक्त-शुद्धि के लिए दृढ़तर व्यवस्था आवश्यक थी। इस समय आर्य-धर्म में पचाने और प्रचार करने की शक्ति भी थी। न जाने कितनी आभीर-अनी, शक-सेनाएँ और कुशन-वाहिनियाँ हिन्दू जाति के उदर में विलीन हो गईं। इस काल में वंश-व्यवस्था में भी सुधार हुए और संभवतः इसी काल में स्मृतियों और पुराणों का सम्पादन और परिवर्द्धन हुआ।

गुप्तकाल की इन व्यवस्थाओं के दृढ़ीकरण में राजपूत शक्ति का उत्थान मुख्य कारण है। द्विजाति में ब्राह्मण पीछे हट गया। अतएव क्षत्रिय शक्ति प्रबल हो उठी, वैश्य तो सदैव ही केवल दुधारू गाय रहे। और शूद्रों का काम

अपना सामाजिक संगठन करके मुखिया के अधीन रहते हुए अपनी जीविका चलाना तथा सैनिक आवश्यकता के समय सैनिक देना रह गया। यह काल एक प्रकार से समाज को जड़ करने वाला काल है जिसके भीतर तूफान भरा हुआ है, परन्तु बाहर से रक्षा का कोई साधन नहीं। इतना अवश्य है कि यह काल भी पचाने की शक्ति रखता था।

अब एक नयो आँधी आई जिसके प्रबल आघात से टुकड़ों-टुकड़ों में बँटे हुए भारत के हिन्दू-राज्य क्रमशः भूमिसात् होने लगे। हिन्दू समाज ने जब इस झंझावात की ओर दृष्टि डाली तो उसने कछुए की भाँति अपने अंग समेट लिये। इस प्रकार एक नवीन सुधार-भावना उत्पन्न हुई। गुप्तकाल की सामाजिक व्यवस्था इतनी कठोर बना दी गई कि उस पर बाहर के तीव्रतम आघात भी प्रभाव न डाल सके। यह ठीक है कि कछुए की एक अँगुली भी बाहर निकल गई तो वह सदा के लिए कट गई। परन्तु जितना बच सका उतना ठोस, कठोर और स्थिर होकर बचा। सुना जाता है कि अकबर के कहने से भंगी भी मुसलमान न हुए। साहित्य में धार्मिक दृढ़ता की ऐसी कहानियों की कमी नहीं है। वस्तुतः समाज के संचालकों के हृदय में अपनी राजनीतिक अशक्ति देखकर समाज रक्षा के लिए ही ऐसी व्यवस्थाओं का निर्माण किया गया था।

आज का सुधारवाद इन प्राचीन सुधारवादों से मेल नहीं खाता। ये पुराने सुधार आवश्यकता से उत्पन्न हुए थे, परन्तु आज के सुधार अपनी हीनता से उत्पन्न हुए हैं। अंग्रेजों के सम्पर्क में आकर सबसे पहिली भावना जो शिक्षित भारतीय में उत्पन्न हुई वह यह थी कि जो कुछ पश्चिमीय नहीं है, वह हेय और तुच्छ है। उस हेय और तुच्छ के उपासक होने के कारण हम भी तुच्छ और हेय हैं। इस भावना के उदय होते ही हमें अपने समाज में सब दोष ही दोष दिखाई देने लगे। अपना रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा और आचार-व्यवहार सब असभ्यों का-सा जान-पड़ने लगा। फलतः एक व्यापक क्रान्ति प्रारम्भ हुई। उनमें कुछ बातों में तो केवल अनुकरण का सहारा लेकर प्रचार का कार्य प्रारम्भ किया गया जिसकी प्रेरणा शिक्षित-समाज को अपने 'माई-बाप' राज्याधिकारियों से मिलती थी। इस विषम परिस्थिति ने साहित्य को प्रभावित करना प्रारम्भ किया। राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, विपिनचन्द्र पाल, महादेव गोविन्द रानाडे, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, स्वामी दयानन्द आदि के द्वारा सर्वतोमुखी सुधार का उपदेश दिया गया। अभी तक हमने भारत में होने वाली सामाजिक क्रान्तियों की ही ओर निर्देश किया है। अब हम यह विचार करेंगे कि हमारे साहित्य पर

इन क्रान्तियों का क्या प्रभाव पड़ा। हिन्दी साहित्य में सुधार का कार्य कबीर से प्रारम्भ हुआ। नानक, रैदास, दादू आदि सन्त एक स्वर से सामाजिक सुधार की घोषणा करते हैं। परन्तु आज के युग से भी मेल खाने वाला सुधार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने प्रारम्भ किया। उनका 'भारत दुर्दशा'[1] प्रहसन यदि आज के युग से मेल खाता है तो 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'[2] का जोड़ संत-साहित्य से मिलाया जा सकता है।

भारतेन्दु के बाद हमें एक व्यवस्थित परम्परा बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त तक मिलती है। आगे चलकर यह परंपरा यथार्थवाद और प्रगतिवाद की भूमि में विलीन हो जाती है। कहीं-कहीं इस गुप्त-सलिला का सरस जल यथार्थवादी एवं प्रगतिवादी कृतियों में भी दिखाई देता है। अन्यत्र वह इन्हीं के मूल को सिंचित करती रहती है।

१—"रोअहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई।
हा, हा, भारत दुर्दशा न देखी जाई॥
सबके पहिले जेहि ईश्वर धन-बल दीनो।
सबके पहिले जेहि सभ्य विधाता कीनो॥
सबके पहिले जो रूप-रंग-रस भीनो।
सबके पहिले विद्याफल जिन गहि लीनो॥
अब सबके पीछे सोई परत दिखाई।
हा, हा, भारत दुर्दशा न देखी जाई॥"

—'भारत दुर्दशा' प्रथम अंक

२—यमराज—बस चुप, दुष्ट! जगदम्बा कहता है और फिर उसी के सामने उसी जगत् के बकरे को अर्थात् उसके पुत्र ही को बलि देता है। अरे दुष्ट, अपनी अम्बा कह, जगदम्बा क्यों कहता है, क्या बकरा जगत् के बाहर है? चांडाल सिंह को बलि नहीं देता, 'अजापुत्रं बलि दद्याद् दैवो दुर्बलघातकः', कोई है? इसको सूचीमुख नामक नरक में डालो। दुष्ट कहीं का, वेद पुराण का नाम लेता है मांस मदिरा खाना-पीना है तो यों ही खाने में किसने रोका है, धर्म को बीच में क्यों डालता है।"

—"वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति"—चतुर्थ अंक

पश्चिम के देशों में सामाजिक सुधारों की प्रगति की नियामिका राजनैतिक परिस्थितियाँ रही हैं, क्योंकि ग्रीस का सामाजिक संगठन जिस समय छिन्न-भिन्न हो गया, उस समय के पश्चात् यूरोप में कोई ऐसी सुदृढ़ शक्ति उत्पन्न नहीं हो सकी जो निश्चित सामाजिक व्यवस्था का निर्माण कर सकती। हम पहिले कह आये हैं कि ग्रीस में व्यक्ति और समाज के मान पर विद्वानों में मत-भेद था। ईसाई धर्म के उत्थान ने 'समाज और व्यक्ति' की अपेक्षा 'धर्म और व्यक्ति' के मान पर विचार किया। इस धर्म का प्रभुत्व सोलहवीं शताब्दि तक बना रहा। जर्मनी का विद्वान् लूथर पहिला व्यक्ति था जिसने इस धार्मिक महत्व को चुनौती दी और व्यक्ति की स्वतन्त्रता की घोषणा करनी चाही। उसको और उसके अनुयायियों को एतदर्थ भयंकर कष्ट उठाने पड़े, परन्तु अंततः उसकी घोषणाएँ स्वीकार की गईं। उसके सुधारों को लोगों ने मान लिया। जागरणकाल—रिनेसां (Renaissance)—इस सुधार का पहिला सामूहिक प्रदर्शन है।

परन्तु सुदृढ़ सामाजिक व्यवस्था न होने के कारण पश्चिम के औद्योगीकरण से आर्थिक समस्या उलझ गई और इसकी प्रतिक्रिया भी दो रूपों में हुई। पहिली आर्थिक-क्रान्ति जिसका विवेचन ऊपर किया जा चुका है, दूसरी समाज सुधार की भावना जिसके प्रतीक पश्चिमी साहित्य में मिल्टन, टाल्सटाय, रस्किन, मैथ्यू आर्नाल्ड, बर्नार्ड शाँ आदि हैं।

विवेचन

प्रत्येक चेतन देहधारी में छः बातें सहज होती हैं। उनमें बाह्य प्रेरणा की आवश्यकता नहीं। वह उत्पन्न होता है, बुद्धि पाता है, अपने जैसे अन्य देहधारी उत्पन्न करता है, कुछ काल तक स्थित रहता है फिर उसका ह्रास होने लगता है और अन्त में वह नष्ट हो जाता है। इन्हीं को उत्पत्ति, वृद्धि, विकास, स्थिति, ह्रास और विनाश कहते है। मानव-समाज भी प्रत्येक देहधारी की भाँति इन कर्मों से अतिक्रान्त नहीं रह सकता। उत्पत्ति होती है, एक नई प्रेरणा जन्म लेती है। समाज का नवीन संगठन बढ़ने लगता है। अपने जैसे अनेक संगठन उत्पन्न करता है, कुछ काल तक स्थिर रहता है। अन्त में ह्रासोन्मुख होकर विनष्ट हो जाता है। इस विनाश से एक नवीन व्यवस्था का उदय होता है और फिर वही क्रम चल पड़ता है। व्यक्ति के इस जीवन और समाज के जीवन में अन्तर केवल इतना ही है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व का प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव भी

संभव है, परन्तु समाज के जीवन का प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव सम्भव नहीं, क्योंकि समाज अत्यंताभाव का प्रतियोगी है। अर्थात् वह पहिले भी था, अब भी है और आगे भी रहेगा। इस प्रकार की स्थिति वाला होने के कारण उसका सर्वथा विनाश नहीं होता। जब यवन शक्ति से सारा भारतवर्ष पादाक्रान्त हो रहा था तब भारत की सांस्कृतिक निधि से हमाम गर्म किये जा रहे थे। आधे से अधिक बुद्धि-व्यवसायी 'पंजवक्ता नमाज़' अदा करने लगे थे। उस समय संस्कृति अपनी रक्षा के लिए थोड़े से लँगोटी-बन्दों की 'मेधा' में छिप रही थी। ऐसा जान पड़ने लगा था कि हिन्दुत्व का कर्त्तव्य केवल मर-मिटना ही रह गया है। अवसर पाकर मेधा में बैठी हुई इस नष्टप्राय संस्कृति ने शिवाजी और पेशवाओं का आश्रय लेकर पुनरुज्जीवन प्राप्त किया। रामानुज और वल्लभ की बिद्वत्ता ने तुलसी और सूर के तप से ज्ञान और तेज पाकर संसार को चकित करने की शक्ति फिर दिखला दी।

उत्पत्ति और विनाश का यह क्रम भी बाहर से प्रेरणा नहीं पाता। भीतर ही भीतर ऐसी शक्तियाँ काम करने लगती हैं जिससे कहीं उत्थान होता है और कहीं पतन। यहाँ एक बात समझ लेनी चाहिए कि किसी भी नवीन समाज का संगठन दो दृष्टिकोणों से किया जा सकता है। पहिला उस समाज की उन्नति होती रहे, दूसरा वह समाज स्थिर रहे। जिस समाज का उद्देश्य उन्नत होते रहना है वह समाज अपनी मोहकता में विनाश का बीज लेकर आता है। उन्नति की एक सीमा है। परन्तु लिप्सा की सीमा नहीं। सीमाहीन लिप्सा का ससीम उन्नति से संघर्ष ही वह बीज है जो उन्नति का उद्देश्य रखने वाले समाज रूपी काष्ठ को कीट की भाँति निस्सार कर देता है। इसीलिए संसार के बड़े से बड़े समुन्नत समाज अपने स्मारक ही छोड़कर रह गये, उनका अस्तित्व नहीं रहा। आज यही लक्ष्य बनाकर चलने वाले समाज विनाश की कगार तक पहुँच चुके हैं। नीचे की मिट्टी कट गई है, किसी समय यह कगार फट सकती है और तब विस्मृति के अतल सागर में विलीन इन समाजों का इतिहास भी शेष रहेगा, इसमें सन्देह है।

दूसरी ओर कुछ समाज स्थिति को उद्देश्य बनाकर संगठित किये जा रहे हैं जिनका उद्देश्य न भूमि है, न चाँदी-सोना-हीरे-जवाहरात हैं, न भवन-प्रासाद हैं, न मिल और कारखानों की उनको चिन्ता है और न व्यापार-वाणिज्य की। उनका उद्देश्य केवल यह है कि इन स्थूल विभिन्नताओं के रहते हुए भी एक सूक्ष्म और अंतर्वेधिनी एकता बनी रहे। ऐसे समाज उन्नति को व्यक्ति की वस्तु मानते हैं। उनका कथन है कि व्यक्ति की उन्नति ही

समाज की उन्नति है। परन्तु व्यक्ति के पतन के साथ उनके समाज का पतन नहीं हो सकता। कारण स्पष्ट है कि सम्पूर्ण समाजगत व्यक्ति न तो एक साथ उन्नत हो सकते हैं, न एक साथ पतित। जब तक समाज के कुछ व्यक्तियों में भी उन्नति बनी रहेगी, समाज उन्नत होता रहेगा। ऐसा समाज भले ही बाह्य आघातों से निश्चेष्ट होता हुआ-सा जान पड़े और सो जाय, परन्तु जब वह जागेगा, तब वह निश्चय ही चेष्टावान् होगा। ऐसी स्थिति में वह फिर चमक उठेगा, क्योंकि उसका उद्देश्य स्थिति में है।

भारतवर्ष में ऐसे अनेक अवसर आये जब यह निश्चेष्टता इतनी अधिक बढ़ गई थी कि समाज मृतप्राय-सा जान पड़ने लगा, किंतु उसी समय कुछ महात्माओं ने अपनी वाणी से ऐसा जादू किया कि वह निश्चेष्ट-निष्प्राण समाज प्रबल शक्तिशाली दिखाई पड़ने लगा। जब-जब ऐसी प्रतिक्रियाएँ हुईं तब-तब जो काम होते रहे वे या तो सुधार-वाद की कोटि में आये या समाजवाद की कोटि में।

धार्मिक सुधार तथा साम्प्रदायिक एकता—वंश, जाति, समाज तथा राष्ट्र का निर्माण मानव की नैतिक-कल्पनाओं का परिणाम है। यह स्पष्ट है कि कोई भी नैतिक-कल्पना सर्वथा सदोष नहीं होती। यह नैतिक-कल्पना किसी समस्या के समाधान के रूप में उपस्थित होती है और जब उसका अन्धानुसरण होने लगता है तब वह सदोष दिखाई देने लगती है। हिन्दी-साहित्य का उदय संघर्ष काल में हुआ था। सामान्य स्थितियों में जो सामाजिक संगठन अपनी सरल गति से चलता हुआ निर्दोष जान पड़ता था, संघर्ष-काल में उसमें दोष दिखाई देने लगे और इसीलिए उसमें सुधार की आवश्यकता प्रतीत हुई। ये सुधार एक दिशा-गामी नही हुए, वरन् अपने विस्तार में व्यक्ति, समाज, धर्म और समस्त राष्ट्र को आच्छन्न कर रहे थे। कबीर की वाणी में सबसे पहिले इसकी ध्वनि सुनाई पड़ी। मुसलमान-शक्ति का भारतवर्ष में उदय होते ही एक नवीन संस्कृति सामने आई। भारतीय यद्यपि शस्त्रबल से पराजित हुए, परन्तु अपनी संस्कृति छोड़ने के लिए वे शस्त्रबल के समक्ष भीनत नही हुए। फलतः कुछ धर्मान्ध सत्तारूढ़ मुसलमान अधिकारियों ने इस्लाम का प्रचार करने के लिए तलवार का सहारा लिया। कबीर उन्हे फटकारता हुआ कहता है कि:—

"रोजा करें नमाज गुज़ारें, बिसमिल बाँग पुकारें।
उनकी भिश्त कहाँ से हुइ है, साँझै मुरगी मारें॥"

कबीर ने इसी प्रकार हिन्दुओं को भी नहीं छोड़ा। बलि के नाम पर होने वाली जीवहत्या की निंदा करते हुए वह कहते हैं:—

"बकरी पाती खात है, ताकी काढ़ी खाल।
जे नर बकरी खात हैं, तिनके कौन हवाल॥"

कबीर का सर्वप्रथम उद्देश्य था धार्मिक समन्वय की भावना को बल प्रदान करना। उसके पश्चात् साधनामय जीवन में भी कबीर की वाणी से जो सुधार की भावनाएँ उद्घोषित हुई है, आगे का संत-साहित्य उनसे भरा हुआ है। रैदास, नानक, गुरु गोबिन्दसिंह आदि सभी ने भक्ति-ज्ञान के क्षेत्र में आडम्बर विनाश के लिए बड़ा प्रयत्न किया है। जहाँ तक धार्मिक समन्वय की बात है, हम देखते हैं कि यह समन्वय-भावना तुलसी में पाई जाती है। अन्तर केवल इतना ही है कि तुलसीदास ने हिन्दूधर्म के अन्तर्गत जो विभिन्न मत-मतान्तर चल पड़े थे, उन्हीं में समन्वय कराना चाहा और कबीर ने सम्प्रदाय-गत विभेद को हटाकर दोनों के बीच धर्म के विशुद्ध रूप को फैलाया। कालान्तर में अंग्रेजों की कूटनीति के परिणामस्वरूप हिन्दू और मुसलिम ये दोनों सम्प्रदाय निरंतर एक दूसरे से बहुत दूर हटते गये। भारतीय मनीषियों ने भारतीय सुख-समृद्धि के दृष्टिकोण से उक्त दोनों सम्प्रदायों की एकता को स्थापित करने का भगीरथ प्रयत्न किया और इस समस्या को राजनैतिक महत्व प्राप्त हुआ। साहित्य मे भी इस प्रश्न को विशेष महत्व दिया गया। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' की हिन्दू-मुसलिम ऐक्य सम्बन्धी इस भावना को देखियेः—

"बन्दे हैं सब एक के, नही बहस दरकार।
है सब कामों का वही, खालिक औ' करतार॥
खालिक औ' करतार, वही मालिक परमेश्वर।
है जबान का भेद, नहीं मानीं में अन्तर॥
हो उसके बर अक्स, करो मत चरचे गन्दे।
कहकर "राम-रहीम", मेल रक्खो सब बन्दे।"

प्रेमचन्द के साहित्य में युगदर्शन विशेषरूप से प्राप्त होता है। वे सच्चे अर्थों में युग के ही कलाकार थे। उन्होंने भी "कायाकल्प" नामक उपन्यास में साम्प्रदायिक-ऐक्य के प्रश्न को ही विशेष महत्व दिया है और एक उदार दृष्टिकोण उपस्थित किया है।

राजनैतिक क्षेत्र में जिन साम्प्रदायिक प्रश्नों को लेकर हमारे नेताओं ने उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न किया है उसमें सबसे कठिन

गुत्थी थी हिन्दू-मुसलमान के बीच ऐक्य का होना। महात्मा गांधी अन्त तक इसी समस्या को हल करने में लगे रहे। राजनीति के इस प्रश्न को लेकर आधुनिक साहित्य में भी बहुत कुछ लिखा गया है।

वैयक्तिक सुधारः—मानव अपने सामाजिक कार्यों में अपनी महत्ता, उदारता एवं कर्त्तव्यनिष्ठा का परिचय दे, इसके लिए आवश्यक है कि वह अपने वैयक्तिक-जीवन में निरंतर खरा उतरता रहे। उसकी अपनी दुर्बलता ही समाज की दुर्बलता बनती है। अतः संत कवियों ने व्यक्ति के सुधार पर भी विशेष बल दिया है। त्याग, क्षमा, सहनशीलता, आडम्बर-विहीनता, सत्यपरायणता, सहकारिता एवं कर्त्तव्यनिष्ठा आदि अनेकानेक आचरण सम्बन्धी बातों को उपदेश के रूप में वैयक्तिक-सुधार के लिए उपस्थित किया गया है। तुलसी की संत-महिमा इसी ओर संकेत करती है। पद्यात्मक साहित्य में व्यक्ति की सुधार सम्बन्धी भावनाओं का अभाव नहीं है। रहीम, वृन्द, गिरधर, भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी, कामताप्रसाद गुरु आदि कवियों की कतिपय रचनाएँ मानव की वैयक्तिक सुधार भावना से प्रेरित होकर लिखी गई हैं। गद्य-साहित्य में भी ऐसी कितनी ही रचनाएँ एवं प्रसंग मिल जाते हैं, जो व्यक्ति के सुधार के लिए उपयुक्त प्रतीत होती हैं। उदाहरणार्थ लाला श्रीनिवासदास का "परीक्षागुरु" नामक उपन्यास। इसके द्वारा समाज के ऐसे व्यक्तियों को सावधान किया गया है जो चाटुकारों के चक्र में पड़कर अपना जीवन नष्ट कर डालते हैं। बालकृष्ण भट्ट ने "नूतन ब्रह्मचारी" नामक उपन्यास में वैयक्तिक चरित्र के महत्व को व्यक्त किया है और देश के नवयुवकों के समक्ष ब्रह्मचर्य जीवन के महत्व को व्यक्त करके सामाजिक सुधार को गति प्रदान की है। इसी प्रकार "सौ अजान एक सुजान" नामक रचना में भी चारित्रिक सुधार को ही महत्व दिया गया है।

सामाजिक सुधार

नारी-जीवनः—वैयक्तिक सुधार के पश्चात् सामाजिक सुधार की ओर दृष्टि जाना स्वाभाविक है। समाज का एक विशिष्ट अंग है नारी। इसके ही अंचल में सम्पूर्ण मानवता का पालन-पोषण होता है। युग-युग की चेतना का स्रोत यहीं से फूटता है। ध्वंस और निर्माण की क्रिया में नारी की शक्ति अमान्य नहीं है। एक समय था जब नारी को समाज में गौरवपूर्ण पद प्राप्त था, किन्तु समाज में ज्यों ज्यों पुरुष शक्ति प्रबल होती गई तथा विरोधी राजनैतिक शक्तियाँ

विशेषकर यवनशक्ति हिन्दू-समाज में विजय प्राप्त करती गई त्यों-त्यों नारी रक्ष-णीया होती गई। उसकी परवशता के परिणामस्वरूप उसका जीवन अनेकानेक प्रतिबन्धों से जकड़ता गया। वह अनेकानेक सामाजिक अधिकारों से वंचित होती गई। उसका कार्य-क्षेत्र घर की चहारदीवारी तक ही सीमित हो गया। पारिवारिक परिचर्या में लीन नारी शिक्षा से भी वंचित हो गई। फलतः उसका मानसिक विकास भी रुक गया। शिक्षा के अभाव में उसे कर्त्तव्याकर्त्तव्य का भी ध्यान न रहा। ऐसी स्थिति में यदि विमूढ़ता-वश उसका चरित्र भी सुरक्षित न रह सका तो इसमें आश्चर्य ही क्या? तुलसी ने इस भयावह स्थिति को पह-चाना और पारिवारिक शान्ति की रक्षा के लिए नारी के पातिव्रत धर्म के महत्व पर विशेष ध्यान दिया :—

"एकइ धर्म एक व्रत नेमा। काय वचन मन पति पद प्रेमा॥

× × ×

जग पतिव्रता चार विधि अहहीं। वेद पुरान संत सब कहहीं॥
उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥
मध्यम पर पति देखहिं कैसे। भ्राता पिता पुत्र निज जैसे॥
धर्म विचारि समुझि कुल रहई। सो निकृष्ट तिय स्रुति अस कहई॥
बिनु अवसर भय तें रह जोई। जानेहु अधम नारि जग सोई॥
पति बंचक पर पति रति करई। रौरव नरक कल्प सत परई॥

× × ×

सहज अपावनि नारि, पति सेवत सुभगति लहइ।
जसु गावत श्रुति चारि, अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय॥"

—रामचरितमानस, अरण्यकांड.

कालक्रम के साथ पातिव्रत-धर्म का यह महत्व स्थिर नहीं रह सका। यवन-काल तक आते-आते स्त्री पूर्णतः स्वाधीन हो चुकी थी। पति की कृपा पर सम्पूर्णतः आश्रित नारी का मूल्य यवन-काल में यदि घटा था तो केवल इतना ही कि समस्त दया-मया के साथ वस्त्राभूषण में लपेट कर अबोध-अवस्था ही में वह किसी को दान कर दी जाती थी। जिसे वह प्राप्त होती थी वह भी खिलौने से खेलने वाला गुड्डा ही होता था। न उस जीवन में बसंत था, न कलियाँ थी और न फूल। केवल एक विनोद था जो साहचर्य के साथ पुष्ट होता हुआ प्रलय में परिवर्तित होता था।

विधवा-जीवन:—विधवा होते ही नारी या तो बलपूर्वक चिता की लपटों के साथ पति की भेंट कर दी जाती थी या कुटुम्ब की स्वामिनी पद से उतर कर सहायिका के रूप में रहती थी। उसकी चर्या थी त्याग और कर्म था तपस्या। चरखे पर बैठी हुई ऐसी विधवा के आश्रय थे :—

'ऐसो सिय रघुबीर भरोसो'

अपने ही पारिवारिक जीवन में लीन किसी न किसी प्रकार परिचर्या करती हुई विधवा अपने त्याग और कर्त्तव्यनिष्ठा के फल स्वरूप किसी न किसी प्रकार रो-हँस कर अपना वैधव्य व्यतीत कर देती थी। किन्तु अंग्रेज महाप्रभुओं के पदार्पण के साथ ही साथ भारतीय परिवारों की आर्थिक परिस्थिति जटिलतर से जटिलतम होती गई। पाश्चात्य सभ्यता के संपर्क के परिणामस्वरूप पाश्चात्य वेशभूषा ने भी सरलता-प्रिय भारतीय-जीवन में कृत्रिमता, आडम्बर एवं नाना प्रकार के प्रसाधनों को फैला दिया। फलतः भारतीय पूँजी पाश्चात्य बाजारों में फैलने लगी। इस स्थिति का प्रभाव विधवा-जीवन पर भी बहुत अधिक पड़ा। अब वह केवल एक परिचारिका रह गई। उसका सुख-सूर्य अस्त हो गया और दुःख की अमा ने उसे पूर्णतः आवृत कर लिया।

इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दू-समाज में विधवा-जीवन बड़ा ही भयंकर अभिशाप है, जिससे नारी की कभी मुक्ति नही। हम अपने ही कृत्यों द्वारा विधवा-जीवन को और भी अधिक कारुणिक बना देते है। उसका सम्पूर्ण जीवन करुणा की सजीव प्रतिमा बन जाता है। देवीप्रसाद शर्मा तथा राधाचरण गोस्वामी का लिखा हुआ 'विधवा विपत्ति' नामक उपन्यास विधवा-जीवन की दुखद कहानी को व्यक्त करता है। प्रेमचन्द का 'प्रेमाश्रम' नामक उपन्यास भी इसी समस्या पर विचार करता है। आर्यसमाज के आन्दोलन ने विधवाओं की समस्याओं पर विचार किया और सामाजिक दुराचार के अवरोध के लिए विधवा-विवाह को मान्यता प्रदान की। इस आन्दोलन को आर्यसमाजी विचारधारा के पोषक तथा अन्य कतिपय साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं द्वारा विशेष बल प्रदान किया। सुप्रसिद्ध आर्यसमाजी तथा समाजसेवी श्री नाथूराम 'शंकर' शर्मा ने अपनी रचना 'गर्भरंडा-रहस्य' में इस विषय पर विशेष विवेचन किया है। उनका कथन है :—

'संकट घोर समस्त, बालविधवा सहती हैं।
करती नहीं विवाह, सदा व्याकुल रहती हैं॥

वंचक पामर पंच, जाति कुल से डरती हैं।
धार-धार कर पाप, भार सिर पै भरती है॥

× × ×

विधवा अक्षत योनि करें यदि ब्याह दुबारा।
तो उन पै कुछ दोष न धरती है मनु धारा।
वैदिक देव दयालु नहीं जिसके प्रतियोगी।
उस पद्धति की चाल किसी की कुगति न होगी।

—गर्भरंडारहस्य,

करुणासिक्त विधवा-जीवन का चित्र राजाराम शुक्ल 'राष्ट्रीय आत्मा' की इन पंक्तियों में अपनी सम्पूर्ण रेखाओं के साथ सजीव हो उठा है :—

'थी उड़ रही गगन में पर डोर कट गई है,
वह चंग मानता हूँ।
जिसकी समाज तन में सब चाह घट गई है,
वह अंग मानता हूँ।
सनकर पराग से जो सुरभित कभी न होगी,
वह वायु मानता हूँ।
आमरण राग से जो रंजित कभी न होगी,
वह आयु मानता हूँ।
या यह मरुस्थली है जिस पर न घन घिरेंगे,
वैधव्य गिरिशिखा है।
आजन्म बेकली है इसके न दिन फिरेंगे,
भगवान क्या लिखा है?

—'विधवा'

महावीरप्रसाद द्विवेदी ने विधवाओं के दैनिक-जीवन पर बड़े सहानुभूति पूर्ण ढंग से विचार किया है। 'बाल विधवा विलाप' शीर्षक कविता में अनेकानेक तर्कों के साथ उन्होंने समाज की सहानुभूति को विधवाओं की ओर आकृष्ट किया है।

निस्संदेह विधवा का जीवन वृन्त की गिरी हुई धूल-धूसरित मुरझाई हुई कलिका की करुण कहानी है। वायु में विलीन होने वाली रागिनी की

अंतिम ध्वनि है। उसकी समस्त कामनाएँ समाज के शासन के पाषाण में पीसी जा रही हैं। समाज की इसी दुर्व्यवस्था को देखकर महात्मा गांधी ने लिखा था—

"वैधव्य को मैं हिन्दू धर्म का भूषण मानता हूँ। जब मैं विधवा बहिनों को देखता हूँ तब मेरा सिर अपने आप उनके चरणों पर झुक जाता है। विधवा का दर्शन मेरे नजदीक अपशकुन नहीं...प्रातःकाल उसका दर्शन करके मैं अपने को कृतार्थ मानता हूँ...... उसके आशीर्वाद को मैं एक प्रसाद मानता हूँ... उसे देखकर मैं तमाम दुःखों को भूल जाता हूँ...... विधवा के मुकाबिले में पुरुष एक पामर प्राणी है। विधवा के धैर्य का अनुकरण असंभव है।"

—हिन्दी नवजीवन, १५ मई, सन् १६२४

दहेज:—समाज में नारी की दुर्दशा का एक कारण है दहेज की कुप्रथा। दहेज ने ही कन्याओं को परिवार के लिए भार स्वरूप बना दिया है। उनके जन्म लेते ही परिवार में एक उदासी-सी छा जाती है। धन के अभाव में कितनी ही कुमारियाँ अविवाहित ही पड़ी रहती हैं, समाज में वे स्वयं और उनका परिवार घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। इसी तथ्य का चित्रण प्रतापनारायण मिश्र ने इस प्रकार किया है:—

"भगवान हिन्दू जाति का उत्थान कैसे हो भला।
नित यह कुरीति दहेज वालो घोंटती उसका गला॥
सुकुमारियाँ यों भोगती हैं यातना कितनी बड़ी।
जो पूर्ण यौवनकाल में भी हैं बिना व्याही पड़ी॥
अगणित कुटुम्बों का किया इस राक्षसी ने नाश है।
तो भी बुझी न अभी अहो इसकी रुधिर की प्यास है॥

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी 'ठहरौनी'[1] शीर्षक कविता में दहेज प्रथा के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है। द्विवेदी जी ने दहेज-प्रिय जनता से दहेज-प्रथा की शास्त्रीय प्रामाणिकता का प्रश्न करते हुए कहा :—

"किस स्मृति में, किस गृह्यसूत्र में, किस पुराण में बतलावो।
है विधान इस मोल-तोल का, खोल क्यों न तुम दिखलावो।
जो इसका कुछ पता नहीं तो क्यों यह रीति चलाते हो।
क्यों न इसे हे प्यारे भाई! छोड़ अलग हो जाते हो।

—'द्विवेदी काव्य माला'

१—द्विवेदी काव्य माला

प्रेमचन्द ने भी अपने उपन्यासों द्वारा इस समस्या पर विशेष रूप से ध्यान दिया है। सन् १६१८ में इन्होंने 'सेवासदन' लिखा, इस कृति में इन्होंने दहेज प्रथा द्वारा विमर्दित समाज की करुण कहानी को उपस्थित किया है। अपने बालकों को चाँदी और सोने के टुकड़ों पर दहेज-प्रथा के नाम पर विक्रय करना तथा उसकी पूर्ति न होने पर अनेकानेक नारकीय यातनाओं की सृष्टि करना आज के समाज का पेशा हो गया है। फलतः अनेकानेक सामाजिक विशृंखलताओं की सृष्टि होती है और समाज पतन के गहरे-गर्त में गिरता जाता है। 'सेवासदन' की 'सुमन' इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

सामाजिक कुप्रथाओं का विनाश करने के लिए जिन साहित्यकारों ने उनके विरोध में अपनी वाणी का प्रयोग किया है उनमें गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' का भी नाम प्रमुख है। वे दहेज प्रथा के सम्बन्ध में लिखते हैं:—

> "यह दहेज की आग सुवंशों ने दहकाई।
> प्रलय वह्नि-सी वही आज चारों दिशि छाई।
> घर उजाड़ बन बना रही कर रही सफाई।
> ताप रहे हम मुदित समझते होली आई।"

समाज में प्रचलित वृद्ध-विवाह इस दहेज प्रथा का ही वरदान है। प्रेमचन्द ने अपनी 'निर्मला' नामक रचना में इस विषय पर विशद रूप से विचार किया है। वृद्ध-विवाह के सम्बन्ध में 'राष्ट्रीय आत्मा' का यह दोहा बड़ा ही सटीक है:—

> "बाबा जी बनरा बने, घने बनाये रंग।
> आँख एक भी है नहीं, कजरौटा नौ संग।।"

कवि ने यहाँ 'आँख एक भी है नहीं' पद से वृद्ध पुरुष की शारीरिक असमर्थता की ओर संकेत किया है, 'कजरौटा नौ संग' और 'घने बनाये रंग' के द्वारा बाह्याडम्बर की ओर इंगित किया है।

गुरु भक्त सिंह ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'नूरजहाँ' में वृद्ध-विवाह पर बहुत ही गहरा व्यंग्य किया है:—

> "दुनिया का उनको अनुभव है वह कभी नहीं गरमाते हैं।
> बातें क्या लातें खाकर भी वे गुस्से को पी जाते हैं।
> मुझको भी खूब मजा आता है रूठ-रूठ तरसाने में।
> बातों-बातों में उलझ-उलझ कर उन पर रोब जमाने में।
> उनकी आँखों में बस करके गुलछर्रे खूब उड़ाऊँगी।
> अपना उल्लू सीधा करने को बुलबुल उन्हें बनाऊँगी।

दासी बनकर सेवा करने, कैदी बनकर घर में रहने।
है कौन बावली जो आयेगी, युवक-संग यह दुख सहने।"

—नूरजहाँ

समाज में नारी की अरक्षित स्थिति के परिणामस्वरूप ही अनेकानेक सुधार-योजनाएँ सम्मुख आईं। हमारी चेतना को करवट बदलते ही नारी ने अपने गौरवपूर्ण पद को समझने की चेष्टा की। बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह से उत्पन्न कुपरिणामों के निवारणार्थ यह आवश्यक समझा गया कि नारी में स्वावलम्बन का होना आवश्यक है। स्वावलम्बन की भावना से प्रेरित होकर स्त्री-शिक्षा को महत्व दिया गया। नारी ने शिक्षित होकर अपने अधिकारों को समझा। उनकी माँग की और अब वह किसी का आश्रय न लेकर स्वतः अपनी स्वामिनी बनना चाहती है। आज वह अनमेल विवाह के भीषण परिणामों को सहन करने में असमर्थ है। इसीलिए बन्धन की उन समस्त शृंखलाओं को तोड़ डालना चाहती है, जो उसकी गति को अवरुद्ध किये हुए थीं। इसीलिए स्त्री-स्वातन्त्र्य, समानाधिकार और तलाक ऐसे विषयों की विवेचना प्रारम्भ हो गई है।

आज के युग में जब तलाक ऐसे महत्वपूर्ण विषय को लेकर शासन-व्यवस्था के द्वारा उसे स्वीकृति प्रदान करवाने का प्रयत्न किया जा रहा है, धर्मप्राण भारतीय जनता का ध्यान यदि तुलसी के द्वारा प्रतिपादित इस नारी-धर्म की ओर न जाय तो कदाचित् कुछ अनुचित न होगा। भारतीय कौटुम्बिक सुख और शान्ति के महत्व के मूल में पातिव्रत धर्म ही विद्यमान है, जिसके सहारे भारतीय परिवारों का समुचित नियंत्रण होता है। हमारा अतीत इस बात का साक्षी है। आज के इन गये-गुजरे दिनों में भी हम उन्हीं परिवारों को अधिक प्रसन्न पाते हैं जिन परिवारों में नारी ने अपने धर्म का निर्वाह किया है। पुरुष की कर्कशता एवं बर्बरता के अपवाद भी मिलते है, किन्तु साधारणतः यह स्पष्ट है कि नारी के निष्कपट सरल व्यवहार में वह शक्ति है जिससे पुरुष अपनी समस्त बर्बरताओं को भूलकर उसके सद्गुणों का उपासक बन जाता है। कदाचित् इसीलिए भारतीय-समाज ने तलाक को कभी भी स्थान नहीं दिया है। हमारे समाज में विवाह केवल आपसी समझौता नही रहा है, इसे परस्पर आत्मसमर्पण के रूप में समझा गया है और इस पर धर्म की छाप लगाकर इतना अधिक प्रामाणिक कर दिया गया है कि इसे एक ही जन्म का संयोग न मानकर जन्मजन्मान्तर के सम्बन्ध की भावना इसके साथ

संलग्न कर दी गई है। आज तक भारतीय समाज विवाह को धर्म का ही बन्धन मानता आया है।[1] आज का साहित्य अनेकानेक विचारसरणियों से प्रभावित है। इसका कारण है भारतीय-चिन्तन-पद्धति से अनेकानेक बाह्य संस्कृतियों, सभ्यताओं एवं चिन्तनाओं का सम्मिलन। आज का प्रगतिशील साहित्यकार बाह्य-चेतनाओं एवं युग की आवश्यकताओं से प्रभावित होकर अपनी चिन्तन-धारा को युग की आवश्यकताओं के साथ मोड़ना चाहता है। फलतः वह एक नवीन क्रान्ति का नारा लगाता है और उसी नारे में एक नारा है स्त्री-स्वातन्त्र्य और उसी से मिलती-जुलती तलाक-प्रथा। स्त्री-स्वातन्त्र्य न केवल पुरुष से स्वतन्त्र होने तक सीमित है, वरन् सिद्धान्ततः वह पुरुष का पूरक न होकर सहकारी अथवा प्रतिद्वंद्वी के रूप में उपस्थित होना चाहती है। यदि यह स्वतन्त्र नारी पुरुष की सहकारिणी ही बनना चाहती तो भी अनिष्ट की वह छाया—जिसके कारण पश्चिम के परिवार अन्धकारमय हो रहे हैं, उपस्थित न होती। परन्तु प्रतिद्वंद्विता की भावना जिस संघर्ष को प्रोत्साहित कर रही है वही संघर्ष आज साहित्य में प्रतिफलित होता हुआ दिखाई देता है। भारतीय-जीवन में अब विभिन्न संस्कृतियों के मेल के परिणामस्वरूप पारिवारिक जीवन का वह आदर्श नहीं रहा जिसके लिए हमारा अतीत गर्व का विषय बना है। युगीन भावनाओं ने जीवन को किसी दूसरी ही धारा की ओर मोड़ दिया है। परिवर्तन का यह स्वरूप यहाँ तक बढ़ गया है कि अतीत के गौरवपूर्ण चित्रों में अपनी कोमल कल्पना की तूलिका से मनोरम रंग भरने वाले प्रसाद भी 'ध्रुवस्वामिनी' में शास्त्र का सहारा लेकर परिस्थिति विशेष में तलाक का समर्थन करते हैं।[2]

अछूतः—अछूत की समस्या भी भारतीय-समाज की एक जटिल समस्या है। वर्तमान समय में तो इस समस्या ने राजनैतिक महत्व प्राप्त कर लिया है। प्राचीन काल में भी अस्पृश्य थे, किन्तु उनकी अवस्था वह नहीं थी जो आज है। आज तो हमारी कट्टरता ने समाज के एक अत्यन्त आवश्यक

१—"मेरा धर्म व्याह बंधन को नाता अमर बनाता है।
जन्म-जन्म में भी जो नाता नहीं टूटने पाता है।
यहाँ धर्म का बंधन है, दो प्राणों का सम्मेलन।
एक धार में मिल जाते हैं होकर एक युगुल तन मन।"

—नूरजहाँ,

२—ध्रुवस्वामिनी, तृतीय अंक

अंग 'अछूत' को बिलकुल ही अलग फेंक दिया है। परिस्थिति इतनी बिगड़ गई है कि महात्मा गांधी को इसी प्रश्न को लेकर आमरण अनशन भी करना पड़ा। समाज में कुछ तो परिस्थिति-वश और कुछ क्रिया-व्यापारों के परिणामस्वरूप अस्पृश्य प्राणी रहेंगे ही, किन्तु उनकी छाँह से भी दूर रहने का परिणाम यह होगा कि धर्म परिवर्तित मुसलमानों की भाँति वे भी हमारे कट्टर शत्रु हो जायँगे। 'रामचरितमानस' में स्पृश्यास्पृश्य के बीच कैसा सम्बन्ध होना चाहिए इस विषय को निषाद और वशिष्ठ के मिलन में बड़े ही सुन्दर ढंग से व्यक्त किया गया है। निषाद अपने को अपावन समझ कर वशिष्ठ को दूर से ही दंड-प्रणाम करता है, किन्तु यह कैसे संभव हो सकता है कि भगवान् राम का भक्त ऋषि की गोद में स्थान न पावे। अतएवः—

"रामसखा रिसि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा ॥

—अयोध्याकांड

सच तो यह है कि छुआछूत का प्रश्न हमारा अपना प्रश्न नहीं है, यह तो यवन-संसर्ग तथा अंग्रेजों की कूटनीति से प्रसूत प्रश्न है। प्राचीन साहित्य में ऐसे कितने ही प्रसंग आते है जहाँ पर अछूत कहे जाने वाले व्यक्तियों के साथ बड़ा ही सौजन्यपूर्ण व्यवहार किया गया है। ऐसे प्रसंगों की उद्भावना साहित्यकारों ने कदाचित् इसलिए भी की हो जिससे समाज में छुआछूत का प्रश्न जड़ न जमाने पाये। शबरी और राम के प्रसंग की चर्चा "मानस' में भी आई है तथा अन्य कवियों ने भी इसकी चर्चा की है यथाः—

'बेर बेर बेर ले सराहै बेर बेर बहु,
'रसिक बिहारी' देत बंधु कहँ फेरि फेरि,
चखि चखि भाखैं यह वाहू ते महान मीठो,
लेहु तो लखन यों बखानत हैं हेरि हेरि,
बेर बेर देबे बेर शबरी सुबेर बेर,
तऊ रघुबीर बेर बेर तेहिं टेर टेर,
बेर जनि लावो, बेर बेर जनि लावो,
बेर बेर जनि लावो बेर लावो कहैं बेर बेर ॥'

हमारे प्राचीन धर्म-ग्रंथों में कहीं भी छुआछूत का यह रूप नहीं है जो आज अपनी भीषणता में जाति का कलंक बन रहा है। सच तो यह है कि 'जन्मना जायते शूद्रः संस्कारात् द्विज उच्यते', किन्तु हमने व्यर्थ का ही छुआछूत का पचड़ा फैला रक्खा है। 'देव' कहते हैं :—

"हैं उपजे रज-बीज ही तें,
बिनसे हू सबै छिति छार के छाँड़े।
एक से देखु कछू न बिसेखु,
ज्यों एक उन्हार कुम्हार के भाँड़े।
तापर ऊँच औ नीच विचारि,
क्या बकिबाद बढ़ावत चाँडे।
वेदन मूँदि करी इन दूंदि,
कि सूद्र अपावन, पावन पाँडे।"

इसी बात को कबीर ने बहुत पहिले ही कहा था :—

'जो तुम बाम्हन बाम्हनि जाये,
और राह तुम काहे न आये।'

ज्यों-ज्यों अछूत-समस्या जोर पकड़ती गई, त्यों-त्यों साहित्यकारों ने इसके परिणाम को अधिकाधिक अनुभव किया और अपनी रचनाओं द्वारा इस समस्या को सुलझाने का प्रयास किया। सियारामशरण गुप्त ने 'एक फूल की चाह' शीर्षक लम्बी कविता में इस सम्बन्ध में बड़े ही कारुणिक ढंग से विचार किया है। एक अछूत अपनी अबोध कन्या सुखिया की ज्वर-पीड़ित अवस्था में उसके आग्रह के परितोष के लिए देवी के फूल को लेने जाता है। जाने के पूर्व वह अपनी जातीय स्थिति तथा मन्दिरों की परंपरा पर विचार करता है, किन्तु बालिका का भी तो हठ उसके सामने था और साथ ही देवी के फूल को पाकर उसके स्वास्थ्य लाभ की संभावना भी थी। किन्तु परिणाम उलटा होता है। मन्दिर के पुजारी तथा अन्य भक्त मन्दिर की सीमा तक पहुँचे हुए उस अछूत को मारते हैं, उसे सात दिन का कारावास होता है और लौटने पर वह मरघट में अपने हृदय की पार्थिव रूप में स्नेह-राशि कन्या की जली हुई राख पाता है।[1]

१—दंड भोगकर जब मैं छूटा पैर न उठते थे घर को।
पीछे ठेल रहा था कोई भय जर्जर तनु पंजर को॥
पहिले की-सी लेने मुझको नहीं दौड़ कर आई वह।
उलझी हुई खेल ही में, हा अबकी दी न दिखाई वह॥
उसे देखने मरघट को ही गया दौड़ता हुआ वहाँ।
मेरे परिचित बंधु प्रथम ही फूँक चुके थे उसे जहाँ॥
बुझी पड़ी थी चिता वहाँ पर छाती धधक उठी मेरी।
हाय ! फूल-सी कोमल बच्ची, हुई राख की अब ढेरी॥

जैसा कि हम पहिले कह आये हैं कि अछूतों के प्रश्न की जटिलता गौरांग-महाप्रभुओं की नीति का ही परिणाम है। इसी भाव को राजाराम शुक्ल 'राष्ट्रीय आत्मा' ने अछूतों के प्रश्न को लेकर महात्मा गांधी के अनशन पर व्यक्त किया है :—

'शासन विदेशी विशिखासन समान हैं तो,
घातक विधान के बनाये गये बाण हैं।
भेद भाव के हैं घोर विष में बुझाये गये,
चित्त चोर नीति से चढ़ाये गये शाण हैं।
भारत का भव्य वक्ष मानों मृदु लक्ष्य-सा है,
बधिक विदेशी नहीं होने देते त्राण हैं।
छूटते ही छूत औ अछूत के छुटेंगे प्राण,
छूत मेरे अंग तो अछूत मेरे प्राण हैं।'

समाज का कोई भी अंग उपेक्षणीय नहीं है, भले ही "पद्भ्याम् शूद्रोऽजायत" हों, किन्तु हम यह क्यों भूल जायँ कि पैरों के बिना शरीर की अवस्थिति संभव नहीं है। बड़े-बड़े प्रासादों की नींव में पड़े हुए रोड़ों का भी महत्व है। इसी प्रकार समाज में यदि निम्न कहे जाने वाले व्यक्तियों का वर्ग न हो तो समाज की सुव्यवस्थित अवस्थिति संभव नहीं हो सकती। हमारी उच्चता उन्हीं की देन है जिन्हें हम नीच समझ रहे हैं :—

"ऊँचे हो उनके ही बल से जिन्हें समझ बैठे हो नीच।
देखो, गिर जाओगे उनसे, पड़ने न दो बाल भर बीच॥
चरण कमल मुख कमल युगल हैं एक उपास्य देव के अंग।
वे जड़ सम जड़ सही तुम्हें तो रहे मधुर जीवन से सींच॥"

—राष्ट्रीय आत्मा

छुआछूत के प्रसंग को लेकर मन्दिर-प्रवेश, मार्गों एवं कुओं का प्रयोग विचारणीय विषय रहा है। साहित्यकारों ने इस सम्बन्ध में भी पर्याप्त लिखा है।

कुछ अन्य सुधार:—कतिपय सुधारों का सम्बन्ध सीधा राजनीति से है। यद्यपि उनका समाजगत मूल्य भी है, जैसे समाज में किसान और मजदूर का साहूकार से सम्बन्ध है, ज़मींदार और किसान का सम्बन्ध है। इन दोनों ही सम्बन्धों में बेगार का लिया जाना तथा अधिकाधिक व्याज लेकर किसान और मजदूर को पुश्त दर पुश्त का ऋणी बनाये रखना, ऐसी स्थितियाँ समाज के लिए कलंक हैं। प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' में बेगार का चित्रण किया है।

"गोदान" के होरी का दुःखमय जीवन साहूकार, महाजन और ज़मींदार के बेगार का परिणाम है। वह समाज की निर्दयता, उपेक्षा का ज्वलंत प्रतीक है। पुलिस के काले कारनामे भारतीय-इतिहास में उसे सदैव कलंकित बनाये रहेंगे। निरपराधियों को अपराधी बनाना, रुपये के लोभ में नरपिशाच अपराधियों को खुल-खेलने का अवसर देना तथा अनेकानेक अमानुषिक अत्याचार करना उसके बायें हाथ का काम रहा है। घूस की प्रथा ने तो जन-जीवन को और भी अधिक दारुण बना दिया है। "सेवासदन" में प्रेमचन्द ने इस पर विशेष रूप से विचार किया है।

भारतीय प्रकृति कुछ ऐसी रही है जिसके कारण अधिकांश भारतीयों के जीवन में सात्विक-प्रवृत्ति का प्राधान्य रहा है, किन्तु विदेशियों के सम्पर्क के कारण भारतीय-जीवन में विकृति उत्पन्न हुई और मांस-मदिरा का प्रचार बढ़ा। फलतः तामसी प्रवृत्ति ने जोर मारा। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत में कलह, ईर्ष्या, तृष्णा आदि प्रवृत्तियों ने जोर पकड़ा। मांस और मदिरा के सेवन ने भारतीय आचार को भी नष्ट किया। इसीलिए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" नामक प्रहसन में मांस-मदिरा सेवन करने वाले व्यक्तियों का मज़ाक उड़ाया है। भारतेन्दु ने इस प्रहसन में किसी व्यक्ति को नहीं छोड़ा है। निश्चय ही उनके व्यंग्य यहाँ पर बड़े ही तीक्ष्ण हैं।[१] दुग्ध, घृत आदि अमृतोपम पौष्टिक पदार्थों के होते हुए भी मांस का सेवन महावीरप्रसाद द्विवेदी को अनुचित प्रतीत हुआ। उन्होंने इसे असभ्य मनुष्य का लक्षण समझा। अतः 'हंटर' शीर्षक कविता में मांसाहार की अत्यधिक भर्त्सना की है।[२]

एक युग था जब भारतीय जीवन में धन का कोई विशेष मूल्य न था। भारतीय साधक त्यागमय जीवन व्यतीत करने में ही सुख अनुभव करता था।

१—मदिरा को तो अंत अस आदि राम को नाम।
तासों तामें दोष कछु नहिं यह बुद्धि ललाम ॥

× × ×

विष्णु वारुणी पोर्ट पुरुषोत्तम मद्य मुरारि।
शाम्पिन शिव गौरी गिरिश ब्रांडी ब्रह्म विचारि ॥

—भारतेन्दु नाटकावली

२—द्विवेदी काव्यमाला,

किन्तु समय के परिवर्तन के साथ-साथ पैसे का मूल्य बढ़ता गया, धन की लिप्सा ने जीवन को इतना अधिक प्रभावित किया कि न केवल दैनिक-जीवन में अपितु धार्मिक एवं जातीय क्षेत्र में भी इसने अपना प्रभाव दिखाया और लोगों ने पैसे के लिए धर्म और जाति बेचना प्रारम्भ कर दिया। "अन्धेर नगरी" नामक प्रहसन में भारतेन्दु ने इसी स्थिति का चित्रण किया है।[1]

समाज के तथाकथित ठेकेदारों ने धर्म को आडम्बर के आवरण से आवृत कर रक्खा है। धर्म का सार-तत्व तो विरले ही व्यक्ति जानते है। इसी आडम्बर के प्रतिकूल कबीर ने कहा था :—

"माला फेरत जुग गया, मिटा न मन का फेर।
कर का मनका डारिकै, मन का मनका फेर॥"

बिहारी भी इसी आडम्बर का विरोध करते हुए कहते है :—

"जप माला छापा तिलक, सरै न एकौ काम।
मन काँचे नाचै वृथा, साँचे राचै राम॥"

साधना के क्षेत्र में तो मन का ही संयम प्रमुख है। इसी पर नियंत्रण करना आवश्यक है। इसकी चंचलता के कारण उपासनादि के समस्त उपकरण व्यर्थ सिद्ध होते हैं :—

"जो कुछ पुन्य असंख्य जलस्थल तीरथ खेत निकेत कहावै।
पूजन जागन औ तप दान अन्हान परिक्रम गान गनावै।
और किते ब्रतनेम उपास अरंभु कै "देव" को दंभु दिखावै।
हैं सिगरे परपंचु कै नाच जु पै मन से सुति साँचु न आवै।"

—"देव"

१—"जात वाला [ब्राह्मण] : जात ले जात, टके सेर जात। एक टका दो, हम अभी अपनी जात बेचते हैं। टके के वास्ते ब्राह्मण से धोबी हो जायँ और धोबी को ब्राह्मण कर दें, टके के वास्ते जैसी कहो वैसी व्यवस्था दें। टके के वास्ते झूठ को सच करें। टके के वास्ते ब्राह्मण बनें मुसलमान, टके के वास्ते हिन्दू से क्रिस्तान। टके के वास्ते धर्म और प्रतिष्ठा दोनों बेचें, टके के वास्ते झूठी गवाही दें। टके के वास्ते पाप को पुण्य मानें, टके के वास्ते नीच को भी पितामह बनावें। वेद, धर्म, कुल, मर्यादा, सचाई-बड़ाई सब टके सेर। लुटाय दिया अनमोल माल। ले टके सेर।"

—भारतेन्दु नाटकावली

प्रत्येक युग में किसी न किसी प्रकार की विकृति अवश्य रही है। उसी को सुधारने के लिए चिन्तकों ने, साहित्यिकों ने अपने-अपने ढँग से प्रयत्न किया है। इसीलिए प्रत्येक युग के साहित्य में ऐसी रचनाएँ उद्देश्य-रूप में अथवा प्रसंग-रूप में अवश्य मिलेंगी जिनका लक्ष्य कुरीतियों का विनाश तथा सद्गुणों एवं सुनीतियों को प्रोत्साहन देना रहा है। जीवन जितना ही विस्तृत है, सुधार के क्षेत्र भी उतने ही विस्तृत हैं। हिन्दी-साहित्य में वर्णित धार्मिक, राजनैतिक एवं सामाजिक सुधारों का अभाव नहीं है। प्रस्तुत अंश में आये हुए सुधारों के अतिरिक्त शिक्षा, नौकरी, नारी-स्वातन्त्र्य, शुद्धि आदि अनेकानेक विषयों पर बहुत कुछ लिखा गया है। आर्य-समाज द्वारा शुद्धि का तो आन्दोलन ही चलाया गया। इस आन्दोलन को अनेक पत्र-पत्रिकाओं ने बड़ा बल प्रदान किया। कहने की आवश्यकता नहीं कि जीवन को उच्छृंखलता से बचाने के लिए सुधारात्मक रचनाओं का बड़ा महत्व है।

प्रगतिवाद

इतिहास

यथार्थवादी कलाकार विषम परिस्थितियों के यथार्थ चित्रण से समस्या के विकसित रूप का दर्शन तो करा देता है, परन्तु उसका समाधान नहीं दे पाता है। वे एक दूसरे ही प्रकार के कलाकार हैं जिन्हें वस्तु के यथार्थ दर्शन से उतना प्रयोजन नहीं जितना प्रयोजन उन कारणों से है जिनसे वस्तु की यह स्थिति हो गई है। यथार्थवादी गन्दगी से उत्पन्न होने वाली बीमारियों की ही ओर देखता है, परन्तु दूसरा व्यक्ति उस गन्दगी को ढूँढ़ने की चेष्टा करता है जिससे यह बीमारी उत्पन्न हुई। वह केवल चेष्टा ही नही करता है, अपितु इस गन्दगी को हटाने के उपाय भी सोचता है और अपने इस प्रयत्न को प्रगतिवाद का नाम देकर एक नवीन वाद की स्थापना करता है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि हम इन सब वादों के लिए पश्चिम के ऋणी है।

यथार्थवाद बुद्धिवाद (Pragmatism) का सहारा लेता है, अर्थात् यथार्थवाद केवल आवश्यकता का अनुभव करा देता है और उसकी पूर्ति के लिए व्यक्ति को स्वतन्त्र छोड़ देता है, परन्तु प्रगतिवाद कुछ-कुछ सुधारवादी की भाँति उपदेशक का कर्त्तव्य करता है। यदि प्रगतिवादी को हम इस अर्थ में स्वीकार कर लें तो उसका इतिहास सुधारवाद के साथ बहुत पीछे तक ले जाया जा सकता है। परन्तु आज प्रगतिवाद साम्यवाद का प्रतीक हो गया है। राजनीति में जिसे हम साम्यवाद कहते हैं, साहित्य में उसे ही प्रगतिवाद।

साम्यवाद की आधार भूमि व्यक्ति और उसकी आवश्यकताएँ हैं, परन्तु व्यक्ति और उसकी आवश्यकताओं की मात्रा तथा शक्ति के सम्बन्ध में भी साम्यवाद के अपने सिद्धांत हैं। कोई व्यक्ति यदि आध सेर अन्न प्रतिदिन खाता है तो उसकी निश्चित आवश्यकता आध सेर की ही है। यदि वह व्यक्ति आध सेर से अधिक अपने पास रखना चाहता है तो निश्चय ही वह दूसरे के भाग का अपहरण करना चाहता है। आध सेर से न्यूनाधिक की

स्थिति व्यक्ति की समस्या है। साम्यवाद इन दोनों न्यूनाधिक स्थितियों पर नियंत्रण रखना चाहता है। पूँजीवाद अथवा सामन्तवाद के युग में अधिक को और अधिक करके अनेक का जीवन कष्टमय बना दिया गया। अतः साम्यवाद उनकी प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुआ।

यहाँ पर हमें संक्षेप में साम्यवादी विचार-धारा के मूल उद्गम का यत्किंचित् विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। साम्यवादी विचार-धारा में सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न है श्रमिक का जीवन। श्रमिक वर्ग की उत्पत्ति का मूलहेतु है पूँजीवाद। पूँजीपति श्रमिक की आन्तरिक कला सम्बन्धी एवं शारीरिक दोनों ही प्रकार की शक्तियों का अधिकाधिक उपयोग करना चाहता है। कम से कम समय और कम से कम व्यय में अधिक से अधिक उत्पादन हो सके, इस लक्ष्य से उद्योगपति ठेकेदारी प्रथा अपनाते हैं जिसका फल यह होता है कि श्रमिक कम समय में अधिक कमाने की कामना से अपनी शक्ति से अधिक परिश्रम करना चाहता है। श्रमिक के स्वास्थ्य पर इसका बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ता है। फलतः एक समस्या उठ खड़ी होती है—श्रमिक का स्वास्थ्य और उसका जीवन-स्तर।

पूँजीपति अपने उद्योग-धन्धों की सफलता हेतु श्रमिक के लिए कतिपय आकर्षणों की भी सृष्टि करता है। फलतः उस प्रलोभन में पड़कर लोग अपने-अपने पारिवारिक एवं समाजगत व्यवसाय को छोड़कर कारखानों की ओर दौड़ते हैं। अपने गाँव को छोड़कर आया हुआ श्रमिक नगर में अकेलेपन का अनुभव करने लगता है। उसका यह अकेलापन उसके मानसिक संतुलन में बाधक होता है। अतएव श्रमिक के जीवन में थोड़ी-सी उच्छृंखलता किसी न किसी रूप में अवश्य आ जाती है। अपने पुराने साथियों से वह अपने को अच्छा समझने लगता है, नवीन परिस्थितियों में अपने ' को उचित रूप में ढाल न सकने के कारण वह चरित्र की निर्बलताओं में फँस जाता है। फलतः एक समस्या उत्पन्न हो जाती है—श्रमिक के मनोरंजन का साधन और चरित्र।

साधारणतः श्रमिक के पास विनोद का कोई अन्य साधन नहीं होता। अतः उसकी सारी मनोरंजन की प्रवृत्ति उसकी स्त्री तक ही सीमित रहती है। फलतः उसकी पारिवारिक वृद्धि भी उसकी निर्धनता का कारण बनती है।

समाज में जन-संख्या की वृद्धि से श्रमिकों की 'सप्लाई' बढ़ जाती है जिससे उनके श्रम का मूल्य घट जाता है और निर्धनता को प्रोत्साहन मिलता है। पूँजीपति की दृष्टि में मनुष्य का मूल्य केवल उसी समय तक है जब तक वह कार्य कर सके। कार्य करने की शक्ति का सब से अधिक विकास युवाकाल में होता है।

इसके उपरान्त उसका जीवन औद्योगिक सिद्धान्त के अनुसार व्यर्थ हो जाता है। इसलिए उद्योगपति उससे अधिक से अधिक काम लेना चाहता है। इस प्रकार श्रमिक की शक्ति का अधिकाधिक व्यय होता है। मान लीजिए कि श्रमिक की शक्ति अपनी सहज गति से काम करते हुए ३० वर्ष तक चल सकती है, परन्तु अधिक परिश्रम के कारण यह शक्ति २० वर्ष में ही समाप्त हो जाती है। उद्योगपति को इससे प्रयोजन नहीं कि उसने श्रमिक-जीवन के १० वर्ष कम कर दिये। उद्योगपति केवल यह सोचता है कि इन २० वर्षों तक उससे काम लेकर उसके स्थान पर दूसरा बीस वर्ष का युवक रख लिया जायगा जिसकी उत्पादन शक्ति निश्चय ही उस वृद्ध श्रमिक से अधिक होगी। ऊपर से देखने पर स्पष्ट है कि उद्योगपति की यह धारणा मानवता के प्रतिकूल है, परन्तु होता यही है। इसीलिए काम के घंटों की समस्या उत्पन्न होती है।

भारतवर्ष में गौरांग शक्ति के उदय होतेही व्यापार के केन्द्रीकरण के साथ ही साथ उद्योगों के केन्द्रीकरण की ओर भी ध्यान दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि यहाँ भी श्रमिक वर्ग की उत्पत्ति हुई। अपने पैतृक सम्मान पर मर मिटने वाला किसान अथवा घरेलू कलाओं में दक्ष व्यक्ति केवल मजदूर बन कर रह गया और वर्ग-गत समस्याओं में फँसकर उसका जीवन निरन्तर निम्नतर होता गया। श्रमिक की यह सामाजिक क्षेत्र की निम्नतर स्थिति ही भारत में साम्यवादी विचार-धारा का मूल हेतु बनी।

प्रत्येक देश के पूँजीपतियों ने अपने इस अधिक धन की रक्षा के लिए कुछ नियम बनाये थे। उन नियमों ने परलोक की भावना अथवा प्रारब्ध का निर्माण किया था। इस प्रकार अधिक रखने वाला अपनी सम्पत्ति को प्रारब्ध का दान मानता तथा अपने को निर्दोष समझता था और निर्धन अपनी निर्धनता का दोषी अपने प्रारब्ध को ही मानकर संतोष करता था। साम्यवादी के मत से यह प्रारब्ध भी एक झूठी कल्पना थी जो धनिकों की धन-रक्षा के लिए बनाई गई थी। साम्यवादी के मत के अनुसार गुण अपने गुण में प्रवृत्त रहते हैं, उसमें किसी अन्य शक्ति का कोई हाथ नहीं। जहाँ गीताकार 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' कह कर 'इतिमत्वा न सज्जते' कहता था वहाँ साम्यवादी कहता है कि 'मत्वा' का मनन करने वाला और 'सज्जते' का आसक्त होने वाला कोई दूसरा है ही नहीं। गुण ही गुणों में व्यवहृत हो रहे हैं। अतएव किसी स्थान पर एकत्र गुणों को अन्यत्र स्थित गुण समुदाय के कष्ट का कारण बनने का अधिकार नहीं। इस प्रकार साम्यवादी व्यक्ति समाज का अंग है, समाज के लिए उसकी सत्ता है। जब तक वह समस्त समाज के विकास और वृद्धि में

उपयोगी है तब तक उसका उतना ही मूल्य है जितना किसी अन्य व्यक्ति का। अतएव सम्पत्ति का विभाजन व्यक्ति पर न होकर व्यक्ति की सामाजिक उपयोगिता के आधार पर होना चाहिए तथा किसी व्यक्ति का मूल्य इतना अधिक नहीं होना चाहिए कि उसके चुकाने में दूसरे व्यक्ति को कष्ट हो।

इस मूल्य नियन्त्रण के लिए सम्पत्ति पर से व्यक्ति का नियन्त्रण हटाकर समाज का नियन्त्रण आवश्यक है। साम्यवादी व्यवस्था का यही मूल तत्व है।

यदि सम्पत्ति का विभाजन ही साम्यवाद का आधार होता और आज का प्रगतिवाद सम्पत्ति विभाजन को सब कुछ मानता होता तो उसे पश्चिम की ओर दौड़ने की आवश्यकता न पड़ती। भारतीय सामाजिक व्यवस्था सम्पत्ति विभाजन के कुछ सिद्धान्त देती है जिनका प्रयोग इस यान्त्रिक युग में भी संभव था, क्योंकि हमें सब से पहिले सम्पत्ति विभाजन के प्राथमिक सिद्धान्त वेदों में ही मिलते हैं। उनका विकास होकर चातुर्वर्ण्य व्यवस्था और कार्य-विभाजन निश्चय ही एक ऐसी प्रगति थी जो सम्पत्ति-विभाजन का ही समाधान देती थी। संभवतः यह इतनी व्यापक और सरल प्रगति थी कि इसके सम्पर्क में आकर मुसलमान भी इससे प्रभावित हुए। मुसलमानों में भी अनेक ऐसे वर्ग बन गये जिनका व्यवसाय वंशगत हो गया। साथ ही बेकारी और निर्धनता की समस्या का समाधान भी इस व्यवस्था के द्वारा सदैव होता रहा।

यूरोपीय समाज के सामने ऐसी सुदृढ़ आर्थिक व्यवस्था कोई नहीं थी जिससे सम्पत्ति का बटवारा सामाजिक रीति से होता रहता। फल यह हुआ कि वहाँ संग्रह और पूँजीवाद की प्रवृत्तियों का उदय हुआ जिससे धनिक और श्रमिक वर्गों का जन्म हुआ। साथ ही वर्ग-संघर्ष भी उत्पन्न हुआ जिसका परिणाम पश्चिम का साम्यवाद है। इस प्रकार हम देखते है कि भारतीय समाज व्यवस्था में एक प्रगति सदैव बनी रही। इस व्यवस्था का शास्त्र में जितना विवेचन मिलता है उससे भी अधिक रूढ़िबद्ध और अवान्तर भेदों में विभक्त यह व्यवस्था हमें समाज के व्यावहारिक जीवन में दिखाई देती है।

साधारणतः साहित्य में प्रगतिशील भावनाओं का प्रचार पश्चिमीय देशों में सबसे प्रथम इटली में हुआ। वहाँ के मारिनेत्ति नामक व्यक्ति ने सबसे प्रथम सन् १९०७ में साहित्य में प्रगतिशील विचार-धारा को जन्म दिया। उसने भविष्यवाद (Futurism) चलाया। उसके विचारानुसार सौन्दर्य का दर्शन चन्द्र में न होकर मशीन में होना चाहिए। उसकी मनोरम कल्पनाओं का

आधार अब चंद्र न होकर हवाई जहाज बना। मारिनेत्ति के अनुयायियों ने अपनी नूतन कल्पना की अग्नि में चंद्र को जलाकर ही शान्ति अनुभव की।

मारिनेत्ति के भविष्यवाद (Futurism) के आगे चलकर दो स्पष्ट भेद दिखाई पड़े—एक 'क्यूबो फ्यूचरिज्म' और दूसरा 'ईगो फ्यूचरिज्म'। 'क्यूबो फ्यूचरिज्म' के आधार से भविष्य का वर्तमान में ही दर्शन करना है, दूसरे शब्दों में आने वाले कल को आज ही देखना है। 'ईगो फ्यूचरिज्म' ने मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ प्राणी मानकर मानव महत्तावाद की प्रतिष्ठापना की। इसी विचारसरणि ने 'प्लैस्टीसिज्म' (वर्तमानवाद) की सृष्टि की। तात्विक दृष्टि से यही गति प्रगतिवाद है।

मारिनेत्ति ने रूढ़िगत विचारों के प्रति विद्रोह प्रकट किया। उसने साहित्य में छंदादि के नियमों का उल्लंघन किया तथा व्याकरण का विरोध किया। सन् १९१४ तक उसके विचारों का बड़ा बोलबाला रहा। कुछ समय उपरान्त सन् १९१७ में उसने अपने इस विद्रोहात्मक आन्दोलन को स्वतः बन्द कर दिया।

सन् १९२१ के आसपास रूस में 'फार्मेलिज्म' का अधिक प्रचार था। अब तक काव्य में रूप का ही विशेष महत्व था। इसके विरोध में वहाँ पर रियलिज्म (यथार्थवाद) चला। 'फार्मेलिज्म' का प्रचार फ्रांस में भी बहुत था। अतः वहाँ भी इसके विरोध में 'नेचुरलिज्म' (प्रकृतिवाद) उत्पन्न हुआ। इसके द्वारा फ्रांसीसी लेखकों ने जीवन का यथातथ्य चित्रण उपस्थित करना प्रारम्भ किया। रूसी विचार-धारा विशेष प्रगति पर रही। उसने विरोधात्मक एवं संघर्षात्मक विचार शैली को अपनाया।

रूस की राज्यक्रान्ति ने साहित्य को प्रभावित किया। इसके पहिले वहाँ के कलाकार अपनी विचार-सरणियों को स्वेच्छा से व्यक्त करने के लिए स्वतंत्र थे। वे मानव की मूल प्रवृत्तियों को ही बिना किसी प्रयास विशेष के काव्य में व्यक्त करना काव्य का एक विशेष लक्षण मानते थे, किन्तु दूसरी क्रान्ति के संचालकों ने यह आवश्यक समझा कि देश की राजनैतिक शक्ति को सुदृढ़ बनाने के लिए काव्य-साहित्य का निर्माण राजनैतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया जाय। फलतः तत्कालीन साहित्य कवि की अन्तश्चेतना से प्रभावित होकर निकलने वाला प्रकृत साहित्य न रह गया, अपितु वह मार्क्सवादी विचार-धारा का पोषक होकर प्रचारक के रूप में उपस्थित हुआ। इस साहित्य ने जन-जीवन में जागृति का संचार किया। इसने जन-समाज को राज-शक्ति प्राप्त करने की प्रेरणा प्रदान की और समाज की आर्थिक विषमताओं को दूर कर वर्ग-विहीन समाज की स्थापना के लिए प्रचार किया। रूसी साहित्यकारों ने प्रचार क्षेत्र

चुना श्रमिक-समाज, जिसमें वर्ग-संघर्ष की भावना सरलता से स्थान पाकर पनप सकती थी।

प्रथम यूरोपीय महायुद्ध ने अंग्रेजी साहित्य को भी प्रभावित किया। अभी तक का काव्य-साहित्य साधारणतः उच्चवर्गीय व्यक्तियों में समादृत होता था और वह उन्हीं की मनोवृत्तियों के अनुकूल वातावरण की सृष्टि भी करता था। उसमें मनोरंजकता प्रधान थी। किन्तु युद्धोत्तरकालीन परिस्थितियों ने जीवन दिशा में परिवर्तन उपस्थित किया। फलतः मानव की चिन्तन-धारा ने भी पलटा खाया और युग-चेतना ने अनुभव किया कि साहित्य रागमयी भावनाओं की ही सृष्टि करके जन-कल्याण नहीं कर सकता। उसे मानव की वासनात्मक एवं मनोरंजनात्मक सृष्टि से ऊपर उठकर युग की आवश्यकताओं को देखना होगा। न तो नितान्त सुख की कल्पना और न नितान्त दुःख-अवसाद की भावना जीवन को उन्नत बना सकती है। फलतः साहित्य को जीवन के उस यथार्थ को ग्रहण करना होगा जो कठोर एवं कटु सत्य के रूप में है। सन् १९३२ के आसपास रूस में एक विशिष्ट आन्दोलन के रूप में कवियों पर प्रतिबन्ध लगाया गया और गवर्नमेण्ट की इच्छानुसार काव्य-रचना के लिए बाध्य किये गये।

सन् १९३० के लगभग अंग्रेजी साहित्य में भी मार्क्सवादी विचारधारा का प्रचलन प्रारम्भ हुआ और साहित्य काल्पनिक संसार से हटकर पार्थिव जीवन के अधिकाधिक निकट आने लगा। सुप्रसिद्ध कवि डब्ल्यू. एच. आडेन, सेसिल डेलेविस, स्टेफिन स्पेंडर आदि ने युग की आवश्यकता को अनुभव किया और उन्होंने उस वर्ग की दुनिया को देखा जो पूँजीपतियों की विलास-क्रीड़ा का साधन बन रही थी, जो अपनी प्रसन्नता को, अपने उल्लास को, अपनी मनोहर कल्पनाओं को और अपने सुनहले स्वप्नों को अपनी बेबसी के कारण समाज के धनिक कहे जाने वाले लुटेरों को सौंप चुकी थी। नवीन विचारधारा के कलाकारों ने इस सामाजिक शोषण के प्रति विद्रोह किया और रूस की भाँति ही श्रमिक वर्ग में नवीन चेतना से पूर्ण विद्रोहात्मक भावनाओं का प्रचार साहित्य के द्वारा किया।

आधुनिक युग विज्ञान का युग है। विज्ञान ने देश की सीमाओं को एक दूसरे के बहुत निकट कर दिया है। फलतः जो विचारधारा किसी देश में चलती है उसका प्रभाव दूसरे देश पर भी पड़ने लगता है। रूसी क्रान्ति से उत्पन्न नवीन विचारों ने भारत को भी प्रभावित किया। अंग्रेजी शासन में होने के कारण वहाँ की साहित्यिक प्रगति ने भी भारतीय चिन्तन-धारा पर अपनी छाप

डाली । फलतः हिन्दी का प्रगतिशील साहित्य रूसी तथा अंग्रेजी साहित्य की देन मानना पड़ेगा ।

भारतीय साहित्यकारों का सामाजिक जीवन बड़ा दयनीय एवं चिन्तनीय रहा । अतः उन्होंने साम्यवादी विचारधारा का बड़े उत्साह के साथ समर्थन किया । सुप्रसिद्ध उपन्यासकार स्व० प्रेमचन्द का व्यक्तिगत जीवन भी अनेकानेक विषमताओं एवं जटिलताओं के बीच प्रारम्भ मे ही व्यतीत हुआ । फलतः उनका शोषित के प्रति विशेष आकर्षण होना स्वाभाविक था । उन्होंने युग-चेतना के अनुरूप ही साहित्य में वर्ग-संघर्ष की भावना को प्रश्रय दिया । सन १९३६ में प्रगतिशील लेखक संघ के अधिवेशन के सभापति के पद से उन्होंने जो अभिभाषण दिया उसमें साहित्य के प्रगतिशील स्वरूप की व्यंजना प्राप्त होती है । उन्होंने अपने इस अभिभाषण में साहित्य की भावात्मक सत्ता के साथ ही साथ प्रयोगात्मक सत्ता पर विशेष बल दिया और साहित्य को उपयोगिता की तुला पर तौलना आवश्यक बतलाया । कालाकाँकर से प्रकाशित होनेवाले पत्र रूपाभ[1] में प्रगतिशील साहित्य के सम्बन्ध में अनेकानेक विचार उपस्थित हुए । सन१९४१ से 'काशी' से प्रकाशित होनेवाले "हंस" में भी उस दिशा में बहुत कुछ लिखा गया । विचार का यह क्रम अबतक प्रायः चल ही रहा है ।

इस दिशा में यद्यपि हिन्दी साहित्य के अनेक सेवियों ने अपनी लेखिनी का प्रयोग किया है, पर सुमित्रानन्दन पंत का नाम विशेष सम्मान के साथ लिया जायगा । कोमल कल्पनाओं का यह भावुक कलाकार काव्य के सरस राजमार्ग को छोड़कर श्रमिकों के जीवन के साथ ही क्रीड़ा करने में सुख अनुभव करता है, वह उनके अभावों, कल्पनाओं, इच्छाओं एवं जीवन की विषमताओं को अपनी लेखिनी और वाणी के माध्यम से साकार करना चाहता है । युगवाणी और ग्राम्या में वह पूर्णतः श्रमिकों एवं दलितों का कलाकार बन गया है।

विवेचन

आधुनिक काल विभिन्न प्रयोगों का काल है । जिस प्रकार राजनैतिक-क्षेत्र में अनेकानेक प्रयोग हुए, विभिन्न पार्टियों ने—दलों ने जन्म लिया; उसी प्रकार साहित्य-क्षेत्र में भी प्रयोगों का ही प्राधान्य है । हमारी राजनैतिक

१—सन १९३८ में प्रकाशित हुआ, इसके सम्पादक थे श्री सुमित्रानन्दन पंत तथा नरेन्द्र शर्मा ।

विचारधाराओं ने भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से साहित्यिक चिंतनाओं को प्रभावित किया है। हिन्दी का प्रगतिशील साहित्य उन्हीं चिंतनाओं में से एक है। रूसी विचारधारा से प्रभावित दल ने कांग्रेस पर रूढ़िवादिता तथा पूँजीवादी प्रथा के पोषण का आरोप लगाया और एक क्रान्तिकारी योजना उपस्थित की जिसके द्वारा पूँजीवाद का विरोध तथा कृषकों एवं श्रमिकों के सामाजिक एवं राजनैतिक स्तर को ऊँचा करने का नारा लगाया गया। फलतः साहित्य में भी प्रचार के रूप में उसी नारे को प्रतिध्वनित किया गया। इस प्रकार प्रगतिशील-साहित्य का मुख्य आधार है: प्रतिगामी राजनैतिक चेतना जिस पर समाजवाद-साम्यवाद की पूरी-पूरी छाप है, अथवा यों कहिये कि जिसमें रूसी-विचार-धारा की प्रेरणा विद्यमान है।

साधारणतः साहित्य निरन्तर प्रगतिशील रहा है। युग की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करने के कारण साहित्य में कभी एकरूपता संभव है ही नहीं। विकासोन्मुख मानव-सृष्टि अपनी गतिशीलता में ही शाश्वत् एवं महान् है। उसकी महत्ता ही जीवन के विविध-व्यापारों के रूप में साहित्य के रूप का निर्माण करती है और इसी रूप में साहित्य में आज न तो आदि-कालीन छन्द प्रचलित हैं और न अभिव्यंजना-पद्धति। प्रत्येक युग अपनी विशेषता की छाप साहित्य में भी छोड़ता रहता है। अतः यदि आज की राजनैतिक चेतना भी साहित्य को अपने संस्मरणों का दान देना चाहे तो उसे कौन रोक सकता है।

एक ओर जहाँ साहित्य युग की श्रद्धाञ्जलि को ग्रहण करता है वहीं वह उसे अपने में सुरक्षित रखने अथवा कुछ समय के पश्चात् उसे विस्मृत-कोष में ढँक देने के अधिकार का भी निरन्तर उपयोग करता रहता है। यही कारण है कि साहित्य के विशाल प्रान्त में न जाने कितनी भाव-धाराएँ उत्पन्न हुईं जो अपनी लोल-लहरियों के साथ कुछ समय तक क्रीड़ा करती रहीं तथा अपने वीचि-विलास में जिन्होंने सहृदय मानवों को निमज्जित भी किया, पर न जाने क्यों वे अकस्मात् ही कुछ दूर तक प्रवाहित होने के उपरान्त सूख गईं या विलीन हो गईं। किन्तु कुछ ऐसी गम्भीरा भी रहीं जो अनन्त जीवन-राशि को अपने में समेटे हुए आज तक अपने प्रकृतरूप में विद्यमान हैं। रसिकजन उनमें अवगाहन करते हैं, शीतलता एवं संतोष प्राप्त करते हैं और नवोन्मेषशालिनी शक्ति से सम्पन्न होकर जीवन के विस्तृत पथ पर गतिमान होते हैं। तात्पर्य कहने का यह कि साहित्य में कोई भी विचारधारा क्यों न प्रवाहित हो, यदि वह जन-जीवन के शाश्वत् सत्यों, मान्यताओं, आकांक्षाओं एवं कल्पनाओं को अपने में सँजोकर रख सकेगी तो यही राशि उसे शाश्वत् गति प्रदान करेगी, अन्यथा

प्रचारात्मकता तथा सामयिक आवश्यकता की सीमाओं में बँध कर वह कुछ समय के पश्चात् सड़-गल-कर आकर्षणहीन एवं अनुपयोगी हो जायगी।

आज की प्रगतिवादी धारा भी अपने अस्तित्व के प्रति शंकाओं से रिक्त नहीं है। जैसा कि अभी हम कह आये हैं, इस वाद के नाम से एक राजनैतिक विचार-दर्शन को जनता के समक्ष लाने का प्रयास किया गया। वह विचार भारतीय परिस्थितियों की दृष्टि से जनता के लिए कहाँ तक उपयोगी है, अभी यही एक प्रश्न है—समस्या है जिसका उत्तर निश्चितरूप से नहीं प्राप्त हो रहा है, फिर भला साहित्य में उसकी स्थिति के प्रति निःशंक कैसे हुआ जा सकता है। इसका स्थायित्व तभी संभव है जब यह भारतीय जन-जीवन में घुल-मिल जाय, क्योंकि साहित्य में जीवन की ही अभिव्यक्ति होत है। अभी तक इसका एकांगी पक्ष है। यदि हम सम्पूर्ण प्रगतिशील-साहित्य पर विचार करें तो हमें निम्न-लिखित भावनाएँ प्राप्त होंगी जिनका प्रचार इस वाद विशेष के नाम से किया जा रहा है :—

१—रूढ़ियों का विरोध,
२—शोषकों के प्रति आक्रोश,
३—शोषितों के प्रति सहानुभूति,
४—क्रान्ति की भावना,
५—रूस का गुणगान,
६—सैद्धान्तिक विवेचन।

१. रूढ़ियों का विरोध—प्रगतिवादी कलाकार परमार्थिक सत्ता पर विश्वास करके नहीं चलता है। उसका विश्वास है कि सृष्टि का मूलाधार कोई अनिर्वचनीय अखिल ब्रह्म न होकर पदार्थ (Matter) है। उसके संरक्षण एवं संवर्धन के लिए भी उनके अनुसार किसी ऐसी सत्ता की आवश्यकता नही प्रतीत होती है जिसे धर्मग्रन्थों का समर्थन प्राप्त हो। उनका मत है कि धर्म एक ऐसी अफीम की घूँटी है जो मानव को विधि-निषेध की गहरी चमकदार खाई में डालकर उसकी समस्त विकासोन्मुख शक्तियों एवं संभावनाओं को व्यर्थ कर डालती है। प्रगतिशील साहित्यकार की दृष्टि में मानव का ही विशेष महत्व है। वह मानव कोही समस्त वस्तुओं का निर्माता, विचारों का सृष्टा, यहाँ तक कि प्रकृति की समस्त शक्तियों का शासक मानता है। ऐसा श्रेष्ठ मानव जब जीवन की विषमताओं में पिसता है तब कवि का हृदय विद्रोह कर उठता है और वह धार्मिक परंपराओं एवं अंध-विश्वासों पर एक तीखा व्यंग करता है—

"चला-चला मैं सत्य खोजने, जग की उठीं उँगलियाँ।
भ्रान्ति-व्यवस्थित परंपरा को, नाची नयन पुतलियाँ।
मन्दिर भूला, मस्जिद भूली, भूली मदिर पिपासा।
किन्तु न भूली मुझे जगत् की, मरघट-सी अभिलाषा।
अरे बावले सत्य कहाँ है, कानों में टकराया।
नर के रक्त-मांस पर नर ने, अपना महल बनाया।

—शील—'अँगड़ाई'

इस लौह-युग में जब सम्पूर्ण सृष्टि "युद्धं देहि, युद्धं देहि" के मन्त्र का महोच्चार कर रही है तब धर्म की चर्चा, मंदिर, मस्जिद की बातें, गीता और कुरान के उपदेश सुनने का अवसर किसके पास है—

"हैं काँप रहीं मन्दिर, मस्जिद की मीनारें,
गीता-कुरान के शब्द बदलते जाते हैं।
ढहते जाते हैं दुर्ग द्वार मकबरे महल,
तख्ता पर इस्पाती बादल मँडराते हैं।
अँगड़ाई लेकर जाग रहा इन्सान नया,
जिन्दगी कब्र पर बैठी बीन बजाती है।
भूखी धरती अब भूख मिटाने आती है॥"

—'नीरज'

प्रगतिवादी कलाकार के समक्ष केवल एक ही सत्य है—यह मिट्टी-पानी का संसार। संसार तो चिर-गतिमय पदार्थ का उद्भव एवं विकास है। इसमें मानव की निरन्तर क्रिया ही अपना विशिष्ट अस्तित्व रखती है, भले ही वह परिवर्तन-क्रम में बँधी हुई हो। ब्रह्म तो केवल एक ढकोसला है। ब्रह्म की सत्ता के प्रति अविश्वास उस समय और भी बढ़ जाता है जब भूखे-नंगों का समाज सम्मुख उपस्थित होता है—

"मिल जाता है जब कभी लगा सम्मुख पथ पर,
भूखे-भिखमंगों नंगों का सूना बजार।
तब मुझको लगता है कि तुम्हारा ब्रह्म स्वयं
है खोज रहा धरती पर मिट्टी का मजार।"

—'नीरज'

ईश्वर के प्रति अविश्वास उस समय और भी दृढ़तर हो जाता है जब निरीह, बेगुनाह और भोले-भाले प्राणी पापी नृशंसों के हाथों निहत किये जाते हैं। पंजाब

और बंगाल के हत्याकांड उसके साक्षी हैं। ऐसी परिस्थितियों में प्रगतिवादी कवि यह कह कर संतोष नहीं करना चाहता है कि यह क्रिया भी किन्हीं संचित कर्मों का परिणाम है। वह सीधा ब्रह्म की भावना को ही अस्वीकार करता है, घृणा करता है—

"आज भी जन-जन जिसे कर-बद्ध होकर याद करते,
नाम ले जिनका गुनाहों के लिए फरियाद करते,
किन्तु मैं उसका घृणा की धूलि से सत्कार करता।"

—'अंचल'

२—शोषकों के प्रति आक्रोशः—हमारा समाज स्पष्टतः दो भागों में विभक्त है—एक शोषक वर्ग और दूसरा शोषित वर्ग। शोषक वर्ग पूँजीवादी प्रथा को बनाये रखने के लिए प्रयत्नवान् है। प्रगतिवादी कवि का विश्वास है कि जब तक पूँजीवादी प्रथा रहेगी तब तक समाज का शोषण होता रहेगा। अतएव इस प्रथा का विनाश अनिवार्य है। इसीलिए वह पूँजीवादी प्रथा के पोषकों को समाज के शोषकों की संज्ञा प्रदान करता है और उनका स्पष्ट विरोध करता है—

"हो यह समाज चिथड़े-चिथड़े शोषण पर जिसकी नींव गड़ी।"

—'अंचल'

पूँजीवादी प्रथा के पोषक व्यापारी, ज़मींदार, सूदखोर आदि रहे हैं। अतः कवि इन्हीं के प्रति घृणात्मक भावों का प्रचार करता हुआ कहता है—

"वह राज काज जो सधा हुआ है इन भूखे कंगालों पर,
इन साम्राज्यों की नींव पड़ी है तिल-तिल मिटने वालों पर,
वे व्यापारी, वे जमींदार, जो हैं लक्ष्मी के परम भक्त,
वे निपट निरामिष सूदखोर पीते मनुष्य का उष्ण रक्त।"

—भगवतीचरण वर्मा

प्रगतिवादी कवि जीवन के वैषम्य को देखता है, एक ओर धनिकों के महलों में कुत्तों को दूध पीते हुए देखता है, दूसरी ओर देखता है—एक-एक चम्मच दूध के लिए तरसने वाले दुधमुँहे बच्चे, एक ओर वह फटे-पुराने कपड़ों में तन की लाज छिपाने वाली ललनाओं को देखता है और दूसरी ओर देखता है सूदखोर महाजन को जो उन निर्धनों के वस्त्राभूषण बिकवा कर अपनी सूद की तृषा को शांत करता है। ऐसी स्थिति में उसका आक्रोश उमड़ पड़ता है और वह कहने लगता है:—

"श्वानों को मिलता दूध-वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं।
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर, जाड़ों की रात बिताते हैं।
युवती की लज्जा बसन बेंच, जब ब्याज चुकाये जाते हैं।
मालिक जब तेल-फुलेलों पर, पानी सा द्रव्य बहाते हैं।
पापी महलों का अहंकार देता मुझको तब आमन्त्रण ॥"

—दिनकर

पूँजीपति ही प्रगतिवादी कवि के आक्रोश का विषय है, क्योंकि वही अपनी लिप्साओं की पूर्ति के लिए शोषण का प्रचार करता है। अतः समाज की विशृंखलता का वही उत्तरदायी भी है। यह विशृंखलता अधिक समय तक नहीं चल सकती। एक न एक दिन उसके अन्तिम-क्षण आवेंगे ही:—

"वे नृशंस हैं, वे जन के श्रमबल से पोषित,
दुहरे धनी जोंक जग के, भू जिनसे शोषित।
नहीं जिन्हें करनी श्रम से जीविका उपार्जित,
नैतिकता से भी रहते जो अतः अपरिचित।

× × ×

दर्पी-हठी, निरंकुश, निर्भय, कलुषित, कुत्सित,
गत संस्कृति के गरल, लोक-जीवन जिनसे मृत।
जग-जीवन का दुरुपयोग है उनका जीवन,
अब न प्रयोजन उनका, अंतिम हैं उनके क्षण ॥"

—पंत

२—शोषितों के प्रति सहानुभूतिः—शोषित वर्ग समाज के लिए एक अभिशाप है। वह जीवन-पर्यन्त दुख ही दुख देखता है। उसके जीवन में आदि से लेकर अन्त तक दुख की ही एक गहरी धारा बह रही है जिसमें वह निरन्तर डूबता-उतराता रहता है। उषा की लाली, चन्द्र की ज्योत्स्ना, पुष्पों का पराग, मलय-समीर, उत्सव-पर्व सभी तो उसके लिए कहानी के रूप में हैं। उसका अपना यदि कोई है तो घनीभूत दुख की आभा जिसमें वह स्वतः खोया-खोया रहता है। वही तो युग-युग के भार को अपनी झुकी हुई पीठ पर ढो रहा है, रूढ़ियों से चिपका हुआ उसका हृदय अनादि से जर्जर हो गया है, इस समय वह 'निखिल-दैन्य' दुर्भाग्य की मूर्ति बना है—

'युग-युग का वह भारवह, आकटि नत-मस्तक,
निखिल सभ्य संसार पीठ का उसके स्फोटक।

वज्रमूढ़, जड़भूत, हठी, वृष बांधव कर्षक,
ध्रुव ममत्व की मूर्ति, रूढ़ियों का चिर-रक्षक।
कर जर्जर ऋण-ग्रस्त, स्वल्प पैतृक स्मृति भू-धन,
निखिल दैन्य, दुर्भाग्य, दुरित, दुख का जो कारण।
वह कुबेर निधि उसे, स्वेद सिंचित जिसके कण,
हर्ष-शोक की स्मृति के बीते जहाँ वर्ष-क्षण॥'

—पंत

दलितों और पीड़ितों की दशा पर आँसू बहाते हुए 'अंचल' का क्षोभ देखिये :—

'वह नस्ल जिसे कहते मानव, कीड़ों से आज गई बीती।
बुझ जाती तो आश्चर्य न था, हैरत है पर कैसे जीती॥'

अकाल-ग्रस्त प्रदेशों में ऐसी अनेकानेक घटनाएँ घटी हैं जब माता-पिता ने क्षुधा से पीड़ित होकर अपनी सन्तति को भी बेचने की विवशता को स्वीकार किया है और उस देश में जहाँ का इतिहास दूध की नदी के लिए विख्यात है, इससे अधिक कारुणिक-स्थिति और क्या होगी:—

'बाप बेटा बेचता है, भूख से बेहाल होकर।
धर्म-धीरज, प्राण खोकर, हो रही अनरीति बर्बर।
राष्ट्र सारा देखता है॥' केदारनाथ अग्रवाल —~~'निराला'~~

निराला के भिक्षुक का यह चित्र कितना सजीव है—

'वह आता
दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिल कर हैं एक
चल रहा लकुटिया टेक
मुट्ठी भर दाने को, भूख मिटाने को,
मुँह फटी-पुरानी झोली को फैलाता॥'

और ऐसा ही एक सजीव चित्र "वह तोड़ती पत्थर" शीर्षक कविता में एक मजदूरिन का निराला ने खींचा है:—

"श्याम तन भर, बँधा यौवन
नत नयन, प्रिय कर्म रत-मन
गुरु हथौड़ा हाथ,
करती बार बार प्रहार॥"

श्रमिक के जीवन के प्रति सहानुभूति व्यक्त करते हुए 'हितैषी' कहते हैं—

ओ मजदूर ! ओ मजदूर !!
तूही सब चीजों का कर्त्ता, तूही सब चीजों से दूर,
"ओ मजदूर ! ओ मजदूर !!
गर्मी तुझे तपाती आती, वर्षा देह धुलाती आती;
सर्दी खून सुखाती आती, तेरे उद्यम तेरे साधन,
तौ भी तू इतना मजबूर, ओ मजदूर ! ओ मजदूर !!
भूल जगत् का मालिक तू है, मालिक का भी मालिक तू है।
इस खिलकत का खालिक तू है, तू चाहे तो पल में कर दे,
इस दुनिया को चकनाचूर, ओ मजदूर ! ओ मजदूर !!

४—क्रान्ति की भावनाः—प्रगतिवादी कवि शोषकों के प्रति घृणा एवं शोषितों के प्रति सहानुभूति पूर्ण भावनाओं की अभिव्यक्ति करके ही शांत नहीं हो जाता है, अपितु वह विषम परिस्थितियों के निराकरण के लिए साधन ढूँढ़ने का भी प्रयत्न करता है और वह साधन है क्रान्ति। अतः वह एक ऐसी क्रान्ति की सृष्टि करना चाहता है जिसमें गतानुगत के समस्त बन्धन भस्मसात् हो जायें, रूढ़ियाँ जलें, ढकोसला, पाखण्ड और दंभ की मीनारें ढहें और ध्वंस की आधारशिला पर निर्माण का प्रासाद खड़ा किया जाय। इसीलिए वह जागृति का मन्त्र फूँकता है—

"झोपड़ी में सो रहा कंकाल का लो हास जागा।
लो हृदय से हृदय को पीसता-सा त्रास जागा।
लाश को गतिमय बनाता प्रलय का विश्वास जागा।
जर्जरों में वज्र की भर शक्ति नव विश्वास जागा।
प्राण लेकर मुटठियों में सृष्टि का संहार जागा।
विनय लेकर हार में नव सृष्टि का आकार जागा।

—उदयशंकर भट्ट

क्रान्ति की चिनगारी को सुलगाकर कवि महानाश का ताण्डव-नृत्य देखना चाहता है, किन्तु वह अपनी परवशता के कारण स्वतः बड़ा ही उद्वेलित हो रहा है—

"कैसे फूँकूँ कंठ कंठ में मैं विप्लव की भेरी,
मुझमें इतनी जलन मगर कितनी परवशता मेरी।

कैसे उद्वेलित कर दूँ मैं हृदय-हृदय की बाती,
मेरी शक्ति आज क्यों लौ को ही पकड़ न पाती।
कैसे जागे रक्त सिन्धु में ज्वार युगों का सोया,
कैसे मिले हड्डियों में जो वज्र युगों से खोया।
मैं जलता आया पर बोलो कैसे तुम्हें जलाऊँ,
कैसे मैं जन-जन के मन में वह ज्वाला धधकाऊँ॥"

—अंचल

"लोचनों के बीच आँसू औ' पगों के बीच छाले" देखकर कवि क्रान्ति का संदेश देता हुआ कह उठता है:—

"उठ समय से मोरचा ले,
धूल धूसर वस्त्र मानव,
देह पर फबते नहीं हैं,
देह के ही रक्त से तू देह के कपड़े रँगाले॥"

—बच्चन

५—रूस का गुण-गान:—प्रगतिवादी कवि की मूल प्रेरणा है रूसी भावधारा, वहाँ का समाजवाद और साम्यवाद। उन्हीं भावधाराओं में व्याप्त जीवन की जो-जो मान्यताएँ हैं उन सबको प्रगतिवादी कवि ने, कदाचित् बिना यह समझे हुए कि वे मान्यताएँ भारत के लिए कितनी उपयोगी हैं, आप्तवाक्य की भाँति स्वीकार कर लिया है। इसीलिए प्रत्येक कवि मार्क्स का गुणगान करता है, समाजवाद और साम्यवाद का नारा लगाता है। कवि पंत भी यद्यपि गांधी-वाद पर आस्था रखते हैं, गांधी का गुणगान करते हैं, पर अपने प्रगतिवादी क्षणों में वे मार्क्स की ओर झुक पड़ते हैं और उसका गुणगान करने लगते हैं—

"धन्य मार्क्स चिर तमच्छन्न पृथ्वी के उदय शिखर पर।
तुम त्रिनेत्र के ज्ञान-चक्षु से प्रकट हुए प्रलयंकर॥"

—पंत—'युगवाणी'

इसमें सन्देह नहीं कि मार्क्स का अपना एक जीवन-दर्शन था और वे अपने देश में समाज के त्राता के रूप में अवतरित हुए थे। अतः उनकी वन्दनीयता को स्वीकार करना मनुष्यता का परिचय देना है, किन्तु उनकी रीति-नीति भारत के लिए कहाँ तक उपयुक्त होगी, बस, यही प्रश्न विवाद-ग्रस्त है।

जैसा हम पहिले कह आये हैं, प्रगतिवादी साहित्य पर राजनीति का प्रभाव स्पष्ट है। भारत में रूस से प्रेरणा पाने वाले साम्यवादी (कम्यूनिस्ट) दल ने

साहित्य को प्रचार का एक साधन बना लिया और जन-जीवन की कारुणिक स्थिति का अत्यन्त आवेशपूर्ण करुण चित्र खींच कर उसके आकर्षण की सामग्री यह कह कर उपस्थित की कि रूसी-परिपाटी ही उसके कल्याण का एकमात्र उपाय है। इसमें सन्देह नहीं कि रूस ने अपने देश में कृषकों एवं श्रमिकों की आर्थिक एवं सामाजिक अवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित किये। अतः भारतीय कवियों का भी उस ओर ध्यान जाना स्वाभाविक था:—

"लाल रूस है ढाल साथियो, सब मजदूर किसानों की,
वहाँ राज है पंचायत का, वहाँ नहीं है बेकारी।
लाल रूस का दुश्मन साथी, दुश्मन सब इन्सानों का,
दुश्मन है सब मजदूरों का, दुश्मन सभी किसानों का॥"

—नरेन्द्र शर्मा

इसी प्रकार कितने ही कवियों ने 'लाल सेना' तथा 'लाल निशान' के सम्बन्ध में ही स्तुति-परक गीत गाये हैं।

६—सैद्धान्तिक विवेचन:—राष्ट्र में जब जन-जागृति उत्पन्न होती है, जब नवचेतना अँगड़ाई लेकर खड़ी होती है और जब सोई हुई अधिकार-भावना एवं आत्मगौरव जाग पड़ता है तब एक परिवर्तनकारी स्वरूप उपस्थित होता है। मानव को स्वभावतः ही प्राचीनता का निर्मोक अरुचिकर प्रतीत होने लगता है और वह नवीन सृष्टि-विधान की ओर दौड़ पड़ता है। यह नवीनता उसके तन-प्राण में पूर्ण वेग से समाविष्ट हो जाती है और उसकी प्रत्येक श्वास-प्रश्वास में उसी परिवर्तन-क्रम का स्वर सुनाई पड़ने लगता है। इसी से तो—

खुल गये छन्द के बन्ध, प्रास के रजत पाश,
अब गीत मुक्त औ' युगवाणी बहती अयास।
बन गये कलात्मक भाव जगत् के रूपनाम,
जीवन संघर्षण देता सुख लगता ललाम।
सुन्दर, शिव, सत्य कला से कल्पित माप-मान,
बन गये स्थूल जगजीवन से हो एक प्राण।
मानव स्वभाव ही बन मानव आदर्श सुकर,
करता अपूर्ण को पूर्ण, असुन्दर को सुन्दर॥" —पंत

प्रगतिवादी कवि का यह विश्वास है कि आये दिन के युद्ध जन-शान्ति एवं जनोन्नति के मार्ग में बाधक हैं। मानवता का विकास पूर्ण शान्ति में ही संभव है। इसीलिए वह कहता है:—

"नहीं छोड़ सकते रे यदि जन,
देश राष्ट्र राज्यों के हित नित युद्ध करना,
हरित जनाकुल धरती पर विनाश बरसाना,
तो अच्छा हो छोड़ दें अगर हम
अमरीकन रूसी औ' इंगलिश कहलाना।
देशों में आये धरा निखर, पृथ्वी हो सब मनुजों का घर,
हम उनकी सन्तान बराबर ।।" —'स्वर्ण धूलि'

जन-जीवन की अशान्ति का एक मात्र कारण है पारस्परिक-वैषम्य। यदि समाज के प्रत्येक प्राणी के जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं—अन्न-वस्त्र की पूर्ति समान रूप से होती रहे तो कदाचित् जीवन का यह तुमुल हाहाकार जो चारों ओर मचा हुआ है, शान्त हो जाय। जीवन में समत्व की भावना का उत्पन्न होना ही मनुष्यत्व का परिचय है। इसी से कवि आकांक्षा करता है:—

"बरस रहे अंगार गगन से धरती लपटें उगल रही।
निगल रही जब मौत सभी को अपनी ही क्या जाय कही?
जाने कब तक घाव भरेंगे इस घायल मानवता के?
जाने कब तक सच्चे होंगे सपने सब की समता के?"
—नरेन्द्र शर्मा

प्रगतिवादी काव्य की कतिपय विशेषताओं का विवेचन करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह काव्यधारा सामाजिकता की ही ओर बढ़ती चली गई और इसका दायित्व जीवन की स्थूल समस्याओं का विवेचन करना ही रह गया। जहाँ कहीं जीवन-दशा का चित्रण किया गया है वहाँ उसमें इतनी अधिक यथार्थता भर दी गई है कि वह एक विवरण मात्र हो गया है। अतः उसमें संवेदनीयता का अभाव पाया जाता है। कहीं-कहीं तो अत्यन्त फूहड़पन भी आ गया है। प्रगतिवाद ने रीतिकालीन भावधारा की अवास्तविकता एवं अनुपयोगिता का नारा लगा कर स्वस्थ साहित्य के निर्माण का उद्घोष किया था, किन्तु प्रगति के नाम पर कितने ही मर्यादा हीन चित्र कलात्मक एवं वास्तविकता के नाम पर चित्रित किये गये जिनको उद्धृत करना यहाँ उपयुक्त न होगा। प्रगतिवादी साहित्य में विशेष कर गर्जन-तर्जन अधिक है। उसमें वह रस-फुहार भी नहीं है जो ताप-तप्त प्राणों को शीतलता, सुख की आशा दिला कर यत्किंचित् संतोष प्रदान करती है, फिर उस अजस्रधार की क्या संभावना जो धरती की तृषा को शमन कर समस्त प्रकृति को लहलही एवं पूर्ण आप्तकाम

बना देती है। प्रगतिवादी साहित्य में पंत के शब्दों में "नवीन लोक-मानवता की गंभीर सशक्त चेतना के जागरण-गान के स्थान पर उसमें नंगे-भूखे श्रमिक-कृषकों के अस्थिपंजरों के प्रति मध्यवर्गीय आत्मकुंठित बुद्धिवादियों की मानसिक प्रतिक्रियाओं का हुंकार भरा क्रन्दन सुनाई पड़ने लगा।...अपने निम्न स्तर पर प्रगतिवाद में सुरुचि-संस्कारिता का स्थान विकृत कुत्सित भदेस ने ले लिया।"[1]

यह सत्य है कि प्रत्येक परिवर्तनशील युग साहित्य में भी परिवर्तन का स्वरूप उपस्थित करेगा अवश्य, पर प्रत्येक नवीन ग्रहण में हमारी बुद्धि और विवेक की कसौटी का प्रयोग अनिवार्य है। यदि हम प्राचीनता के प्रति मूढ़ आग्रह और लोभ का त्याग करके नवीनता के सुरुचिपूर्ण स्वरूपों का समुचित ग्रहण कर सके तो सशक्त साहित्य का निर्माण संभव है। कला का उपयोग यदि हमने विनाशकारी तत्वों को उभारने के लिए किया तो कला अपने पद से निश्चय ही च्युत हो जायगी। किसी भी उन्नतमना जीवन-दर्शी श्रेष्ठ कलाकार का उद्देश्य साहित्य के द्वारा केवल शृंगार-वासना की तृप्ति, केवल निराशा का चित्रण, केवल कुतूहल की सृष्टि, केवल मनोरंजन अथवा केवल संघर्ष की सृष्टि करना ही नहीं रहा है। वह तो जीवन के शाश्वतसत्यों की उद्‌भावना करके मानवता की प्राण-प्रतिष्ठा करने में ही अपने को कृत-कृत्य समझता रहा है। खेद है कि तथाकथित प्रगतिवाद इस दिशा की ओर अपना कदम नहीं बढ़ा सका है। संक्षेप में प्रगतिवाद के स्वरूप का विवेचन हम इस प्रकार कर सकते हैं :—

१—प्रगतिवादी उस परोक्षसत्ता में अविश्वास व्यक्त करता है—जो सांसारिक क्षुधा मिटाती है।

२—प्रगतिवादी प्रत्येक धनिक को शोषक समझता है जबकि ऐसे भी व्यक्ति पाये जाते हैं जो अपने धन का सदुपयोग राष्ट्र के कल्याण के लिए करते है।

३—प्रगतिवाद भौतिकवाद से सम्बन्धित होने के कारण बहिर्मुखी प्रवृत्तियों को ही उत्तेजित करता है।

४—प्रगतिवादी श्रद्धा को निर्मूल करता है, अतएव वह नास्तिकता के अधिक निकट है।

५—प्रगतिवादी साम्यवाद का पोषक है, परन्तु साम्यवाद को कार्यरूप- में परिणत करने की युक्ति परापहरण के अतिरिक्त उसके पास दूसरी नहीं है।

१—उत्तरा

६—प्रगतिवाद में स्वानुभूति का प्रायः नितान्त अभाव है। वर्ण्य-विषय अनुमान के आधार पर चलने के कारण उसमें अनुकरण-प्रियता ही अधिक है।

७—प्रगतिवाद वर्ग-विरोध का विधायक है।

प्रगतिवादी साहित्य की कतिपय विशेषताएँ भी हैं—

१. प्रगतिवादी साहित्य समाज के यथार्थ स्वरूप का चित्रण करके जन-जन की सहानुभूति को जगाने की चेष्टा करता है।
२. प्रगतिवादी साहित्य में साहित्यिकता की न्यूनता होते हुए भी वह भारत की अर्द्ध-पठित जनता के निकट पहुँचने की क्षमता रखता है।

इसमें सन्देह नहीं कि यदि प्रगतिवादी कलाकार चिन्तन-प्रधान शैली द्वारा विषम परिस्थितियों और उनके निराकरण के उपकरणों का संवेदनात्मक एवं भावपूर्ण चित्रण उपस्थित कर सकें तो निश्चय ही वे अपने साहित्य को अधिकाधिक प्रभावशाली एवं स्थायी बना सकते हैं। केवल नवीन छंद विधान, कतिपय नवीन कल्पनाएँ अथवा नवीन प्रयोग कभी भी साहित्य को प्रतिष्ठा नहीं प्रदान कर सकते हैं। उनके लिए तो एक साधक की गंभीर साधना एवं व्यापक अनुभूति अपेक्षित है।

प्रकृतिवाद (प्रकृति-चित्रण)

इतिहास

प्रकृति का अर्थ है स्वाभाविक। जिसकी रचना में प्रकृति ही निमित्त एवं उपादान होती है और मनुष्य का मनःकल्पित रूप और ढाँचा (form) उस वस्तु के सहज विकास में निश्चित नहीं रहता, वही प्रकृति है। इस दृष्टि से देखने पर मनुष्य स्वयं भी प्रकृति है। परन्तु मनुष्य ने अपनी बुद्धि के अभिमान में अपने को प्रकृति की गोद से अलग कर लिया। इसीलिए अब से कुछ समय पूर्व प्रकृतिवादियों का एक बेड़ा अपनी ध्वजा अलग फहराने लगा। वस्तुतः प्रकृति और मनुष्य अनादि काल से एक दूसरे के साथ सहयोगी अथवा विरोधी होकर रहते रहे हैं। वे परस्पर लड़े-झगड़े भी और मिलकर एक भी हो गये। 'तन्त्वा समिद्भिरंगिरः...' वेद मन्त्र में समिधाओं के द्वारा 'अंगिरस' अग्नि को बढ़ाने की प्रेरणा मनुष्य और प्रकृति के सहयोग का परिणाम है। सूर्य, वरुण, इन्द्र की उपासना-मन्त्रों की वेदों में प्रचुरता है। भले ही आज के वैज्ञानिक यह कह दें कि आर्यों की इस उपासना में मिथ्या देवभाव था। परन्तु प्रकृति के इस महान देवता सूर्य के प्रति आदर भाव न दिखाकर जो घास-फूस को ही सम्पूर्ण प्रकृति मान बैठे हैं, वे प्रकृतिवाद के नाम पर केवल ढोंग करते हैं। सूर्य और चन्द्र, समुद्र और मेघ प्रकृति के आदि प्रवर्तक हैं। जल-वर्षा प्रकृति का व्यापार है। इनसे ही प्रकृति के अन्य पदार्थों का अस्तित्व है। इसीलिए आर्य-जाति ने इन्हें स्तुत्य और गेय बनाया और उनके गीत गाये। संभवतः सूर्य की यह उपासना संसार के इतिहास में किसी समय सर्वत्र प्रचलित थी जिसके अवशेष आज भी संसार के समस्त देशों में मिलते हैं।

आर्य-साहित्य प्रकृति की ही गोद में पला। आरण्यक और उपनिषद् प्रकृति के साहचर्य से उत्पन्न ज्ञान हैं। उपनिषदों में अग्नि विद्या, मधु विद्या और प्राणोपासना में अग्नि और आत्मा के साथ ही वायु का भी शारीरिक और

बाह्य विवरण मिलता है। छान्दोग्य उपनिषद् में भी इसी प्रकार प्रकृति का वर्णन प्रसंगवश मिलता है।[१]

भारतीय-प्रकृति बहिर्मुख होने की अपेक्षा अधिकाधिक अंतर्मुख होती गई। फलतः सूत्रकाल में प्रकृति-वर्णन छूट गया। परन्तु महाकाव्य-काल में प्रकृति अत्यन्त सुन्दर होकर उपस्थित हुई। रामायण और महाभारत में प्रकृति-वर्णन के अनेक स्थल बड़े सुन्दर हैं।[२]

बौद्धकाल भी प्रकृति-वर्णन में सहायक बना रहा। बुद्ध-जातकों में भगवान् बुद्ध के पूर्व-चरित्रों से सम्बद्ध अनेक घटनाएँ प्रकृति की ही गोद में होती है जिनकी पृष्ठभूमि शुद्ध प्रकृति ही है। 'मारविजय' में भगवान् बुद्ध की कामदेव की विजय के सम्बन्ध में प्रकृति के अनेक सुन्दर चित्र उपस्थित किये गये है।

१—"तद्यद्रत जतꣳ सेयं पृथिवी यत्सुवर्णꣳ सा द्यौर्यज्जरायु ते पर्वता यदुल्बꣳ समेघो नीहारो या धमनयस्ता नद्यो यद्वास्तेयमुदकꣳ स समुद्रः।
—छान्दोग्य उपनिषद्, खंड १९, मन्त्र २।

[उनमें जो खंड रजत हुआ वह यह पृथिवी है और जो सुवर्ण हुआ वह द्युलोक है। उस अंडे का जो जरायु (स्थूल गर्भवेष्ठन) था (वही) वे पर्वत हैं, जो उल्ब (सूक्ष्म गर्भवेष्ठन) था वह मेघों के सहित कुहरा है, जो धमनियाँ थीं वे नदियाँ हैं तथा वस्तिगत जल था वह समुद्र है]

२— 'मेघकृष्णाजिनधरा धारायज्ञोपवीतिनः।
मारुतापूरितगुहाः प्राधीता इव पर्वताः॥"
—किष्किन्धाकाण्डे, अष्टाविंशः सर्गः।

[इन पहाड़ों ने, जिनकी कन्दराओं में हवा भरी हुई है, जो मेघरूपी काले मृग का चर्म और धारा रूपी यज्ञोपवीत धारण किये हुए हैं, मानों अध्ययन आरम्भ कर दिया है।]

"क्वचित्प्रकाशं क्वचिदप्रकाशं
नभः प्रकीर्णाम्बुधरं विभाति।
क्वचित्क्वचित्पर्वतसंनिरुद्धं
रूपं यथा शान्तमहार्णवस्य॥"
—किष्किन्धाकांडे, अष्टाविंशः सर्गः।

[इस समय आकाश में कहीं प्रकाश देख पड़ता है, कहीं नहीं। क्योंकि आकाशमंडल में मेघ छाये हुए हैं और कहीं कहीं वह पर्वतों से संरुद्ध हो रहा है। अतः तरंगहीन महासागर की तरह शोभायमान है।]

गुप्तकाल में प्रकृति-वर्णन एक निर्दिष्ट दिशा में आ गया। इस समय के महाकवि कालिदास ने घटना-वर्णन के साथ ही प्रकृति-वर्णन में भी अपना कौशल जिस सफलता के साथ व्यक्त किया है वह सर्वतोरूपेण श्लाध्य है। उनके 'कुमारसंभव' का प्रथम सर्ग विशुद्ध प्रकृति-वर्णन है।[1] रघुवंश में भी राम का लंका से आगमन, कालिदास के लिए समुद्र और उनके तट-वर्णन का प्रेरक बन गया। 'मेघदूत' में भी मेघ और तत्सम्बन्धिनी प्रकृति ही वर्ण्य-विषय है।

इस समय तक सभवतः महाकाव्य कला का निर्माण हो चुका था और उसकी कला में प्रकृति-वर्णन नदी, सरोवर, पर्वत, वन आदि के रूप में महाकाव्य का आवश्यक अंग बन गया था। अतएव संस्कृत-साहित्य के समस्त महाकाव्य प्रकृति-वर्णन से पूर्ण है। 'किरातार्जुनीयम्', 'शिशुपाल-बध', 'नैषधीय चरित'[2] इन तीनों महाकाव्यों में प्रकृति के भिन्न-भिन्न चित्र देखने को मिलते है जिसके सौन्दर्य पर यदि निष्पक्ष भाव से दृष्टि डाली जाय तो बड़े-बड़े वादियों का भी मन मुग्ध हो सकता है। श्लिष्ट-प्रकृति का वर्णन करने में जो सफलता बाणभट्ट को अपनी कादम्बरी[3] में प्राप्त हुई, निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि वैसी सफलता अन्य किसी कवि को इस क्षेत्र में नहीं मिली। इस प्रकार का श्लिष्ट प्रकृति वर्णन 'दशकुमारचरित' और 'नल चंपू' में भी मिलता है।

१—"आमेखलं संचरतां घनानां छायामधः सानुगतां निषेव्य।
उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते शृंगाणि यस्यातपवन्ति सिद्धाः॥"
—कुमारसंभव, प्रथम सर्ग, ५वाँ श्लोक।

[सिद्ध जन जब वर्षा नहीं होती और धूप का भय होता है तब हिमालय के निम्न भागों के पर्वत शृंगों पर आश्रय लेते हैं, क्योंकि इससे हिमालय के मध्य देश में छाये हुए मेघों की छाया के कारण उन्हें धूप का कष्ट नहीं होता, परन्तु जब वृष्टि कष्ट देने लगती है तब ऊँचे शृंगों पर चले जाते हैं और मध्य-देश से जल-वृष्टि करने वाले मेघों को ऊपर से देखते रहते हैं।]

२—"यदम्बुपूरप्रतिविम्बितायतिर्मरुत्तरंगैस्तरलस्तटद्रुमः।
निमज्ज्य मैनाकमहीभृतः सतस्ततान् पक्षान्धुवतः सपक्षताम्॥"
—नैषधीय चरित, प्रथम सर्ग, श्लोक ११६।

[उस तालाब के जल-प्रवाह में प्रतिविम्बित तथा वायु-तरंगों से चंचल वह तटस्थ वृक्ष, पंखों को डुलाते हुए जल-स्थित मैनाक पर्वत की समानता कर रहा था।]

३—"दुर्योधन इवोपलक्षितशकुनिपक्षपातः, नलिननाभ इव वनमालोपगूढः,

[शेष अगले पृष्ठ पर

प्रकृति-वर्णन की यह परंपरा हिन्दी-साहित्य में नहीं आ सकी और इसका कारण था महाकाव्यों का अभाव। हिन्दी-साहित्य के उदय से आधुनिक-काल के पूर्व तक केवल चार ही महाकाव्य मिलते हैं। पृथ्वीराजरासो तथा रामचन्द्रिका में प्रकृति-वर्णन की महाकाव्य-पद्धति को अपनाया गया है। भारतीय ग्रामगीतों में हिंडोला गीत बड़े सरस और कोमल हैं। हिंडोला गीतों में बारहमासा न जाने कब से हमारे समाज में स्थान पा चुका है। मैथिल कोकिल विद्यापति ने उसे उद्दीपन के लिए लिखा। जायसी प्रेम की पीर का कवि था। उसने अपने 'बारहमासा' में मानव-जीवन के साथ प्रकृति का तादात्म्य स्थापित करके प्रकृति-वर्णन की उस प्रणाली को बहुत ऊँचा उठा दिया। परन्तु तुलसी ने उसमें एक नवीनता उत्पन्न कर दी है। उन्होंने प्रकृति के साथ उपदेश भावना को जोड़ दिया है।[1] तुलसी की यह पद्धति न उनके काल में किसी ने अपनाई और न उनके परवर्ती कवियों ने ही। इतना अवश्य हुआ कि प्रकृति के प्रति अन्योक्ति-प्रधान रचनाएँ होने लगीं और उनके द्वारा आध्या-

[पिछले पृष्ठ का शेष

नवजलधरव्यूह इव नभसि दर्शितोन्नतिः, अखिलभुवनतलावलोकनप्रासाद इव वनदेवतानाम्, अधिपतिरिव दंडकारण्यस्य, नायक इव सर्ववनस्पतीनां, सखेव विन्ध्यस्य, शाखाबाहुभिरुपगुह्येव विन्ध्याटवीं स्थितो महान् जीर्णः शाल्मली।"

कादम्बरी, पूर्वभागः,

[दुर्योधन के समान शकुनि पक्षपात से उपलक्षित होता था। भगवान् कमलनाभ के समान वन-माला से आवृत्त था, नवीन मेघव्यूह के समान आकाश में उन्नत दिखलाता था, समस्त भुवनतल का अवलोकन करने के लिए वनदेवताओं का राजमहल था, दंडकारण्य के स्वामी के समान था, सब वनस्पतियों के नायक के समान, विन्ध्याचल के मित्र के समान विन्ध्याटवी को अपनी शाखाबाहु से आलिंगन करता हुआ-सा वह अत्यन्त जीर्ण शाल्मली-वृक्ष स्थित था।]

[शकुनि पक्षपात=शकुनी के पक्षपात, पक्षियों के पंखों का हिलना।]

१—"बरषहिं जलद भूमि नियराये। जथा नवहिं बुध विद्या पाये।
छुद्र नदी भरि चलि उतराई। जिमि थोरेउ धन खल बौराई॥
हरित भूमि तृन संकुल, समुझि परहिं नहिं पंथ।
जिमि पाखंड विवाद तें, गुप्त होहिं सदग्रंथ॥"

—रामचरितमानस, वर्षा वर्णन

त्मिक अथवा आचारिक उपदेश दिये जाने लगे। दीनदयाल गिरि इसके प्रतिनिधि हैं।[1]

मध्यवर्ती-हिन्दी के युग में प्रकृति-वर्णन ने एक नवीन रूप ग्रहण किया। अब प्रकृति न तो आलम्बन रही और न कल्पना का क्षेत्र, वरन् वह उद्दीपन के स्थान पर ही प्रयुक्त होने लगी। इस प्रकार के प्रकृति-वर्णनों की कमी नहीं है। संस्कृत के महाकाव्यों में भी प्रकृति का उद्दीपन रूप मिलता है। हिन्दी में भी शृंगारी कवियों ने प्रकृति का यही रूप स्वीकार किया। कमी इतनी ही है कि वे केवल प्रकृति के इसी रूप में उलझ गये और शुद्ध आलम्बन रूप में उन्हे प्रकृति का ध्यान कभी नहीं हुआ। प्रकृति के ऐसे वर्णन विद्यापति से लेकर रीतिकाल के अन्तिम कवि बलदेव तक की रचना में अनेक रूपों में मिलते हैं।

आधुनिक-युग में हिन्दी-साहित्य में प्रकृति-वर्णन पश्चिम के प्रभाव से आया। इसका अर्थ यह है कि पश्चिम के प्रकृतिवादी कवियों से हिन्दी-कवियों को प्रकृति वर्णन की प्रेरणा मिली। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का प्रकृति-वर्णन आधुनिक हिन्दी-साहित्य में सबसे पहिला आलम्बन-प्रधान प्रकृति-वर्णन है। कुछ ऐसा ही वर्णन श्रीधर पाठक के 'काश्मीर-वर्णन' और 'हिमालय-वर्णन' में भी मिलता है।

खड़ीबोली पद्य-साहित्य के विकास-क्रम के साथ ही साथ प्रकृति भी वर्ण्य-विषय का एक प्रधान अंग बनकर विभिन्नरूपों में उपस्थित हुई। स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'बुद्धचरित' में प्रकृति का चित्रात्मक वर्णन उपस्थित किया है। अयोध्यासिंह उपाध्याय तथा मैथिलीशरण गुप्त अपनी प्रारम्भिक कृतियों में भी प्रकृति के चित्रात्मक वर्णन की ओर ही अपनी विशेष रुचि का परिचय दे सके। प्रकृति के माध्यम से परोक्षसत्ता तक पहुँचने की क्रिया भी साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है। गोपाल-शरण सिंह 'नेपाली' प्रकृति के आलम्बनात्मक स्वरूप के भीतर आनन्दमय रूप की झलक देखते हैं। प्रकृति का उद्दीपनात्मक रूप भी प्रकृतिवर्णन का एक विशिष्ट अंग है। आधुनिकयुग के ब्रजभाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि जगन्नाथ-दास 'रत्नाकर' ने उद्दीपन रूप के साथ ही साथ प्रकृति का अत्यन्त

१—"दिन द्वै पाय बसन्त मद, फूल्यो कहा पलास।
ग्रीषम भीषम सीस पै, नहिं लाली की आस॥
नहिं लाली की आस, फूल सब तेरे झरिहैं।
पीछे तोहि न दली, अली कोउ आदर करिहैं॥
बरनै दीनदयल, रहौ नभ कोमल किन द्वै।
ये नख नाहर रूप, रहैंगे तेरे दिन द्वै॥"

प्रभावोत्पादक चित्र उपस्थित किया है। मानव का यह स्वभाव है कि वह अपने ही हृदय की छाया को बाह्य-जगत् में देखता है। कभी वह बाह्य-जगत् को सुख में हँसता-खेलता हुआ, दुःख में सहानुभूति व्यक्त करता हुआ और चिन्तना के क्षणों में अनेकानेक रहस्यों का उद्घाटन करता हुआ-सा पाता है, इतना ही नहीं वह अपनी सुकुमार भावनाओं को भी बाह्य-जगत् के साथ ही सम्बन्धित कर देता है और उससे प्रेरणा प्राप्त करता है। यही कारण है कि पन्त, प्रसाद, महादेवी वर्मा आदि ने प्रकृति को विभिन्न रूपों में देखा है। कहीं पर तो प्रकृति प्रिया के रूप में सहचरी, प्रेरिका एवं समस्त कोमल भावनाओं के आलम्बन के रूप में उपस्थित हुई है, और कहीं वह परोक्ष-सत्ता का रहस्यात्मक-अवगुंठन हटा कर जीवात्मा के मिलन का आमन्त्रण देती है।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य की प्रकृति-वर्णन-प्रणाली पर पाश्चात्य साहित्य का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। अतः अंग्रेजी-साहित्य में वर्णित प्रकृति के स्वरूप का भी परिचय पाना आवश्यक हो जाता है। प्रत्येक देश के साहित्य में प्रकृति-वर्णन अपनी भौगोलिक विशेषताओं से प्रभावित रहता है। पाश्चात्य देशों का यह दुर्भाग्य रहा है कि वहाँ प्रकृति सदा अपने पूर्ण विकसित रूप में उपस्थित नही रहती। उसका प्रायः एककालीन रूप ही वहाँ के निवासियों के समक्ष आता है। वहाँ पर वर्ष के कुछ ही भागों में प्रकृति अपने वैभव-विलास को व्यक्त कर पाती है, शेष भाग प्रायः रुक्ष एवं कष्टकर रहता है। अतः इस भाग से मानव का रागात्मक सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता है। यह गौरव तो भारत ही को प्राप्त है जहाँ प्रकृति विभिन्न समयों पर अपने विभिन्न एंव पूर्ण वैभव द्वारा यहाँ की वसुन्धरा का अभिनन्दन करती है। फलतः भारतीय कलाकार प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों का अंकन साहित्य में कर सका है। पाश्चात्य-देश के निवासियों के समक्ष प्रकृति का कष्टकर रूप ही अधिकांश में उपस्थित हुआ। फलतः वहाँ के कलाकार प्रकृति से किसी प्रकार का सन्देश तब तक नहीं पा सके जब तक वहाँ के विज्ञान ने प्रकृति पर विजय के साधन उपस्थित नहीं कर दिये। यही कारण है कि प्रारम्भ में अंग्रेजी साहित्य में प्रकृति-वर्णन के सम्बन्ध में भय और वैचित्र्य की भावना ही प्रधान रही। विभिन्न ऋतुओं के अभाव में प्राकृतिक सौन्दर्य का एकपक्षीय रूप होने के कारण वह भी सीमित ही रहा, और साहित्य में उसके वर्णन के लिए कुछ रूप निश्चित हो गये। यही कारण है कि प्रकृति-प्रेम और उसके चित्रमय वर्णन की ओर प्रायः कम ही ध्यान दिया गया। पुनरुत्थान-काल में कभी-कभी प्रकृति की परिस्थितियों का वास्तविक एवं भावात्मक चित्रण भी हुआ, किन्तु रूढ़ि-बद्ध प्रकृति-वर्णन की ही

ओर कलाकारों की विशेष प्रवृत्ति रही। शेक्सपियर के हाथों पड़कर प्रकृति-वर्णन में रूढ़िगत प्रणाली के साथ ही साथ यत्किंचित् मात्रा में नवीनता का समावेश हुआ।

अठारहवीं शताब्दी के अन्त में प्रकृति के रूढ़ि-बद्ध वर्णन की भावना में परिवर्तन होने लगा। ग्रे (Gray), कालिन्स (Collins), कूपर (Cowper) तथा राबर्ट बर्न्स (Robert Burns) आदि ने प्रकृति के परिचित रूप-सौन्दर्य की ओर ध्यान दिया। इस समय तक आते-आते प्रकृति मनुष्य से सम्बद्ध हो चुकी थी। वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) की कला के साथ ही साथ प्रकृति-वर्णन साहित्य में अपने उच्चतम बिन्दु तक पहुँच गया। इस विषय में वर्ड्सवर्थ को अपनी बहिन डोरोथी (Dorothy) से अत्यधिक प्रेरणा प्राप्त हुई जिसके परिणाम स्वरूप वह अपनी प्रिया को भूलकर पक्षियों के कलरव में, नदियों के कलकल-निनाद में, झरनों के सुमधुर संगीत में, वायु की सरस स्वर-लहरी में ही एक विशेष आकर्षण अनुभव करने लगा। इन्हीं के बीच उसका राग रम गया। यहीं उस तृषित की तृषा शांत हुई और यहीं उसे सच्चे अर्थों में शान्ति का अनुभव हुआ। उसने भौतिकता से हटकर जीवन को प्रकृतिमय देखा। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति उसे निरन्तर मौन-निमन्त्रण दे रही है जिसे वह अस्वीकार नहीं कर पाता है। वर्ड्सवर्थ के मित्र कालरिज (Coleridge) ने भी प्रकृति की ओर दृष्टिपात किया और उससे आध्यात्मिक-प्रेरणा प्राप्त की। शैली (Shelley), कीट्स (Keats) तथा बायरन (Byron) आदि कलाकारों ने प्रकृति के परिचित एवं भावात्मक स्वरूपों का वर्णन किया है। जहाँ वर्ड्सवर्थ ने प्रकृति में आध्यात्मिकता का आरोप किया वहाँ शैली ने उसके भावनात्मक रूप को भी प्रधानता दी। शैली की दृष्टि में प्रकृति की आत्मा भले ही न आई हो, परन्तु उसने उसके सुन्दर रूपों की गहराई से परिचय प्राप्त कर अपनी कल्पना के लिए आश्रय पाया था। कीट्स तो प्रकृति की सौन्दर्य-सुषमा पर अपनी भावनाओं को आश्रय देता था, पर शैली प्रकृति के प्रकट रूप से दूर भावना और विचार के उच्च धरातल पर प्रकृति के रहस्यों के साथ रमता था।

एक बात आश्चर्यजनक है कि फारसी और उर्दू के कवियों में प्रकृति वर्णन की प्रवृत्ति नहीं रही है, संभवतः इस्लाम की कट्टरता ने प्रकृति वर्णन में भी जड़-पूजा की भावना देखी होगी और इसीलिए मुसलमान कवियों ने प्रकृति-वर्णन के प्रति उपेक्षा दिखाई होगी। फारसी और उर्दू में जो कुछ प्रकृति-वर्णन मिलता है वह मसनवियों और मरसियों में ही है। कसीदों के प्रारम्भ में भी

प्रकृति के छोटे-छोटे चित्र देखे जाते हैं। इन प्रकृति-वर्णनों ने हिन्दी के कवियों को प्रभावित नहीं किया। केवल 'नूरजहाँ' में मरसियों के प्रकृति-वर्णन की छाया दिखाई देती है, जो कल्पना प्रधान है।

विवेचन

मनुष्य स्वयं प्रकृति है। भौतिक-विज्ञान-वादी की परिभाषा के अनुसार प्रकृति अपने स्वगुणों में मिलकर एकाकार हो जाती है और तादात्म्य का अनुभव करती है, परन्तु विरोधी गुणों के साथ संघर्ष करती है और उन्हें शांत करना चाहती है। आग जलाना चाहती है, पानी बुझा देना चाहता है। पृथ्वी-तत्व जड़ करना चाहता है, परन्तु वायु चंचल करना चाहता है, उड़ा देना चाहता है। जल जब जल से मिलता है तब कोई विकार नहीं होता, परन्तु वही जल-तत्व जब अग्नि से मिलता है तब शब्द होता है, भाप बनती है और शक्ति उत्पन्न होती है। एक दूसरे के सम्पर्क से विकार उत्पन्न होता है, विनाश की चेष्टा में गति उत्पन्न होती है, उसी गति का नाम है शक्ति।

भौतिक-विज्ञान-वादियों की मानव-सृष्टि भी इसी प्रकृति के संयोग का परिणाम है। अतएव मनुष्य के भीतर रहने वाले तत्व भी स्वतत्व के संयोग से सुख और परतत्व के संयोग से दुःख का अनुभव करते हैं। जिन पदार्थों में उसे स्वतत्व जितने अधिक परिमाण में मिलता है उन पदार्थों के संपर्क से उसे उतनी ही अधिक सुखानुभूति होने लगती है। यही कारण है कि पिता अपने पुत्र को गोद में लेकर सुख का अनुभव करता है, क्योंकि पुत्र में न केवल उसके शरीर के भौतिक परमाणु आनुपातिक समानता रखते हैं, वरन् उसके स्वपरमाणुओं का भी पुत्र में विकास हुआ होता है। गुलाब के फूल में मोहकता है, क्योंकि उसकी गंध हमारे पृथ्वी-तत्व की तृप्ति का साधन है। ईख के रस की मिठास जल-तत्व को सतोष देती है और शाद्वलभूमि का शयन इसीलिए सुखद होता है कि वह अपने मृदुल स्पर्श से वायुतत्व को आप्यायित करता है, हीरे की चमक, सोने की दमक, तारों की झलक, सूर्य का प्रकाश, चंद्र की ज्योत्स्ना इसीलिए मनोहर है कि उससे हमारे शरीर में स्थिर अग्नि-तत्व संतोषलाभ करता है। कोकिल की कूक में, मयूर की पुकार में, पपीहा की पिपासा में हमारे अंतरात्मा की तृप्ति होती है, क्योंकि भौतिक-विज्ञान-वादी के मत के अनुसार वे शरीर में स्थित आकाश-तत्व को संतोष देते हैं। इसी बात को प्रकारान्तर से एक अंग्रेज विद्वान् कहता है:—

"What a return to nature is, complex and subtle interests which the mind spins for IT-SELF, may occupy art and poetry or our OWN spirit for a time, but sooner or later they come back with a sharp rebound to the simple elementary passions, anger, desire, regrets, pity and fear and what corresponds to them in the sensuous world."

—Pater.

अपने सहचर से सर्वतोधिक सुख हमें इसीलिए मिलता है कि उससे एक ही व्यक्ति में हमारे समस्त तत्वों का तादात्म्य प्राप्त होता है। एक दूसरा दृष्टिकोण और है, जो इस भौतिक-विज्ञान-वादी से थोड़ा आगे बढ़कर चेतना-तत्व को स्वीकार करता है। यद्यपि भौतिक-विज्ञान-वादी से वह बहुत अंशों में सहमत है, परन्तु अभाववादी होने के कारण वह शरीर और प्रकृति में पूर्य-पूरक-सम्बन्ध मानता है। उसका कहना है कि शरीर में भौतिक-तत्वों का अभाव या न्यूनता अनुभव करने वाली एक चेतना नामक शक्ति है, चेतना शक्ति सीमा-हीन बिखरी हुई प्रकृति में से अपनी अभावपूर्ति के लिए वस्तु-संचय करना चाहती है। इस वस्तु-संचय के प्रयास के द्वारा प्रकृति के प्रति उसकी रागात्मक प्रवृत्ति का उदय होता है। वस्तु-संचय के प्रयास में उसका दृष्टिकोण भौतिक-विज्ञानवादी से मिलता-जुलता है। मधुर गायक की वाणी में माधुर्य का अनुभव चेतनावादी भी इसीलिए मानता है कि गायक की चेतना आकाश-तत्व के इस गुण की कमी अपने में अनुभव करती है। वस्तुतः प्रकृति के प्रति रागात्मक वृत्ति की यह व्यवस्था भौतिक-विज्ञानवादी से अधिक भिन्न नहीं है, फिर भी चेतना-तत्व की स्वीकृति से प्रकृति में चयन की प्रवृत्ति का कारण मिल जाता है। किसी को गुलाब का फूल रुचिकर होता है और किसी को बेला। यह चेतना-जन्य चयन-प्रवृत्ति ही है जो इस भेद का कारण है।

चेतनावादी दो श्रेणियों में विभक्त हैं। एक श्रेणी उनकी है जो चेतना को विशुद्ध भौतिक शक्ति मानते हैं। उनका मत है कि चेतना प्रकृति के संघात का नाम है। यहाँ एक बात समझ लेना आवश्यक है कि भौतिकचेतना वादी और व्यवहारवादी वैज्ञानिक भी भिन्न-भिन्न हैं। व्यवहारवादी–वैज्ञानिक केवल प्रतिक्रियात्मक कार्यप्रणाली को स्वीकार करते हैं जिनका विवेचन हम पहिले कर चुके हैं। दूसरे चेतना–वादी चेतना को आत्मतत्व का गुण मानते हैं। ये इस आत्मतत्व को प्रकृति से एक भिन्न शक्ति स्वीकार करते हैं। इनकी दृष्टि में प्रकृति का माधुर्य अथवा उग्र रूप कुछ अन्य दार्शनिक कारणों से अनुभव में आता है। आगे हम उसी का विवेचन करेंगे।

आत्मवादी दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं। पहिले वे जो प्रकृति और आत्मा के सम्बन्ध पर विचार नहीं करते और केवल आत्मा को मानते हुए भी केवल शरीरवादी ही हैं। ऐसे मनुष्य चाहे आत्मवादी हों या न हों, दोनों दशाओं में उनका सम्बन्ध प्रकृति से भौतिक-विज्ञानवादी के अनुसार ही रहता है। ऐसे व्यक्ति अपने शरीर को प्रकृति से बना हुआ मानते हैं और शरीर-सुख को ही आत्म-सुख समझते हैं। इसलिए उनका सम्बन्ध प्रकृति से वही है जो भौतिक विज्ञानवादी का है।

विचारकों का एक समुदाय ऐसा है जो प्रकृति से आत्मा को भिन्न मानता हुआ भी आत्मा और प्रकृति का नित्य-सम्बन्ध मानता है। उसका मत है कि जगत् प्रवाह रूप से नित्य है। हो सकता है कि आत्मा प्रकृति से ताटस्थ्य प्राप्त कर ले, परन्तु उससे छुटकारा नहीं प्राप्त कर सकती। ताटस्थ्य का अर्थ यह है कि प्रकृति में रहते हुए भी प्रकृति के प्रति उसमें अनास्था उत्पन्न हो जाय, अर्थात् प्रकृति के प्रति राग-विराग से मुक्त रहे। ऐसे व्यक्ति प्रकृति को तात्कालिक उपयोगिता की वस्तु मानते हैं और उसके प्रति उसी समय तक रागात्मक प्रवृत्ति रखते हैं जब तक उसकी उपयोगिता रहती है।

आत्मवादियों में एक दल प्रकृति से जीवात्मा का अनित्य सम्बन्ध मानता है। अनित्य सम्बन्ध मानने वाले प्रकृतिवादी प्रकृति के प्रति उपेक्षा का भाव रखते हैं। इसका अर्थ यह है कि प्रकृति उनके लिए साध्य कभी नहीं हो सकती है। वह किसी साध्य विशेष का माध्यम अथवा निमित्त कारण-मात्र है। जब तक उन्हें अपने साध्य की पूर्ति के लिए प्रकृति की आवश्यकता रहती है तब तक वे प्रकृति का उपयोग करते हैं, केवल इसी दृष्टिकोण से कि उसके द्वारा उन्हें कुछ काम लेना है। ऐसे व्यक्तियों में प्रकृति के प्रति रागात्मक वृत्ति का सर्वथा अभाव रहता है। उनके लिए प्रकृति केवल पृष्ठभूमि (Back ground) है, जिस पर उन्हे आत्मा का चित्र उभारना है, अथवा प्रकृति वह रंगमंच है जिस पर आत्मा का अभिनय करना है।

ऊपर प्रकृति-दर्शन के सम्बन्ध में हमने प्रकृति और मानवता के जिस दार्शनिक सम्बन्ध का विवेचन किया है वह सम्बन्ध ऐसा नहीं है कि कलाकार पहिले उस सम्बन्ध के दार्शनिक पक्ष का अनुभव करता हो, फिर तदनुसार वर्णन करता हो। यह ऐसा ही सम्बन्ध है जैसा आत्मा के दार्शनिक पक्ष का विचार किये बिना भी लोग आत्मा सम्बन्धी व्यवहार का अनुभव करते हैं और तदनुसार आचरण करते हैं। इसलिए यह आवश्यक नहीं है कि किसी कलाकार में यह

देखा जाय कि उसने प्रकृति के जिस स्वरूप का वर्णन किया है उससे वह कलाकार भौतिक-विज्ञानवादी है या अन्य कुछ। यह निश्चित है कि कलाकार का व्यक्तिगत दार्शनिक दृष्टिकोण उसकी अपेक्षा कृति को अधिक प्रभावित करता रहता है, परन्तु बहुधा स्वयं कलाकार ही अपने दार्शनिक दृष्टिकोण को नहीं पहचानता। केशव ने प्रकृति की वस्तुओं के नाम गिना कर श्लिष्ट अलंकार-योजना के द्वारा उनका चमत्कार-पूर्ण वर्णन किया है। इसका अर्थ यह नहीं कि केशव का दार्शनिक दृष्टिकोण आत्मा को तटस्थ मानने वाले व्यक्ति का दृष्टिकोण है। जिन पदों के द्वारा केशव की दार्शनिकता पर प्रकाश पड़ता है, वे पद उन्हें प्रकृति-विशिष्ट ब्रह्मवादी सिद्ध करते हैं। इसका अर्थ यह है कि केशव को प्रकृति के साथ नित्य मानने वाले, प्रकृति में अध्यात्मसत्ता का दर्शन करने वाले कवियों में होना चाहिए था; परन्तु वे ऐसे नहीं हैं।

स्थिति यह है कि ऐसे दार्शनिक बहुत कम हैं जो सच्ची दार्शनिक अनुभूति सम्पन्न हों और इस अनुभूति से उनका रोम-रोम भींज चुका हो तथा उनकी वाणी अपनी सच्ची अनुभूति का ही वर्णन करती हो। ऐसे दार्शनिकों का कवि होना तो और भी आगे की वस्तु है। आज जो कुछ देखने में आता है वह केवल प्रवाहवादी अथवा भौतिक-विज्ञानवादी का ही दृष्टिकोण है।

उक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रकृति-चित्रण की आलोचना करते समय विभाजन-प्रणाली (Method of Division) से हमारा काम नहीं चलेगा, वरन् वर्गीकरण (Classification) के द्वारा ही हम प्रकृति वर्णन और तत्सम्बन्धी कवि की मानसिक पृष्ठभूमि अथवा पृष्ठभूमियों का परिचय प्राप्त कर सकेंगे। इस दृष्टिकोण से परीक्षा करते समय प्रकृति-वर्णनों को हम निम्नलिखित वर्गों में रख सकते हैं। इन वर्गों का अर्थ यह नही है कि ये वर्ग सम्पूर्ण हैं अर्थात् इनसे बाहर कोई वर्ग नहीं हो सकता अथवा इन वर्गों में कोई ऐसी विभाजक रेखा है कि एक वर्ग में आया हुआ वर्णन दूसरे वर्ग में नहीं रखा जा सकता। फिर भी वर्ग विशेष की विशेषताएँ जिस वर्ग में अधिक हैं उसे उस वर्ग विशेष में स्थान देने की हमने चेष्टा की है।

प्रकृति-वर्णन के वर्गः—

१—आलम्बनात्मक प्रकृति-वर्णन।

२—संश्लिष्ट प्रकृति-वर्णन।

३—उद्दीपनात्मक प्रकृति-वर्णन।

४—मानव-भावनाओं का आरोप।

५—प्रकृति में अध्यात्म-तत्व का आरोप।

६—उपदेशात्मक प्रकृति-वर्णन।

आलम्बनात्मक प्रकृति वर्णनः—आलम्बनात्मक प्रकृति-वर्णन का उपवर्ग विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है:—
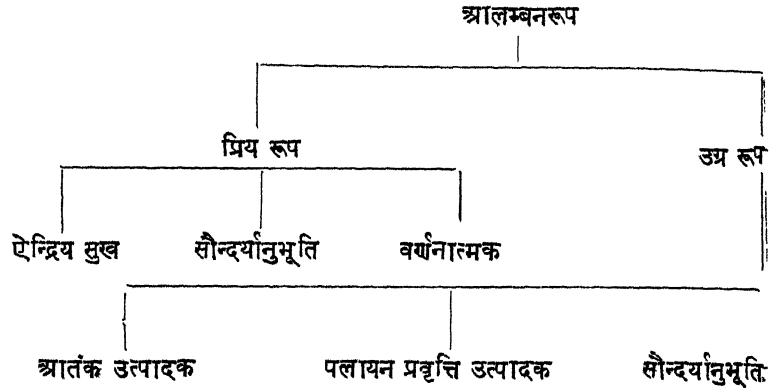
हम ऊपर कह चुके हैं कि यह वर्ग-विभाजन सम्पूर्ण और परस्पर भिन्न नहीं है। अतएव जो छन्द एक विवेचक की दृष्टि में शुद्ध आलम्बनात्मक वर्णन हो सकता है, दूसरे की दृष्टि में वही श्लिष्ट प्रकृति-वर्णन हो सकता है। बिहारी के एक पद से यह बात अधिक स्पष्ट हो जायगी :—

"अरुन सरोरुह कर चरन, दृग खंजन मुख चंद।
समय आइ सुन्दरि सरद, काहि न करत अनंद॥"

इस पद का यदि हम यह अर्थ करें कि समय पर सुन्दरी रूपिणी शरद आकर किसे आनन्दित नहीं करती तो यह विशुद्ध आलम्बनात्मक प्रकृति-वर्णन होगा। परन्तु यदि इसी पद का हम यह अर्थ करें कि समय (प्रतिज्ञा) पर आकर शरद रूपी सुन्दरी किसे सुखी नहीं करती तो यह शुद्ध संश्लिष्ट प्रकृति-वर्णन होगा।

आज के कतिपय विद्वान प्रकृति के समस्त आलंकारिक वर्णन को संश्लिष्ट प्रकृति-वर्णन मानने लगे हैं; किन्तु यह उचित नहीं है। हमारा मत है कि अलंकार केवल एक शैली है। वर्ण्य-विषय के प्रतिपादन की किसी शैली को वर्ण्य-विषय मान लेना भूल है। कवि यदि अलंकार के प्रयोग के द्वारा प्रकृति का वर्णन करना चाहता है तो वह विशुद्ध प्रकृति वर्णन है, चाहे प्रकृति का प्रिय स्वरूप हो, चाहे अप्रिय स्वरूप। परन्तु यदि प्रकृति-वर्णन के

द्वारा कवि किसी अन्य विषय का वर्णन करना चाहता है, प्रकृति-वर्णन केवल उसका माध्यम है, तो इस माध्यम का प्रस्तुत से संश्लेष ही संश्लिष्ट प्रकृति-वर्णन मानना चाहिए। इसका विशेष विवेचन हम आगे करेंगे।

प्रकृति का प्रिय स्वरूप:—प्रकृति अपने सम्पूर्ण वैभव द्वारा मानव-मन को आह्लाद प्रदान करती है। उसके क्षण-क्षण में परिवर्तित होने वाले दृश्य मनोरमता की सृष्टि करते हैं। मानव-भावनाओं को उनसे परितोष होता है, इसीलिए वे उनमें रम जाती हैं। कवि-हृदय प्रकृति के उन रूपों में अपने लिए एक विशेष आकर्षण का अनुभव करता है जबकि एक साधारण प्राणी उन मोहक चित्रों को केवल देखता हुआ उनके पास से निकल जाता है। अतः यह केवल हृदय-हृदय का अन्तर है। कवि का भाव-प्रवण हृदय उन चित्रों में रमणीयता विशेष के कारण ऐन्द्रिय-सुख अनुभव करता है। यथा :—

"नव वृन्दावन नव नव तरुगन, नव-नव विकसित फूल।
नवल वसंत नवल मलयानिल, मातल नव अलि कूल॥"
—विद्यापति, 'बसंत-वर्णन'

रामचरितमानस में जब तुलसी नाना रंग के विकसित सरसिज 'मधुर मुखर गुंजित बहु भृंगा' को देखता है और जल-कुक्कुट एवं कल-हंसों को बोलते हुए सुनता है[१] तब उनकी उत्प्रेक्षा-प्रवृत्ति जाग्रत होती है और वे कह उठते हैं कि वे "प्रभु बिलोकि जनु करत प्रशंसा"। कवि का ऐन्द्रिय-सुख इतने ही से परितोष नहीं प्राप्त करता है, वह प्रकृति के दूसरे व्यापारों की ओर दृष्टिपात करता है :—

"चक्रवाक बक खग समुदाई, देखत बनइ बरनि नहिं जाई॥
सुन्दर खग गन गिरा सुहाई, जात पथिक जनु लेत बुलाई॥"
—रामचरितमानस, अरण्यकांड,

इसी प्रकार आगे के अंशों में भी चंपक, बकुल, कदंब, तमालादि के वृक्ष देखता है, सतत् प्रवहमान् शीतल-मंद-सुगंध, मनोहर वायु और कोकिल की कुहू-कुहू ध्वनि को[२] सुनकर वह मानों प्रकृति-प्रेमियों के लिए ऐन्द्रिय-सुख की ही सृष्टि कर रहा है।

१—रामचरितमानस, अयोध्याकांड।

२—रामचरितमानस, अयोध्याकांड।

महाकवि सूरदास ने भी प्रकृति के आलम्बनात्मक मधुर पक्ष का अनुभव किया है। यमुना-तट, वंशी-वट, करील-कुञ्ज आदि के कितने ही मनोहारी दृश्यों का विधान किया है जिससे ऐन्द्रिय-सुख की उपलब्धि होती है।

रीतिकालीन प्रकृति-वर्णन आलम्बनात्मक स्वरूप को लेकर इन्द्रिय-सुख को ही परितोष प्रदान करने की चेष्टा करता हुआ पाया जाता है। इस युग के कवियों ने अपनी सुकोमल कल्पना द्वारा प्रकृति के ऐसे व्यापारों की उद्भावना की है जो इन्द्रिय-सुख की सृष्टि करते है। "देव" का एक छुन्द देखिये :—

"सुनि के धुनि चातक मोरन की,
चहुँ ओरन कोकिल कूकन सों।
अनुराग भरे हरि गावत हैं,
सखि रागनि राग अचूकनि सों।
कवि "देव" घटा उनई जु नई,
बन भूमि भई दल दूकनि सों।
रँगराती हरी हहराती लता,
झुकि जाती समीर के झूकनि सों।"

वर्षाकालीन दृश्य निश्चय ही मानव के ऐन्द्रिय-सुख का कारण बनता है। प्रकृति में ऐन्द्रिय-सुख की भावना की खोज आधुनिक कवियों में विशेष रूप से पाई जाती है। यथा :—

"वन के विटपों की डाल-डाल,
कोमल कलियों से लाल-लाल,
फैली नव मधु की रूप-ज्वाल।"

—पंत—'गुञ्जन'

"फूले फूल सुरभि व्याकुल अलि
गूँज रहे हैं चारो ओर,
× × ×
दूर गुहा में निर्झरिणी की
तान तरंगों का गुञ्जार
स्वरमय किसलय निलय विहंगों
के बजते सुहाग के तार।"

—निराला—'अनामिका'

"नव नील कुंज हैं झूम रहे,
कुसुमों की कथा न बंद हुई।
है अंतरिक्ष आमोद भरा,
हिम कणिका ही मकरंद हुई।"
—प्रसाद—'कामायनी'

प्रकृति के प्रिय-स्वरूप के अंतर्गत एक दूसरा भाव है **सौन्दर्यानुभूति** का। भावुक हृदय प्रकृति के विभिन्न व्यापारों में अपनी रुचि के अनुरूप सौन्दर्य का दर्शन करता है। यह सौन्दर्यानुभूति व्यक्ति सापेक्ष्य होती है। प्रकृति का एक ही रूप किसी के हृदय में आनन्द की सृष्टि करता है और किसी के हृदय में व्याप्त करुणा को सजीवता प्रदान करता है। हिन्दी-साहित्य में प्रकृति-वर्णन के लिए ही कतिपय रचनाएँ उपस्थित करने वालों में 'सेनापति' का नाम विशेष महत्व रखता है। इस दिशा में इनका ऋतु-वर्णन प्रसिद्ध है। इन्होंने प्रकृति सम्बन्धी सौन्दर्यानुभूति से प्रेरित होकर अनेक छंदों की रचना की है। एक उदाहरण लीजिये :—

"खंड-खंड सब दिग्-मंडल जलद सेत,
सेनापति मानों शृंग फटिक पहार के।
अंबर-अडंबर सौं उमड़ि-घुमड़ि छिन,
छिछकें-छछारे छिति अधिक उछार के।
सलिल सहल मानों सुधा के महल नभ,
तूल के पहल किधौं पवन अधार के।
पूरब कौं भाजत हैं रजत से राजत हैं,
गग-गग गाजत हैं गगन घन क्वार के।"
—कवित्त-रत्नाकर, तीसरी तरंग, छंद ३८

बिहारीलाल ने भी प्रकृति सम्बन्धिनी अपनी सौन्दर्यानुभूति की बड़ी ही सजीव एवं मार्मिक अभिव्यंजना की है। बसंत का समय है, मकरन्दोत्सव हो रहा है, भ्रमर गुंजार करता हुआ इधर-उधर मँडरा रहा है, मंद-मंद पवन बह रहा है। प्रकृति के इस सुन्दर मनोहारी व्यापार को कवि रूपक का आश्रय लेकर व्यक्त करता है :—

"रनित भृङ्ग घंटावली, झरत दान मधु नीर।
मंद मंद आवत चल्यो, कुंजर-कुंज समीर॥"

इसी प्रकार एक दूसरा दृश्य भी है :—

"छकि रसाल सौरभ सने, मधुर माधवी गंध।
ठौर ठौर झौरत झपत, भौंर झौर मधु अंध ॥"

एक अन्य चित्र देखिये :—

"चारु हिमाचल आँचल में इक शाल विशालन को बन है।
लिपटे हैं लता द्रुम गान में लीन प्रवीन विहंगम को गन है।
मृदु मर्मर शील झरैं जल-स्रोत है पर्वत ओट है निर्जन है।
भटक्यो तहँ रावरो भूल्यो फिरै मृदु बावरो सो अलि को मन है॥
—राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'

उक्त पदों में ऐसा प्रतीत होता है कि कवि का भाव-प्रवण हृदय प्राकृतिक व्यापारों के साथ तादात्म्य स्थापित कर सका है।

आधुनिक युग में भी जिन विशिष्ट कलाकारों ने प्रकृति के प्रति अपनी सौन्दर्यानुभूति की मार्मिक व्यंजना की है उनमें निराला और पंत का नाम विशिष्ट रूप से उल्लेखनीय है। निराला अपनी 'विनय' शीर्षक कविता में एक ऐसे एकान्त स्थल की कल्पना करते हैं, जहाँ वृक्षों की छाया हो, शीतल समीर बहता हो और विहँग कलरव द्वारा शाखाओं को गुंजायमान करते हों :—

"तट हों विटप घाट के निर्जन,
सस्मित कलि दल चुम्बित जलमय,
शीतल-शीतल बहें समीरण,
कूजें द्रुम विहंगमय, वर दो।"—निराला—'अनामिका'

सुमित्रानन्दन पंत तो प्रकृति के सुन्दरं के कवि हैं। पार्वत्य प्रदेश की प्राकृतिक सुषुमा इनके जीवन की वह सहचरी है जिसके साथ रहकर कलाकार स्वयं अपने को भी भूल जाता है। प्रकृति का एक चित्र देखिये :—

"कोयल का वह कोमल बोल,
मधुकर की वीणा अनमोल।

× × ×

ऊषा-सस्मित किसलय-दल,
सुधा-रश्मि से उतरा जल ॥"—पंत—'पल्लव'

"छिपा रही थी मुख शशिबाला निशि के श्रम से हो श्री-हीन,
कमल-क्रोड में बंदी था अलि कोक शोक से दीवाना,
मूर्छित थीं इन्द्रियाँ स्तब्ध जग, जड़ चेतन सब एकाकार,
शून्य विश्व के उर में केवल साँसों का आना जाना,
तूने ही पहिले बहु-दर्शिन् गाया जागृति का गाना।
श्री-सुख-सौरभ का नभ-चारिणि गूँथ दिया ताना बाना॥"

—पंत—'आधुनिक कवि'

उपन्यास, कहानी आदि गद्य-साहित्य में भी लेखक प्रकृति के इस 'सुन्दरं' का चित्रण करते हुए पाये जाते हैं। वे अपनी सुकोमल भाव-तूलिका से प्रकृति के वे ही रंग कल्पना के रंग से भरते हैं, जो मानव-हृदय के लिए आकर्षण की सामग्री अपने में रखते हैं। इस दिशा में चंडीप्रसाद "हृदयेश", प्रेमचन्द, प्रसाद, अज्ञेय, यशपाल आदि का नाम नहीं छोड़ा जा सकता। एक स्थल पर यशपाल लिखते हैं :—

"वृक्षाच्छादित सूनी और स्वच्छ सड़कें, परेड का मैदान और चारों ओर हरियाली छाई पहाड़ियों की उमड़ती हुई लहरें। यह सब चित्र के समान सुन्दर जान पड़ता है। रात में मसूरी की पहाड़ी पर छिटकी बिजली की रोशनी...मानों सूर्य की रानी वहाँ दिन में क्रीड़ारत हो अपना सतलड़ा हार भूल गई है, वही रात में पड़ा चमक रहा है।"

—'ज्ञानदान'

प्रकृति के "सुन्दरं" का एक दूसरा रूप देखिये :—

"एकाएक सूरज पश्चिम में अस्त हो गया और दूर जहाँ तक दृष्टि जा सकती थी, एक सुन्दर, मनोहारी वादी फैलती गई। सूरज के मछुए ने अंतिम बार अपना जाल वादी की गहराइयों में फेंका और नीले जंगलों से ढके हुए चट्टान, पर्वत, धान के खेत...नदी का चमकीला पानी, लकड़ी के छोटे छोटे पुल, नासपातियों के सुनहले झुंड आकाश के स्वर्णिम जाल में घिरे हुए दिखाई दिये। वायु मन्दगति से रुक रुक कर बह रही थी, मानों उसका मीठा मन्द-श्वास भी उसी जाल में उलझ कर रह गया हो।" —कृष्णचन्द्र एम० ए०—'पराजय'

प्रकृति के प्रिय स्वरूपों के अन्तर्गत तीसरा विभाग है प्रकृति का **वर्णना-त्मकरूप**। इस रूप में प्रकृति के विभिन्न व्यापारों का केवल उल्लेख किया

जाता है। हिन्दी के तथाकथित आदि-महाकाव्य पृथ्वीराजरासो में भी यत्र-तत्र प्रसंग-वशात् प्रकृति का उल्लेख मिलता है, किन्तु अत्यंत न्यून मात्रा में। छठवें समय में एक स्थल पर तपोवन में एक ऋषि का वर्णन करते समय प्रकृति की वस्तुओं का वर्णन इस प्रकार हुआ है :—

"सघन छाँह रवि किरन चष, पगतर पसु भजि जात।
सरित सौह सम पवनि धुनि, सुनत श्रवन झहनात॥
गिरि तट इक सरिता सजल, झिरत झिरन चिहुँ पास।
सुतरु छाँह फल अमिय सम, बेली विसद विलास॥
तहाँ सुअम्बतर रिष्य इक, कृस तन अंग सरंग।
दव दद्धौ जनु दुम्भ कोई, के कोई भूत भुअंग॥"

—पृथ्वीराजरासो

रामचरितमानस में अनेक स्थल ऐसे हैं जहाँ प्रकृति का यथातथ्य वर्णन हुआ है। जैसे वन का ही वर्णन देखिये :—

"कुस कंटक मग काँकर नाना। चलब पयादेहिं बिनु पद त्राना॥
कंदर खोह नदी नद नारे। अगम अगाध न जाहिं निहारे॥
भालु बाघ वृक केहरि नागा। करहिं नाद सुनि ध रज भागा॥"

—रामचरितमानस, अयोध्याकांड

ऋतु-वर्णन में 'सेनापति' ने प्रकृति वर्णन की विभिन्न प्रणालियों का प्रयोग किया है। विशुद्ध आलम्बन रूप में प्रकृति के कतिपय चित्र देखिये :—

"सेनापति उनये नये जलद सावन के,
चारिहू दिसान घुमरत भरे तोइ के।
सोभा सरसाने न बखाने जात काहू भाँति,
आने हैं पहार मानों काजर के ढोइ के।
घन सो गगन छयो तिमिर सघन भयो,
देखि न परत मानों रवि गयो खोइ के।
चारि मास भरि स्याम निसा के भरम करि,
मेरे जान याही तें रहत हरि सोइ के॥"

—कवित्त-रत्नाकर, तीसरी तरंग

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का गंगा-वर्णन तथा यमुना-वर्णन प्रकृति का वर्णनात्मक स्वरूप उपस्थित करता है। यद्यपि कल्पना के द्वारा उसमें चमत्कार का रंग चढ़ा दिया गया है। यथा :—

नव उज्ज्वल जलधार हार हीरक-सी सोहति।
बिच बिच छहरति बूँद मध्य मुक्तामनि पोहति।

× × ×

कहूँ बँधे नव घाट उच्च गिरिवर सम सोहत।
कहुँ छतरी कहुँ मढ़ी, बढ़ी मन मोहत जोहत।

—भारतेन्दु—'सत्य हरिश्चन्द्र', तृतीय अंक।

इसी प्रकार यमुना-वर्णन भी हैः—

'कूजत कहुँ कलहंस कहूँ मज्जत पारावत।
कहुँ कारंडव उड़त कहूँ जल कुक्कुट धावत।
चक्रवाक कहुँ बसत कहूँ बक ध्यान लगावत।
सुक पिक जल कहुँ पियत कहूँ भ्रमरावलि गावत।
कहुँ तट पर नाचत मोर बहु रोर विविध पच्छी करत।
जलपान न्हान करि सुख भरे तट-सोभा सब जिय धरत।

—भारतेन्दु—'चन्द्रावली', चतुर्थ अंक।

काश्मीर-सुषुमा का वर्णन करते हुए श्रीधर पाठक का यह चित्र भी वर्णनात्मक शैली के अंतर्गत है:—

"प्रकृति यहाँ एकान्त बैठि निज रूप सँवारति।
पल-पल पलटति भेस छनिक छवि छिन-छिन धारति।
विमल अंबु सर मुकुर महँ मुख-बिम्ब निहारति।
अपनी छवि पै मोहि आप ही तन-मन वारति।"

वर्णनात्मक शैली में प्रकृति के कतिपय अन्य स्वरूप इस प्रकार हैं:—

ससौम्य कंकेलि प्रसूनशालिनी मन्दापगा शालिसमूह मालिनी।
मृगांक भा भूमिलता नई नई घनागमश्री विजयी शरद्मई॥

—महावीरप्रसाद द्विवेदी—'द्विवेदी काव्यमाला'

'पुनि सघन छाया को तपोवन जहँ सरोवर हैं भरे।
प्रतिबिम्ब श्याम शिलान के दरसात हैं जिनमें परे।
ऊपर चटानन सों शिलाजुत रसत जहाँ पसीज कै,
नीचे सलिल को परसि रहि रहि डार झूमति भींज कै।

—रामचन्द्र शुक्ल—'बुद्ध चरित'

दिवस का अवसान समीप था,
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु-शिखा पर थी अब राजती,
कमलिनी-कुल वल्लभ की प्रभा।
विपिन बीच विहंगम वृन्द का,
कल-निनाद विवर्धित था हुआ।
ध्वनिमयी विविधा विहँगावली,
उड़ रहीं नभ मंडल मध्य थीं॥

—'हरिऔध'—'प्रियप्रवास'

पूर्णिमा की रात्रि सुखमा स्वच्छ सरसाती रही।
इन्दु की किरणें सुधा की धार बरसाती रहीं।
युग्म व्योम व्यतीत है आकाश तारों से भरा।
हो रहा प्रतिविम्ब पूरित रम्य यमुना जल हरा॥

—प्रसाद—'कानन-कुसुम'

कहीं श्याम चट्टान कहीं दर्पण-सा उज्ज्वल सर है।
कहीं हरे तृण खेत कहीं गिरि स्रोत प्रवाह प्रखर है।
कहीं गगन के खंभ नारियल तार भार सिर धारे।
रस रसिकों के लिए खड़े ज्यों सुप्र नकार इशारे॥

—रामनरेश त्रिपाठी—'पथिक')

प्रकृति का उग्र रूप—विस्तृत प्रकृति रंगमंच के समान है जिस पर मनोवृत्तियाँ विभिन्न समयों में विभिन्न प्रकार के अभिनय किया करती हैं। यही कारण है कि हम एक प्राकृतिक पदार्थ का चित्रण साहित्य में अनेक रूपों में प्राप्त करते हैं। कभी कोई पदार्थ चित्त में खीझ उत्पन्न करता है और कभी वही पदार्थ आनन्द की सृष्टि करता है। इसी से तो सूर की गोपियाँ कभी पपीहे को बुरा भला कहती हैं और कभी उसके जुग-जुग जीवित रहने की कामना करती है। यह सब मानव-मनोवृत्तियो की ही लीला है। इसी को हम इसी प्रकार भी कह सकते हैं कि प्रकृति के सुविशाल स्वच्छ दर्पण में हमारी मनोवृत्तियों का प्रतिविंब नित्यप्रति पड़ा करता है।

अभी-अभी हम प्रकृति के प्रिय स्वरूप की विवेचना कर चुके है। यही प्रकृति कभी-कभी हमें उग्र रूप धारण करती हुई-सी प्रतीत होती है। उसमें हमें एक प्रकार का आतंक का-सा भाव अनुभव होने लगता है। यथाः—

अग्ग गयो गिरि निकट, विकट उद्यान भयंकर।
जहँ न पकरि दिसि विदिस, बहुत जहँ जीव भयंकर।।
सिंह कोल गज रीछ, बहुत सामर बलवन्ते।
चीतल चीत हिरन, पाइ षरकैं भजि जन्ते।।
से ही सियाल लंगूर बहु, झुंड कदंब भरि लट रहिय।
पिष्षेसु जीव कवि चन्द ने, तुच्छ नाम चौपद कहिय।।

—चन्द बरदाई—पृथ्वीराजरासो, षष्ठ समय

ऊपर के पद में वन की कतिपय भय-प्रदायिनी वस्तुओं का परिगणन मात्र किया गया है।

सूर की गोपियाँ प्रकृति की लीला-भूमि में ही संयोग-सुख अनुभव करती रही हैं। कृष्ण के साथ रासलीला करते समय भी बादल घिरते ही थे, विद्युत् चमकती ही थी और उसमें कड़कन होती ही थी। प्रकृति के ये समस्त रूप उनके लिए उस समय दुखद न थे। किन्तु कृष्ण से वियुक्त होने पर प्रकृति के ये ही व्यापार दूसरे रूप में बदल जाते हैं। उमड़ते हुए सघन घन मतवाले हाथियों के समान भयंकर प्रतीत होते हैं और ऐसा लगता है कि वे कोई अनर्थ कर डालेंगे:—

"देखियत चहुँ दिशि ते घन घोरे।
मानों मत्त मदन के हथियन बल करि बन्धन तोरे।
रुकत न पौन महावत हू पै मुरत न अंकुश मोरे।।"

—सूरसागर, का० ना० प्र० सभा, पद-संख्या ३९२१

मेघों की भयंकरता गोपियों तक ही सीमित नहीं है, अपितु ब्रज के आबालवृद्ध सभी नर-नारी उसकी मूसलाधार वृष्टि से आतंकित हैं:—

"मेघ दल प्रबल ब्रज लोग देखे।
चकित जहँ तहँ भये निरखि बादर, नये ग्वाल गोपाल डरि गगन पेखे।।
ऐसे बादल सजल करत अति महाबल, चलत घहरात करि अंध काला।
चकृत भये नंद सब महर चकृत भये, चकृत नर नारी हरि करत ख्याला।।
घटा घनघोर घहरात अररात, दरात सररात ब्रज लोग डरपे।
तड़ित आघात, तररात, उतपात सुनि, नर नारि सकुचि तन प्राण अरपे।
कहा चहत हौन भई न कबहूँ जौन, कबहूँ आँगन मौन विकल डोलैं।"

—सूरसागर, का० ना० प्र० सभा, पद संख्या—१४७३

प्रकृति के आतंकमय स्वरूप को तुलसी ने भी अंकित किया है। राम सीता को वन की भयंकरता अनुभव कराते हुए कहते हैं:—

"नर अहार रजनीचर करहीं। कपट वेष विधि कोटिक फिरहीं।
लागइ अति पहार कर पानी। विपिन बिपति नहिं जाइ बखानी॥
व्याल कराल बिहँग वन घोरा। निसिचर निकरि नारि नर चोरा।
डरपहिं धीर गहन सुधि आये। मृगलोचनि तुम्ह भीरु सुभाये॥
—रामचरितमानस, अयोध्याकांड

उक्त वर्णन यद्यपि प्रकृति का विशुद्ध वर्णनात्मक रूप है फिर भी इस वर्णन में उसकी भयंकरता स्पष्ट व्यक्त है।

प्रकृति की भयंकरता का वर्णन 'सेनापति' ने भी किया है। ग्रीष्म का समय है। चारों ओर लुएँ चल रही हैं, आकाश धूलि से आच्छादित है। उसी दृश्य का शब्द चित्र है:—

"गगन गरद धूँधि, दसौ दिसा रही रूँधि,
मानौ नभ-भार की भसम बरसत है।
बरनि बताई, छिति व्यौम की तताई जेठ,
आयौ आतताई पुट पाक सौं करत है।
—कवित्तरत्नाकर, तीसरी तरंग, छन्द १५

उक्त पद में उपमा और उत्प्रेक्षा के द्वारा जेठ की गरमी का रूप उपस्थित किया गया है। एक दूसरा चित्र वर्षाकाल का देखिये, यहाँ भी प्रकृति का आतंक स्पष्ट है:—

"गगन अंगन घनाघन तै सघन तम,
सेनापति नैक हूँ न नैन मटकत हैं।
दीपक, जीगनान की झमक छाँड़ि,
चपला चमक और सौं न अटकत है।
रवि गयौ दबि मानौं ससि सोऊ धँसि गयौ,
तारे तोरि डारे से न कहूँ फटकत है।
मानौं महातिमिर तैं भूलि परी बाट तातैं,
रवि ससि तारे कहूँ भूले भटकत हैं॥"
—कवित्तरत्नाकर, तीसरी तरंग, छन्द २६

ग्रीष्मकाल में मरीचिमालाएँ अग्नि की-सी वर्षा करती हैं और समस्त जलाशय सूख जाते हैं। इसी आतंकमय स्थिति का चित्रण महावीरप्रसाद द्विवेदी ने किया है:—

"समस्त वैश्वानर ज्वाल ज्वाला, फैली है महातीक्ष्ण मरीचिमाला।
सारे भये वारि विहीन ताला, आयौ कृतांत निदाघ काला॥"
—द्विवेदी काव्यमाला

प्रसाद ने प्रलय का चित्र उपस्थित करते हुए प्रकृति के आतंकोत्पादक रूप का अंकन इस प्रकार किया है:—

दिग्दाहों से धूम उठे, या जलधर उठे क्षितिज तट के।
सघन गगन में भीम प्रकंपन, झंझा के चलते झटके।
पंचभूत का भैरव मिश्रण, शंपाओं के शकल निपात।
उल्का लेकर अमर शक्तियाँ खोज रहीं ज्यों खोया प्रात।
उधर गरजतीं सिन्धु लहरियाँ, कुटिल काल के जालों-सी।
चली आ रहीं फेन उगलती, फन फैलाये व्यालों-सी,
धँसती धरा धधकती ज्वाला, ज्वालामुखियों के निश्वास।
और संकुचित क्रमशः उसके, अवयव का होता था ह्रास।
—'कामायनी', चिंता सर्ग

प्रस्तुत उद्धरण में शब्द-योजना द्वारा ही प्रकृति की भयंकरता प्रतीत होती है। प्रकृति का आतंककारी रूप निराला के शब्दों में लीजियेः—

गरज रहे हैं मेघ, अशनि का गूँजा घोर निनाद-प्रमाद।
स्वर्ग धरा व्यापी संगर का छाया विकट कटक-उन्माद।
अंधकार उद्गीरण करता, अन्धकार घन-घोर अपार।
महाप्रलय की वायु सुनाती, श्वासों में अगणित हुँकार।
इस पर चमक रही है रक्तिम विद्युज्ज्वाला बारम्बार।
फेनिल लहरें गरज चाहतीं करना गिरि-शिखरों को पार।
भीम-घोष-गंभीर अतल धँस टलमल करती धरा अधीर।
अनल निकलता छेद भूमितल, चूर हो रहे अचल-शरीर।
—'अनामिका'

उग्र रूप के अन्तर्गत प्रकृति जहाँ एक ओर आतंक उत्पन्न करती है, वहीं दूसरी ओर **पलायन वृत्ति** को भी जन्म देती है। यह वृत्ति वहीं उत्पन्न होती है जहाँ प्रकृति के चित्रों में जुगुप्सा का भाव निहित होता है। भयोत्पादिका प्रकृति मानव-मन पर आतंक जमा देती है, किन्तु जुगुप्सित चित्रण उसके प्रति बीभत्स-रस की सृष्टि करता है। यथाः—

"हाय हाय ! कैसा भयंकर श्मशान है। दूर से मंडल बाँध-बाँध कर चोंच-बाये, डैना फैलाये, कंगालों की तरह मुर्दों पर गिद्ध जैसे गिरते हैं और कैसा मांस नोच-नोच कर आपस में लड़ते और चिल्लाते हैं। इधर अत्यन्त कर्ण-कटु नगाड़े की भाँति एक शब्द की लाग से दूसरे सियार कैसे रोते हैं। उधर चिराइन फैलाती हुई चट-चटकरती चिताएँ कैसी जल रही हैं, जिनमें कहीं से मांस के टुकड़े उड़ते हैं, कहीं लोहू वा चरबी बहती है। आग का रंग मांस के सम्बन्ध से नीला पीला हो रहा है, ज्वाला घूम-घूम कर निकलती है, आग कभी एक साथ धधक उठती है, कभी मंद हो जाती है। धुआँ चारों ओर छा रहा है।"

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र— 'सत्य-हरिश्चन्द'

अथवा

साँझ सोई पट लाल कसे कटि सूरज खप्पर हाथ लह्यो है।
पच्छिन के बहु शब्दन के मिस जोअ उचाटन मंत्र कह्यो है।
मद्यभरी नरखोपरी सो ससि को नव बिंबहू धाइ गह्यो है।
दे बलिजीव पसू यह मत्त है काल कपालिक नाचि रह्यो है।
सूरज धूम बिना की चिता सोई अन्त में लै जल माटी बहाई।
बोलैं घने तरु बैठि विहंगम रोअत सो मनु लोग लुगाई।
धूम अँधार कपाल निसाकर, हाड़ नछत्र लहू-सी ललाई।
आनँद हेतु निशाचर के यह काल मसान सो साँझ बनाई।

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—'सत्य-हरिश्चन्द'

जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का यह वर्णन भी जुगुप्सा की सृष्टि करने के कारण पलायन वृत्ति का उत्पादक है:—

हरहरात इकदिशि पीपल को पेड़ पुरातन।
लटकत जामें घंट घने माटी के बासन॥

प्रकृति के आलम्बन स्वरूप का वर्णन करते समय उसके प्रिय रूप के अन्तर्गत प्रकृति सम्बन्धिनी सौन्दर्यानुभूति की चर्चा पहिले की जा चुकी है। वही सौन्दर्यानुभूति प्रकृति के उग्र रूप में भी पाई जाती है। जिस प्रकार मानव-जाति में नारी और पुरुष दोनों अपने-अपने सौन्दर्य की विशेषताओं से युक्त हैं, उसी प्रकार प्रकृति भी अपने दोनों ही रूपों में प्रिय रूप और उग्ररूप में सुन्दर है। यथाः—

वृष कौ तरनि तरनि तेज सहसौ किरन करि
ज्वालन के जाल बिकराल बरसत हैं।
तचति धरनि, जग जरति झरनि सीरी
छाँह को पकरि पंथी पंछी बिरमत हैं।
'सेनापति' नैंक दुपहरी के ढरत, होत
घमका विषम, ज्यौं न पात खरकत हैं।
मेरे जान पौनौ सीरी ठौर कौं पकरि कौनों
घरी एक बैठि कहूँ घामै बितवत हैं॥

—कवित्त रत्नाकर, तीसरी तरंग

उक्त पद में सूर्य की तपन का प्रभाव वर्णित है। शब्दों के द्वारा कवि ने दृश्य चित्र अत्यन्त अनूठा उपस्थित किया है।

प्रियप्रवास में दावाग्नि का वर्णन भी प्रकृति के उग्ररूप की सौन्दर्यानुभूति को व्यक्त करता है।[1] कहीं 'दावाग्नि की लपटें प्रचंड दावा प्रलयंकरी समा नितान्त ही भयंकरी बनती थीं,' कहीं 'अनन्त पादप दग्ध हो रहे थे' और कही अनन्त गाँठें सशब्द फटती थीं, कहीं अपार पक्षी-पशु महात्रस्त हो सव्यग्रता सब ओर दौड़ते थे, कहीं पहाड़-से पादप .तूल-पुंज-से पल मध्य (ही) समूल भस्म होते थे, और बड़े-बड़े प्रस्तर खंड (भी) वह्नि से तुरंत (ही) तृण तुल्य दग्ध होते थे। उस समय तो:—

भयंकरी प्रज्वलिताग्नि की शिखा।
दिवांधता कारिणि राशि धूम की।
वनस्थली में बहु दूर व्याप्त थी।
नितांत घोरा ध्वनि त्राण-वर्द्धिनी।

—प्रियप्रवास, एकादश सर्ग

प्रकृति का यह आतंकमय स्वरूप वर्ण्य-विषय की दृष्टि से अपने में सौन्दर्य लिये हुए है।

संश्लिष्ट प्रकृति-वर्णन—इसी अध्याय के प्रारम्भ में हम प्रकृति में संश्लिष्ट-विचार का वर्णन करते समय यह कह चुके हैं कि वर्तमानकाल में कतिपय आलोचक ऐसे हैं जो प्रकृति के आलंकारिक वर्णन को ही संश्लिष्ट वर्णन मान लेते हैं। यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो स्पष्ट होगा कि प्रकृति-वर्णन के

१—प्रियप्रवास, एकादश सर्ग।

ऐसे स्थल जहाँ पर अलंकारों का प्रयोग किया गया है वहाँ कवि का उद्देश्य प्रकृति का अलंकारात्मक रूप उपस्थित करना नहीं है, अपितु वह आलंकारिक शैली से अपना अभिप्राय अभिव्यक्त करना चाहता है। जैसे निम्नलिखित छन्द में श्लेष का सहारा लेकर ग्रीष्म और हेमन्त ऋतु दोनों का ही वर्णन है:—

शीतल अधिक यातैं चन्दन सुहात परै,
आँगन ही कल ज्यों त्यों अगिनि बराई है।
ग्रीषम की ऋतु, हिम रितु दोऊ 'सेनापति'
लीजिये समुझ एक भाँति-सी बनाई है॥
—कवित्त-रत्नाकर, तीसरी तरंग

उक्त छन्द में चन्दन सुहात [चन्द न सुहात, चन्दन सुहात] तथा अगिनि बराई है [अग्नि बचाई है, अग्नि जलवाई है] इन दो श्लेष-पदों द्वारा ग्रीष्म और हेमन्त ऋतु का वर्णन किया गया है।

प्रस्तुत अंश में कवि का उद्देश्य अलंकार-योजना नहीं है, वर्ण्य-विषय ऋतु ही है, किन्तु अलंकार की शैली का प्रयोग किया गया है। यह आलंकारिक शैली प्रकृति के आलम्बन-स्वरूप में, उद्दीपन-स्वरूप में, मानवीकरण में तथा प्रकृति द्वारा अध्यात्म-तत्व के विवेचन में भी अपनाई जा सकती है। इसके उदाहरण इस अध्याय में यत्र-तत्र मिलेंगे। जब हम प्राकृतिक पदार्थों के माध्यम से किसी दूसरी वस्तु का वर्णन करते हैं तब ऐसा वर्णन संश्लिष्ट वर्णन कहलाता है। यथा सूर का यह पद:—

सखि इन नैनन ते घन हारे।
बिनही ऋतु बरसत निसि-बासर, सदा मलिन दोउ तारे॥
ऊरध स्वास समीर तेज अति, सुख अनेक द्रुम डारे।
दसन सदन करि बसे वचन-खग, दुख पावस के मारे॥
ढुरि-ढुरि बूँदि परत कँचुकि पर, मिलि अंजन सों कारे।
मानों शिव की परनकुटी बिच, धारा स्याम निनारे॥
सुमिरि सुमिरि गरजत जल छाँड़त, अश्रु सलिल के धारे।
बूड़त ब्रजहिं सूर को राखै, बिनु गिरिवरधर प्यारे॥
—सूरसागर, का० ना० प्र० सभा, पद-संख्या ३८५२।

इस पद में पावस ऋतु का वर्णन है और स्वास-समीर, सुख-द्रुम, दसन-सदन, वचन-खग आदि में रूपक अलंकार का सहारा लेकर गोपियों की विरहाकुल अवस्था का वर्णन किया गया है। यहाँ पर वाच्य गोपियाँ हैं, साथ

ही प्रकृति का चित्रण भी है। इसलिए यह पद संश्लिष्ट प्रकृति-चित्रण के अन्तर्गत होगा। इसी प्रकार सूर के अनेक पद हैं जिनको हम संश्लिष्ट चित्रण के अन्तर्गत रख सकते है।

तुलसी की रचनाओं में भी प्रकृति का संश्लिष्ट चित्रण प्राप्त होता है। धनुष-यज्ञ के प्रसंग में राम के रूप का वर्णन करता हुआ कवि प्रकृति का सहारा लेता है:—

उदित-उदय-गिरि मंच पर, रघुवर-बाल-पतंग।
विकसे सन्त-सरोज-बन, हरषे लोचन-भृंग॥

—रामचरितमानस, बालकांड।

उक्त दोहे में स्पष्टतः रूपक का सहारा लिया गया है। रूपक आश्रय मात्र है, वर्ण्य-विषय तो केवल राम है।

'सेनापति' के कवित्त-रत्नाकर में तो प्रकृति के कितने ही संश्लिष्ट चित्र उपस्थित हुए हैं। उद्धरण रूप में हम एक छन्द पहिले दे चुके हैं। एक छन्द कवि सोमनाथ का देखिये:—

दिशि विदिशान तै उमड़ि मड़ि लीन्हें नभ,
छाँड़ि दीन्हें धुरवा जवासे जूथ जरिगे।
डहडहे भये द्रुम रंचक हवा के गुन,
चहूँ ओर मुरवन पुकार मोद भरिगे॥
रहि गये चातक जहाँ के तहाँ देखत ही,
'सोमनाथ' कहैं बूँदा-बूँदी हू न करिगे।
शोर भयो घोर चहूँ ओर नभमंडल में,
आये घन आये घन आइकै निकरिगे॥

इस पद में भी प्रकृति-वर्णन के साथ ही साथ विरही की आन्तरिक दशा का चित्रण है। कभी-कभी प्रकृति-वर्णन के सहारे अन्योक्ति अलंकार द्वारा जीवन के तत्वों का विश्लेषण भी किया जाता है। ऐसे स्थलों में कवि वर्णन तो करता है प्रकृति का, किन्तु वाच्य पदार्थ कोई दूसरा ही होता है। जैसे:—

ऐहो धीर रसाल तुम बरनत हो सिरमौर।
साखा बरने रावरी द्विजवर ठौरे ठौर॥
द्विजवर ठौरे ठौर रावरे ही फल चाहें।
निकसै जो तव बात सुमन सों सुधी सराहे॥

बरनै 'दीनदयाल' धन्य वा धात्री के हो।
जाते प्रगटे आय आप उपकारी ए हो॥

प्रस्तुत पद में समासोक्ति अलंकार के द्वारा उपकारी वाच्य है। इसी प्रकार 'पूर्ण' की यह पंक्ति—

मूसरचन्द यह मूसरधार धराधर ऊसर पर बरसावैं।

प्रकृति का दृश्य उपस्थित करने के साथ ही साथ अन्योक्ति द्वारा ऐसे मूर्ख व्यक्ति का चित्र उपस्थित करती है जो अनुपयुक्त स्थान पर अपनी उदारता का परिचय देता है। एक पद 'हरिऔध' का देखिये:—

असंख्य न्यारे फल पुंज से सजा,
प्रभूत पत्रावलि में निमग्न-सा।
प्रगाढ़ छायाप्रद और जटा प्रसू,
विटानुकारी वट था विराजता॥

—प्रियप्रवास, नवम् सर्ग

इस पद में रूपकालंकार द्वारा विट (कामी) व्यंग्य है।

पन्त के जीवन में प्रकृति पालना रूप होकर आई है, कवि का मन इसी हिंडोले में झूलता हुआ प्राकृतिक सुषुमा का सुख लूटता है। इन्होंने प्रकृति के अनेकानेक रूप-विधानों द्वारा उसका मनोरम चित्रण किया है। पावस ऋतु का एक चित्र इस प्रकार है:—

पावस ऋतु थी पर्वत प्रदेश,
पल पल परिवर्तित प्रकृति-वेश।
मेखलाकार पर्वत अपार,
अपने सहस्र दृग-सुमन फाड़,
अवलोक रहा है बारबार,
नीचे जल में निज महाकार,
जिसके चरणों में पला ताल,
दर्पण-सा फैला है विशाल॥

इस पद में भी रूपक और उपमा के द्वारा एक दृश्य विशेष का चित्रण उपस्थित किया गया है। अतएव इस वर्णन को भी हम प्रकृति के संश्लिष्ट चित्रण के अन्तर्गत ही रखेंगे।

उद्दीपनात्मक प्रकृति वर्णन :—मानव की सहज चेतना प्रकृति के विभिन्न व्यापारों के साथ आत्मीयता स्थापित करती रहती है। मनुष्य भी तो प्रकृति का ही एक अंग है, उसके शरीर का निर्माण प्रकृति के विभिन्न उपादानों के मिश्रण का फल है, अतएव प्रकृति से निसर्गसिद्ध सम्बन्ध-स्थापन कोई आश्चर्यजनक वस्तु नहीं है। संयोग और वियोग, सुख और दुःख जीवन के ऐसे व्यापार हैं जो मानव की चित्तवृत्ति को सदा एक-सा नहीं रहने देते। उसकी चित्तवृत्ति पर बाह्य प्रभाव भी काम करते हैं। जब उसकी चित्तवृत्ति अधिक उत्तेजित होती है तब वह अपनी ही भावनाओं के अनुरूप बाह्य-दृश्यों को भी पाता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हम अपनी वृत्तियों का तीव्र अनुभव करते हुए उसी के अनुरूप प्रकृति के पदार्थों को देखते हैं। ऐसी अवस्था में प्रकृति हमारी वृत्तियों को उत्तेजना प्रदान करती हुई प्रतीत होती है। इस दशा में हम प्रकृति के उद्दीपन-व्यापार को अनुभव करते हैं। वीरगाथा काल से लेकर आज तक हिन्दी-साहित्य में प्रकृति के उद्दीपनात्मक स्वरूप का चित्रण होता आया है। बीसलदेव-रासो के कतिपय उद्दीपन सम्बन्धी चित्रण देखिये:—

"पपीहा पीउ पीउ करई सखी,
असल सलावै मो श्रावण मास,
भादवउ बरसै छठ मगेहर गंभीर,
जल-थल मही-थल सहू भरया नीर।"

× ×

"सूनी सेज विदेश पीउ दोई दुख,
नाथ क्यूँ संहहण जाई।"

—बीसलदेव रासो, तृतीय सर्ग

सावन और भादों में प्रकृति अपने वैभव को व्यक्त करती है, चारों ओर हरीतिमा का साम्राज्य है, जलाशय आपूर्ण हैं, सघन घटाएँ और विद्युत की दीप्ति उस सुषमा को और अधिक द्विगुणित करती है। प्रकृति के इस रूप का आनन्द केवल संयोगी व्यक्ति ही ले सकता है। वियोगी के लिए तो ये दृश्य अत्यधिक कष्टकर होंगे। जायसी भी प्रकृति के इस उद्दीपनात्मक स्वरूप का चित्रण करते हैं:—

"सावन बरस मेह अति पानी। भरनि परी हौं बिरह झुरानी।
लाग पुनरबस पीउ न देखा। भइ बाउरि, कहँ कन्त सरेखा॥
भा भादौं दूभरि अति भारी। कैसे भरौं रैनि अँधियारी।

बरसै मघा झकोरि झकोरी। मोरि दुइ नयन चुएँ जस ओरी ॥
धनि सूखै भरे भादों माँहा। अबहुँ न आयेन्हि सीचेन्हि नाहा।

—'पद्मावत', नागमती-वियोग-खंड

कवि नागमती के रूप में प्रकृति के विभिन्न व्यापारों का अनुभव करता हुआ उनसे अपने हृदय का साम्य स्थापित करता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण नागमती-वियोग-खड में वर्ष के बारह महीनों का उद्दीपनात्मक वर्णन है। कभी क्वार के महीने में "सरवरि सँवरि हंस चलि आये" और "बन फूले काँस" को देखकर नागमती सोचती है कि "कन्त न फिरै विदेसहिं भूले," कहीं, "चौदह करा चाँद परकासा" देखकर वह अपने ही हृदय के अनुरूप. अनुभव करती है "जनहुँ जरै सब धरति अकासा" और अगहन की "दूभर रैन" को देख कर कह उठती है :—

"पिउ सो कहेउ सँदेसड़ा हे भौंरा! हे काग!
सो धनि विरहे जरि मुई तेहिक धुआँ हम लाग ॥"

पूस के महीने में विरह के कारण जाड़ा उसे सचान प्रतीत होता है और माघ में पाला के अवसर पर 'विरह जड़ काला' प्रतीत होता है, फागुन के महीने में वह पीले पत्तों से अपने शरीर की अनुरूपता देखती है, चैत की उमग उसके हृदय में व्यथा का संचार करती है, वैसाख और जेठ के महीने उसे झुलसाते हैं और फिर असाढ़ आकर उसकी यह स्थिति कर देता है:—

"बरसै मेह चुअहि नैनाहा। छपर-छपर होइ रहि बिनु नाहा ॥"

प्रकृति का यह सम्पूर्ण चित्र उद्दीपनात्मक है। मानस में तुलसी भी प्रकृति के इस उद्दीपनात्मक रूप को नहीं भूल सके है। वहाँ भी वर्षा राम के विरह-दुख को उद्दीप्त करती हुई आती है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि प्रकृति का यह उद्दीपन-स्वरूप वियोगी भावनाओं के प्रकटीकरण में ही विशेष रूप से देखा जाता है। वियोगी राम के समक्ष वर्षाकालीन मेघ छाये हुए हैं। उनकी भयंकरता को देख कर वे यह अनुमान करते हैं कि ये काल-मेघ बड़े ही सुन्दर अवसर पर घिरे हैं। चलो अच्छा है, इनके द्वारा यदि हमारा प्राणान्त हो गया तो हम वियोग दुःख से मुक्ति पा जायँगे। इस भावना के कारण वियोगी राम को भी वर्षाकाल के बादल बड़े सुखद प्रतीत होते हैं और वे कह उठते हैं:—

"वर्षाकाल मेघ नभ छाये। गरजत लागत परम सुहाये ॥"

—रामचरितमानस, किष्किन्धाकांड

इसी वर्षाकाल में नभ में घन-घमंड की घोर गर्जना को सुनकर प्रियाहीन राम के मन का अत्यधिक डरना भी स्वाभाविक है:—

"घन घमंड नभ गरजत घोरा। प्रियाहीन डरपत मन मोरा ॥"

—रामचरितमानस, किष्किन्धाकांड

सूर की गोपियाँ भी प्रकृति के इस उद्दीपन-व्यापार को अनुभव करती हैं। कृष्ण के वियोग में वे कुंजें जहाँ पर उन्होंने संयोग-सुख अनुभव किया था, अब 'बैरिन' प्रतीत होती हैं, शीतल लताएँ अनल के पुंज के समान हैं। यमुना का बहना, पक्षियों का कलरव करना, कमलों का फूलना और अलियों का गुंजार करना उन्हें अप्रिय प्रतीत होता है। चन्द्र की किरणें उन्हें अब सूर्य-किरणों के समान जलानेवाली प्रतीत होती हैं और कृष्ण की प्रतीक्षा करते-करते उनकी आँखें घुंघची के समान लाल हो गई हैं।[1]

'सेनापति' बसंत के वैभव तथा मानव पर पड़ने वाले उसके प्रभाव को व्यक्त करता हुआ कहता है:—

"मलय समीर सुभ सौरभ धरन धीर,
सरवर नीर जन मज्जन के काज के।
मधुकर पुंज पुनि मंजुल करत गुंज,
सुधरत कुंज सम सदन समाज के।
व्याकुल वियोगी, जोग कै सकै न जोगी वहाँ,
विहरत भोगी 'सेनापति' सुख साज के।
सघन तरु लसत बोलैं पिक-कुल-सत,
देखौ हिय हुलसत आये रितुराज के।

—'कवित्त रत्नाकर', तीसरी तरंग

प्रस्तुत छन्द में संयोग और वियोग दोनों अवस्थाओं के प्रकृति के उद्दीपनकारी स्वरूप का ही वर्णन है। 'मलय-समीर', 'सरवर-नीर', 'मधुकर-पुंज' जहाँ वियोगी को व्याकुल करते हैं वहाँ संयोगी के लिए आनन्ददायी सिद्ध होते हैं।

बिहारी ने भी यत्र-तत्र प्रकृति के उद्दीपनात्मक-स्वरूप को देखा है:—

"घाम घरीक निवारिए, कलित-ललित अलि-पुंज।
जमुना तीर तमाल-तरु, मिलत मालती कुंज ॥"

१—सूरसागर, का० ना० प्र० सभा, पद, संख्या ४६८६

"कौन सुनै कासों कहौं, सुरति बिसारी नाँह।
बदाबदी जिय लेत हैं, ये बदरा बदराह॥

इस वर्णन में प्रकृति के दृश्य-चित्रण के साथ ही साथ अपनी भावनाओं का भी साम्य है। बिहारी के अतिरिक्त अन्य रीतिकालीन कवियों—देव, पद्माकर, मतिराम आदि—ने भी अधिकांशतः प्रकृति के उद्दीपनात्मक रूप का ही चित्रण किया है। आधुनिक युग में भी ऐसे चित्रों का अभाव नहीं है। 'प्रियप्रवास' में हरिऔध ने प्रकृति का विशेष दर्शन किया है इसीलिए उनकी इस रचना में प्रकृति के अनेक रूप प्राप्त होते हैं। आकाश में टिमटिमाते हुए तारे वियोगिनी को स्थिर-से प्रतीत होते हैं और लगातार उनको देखते रहने से ऐसा प्रतीत होने लगता है कि तारों का रंग और भी गहरा होता जाता है। इसी बात को कवि इस प्रकार कहता है:—

"उडुगन थिर-से क्यों हो गये दीखते हैं।
यह विनय हमारी कान में क्या पड़ी है?
रह-रह इनमें क्यों रंग आ-जा रहा है।
कुछ सखि इनको भी हो रही बेकली है॥"

—प्रियप्रवास, चतुर्थ सर्ग,

यहाँ भी वियोगिनी वियोग का अनुभव करती हुई प्रकृति में अपने हृदय से साम्य देखती है।

वियोगिनी उर्मिला भी प्रकृति के सुखद व्यापार में दुःख की आशंका अनुभव करती हुई कहती है:—

"जा मलयानिल लौट जा, यहाँ अवधि का शाप।
लगे न लू होकर कहीं, तू अपने को आप॥"

—साकेत, नवम सर्ग

वह अपनी ही वियोगाग्नि से आप जल रही है। अतः सोचती है कि कहीं ऐसा न हो कि यह मलयानिल भी लू के रूप में परिणत हो जाय।

जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' ने उद्धव-शतक में रूपक और श्लेष के द्वारा प्रकृति के जिस स्वरूप का वर्णन किया है वह गोपियों की वियोग-दशा को उद्दीप्त करने वाला है। यथा:—

"विकसित विपन बसंतिकावली कौ रंग,
लखियत गोपिन कै अंग पियरानें में।
बौरे वृन्द लसत रसाल-बर बारिनि के,
पिक की पुकार है चबाब उमगाने में।

"होत पतझार झार तरुनि समूहनि कौ,
बैहरि बतास लै उसास अधिकाने मैं।
काम-बिधि बाम की कला मैं मीन-मेख कहा,
ऊधौ नित बसत बसंत बरसाने मैं॥"
—उद्धव-शतक

इस छन्द में बसन्त का रूपक बाँधा गया है और श्लेष अलंकार द्वारा बसन्त तथा गोपियों की अवस्था का चित्रण है। इसी प्रकार ग्रीष्म ऋतु के वर्णन में भी उन्हें रूपक और श्लेष का सहारा लेना पड़ता है। उन्हें 'ठाम-ठाम' जीवन-विहीन दिखाई पड़ते हैं और 'तरुनि की पत छीन अनी' दृष्टिगोचर होती है। वर्षा में 'हिय घायन में सदा हरियाई' बनी रहती है। रातदिन 'नयननि सों नीर की झरी' लगी रहती है और कुछ ऐसा प्रमाद है कि 'बिनु घनश्याम धाम-धाम ब्रजमण्डल में ऊधौ नित बसत बहार बरसा की है।'[1]

इसी प्रकार शरद, हेमन्त, शिशिर आदि ऋतुओं का भी रूपक और श्लेष से संयुक्त प्रकृति-वर्णन उद्दीपन के रूप में किया गया है।[2]

प्रकृति में मानव-भावनाओं का आरोपः— साहित्य में मानवीय विकारों का उन्नयन माना गया है। यह सत्य है कि दमीकृत वासनाएँ मानव-प्रकृति पर नियंत्रण करती रहती हैं, फलतः भावुक-हृदय इन वासनाओं से प्रेरणा प्राप्त करता रहता है। उसे जो कुछ भी दिखाई देता है उसमें वह अपना वृत्ति-साम्य स्थापित करने लगता है, जिसका परिणाम यह होता है कि यदि दमीकृत-वासनाओं में निराशा की वृद्धि हुई है तो हँसती हुई प्रकृति की मुस्कराहट फीकी जान पड़ने लगती है, खिलते हुए फूल उपहास करने लगते है, हिलते हुए पत्ते विरोध करते हुए प्रतीत होते हैं और चलती हुई वायु पीछे ठेलती-सी जान पड़ती है। वस्तुतः जैसा हम पहिले कह चुके हैं कि प्रकृति केवल एक रंग-मंच है, हमारी विभिन्न भावग्रन्थियाँ ही प्रकृति को अपने ढंग से सजा लेती हैं और उसमें अपना अभिनय आरम्भ कर देती है। प्रकृति में मानवीय भावनाओं के आरोप का यही मूल रहस्य है।

प्रकृति में मानवीय भावनाओं का आरोप दो रूपों में होता है:—

१—उद्धव-शतक

२—उद्धव-शतक

१— हमें अपनी वृत्ति का अनुभव होना

२— उस वृत्ति का साम्य प्रकृति में दिखाई देना

हमारी ये दोनों अनुभूतियाँ चेतन-मस्तिष्क के क्षेत्र में होती रहती हैं। इस दशा में प्रकृति उद्दीपनात्मक व्यापार करती है। वस्तुतः सावन की रातें बड़ी नहीं होती, परन्तु प्रतीक्षा का क्षण बहुत बड़ा होता है; फिर सहस्रों क्षण वाली रात के लिए यदि कवि कहता है:—

"बीती औध आवन की, लाल मनभावन की,
डग भई बावन की, सावन की रतियाँ॥"

—सेनापति, कवित्त-रत्नाकर, तीसरी तरंग

तो उसे हम केवल प्रकृति का शुद्ध उद्दीपन स्वरूप कहेंगे।

प्रकृति के दूसरे रूप का आविर्भाव उस समय होता है जब दमित वासनाएँ हमारे उपचेतन मस्तिष्क में होती हैं। बाह्य-प्रकृति में उपचेतन मस्तिष्क के व्यापार का प्रत्यक्षीकरण जब होने लगता है तब प्रकृति में मानव-प्रवृत्ति-साम्य दिखाई पड़ने लगता है। यही प्रकृति में मानवीकरण का मूल कारण है।

"सिंधु सेज पर धरा वधू,
अब तनिक संकुचित बैठी-सी,
प्रलय-निशा की हलचल स्मृति में,
मान किये-सी ऐंठी-सी।

—प्रसाद, 'कामायनी'

ऊपर के पद में खंडिता-नायिका का प्रियतम-धाष्टर्यजन्य-अपराध मान का कारण है। भाव-ग्रन्थि में यह भावना उपस्थित हुई। जलप्लावन से सद्यः निस्सृत तन्वंगी प्रकृति पर इस खंडिता-नायिका का यह भाव प्रकृति के चेतन-मस्तिष्क में नहीं था। उपचेतन-मस्तिष्क में निहित यह भाव प्रकृति के साथ साम्य स्थापित करके प्रस्फुटित हो गया है। इसी का नाम प्रकृति का मानवीकरण है। छायावादी रचनाओं में प्रायः प्रकृति का यह मानवीकरण उपलब्ध होता है।

हिन्दी-साहित्य में प्रकृति में मानवीय भावों का आरोप विशेषतः आधुनिक काल में देखा जाता है, यद्यपि जायसी, सूर आदि प्रारम्भिक कवियों में यत्र-तत्र इसके रूप प्राप्त होते हैं। वियोग की अवस्था का चित्रण करने के लिए जायसी ने सरोवर का रूपक स्वीकार किया है। वियोगवह्नि के कारण सम्पूर्ण

सरसता के अभाव में हृदय किस प्रकार विदीर्ण होता हुआ-सा प्रतीत होता है, इसी बात को जायसी-पदमावत में इस प्रकार कहते हैः—

"सरवर हिया घटत नित जाई। टूक टूक होइ के बिहराई॥"

गर्मी में सरोवर का पानी सूख जाता है, जमीन निकल आती है और उसमें दरारें पड़ जाती है, यही सरोवर के हृदय का विदीर्ण होना है। सूर की गोपियाँ कालिन्दी पर वियोगिनी की समस्त भावनाओं का आरोप करती है। जमुना का जल सहज श्याम होता है, किन्तु गोपियाँ उसका कारण विरह-ज्वर से जलना बताती है, उसकी तरंग ही वियोगिनी का तलफना है। जमुना के तट पर एकत्र बालू ही प्रस्वेद-शमन के लिए उपचार-चूर्ण है, और कुश-कास ही उसके खुले हुए बाल हैं तथा कीचड़ ही काली साड़ी है।[1] इस प्रकार वे गोपियाँ नदी में मानवीय भावनाओं का आरोप करती है।

गोपियों ने प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों के प्रति कहीं अपनी आत्मीयता व्यक्त की है, कहीं उनके प्रति विराग व्यक्त किया है, कहीं प्रकृति के उपकरण उन्हें सुखदाई प्रतीत होते है और कहीं वे उनके मन में खीझ उत्पन्न करते है। इसी खीझ का एक उदाहरण देखिये :—

"मधुबन तुम कत रहत हरे।
विरह वियोग स्याम सुन्दर के, ठाढ़े क्यों न जरे॥
मोहन बेनु बजावत द्रुमतर, साखा टेकि खरे।
मोहे थावर अरु जड़ जंगम, मुनिगन ध्यान टरे॥
वह चितवनि तू मन न धरत है, फिरि-फिरि पुहुप धरे।
सूरदास प्रभु विरह दवानल, नखसिख लों पसरे॥"

—सूरसागर, का० ना० प्र० सभा, पद३८२८

मधुवन सचेतन नहीं है। वह किसी भी व्यक्ति की इच्छा-अनिच्छा के द्वारा अपने स्वरूप का निर्माण नहीं कर सकता है। वह अपने ही नियम से बँधा हुआ है और अपनी ही सुषुमा में लीन अपने वैभव का विकास करेगा। गोपियों के कहने से न तो वह पात-रहित होगा और न पातयुक्त। किन्तु विरहोन्माद में गोपियाँ उसे इस प्रकार सम्बोधित करती है मानो वह भी कोई विवेक-सम्पन्न जीवधारी है जो कृष्ण के वियोग में उन्हीं के अनुरूप दु:ख का अनुभव करे और उन्हीं की भाँति जल कर भस्मीभूत-सा हो जाय।

१— सूरसागर, का०ना०प्र०स०, पद-संख्या ३८०६

आधुनिक कवियों में प्रसाद और पन्त की कृतियों में ही विशेष रूप से प्रकृति में मानवीकरण का रूप पाया जाता है। 'कामायनी' में जल-प्लावन के पश्चात् जब काल-रात्रि का अन्त हुआ और उषा के दर्शन हुए तब कवि की कल्पना एक युद्ध का रूपक बाँधती है और उषा को युद्ध में विजयिनी के रूप में उपस्थित करती है :—

उषा सुनहले तीर बरसती
जयलक्ष्मी-सी उदित हुई।
उधर पराजित कालरात्रि भी
जल में अन्तर्निहित हुई॥

—'कामायनी', आशा सर्ग

यहाँ पर प्रलय-निशा तथा उषा का युद्ध-चित्र उपस्थित किया गया है। जल के रंग की श्यामता को व्यक्त करने के लिए कालरात्रि का जल में अन्तर्निहित होना भी स्वाभाविक है। 'कामायनी' का ही एक दूसरा दृश्य लीजिये :—

"कुसुम कानन-अंचल में मन्द-
पवन प्रेरित सौरभ साकार,
रचित परमाणु पराग शरीर,
खड़ा हो ले मधु का आधार।
और पड़ती हो उस पर शुभ्र
नवल मधु-राका मन की साध;
हँसी का मद विह्वल प्रतिबिम्ब
मधुरिमा खेला सदृश अबाध।" —श्रद्धासर्ग

यहाँ पर अमूर्त में मूर्त भावना की कल्पना की गई है। इसमें सन्देह नहीं कि कलाकार इन पंक्तियों में अत्यधिक भावुक हो उठा है। न तो कभी पराग के परमाणुओं से शरीर का निर्माण संभव है और न नवल मधुराका-मन की साध ही उस पर पड़कर हास्य का संचार करने में समर्थ है।

सुमित्रानन्दन पन्त प्रकृति से नित्यप्रति साहचर्य स्थापित करते हुए प्रतीत होते हैं। उनके हृदय का समस्त कौतुक, जिज्ञासा, आनन्द, उल्लास, प्रेरणा आदि सभी कुछ प्रकृति में व्याप्त है। वह उन्हे अपने साथ हँसती-खेलती और रोती हुई प्रतीत होती है। कभी वह निशीथ-काल में तन्वंगी गंगा की

शांत-क्लांत निश्चल ग्रीष्म-विरल-धारा को देखते हैं, कभी उन्हें निर्मल गंगा तापस-ज्वाला की भाँति प्रतीत होती है।[१] बादल शीर्षक कविता में भी जहाँ कवि यह कहता है कि :—

"सुरपति के हम ही हैं अनुचर,
जगत्-प्राण के भी सहचर।"

वहाँ वह बादल को मानव-रूप ही प्रदान करता है। इसी प्रकार 'वायु के प्रति' शीर्षक कविता में भी वह मानवीय भावनाओं की ही कल्पना करके कहता है :—

"प्राण ! तुम लघु-लघु गात।
नील नभ के निकुंज में लीन,
नित्य नीरव, निःशंक, नवीन,
निखिल छवि की छवि ! तुम छवि हीन,
अप्सरा-सी अज्ञात।

अधर मर्मरयुत, पुलकित अंग,
चूमती चलपद चपल तरंग,
चटकती कलियाँ पा भ्रू-भंग,
थिरकते तृण-तरु-पात।"

पन्त की कोमल कल्पना चाँदनी को नारी-रूप प्रदान करती है :—

'नीले नभ के शतदल पर वह बैठी शारदहासिनि।
मृदु-करतल पर शशि मुख धर, नीरव, अनिमिष, एकाकिनि॥'

झरना अपने प्रकृत स्वरूप में उठता-गिरता हुआ प्रवाहित हो रहा है। 'भारतीय आत्मा' उसके इस रूप को मानवीय रूप प्रदान करते हैं। कवि की संवेदना झरने की गति में मानव-हृदय के स्पंदन को अनुभव करती है :—

"किस निर्झरिणी के धन हो ?
पथ भूले हो किस घर का ?
है कौन वेदना बोलो ?
कारण क्या करुणा-स्वर का ?"

१—पंत—'नौका विहार'

प्रकृति में अध्यात्म-तत्व का आरोपः—मानव-जीवन प्रकृति का वरदान है। इसी के विभिन्न अवयवों से संगठित मानव नाम की सजीव प्रतिमा विश्व के नाना घटनाचक्रों के बीच अपने क्रिया-कलाप का प्रदर्शन करती रहती है। क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर इन पंचतत्वों में से यदि उसके शरीर में किसी तत्व का समानुपातिक अभाव हो जाता है तो उसके जीवन में विकृति उत्पन्न हो जाती है। प्राणी चेतना-सम्पन्न होकर यह भी अनुभव करता है कि जिस प्रकृति ने उसके शरीर का गठन किया है उसकी नियामिका कोई अदृश्य सत्ता अवश्य है। कदाचित् इसीलिए सूर्य, इन्द्र, वरुण, मरुत् आदि की उपासना के पश्चात् इन सब शक्तियों पर नियंत्रण रखने वाली किसी परोक्ष सत्ता की खोज में कहा गया है "कस्मै देवाय हविषा विधेम।"

मानव की जिज्ञासा को परितोष प्रदान करने के लिए उसके सामने ब्रह्म नाम की सत्ता आई, जिसके प्रति उसकी समस्त आस्था समर्पित हुई। इसी परोक्ष-शक्ति की कल्पना ने मानव-जीवन के समक्ष अन्य अनेकानेक कल्पनाओं की सृष्टि की। उसने अनुभव किया कि हमारे जीवन की नियामिका केवल प्रकृति ही नहीं, अपितु उससे परे भी कुछ है। उस आवरण के पीछे की वस्तु खोजने के लिए ही अनेकानेक प्रयत्न हुए। भावुक कलाकारों ने प्रकृति के अणु-अणु में उसी ब्रह्म को देखने की चेष्टा की और प्रकृति में अध्यात्म का आरोप करना प्रारम्भ हुआ। इस जड़-प्रकृति में चेतन-पुरुष की लीला देखने का प्रयत्न किया गया। प्रकृति की विभिन्न क्रियाओं में आध्यात्मिक भावों का देखना प्रारम्भ हुआ। यहीं से प्रकृति-चित्रण में अध्यात्म-तत्व-दर्शन की प्रणाली का सूत्रपात होता है। इस प्रकार की प्रथा कबीर, जायसी, तुलसी आदि सन्त-कवियों में भी पाई जाती है। एक स्थान पर कबीर कहते हैं:—

"पानी ही ते हिम भया, हिम ही गया बिलाय।
जो कुछ था सोई भया, अब कुछ कहा न जाय॥"

प्रत्यक्षतः इस पद में प्रकृति के विभिन्न तत्व जल और हिम का वर्णन है, किन्तु प्रकृति के इस प्रयोग के द्वारा आध्यात्मिक तत्व का विवेचन किया गया है। यहाँ पर पानी से तात्पर्य है सूक्ष्म-शरीर का और हिम से स्थूल-शरीर का। अस्तु, यहाँ पर 'हिम ही गया बिलाय' से तात्पर्य है मृत्यु के उपरान्त कारण शरीर में लय हो जाना। एक दूसरा पद देखिये:—

काहे री नलिनी तू कुम्हिलानी, तेरे ही नालि सरोवर पानी।
जल में उतपति जल में बास, जल में नलिनी तोर निवास ॥
ना तलि तपत न ऊपर आग, तोर हेतु कहु कासन लाग।
कहैं कबीर जे उदिक समान, ते नहिं मूए हमरी जान ॥

इस पद में नलिनी से तात्पर्य आत्मा का है। 'ना तलि तपत न ऊपर आग' से तात्पर्य अनेकानेक व्याधियों से और 'जल' से तात्पर्य उस परम ब्रह्म परमात्मा का है। कबीर का ही एक और पद देखिये:—

"हेर हेरत हे सखी, हेरत गया हिराय।
बूँद समानी समुद में, सो कित हेरी जाय ॥"

यहाँ प्रकृति के इन दो उपकरणों 'बूँद' और 'समुद' के माध्यम से आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध की विवेचना की गई है। 'बूँद' का तात्पर्य आत्मा से है और 'समुद' का तात्पर्य परमात्मा से। परमात्मा अंशी है और आत्मा उसका अंश। जब अंश अंशी से मिल जाता है तब वह तद्रूप हो जाता है, उसमें किसी प्रकार का अन्तर अवशेष नहीं रहता। उसमें फिर किसी प्रकार का भेदीकरण नहीं किया जा सकता।

मलिक मुहम्मद जायसी ने भी अपने प्रकृति-वर्णन में यत्र-तत्र अध्यात्म तत्व का निरूपण किया है। जायसी यद्यपि शास्त्रीय पंडित नहीं थे, किन्तु बहुश्रुत होने के कारण जो कुछ अध्यात्म सम्बन्धी ज्ञान उन्होंने प्राप्त किया था उसका अपनी अनुभूति के सहारे वर्णन किया है:—

"खीर समुद का बरनी नीरु।
सेत सरूप, पियत जस खीरु ॥
उलथहिं, मानिक, मोती, हीरा।
दरब देखि मन होइ न धीरा ॥"

राजा रत्नसेन पद्मिनी को प्राप्त करने के लिए सात समुद्र पार सिंहल द्वीप में जाना चाहता है। पहिले वह क्षीर समुद्र में पहुँचता है। उसका जल अत्यन्त निर्मल, स्फटिक जैसा स्वच्छ और दुग्ध जैसा स्वादिष्ट है। उस जल का वर्णन किया नहीं जा सकता है। लहरों के साथ माणिक मुक्ता और हीरक स्वतः बाहर आ पड़ते हैं। इस द्रव्य को देखकर मन स्थिर नही रहता है। निर्मल समुद्र का यह चित्र काल्पनिक ही सही, परन्तु मोहक अवश्य है। यहाँ प्रकृति का सुन्दर रूप चित्रित हुआ है। कविता का उद्देश्य यहाँ प्रकृति-वर्णन नहीं है। उसकी मुख्य चेतना में किसी अध्यात्म-पथ के पथिक का चित्र है

जो अपने प्रियतम के पास पहुँचने के लिए प्रयत्नशील है। उसका क्षीर समुद्र यह स्थूल जगत् है जिसकी प्रत्येक वस्तु मनोरम और मोहक है, जिसका स्वाद परम सुखद है और जिसमें समस्त वैभव बिखरा हुआ है। इस वैभव-विलास की कामना मन में चंचलता उत्पन्न करती है।

वस्तुतः कवि के चेतन मस्तिष्क की प्रधान वृत्ति अध्यात्म तत्व की ओर उन्मुख है। वह पुनरावृत्ति (Revisional Theory) अथवा अनुकरणवृत्ति (Theory of Immitation) के द्वारा जागतिक पदार्थों का आधार लेकर अपनी चेतना की वस्तु पर कल्पना का आवरण चढ़ाता है। सिंहलद्वीप के वर्णन में जहाँ वह कहता है :—

"पथिक जो पहुँचे सहि कै घामू। दुख बिसरै सुख होइ बिसरामू॥
जेहि पाई यह छाँह अनूपा। सो नहिं आइ सहै यहि धूपा॥"

वहाँ भी उसका अध्यात्म-विवेचन स्पष्ट है। "घाम" से तात्पर्य पार्थिव जगत् के कष्टों से तथा "बिसरामू" से तात्पर्य परमात्मा की चरम शान्तिदायिनी पावन गोद से है।

तुलसी भी प्रकृति में अध्यात्म-तत्व का दर्शन करते है। वे "श्यामजलद मृदु घोरत धातु रँगमगे शृङ्गनि" को देखकर ही कल्पना करने लगते हैं :—

"मनहुँ आदि अम्भोज विराजति, सेवित सुर मुनि भृंगनि॥"

इसी प्रकार :—

"जलजुत विमल सिलनि झलकत नभ बन प्रतिबिम्ब तरंग।"

देखकर उनकी कल्पना पुनः जाग्रत होती है :—

"मानहुँ जग रचना विचित्र विलसति विराट अँग अग।"[1]

आधुनिक काव्य में भी कवियों ने प्रकृति-दर्शन किया। उनका यह प्रकृति-दर्शन अन्य युगों के प्रकृति-दर्शन से प्रायः भिन्न है। विषय प्रतिपादन की दृष्टि से वर्तमान कालीन काव्य अपनी कतिपय विशेषताएँ रखता है। आज का कवि प्रकृति को देखता है, किन्तु एक नवीन दृष्टिकोण से। प्रकृति एक रूप में कवि की कृति की प्रेरिका-सी बनी हुई है। वह प्रकृति से ही प्रेरणा पाता है और प्रकृति के लिए ही लिखता भी है। कतिपय कवियों ने अपने प्राकृतिक चित्रों में आध्यात्मिकता का भी समावेश किया है। इस चित्रण में प्रकृति के उपकरणों में परोक्ष सत्ता का दर्शन कर उसके प्रति आत्मसमर्पण की

१—गीतावली, अयोध्याकांड

भावना है। कवि एक जिज्ञासा भरी दृष्टि से प्रकृति के उपादानों को देखता है और अपने कुतूहल को शांत करना चाहता है। 'कामायनी' में प्रसाद एक स्थल पर कहते हैं :—

"विश्वदेव सविता या पूषा,
सोम मरुत चंचल पवमान।
वरुण आदि सब घूम रहे हैं,
किसके शासन में अम्लान ॥" —आशा सर्ग

यहाँ पर कवि 'सविता', 'पूषा', 'सोम', 'मरुत्', 'वरुण' आदि के क्रिया-कलापों को देखकर कल्पना करता है कि निश्चय ही ये सब किसी अज्ञात सत्ता के प्रभाव से प्रभावित हैं, अन्यथा न तो इनका यह क्रम होता और न इनमें यह शक्ति ही होती। यहाँ भी कवि उसी अध्यात्मतत्व का दर्शन करना चाहता है।

महादेवी वर्मा का प्रकृति सम्बन्धी अधिकांश काव्य अध्यात्मतत्व के विवेचन से पूर्ण है। उनकी एक भावना देखिये :—

"तुहिन के पुलिनों पर छविमान,
किसी मधुदिन की लहर समान,
स्वप्न की प्रतिमा पर अनजान,
वेदना का ज्यों छाया दान,
विश्व में यह भोला जीवन,
स्वप्न जागृति का मूक मिलन,
बाँध अंचल में विस्मृति धन,
कर रहा किसका अन्वेषण ?"

आधुनिक काल में हिन्दी-साहित्य की एक धारा रहस्यवाद के नाम से विख्यात है। इसमें भी प्राकृतिक उपकरणों में परोक्ष सत्ता के दर्शन की क्रिया है। दूसरे शब्दों में प्रकृति को आध्यात्मिक दृष्टिकोण से देखा गया है। अतएव प्रस्तुत अध्यात्मतत्व का विवेचन हम रहस्यवाद के अध्याय में विशिष्ट रूप से आगे करेंगे।

उपदेशात्मक प्रकृति वर्णनः—प्रकृति की प्रत्येक गति में एक नियम विशेष है, यथाक्रम ऋतुओं का आना, विशिष्ट परिस्थिति में ही विशिष्ट प्रकार के फूलों का होना विशिष्ट नियमों के ही अन्तर्भूत हैं। सूर्य और चन्द्र नियमित रूप से उदय और अस्त होते हैं। अपने निश्चित् काल में वर्षा होती है।

जंगल में उगने वाली जड़ी-बूटियाँ अपने अस्तित्व में कितनी ही हीन क्यों न हों, किन्तु विशाल मानव-समाज के लिए उनकी उपादेयता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। पैरों से दली जाती हुई दूर्वा भी अपनी गोद में छिपी कोमलता का सुख समस्त प्राणिमात्र को देती रहती है, झरने गिरते-पड़ते बहते ही रहते हैं, और नदियाँ बंजर प्रांत को उर्वर बनाने के लिए अपनी समस्त जलराशि प्रदान करने के पश्चात् भी संतोष अनुभव न करके अपने को अपांपति में लीन कर देती हैं जिससे कि सूर्य की रश्मियाँ पुनः उसे बादल के रूप में बनाकर विश्व-कल्याण के लिए अवनीतल में फेंक सकें।

भावुक हृदय प्रकृति के इन व्यापारों को देखता है और उससे एक प्रकार की शिक्षा—उपदेश ग्रहण करता है। तुलसी ऐसे ही कवि थे, जिनका प्रकृति वर्णन अधिकांशतः उपदेशात्मक है। यथाः—

"बरसहिं जलद भूमि नियराये। यथा नवहिं बुध विद्या पाये।
बुन्द अघात सहँहिं गिरि कैसे। खल के वचन सन्त सह जैसे॥
छुद्र नदी भरि चलि उतराई। जस थोरेउ धन खल इतराई॥
भूमि परत भा डाबर पानी। जिमि जीवहिं माया लपटानी॥
सिमिट सिमिट जल भरहिं तलावा। जिमि सद्गुण सज्जन पहिं आवा
सरिता जल जलनिधि महँ जाई। होइ अचल जिमि जिउ हरिषाई॥"

—रामचरितमानस, किष्किन्धाकांड

इसी प्रकार तुलसी का शरद-वर्णन भी है। उनको 'पंक रेणु रहित धरणी' वैसी ही शोभायमान होती है, जैसी 'नीति निपुण नृप की करणी' और बिना घन के निर्मल आकाश वैसा ही शोभायमान होता है जैसा समस्त आशाओं को छोड़कर हरिजन (भक्त) सुशोभित होता है।[१]

हरिऔध के काव्य में भी प्रकृति का उपदेशात्मक स्वरूप प्राप्त होता है-

सु लालिमा में फलकी लगी दिखा,
विलोकनीया—कमनीय—श्यामता।
कहीं भली है बनती कुवस्तु भी,
बता रही थी वह मंजु-गुंजिका॥

—प्रियप्रवास, नवमसर्ग

१—रामचरितमानस, किष्किन्धाकांड, शरद् वर्णन।

जीवन के तत्व का दर्शन हरिऔध ने 'गुंजिका' सरीखे प्रकृति के छोटे से पदार्थ में किया है।

मैथिलीशरण गुप्त काँटों के बीच उगे हुए फूलों को देखकर जीवन के लिए उपदेश की भावना अनुभव करते हैं:—

"जितने कष्ट कंटकों में हैं, जिनका जीवन सुमन खिला।
गौरव गंध उन्हें उतना ही, यत्र तत्र सर्वत्र मिला॥"

—'पंचवटी'

माखनलाल चतुर्वेदी "भारतीय आत्मा' का 'झरना' भी मानव के लिए उपदेश का एक शास्त्र है। आपदाओं पर विजय पाना उसके जीवन का उद्देश्य है:—

"पर, तेरे पथ को रोकें, जिस दिन काली चट्टानें।
साथी तरु लता भले ही, तुझको लग जायँ मनाने।
तब भी तू जरा ठहर कर, सीकर संग्रह कर अपने।
चट्टानों के मनसूबे, चढ़-चढ़ कर देना सपने॥

—'हिमतरंगिनी'

कहा जाता है कि भारतीय कवियों ने प्रकृति-वर्णन नहीं किया। वस्तुतः भारतीय कवियों ने प्रकृति-वर्णन उस अर्थ में नहीं किया जिस अर्थ में पश्चिम के महाकवियों से प्रभावित आधुनिक युग के विद्वान् समालोचकों का मत है। हमें यहाँ केवल यह देखना है कि प्रकृति-वर्णन का मूलतः उद्देश्य क्या है। पाश्चात्य विद्वानों के प्रकृति-वर्णन का विकसिततम रूप प्रकृति में सौन्दर्य की अनुभूति के द्वारा सौन्दर्यानुभूति (Aesthetic Sense) का विकास रहा है। सौन्दर्यानुभूति का अर्थ है सौन्दर्य में तन्मय होकर मानवीय विकारों का विस्मरण। संभव है कि इस सौन्दर्यानुभूति के द्वारा मानवीय विकारों का विस्मरण वास्तविक भी हो। जब भारतवर्ष के दार्शनिकों का एक सम्प्रदाय वाममार्ग (मुद्रा, मद्य, मांस, मत्स्य और मैथुन) के द्वारा भी उच्च आध्यात्मिक स्थिति की प्राप्ति सम्भव बताता है तब प्रकृति द्वारा सौन्दर्य-भावना का उदय होना मान लेना हमारे लिए कठिन नहीं है। परन्तु यदि प्रकृति-सौन्दर्य से उत्पन्न हुए आनन्द की विवेचना की जाय तो वह विशुद्ध ऐन्द्रिय सुख ही है। मिठाई खाते समय बालक का मन मिठाई के स्वाद के साथ जिस तदाकार वृत्तिता का अनुभव करता है, हमारी दृष्टि में प्रकृति सौन्दर्य पर मुग्ध मन भी जिस आनन्दोपलब्धि का अनुभव करता है, वह उस आनन्द से भिन्न नहीं है। अतएव हमारी दृष्टि

में प्रकृति-सौन्दर्य से उत्पन्न सौन्दर्य-भावना भी जागतिक ही है। उसमें किसी गूढ़ रहस्य का दर्शन और उसके द्वारा आत्मपरिष्कार की कल्पना भ्रामक सिद्धान्त है। हमारे इस विवेचन का यह अर्थ नहीं है कि प्रकृति-सौन्दर्य के द्वारा आत्मपरिष्कार होता ही नहीं है, परन्तु यह आत्मपरिष्कार मनुष्य की निजी प्रवृत्ति का परिणाम है। प्रकृति केवल सहायिका हो सकती है, निमित्त कारण बन सकती है; उपादान तो मनुष्य की प्रवृत्ति में रहता है। यही कारण है कि आत्मपरिष्कार को अपना अन्तिम लक्ष्य मानने वाले भारतीय दार्शनिकों ने गृह त्याग और वानप्रस्थ आश्रम का विधान किया है, जबकि मनुष्य को बाह्य आडम्बरविहीन प्रकृति की रहस्यमयी गोद में पहुँच कर आत्मसाक्षात्कार के लिए प्रकृति से भी सहायता लेनी आवश्यक हो जाती थी। यह सहायता केवल सौन्दर्य की सहायता नहीं थी। उस सौन्दर्य में बिखरी हुई चेतना की क्रिया, उसका कौशल, उसकी सृजन और संहार की कला सबकी सब मिलकर उसके आत्मपरिष्कार में योग देती थी। प्रकृति के इन वर्णनों का, चेतना की इस क्रिया के दर्शन करानेवाले वर्णनों का अभाव भारतीय साहित्य में कहीं नहीं है।

हिन्दी-साहित्य उस समय उन्नत हुआ था जब आत्मविकास की यह परंपरा नष्ट प्राय हो चुकी थी। अतएव यह आशा करना कि रीतिकाल में प्रकृति के ऐसे वर्णन मिल सकेंगे अत्यन्त अस्वाभाविक था। तुलसी ने इस दिशा में यत्न किया है। यही कारण है कि आज हम तुलसी को प्रकृति का उपदेशात्मक वर्णन करने वाला कवि मानने लगे हैं। तुलसी के चित्रकूट, वर्षा-शरद् वर्णन की परीक्षा करते समय हम तुलसी के दृष्टिकोण को बिना जाने हुए उसे उपदेशक का अपराधी बना देते हैं। चित्रकूट वर्णन करते समय जब वह कहता है कि:—

"नदी पुनीत पुरान बखानी। अत्रिप्रिया निज तपबल आनी।
सुरसरि धार नाउँ मंदाकिनि। जो सब पातक पोतक डाकिनि॥

× × ×

"रघुबर कहेउ लखन भल घाटू। करहु कतहुँ अब ठाहर ठाटू।
लखन दीख पय उतर करारा। चहुँ दिसि फिरेउ धनुष जिमि नारा॥
नदी पनच सर सम दम दाना। सकल कलुष कलि साउज नाना।
चित्रकूट जनु अचल अहेरी। चुकइ न घात मार मुठ भेरी॥"

—रामचरित मानस, अयोध्याकांड

× × ×

"आजु बन्यो है बिपिन देखो रामधीर,
मानो खेलत फागु मुद मदन वीर।
बर, बकुल, कदंब, पनस, रसाल,
कुसुमित तरु निकर कुरव तमाल॥"

× × ×

"मलयानिल सीतल सुरभि मन्द।
बह सहित सुमन रस रैनु वृन्द,
मनु छिरकति फिरति सबनि सुरंग।
भ्राजत उदार लीला अनंग।
क्रीडति जीते सुर असुर नाग।
हठि सिद्ध मुनिन के पंथ लाग।
कह तुलसिदास, तेहि छाड़ मैन।
जेहि राख राम राजीव नैन।"[1]

और भी:—

"ऋतु पात आय भलो बन्यो बन समाज।
मनो भये हैं मदन महाराज आज।"

× × ×

"मारुत मिव पत्र प्रजा उजारि।
नय नगर बसाये विपिन झारि।
सिंहासन सैल सिलासु रंग।
कानन छवि रति परिजन कुरंग।"

× × ×

"मधुकर सुक कोकिल बंदि वृन्द।
बरनहिं विशुद्ध जस विविध छन्द।
महि परत रस फल पराग।
जनु देत इतर नृप कर विभाग।"[2]

तब प्रकृति के सुन्दर और भयानक दोनों रूपों को आत्मविकास का सहायक बनाता हुआ दिखाई देता है।

१—गीतावली, अयोध्याकांड, पद ४८

२—गीतावली, अयोध्याकांड, पद ४६

ऐसे आत्मविकास की कामना करने वाले प्रकृति के प्रेमी आज कितने है जो प्रकृति के साथ तादात्म्य का अनुभव करते है और सचमुच वृत्तियो की कोमलता प्राप्त कर लेते हैं । न केवल भारतीय साहित्य में वरन् पश्चिम के साहित्य में भी वस्तुतः इस सौन्दर्य-भावना की प्राप्ति उतनी ही दुर्लभ है जितनी संसार के किसी साहित्य में । वर्ड्सवर्थ को यदि हम वाद के रूप में अलग कर दें तो अंग्रेजी के अन्य प्रकृति-वर्णन करने वाले कवि या तो केशव और श्रीधर पाठक की भाँति केवल प्रकृति वर्णन करने वाले हैं अथवा रीतिकालीन कवियों की भाँति प्रकृति का उद्दीपनात्मक चित्र खींचने वाले हैं। वस्तुतः सामान्य चेतना का यह खेल संसार में सर्वत्र एक समान होता रहता है । चेतना के इस खेल में सौ-पचास वर्ष का अन्तर अन्तर नहीं समझा जाता है । संसार के किसी साहित्य में कोई पद्धति सौ वर्ष पहिले चल पड़ती है और कोई पद्धति सौ वर्ष बाद । अतएव प्रकृति के विशेष वर्णन की शैली में यदि कोई देश सौ–पचास वर्ष आगे-पीछे है तो उस देश के कलाकारों को दूषित अथवा परिष्कृत मस्तिष्क होने का दुर्वाद या यश नहीं दिया जा सकता ।

स्व-स्वत्व (वैयक्तिकता) से सम्बन्धित वाद

स्व-स्वत्व (वैयक्तिकता) से सम्बन्धित वाद

प्रयोगवाद

इतिहास

युग की चेतना ही कलाकार की प्रेरणा है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब-जब युग ने करवट बदली है तब-तब साहित्य ने भी उसी के अनुरूप अपने स्वरूप को सँवारा है, कभी अग्रगन्ता होकर और कभी अनुगामी बन कर। इस प्रकार साहित्यकार का प्रत्येक पग क्रिया का पग, संघर्ष का पग रहा है। वस्तुतः संघर्ष ही उसकी चेतना का मूल है। हिन्दी साहित्य का सम्पूर्ण इतिहास राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं वैयक्तिक संघर्ष का इतिहास है। यदि हम अधिक दूर न जाकर प्रथम महायुद्ध के पूर्व की साहित्यिक प्रगति और उसके बाद की प्रगति का तुलनात्मक अध्ययन करें तो स्पष्ट होगा कि प्रथम महायुद्ध के पश्चात् ही साहित्यिक अभिव्यक्तियों में भाव और भाषा दोनों ही दृष्टियों से एक महान् अन्तर उपस्थित हो गया था। छायावादी काव्य इस तथ्य का प्रमाण है। इसी प्रकार द्वितीय महायुद्ध ने भी साहित्य को प्रभावित किया। इस युद्ध ने वर्गगत चेतना को बल प्रदान किया। विभिन्न श्रेणियों में विभक्त जनता अपने सामाजिक स्तर एवं राजनैतिक अधिकारों के प्रति अधिकाधिक जागरूक हुई और उसने मानव-मानव के बीच खड़ी हुई वैषम्य की दीवार को ढहा कर समता और बन्धुत्व की उर्वर भूमि में अपनी जीवन-कृतियों की लहलही खेती को देखना चाहा। बदली हुई परिस्थितियों में आज का मानव अपनी नवीन चिन्तन-पद्धति को स्वीकार करता है। परंपरागत विचार-धारा को रूढ़िबद्धता के दोष से दूषित मानकर वह नवीनता का स्वागत करता है। वह यह अनुभव करता है कि युग का प्रत्येक चरण परि-

वर्तन की सृष्टि करता है अतः परिवर्तन-क्रम के साथ-साथ मानव के रहन-सहन, भावों के आदान-प्रदान, आवश्यकताओं एवं अनुभूतियों में भी परिवर्तन होना स्वाभाविक है। यह परिवर्तन बढते-बढ़ते मानव की बोधवृत्ति को भी परिवर्तित कर देता है। अतः यदि उसकी समस्त अभिव्यक्तियो में परिवर्तन परिलक्षित हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या !

निस्सन्देह परिवर्तन जीवन का शाश्वत् नियम है, एतदर्थ वह साहित्य के लिए भी उतना ही सत्य है जितना जीवन के लिए। किन्तु परिवर्तन जीवन की वह उषा है जो तमिस्रा के सघन-तम को धीरे-धीरे चीरती हुई प्राची के पटों को खोल कर झाँकती है और पुनः वही अपने विकास-क्रम में बढ़ती-बढ़ती मध्याह्न के प्रखर सूर्य की ऊष्मा के रूप में परिवर्तित हो जाती है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक परिवर्तन का एक पग अतीत में रहता है और दूसरा वर्तमान की नवीन भूमि पर अपना चिह्न अंकित करता है। इस प्रकार उसमें एक शृंखला, एक नियम, एक पद्धति रहती है। इसी प्रकार प्रत्येक जीवन अपने नवीन प्रयोगों द्वारा भविष्य को वर्तमान में खींचता हुआ इतिहास की सृष्टि करता है।

हमारा साहित्य भी इस प्रकार के प्रयोगों से शून्य नहीं है। वीरगाथा-काल से लेकर आज तक साहित्य अपने प्रगतिपथ पर प्रयोगो का ही निर्माण कर रहा है। इस प्रकार यदि तात्विक दृष्टि से देखा जाय तो हिन्दी का सबसे अधिक प्रयोगवादी कवि तुलसी था जिसने काव्यशैली और वर्ण्य विषय दोनों दृष्टियों से सबसे अधिक प्रयोग किये। यहाँ विचारणीय प्रश्न यह भी है कि हिन्दी काव्य-साहित्य में प्रयोग कभी वर्ण्य विषय बनकर नहीं आया। अतः तार्किक एवं सैद्धान्तिक दोनों ही दृष्टियों से इसे 'वाद' की संज्ञा प्रदान करना कहाँ तक उचित है। अब तक के साहित्य की यह विशेषता रही है कि उसने प्रयोगों के आवरण से आवृत्त होकर अपने स्वरूप की रक्षा नहीं की है, अपितु अपने आन्तरिक स्वास्थ्य के विकास को ही जीवन का नवीन प्रयोग माना है, किन्तु आज का प्रयोगशील साहित्य आन्तरिक महत्व को प्रधानता नहीं दे रहा है, वह बाह्य परिवर्तन में ही प्रयत्नशील है। जब हम आज के प्रयोगवादी काव्य पर इस प्रकार का आक्षेप करते हैं तब अत्यन्त सहानुभूति पूर्वक यह भी सोच लेते हैं कि प्रयोगवादी काव्य-शिशु का बाह्याकर्षण पर मुग्ध होना अस्वाभाविक नहीं है। अनुभूतियों की सघनता प्राप्त होने पर कदाचित् वह इस आक्षेप का परिहार भी कर सकेगा।

प्रयोगवादी कवियों का मत है कि हमारी सीमा केवल भारतवर्ष तक ही नहीं है, अपितु हम देश की सीमाओं को लाँघ कर आज विश्व-बन्धुत्व के पाश में सम्पूर्ण मानवता को आबद्ध कर रहे हैं। नवीन युग-चेतना नवीन आदर्शों एवं संस्कृतियों का निर्माण कर रही है। अतएव प्राचीनता का निर्मोक दूर करके हमें साहित्य को नवीन साँचे में ढालना ही पड़ेगा। भाषा का वह स्वरूप जो आज तक को अभिव्यक्तियों में प्रयुक्त हुआ है, प्राचीनता के कारण शिथिल, पिटा हुआ, घिसा हुआ तथा नवीन विचारों, अनुभूतियों एवं अभिव्यक्तियों को वहन करने में अशक्त एवं असमर्थ है। प्राचीन उपमाएँ, उत्प्रेक्षाएँ तथा रूपक आज की युगीन भावनाओं को रूप देने में अपनी विवशता अनुभव करते है। अतः हमें चलती हुई भाषा के मोह को भी छोड़ना पड़ेगा और आलंकारिक परंपराओं के प्रति भी उपेक्षा वृत्ति रखनी पड़ेगी। ठीक है, अभिनव युग का अभिनव शृंगार करने के लिए प्रत्येक वस्तु अभिनव होगी और यहाँ तक कि उसका शृंगार कर्त्ता भी अपनी समस्त भावनाओं के साथ लौकिकता से परे अभिनव होकर अभिनव सृष्टि करे तो यह उसकी अभिनव बुद्धि के उपयुक्त ही होगा।

प्रयोगवादी साहित्यकारों ने अपनी प्रयोगवादिता के इतिहास का उल्लेख करते हुए कहा है कि साहित्य में प्रयोग आदिकाल से होते आये हैं। साहित्य के विकास के मूल में प्रयोग ही प्राणरूप में प्रतिष्ठित है। आधुनिकतम प्रयोगवादी साहित्य के सम्बन्ध में उनका यह भी मत है कि प्रयोगशील काव्य का स्पष्ट विकास पहिले-पहिल निराला की रचनाओं ('कुकुरमुत्ता,' 'नये-पत्ते') में प्राप्त होता है। सुमित्रानन्दन पन्त प्रयोगशील कविता का जन्म छायावादी काल से मानते हैं। उनका कथन है कि प्रसाद ने 'प्रलय की छाया' 'वरुणा की कछार' लिख कर वस्तु तथा छन्द सम्बन्धी नवीन प्रयोग प्रारम्भ कर दिये। निराला ने मुक्त छन्द के अनेक रूप तथा शैलियाँ प्रस्तुत कर उसे निखारा और परवर्ती कवियों ने उसमें युद्धोत्तर कालीन जन-भावना, विद्रोह, वैचित्र्य, नवीन वस्तु दृष्टि, व्यापक सौन्दर्यबोध, तीव्र उद्गार तथा अतृप्त रागात्मकता का समावेश कर उसे सब प्रकार से सँवारने तथा आधुनिक बनाने का यत्न किया।

सच तो यह है कि द्वितीय महायुद्ध के समय में एक ऐसा जागरूक वर्ग रहा जिसने अपनी राजनीतिक एवं सामाजिक स्थिति से बड़ा असंतोष अनुभव किया, आर्थिक अव्यवस्था एवं नैतिक-पतन ने उसे चिंतित कर दिया। विवशता

की स्थिति में उसकी यह चिंतना एक प्रकार से खीझ के रूप में व्यक्त हुई। इस खीझ ने उसकी भाषा और अभिव्यक्ति दोनों ही को अव्यवस्थित कर दिया। इस प्रकार हिन्दी में प्रयोगवादी कविता का जन्म साधारणतः सन् १९४३ में 'तारसप्तक' के प्रकाशन के साथ ही साथ मानना उचित होगा। सन् १९४७ में 'प्रतीक' नामक पत्रिका के कुछ अंक भी हिन्दी जगत् को उपलब्ध हुए। इससे भी 'प्रयोगवाद' का परिचय प्राप्त हुआ। 'तारसप्तक' के बाद सन् १९५१ में दूसरा सप्तक निकला। इसके द्वारा भी प्रयोगवादी रचनाएँ प्रकाश में आईं। पटना के दो पत्र 'दृष्टिकोण' और 'पाटल' भी प्रयोगवादी कविता के इतिहास में अपना महत्व रखते हैं।

विवेचन

प्रयोगवादी साहित्य प्रगतिवादी साहित्य के अधिक निकट है। दोनों ही प्रकार के लेखकों की प्रेरणा का मूल-स्रोत प्रायः एक ही है। सामाजिक एवं आर्थिक वैषम्य के कारण त्रस्त जनता जब कराह उठती है तब भावुक हृदय विद्रोहात्मक भावनाओं को लेकर उपस्थित होता है। वह अपने काव्य-साहित्य द्वारा नव-चेतना को अभिव्यक्त करना चाहता है। उसका प्रयत्न होता है कविता को कल्पना लोक से हटाकर जन-जीवन के निकट लाने का। प्रयोगवादी कलाकार भारतीय साहित्य-शास्त्र में काव्य की दी गई परिभाषा 'रसात्मकं वाक्यं काव्यं' के प्रति आस्था नहीं रखता है। उसका मूल उद्देश्य तो कविता द्वारा अपनी विद्रोहात्मक भावनाओं का प्रचार करना है। अस्तु, वह काव्यगत 'रस' के चक्कर में नहीं पड़ता है। वह तो केवल इतना ही जानना चाहता है कि उसकी कृति ने जन-जीवन को कितना अधिक प्रभावित किया है।

पाठकों के परितोष के लिए हम प्रयोगवादी साहित्य के सम्बन्ध में कतिपय प्रयोगवादी साहित्यकारों के मत[1] नीचे उद्धृत करते हैं:—

अज्ञेय—"प्रयोगशील कविता में नये सत्यों या नई यथार्थताओं का जीवित बोध भी है, उन सत्यों के साथ नये रागात्मक सम्बन्ध भी और उनको पाठक या सहृदय तक पहुँचाने यानी साधारणीकरण करने की शक्ति है।"

धर्मवीर भारती—"प्रयोगवादी कविता में भावना है, किन्तु हर भावना के आगे एक प्रश्न चिह्न लगा है। इसी प्रश्न चिह्न को

1—प्रतीक, जून, १९५१

आप बौद्धिकता कह सकते हैं। सांस्कृतिक ढाँचा चरमरा उठा है और यह प्रश्न चिह्न उसी की ध्वनिमात्र है।

गिरिजाकुमार माथुर—"प्रयोगों का लक्ष्य है व्यापक सामाजिक सत्य के खण्ड अनुभवों का साधारणीकरण करने में कविता को नवानुकूल माध्यम देना जिसमें 'व्यक्ति' द्वारा इस 'व्यापक' सत्य का सर्व बोधगम्य प्रेषण संभव हो सके।"

शिवमंगल सिंह 'सुमन' प्रयोगवादी काव्य में ऊपर से तो शैलीगत और व्यंजनागत चमत्कार तथा अंदर से विषयगत और वस्तुगत तत्व का भी पूर्ण समावेश मानते हैं। हमारा अपना विचार है और जैसा कि आगे उद्धरणों से व्यक्त होगा कि प्रयोगशील काव्य में शैलीगत और व्यंजनागत चमत्कार ही प्रधान है। ऊपर जिन विद्वानों के मत हमने उद्धृत किये हैं, वे प्रयोगवादी काव्य के विशेष उन्नायकों में माने जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उनका अपना एक दर्शन है, उनकी अपनी एक विचार-पद्धति है। यह बात दूसरी है कि हम उनसे सहमत हों या न हों, पर उनके अभिमत के प्रति इस समय सन्देह नहीं किया जा सकता है। हाँ, हमें यह अवश्य देखना है कि ये व्यक्ति तथा इनके अनुयायी प्रयोगवादी काव्य के नाम पर जो साहित्य दे रहे हैं, उसका स्वरूप और उसकी कोटि क्या है? यहाँ हम भाव और भाषा दोनों ही दृष्टियों से प्रयोगवादी कविताओं की परीक्षा करेंगेः—

भोर की प्रथम किरण फीकी,
अनजाने जागी हो याद किसी की,
अपनी मीठी, नीकी।
धीरे-धीरे उदित रवि का लाल-लाल-गोला,
चौंक कहीं पर छिपा मुदित बन-पाखी बोला॥

—अज्ञेय-'प्रथमकिरण'

ऊपर की कविता में प्रथम तीन पंक्तियों को हम यों ही छोड़ते है। नीचे की दो पंक्तियों पर विचार कीजिये। सूर्य की प्रथम किरण जो फीकी थी, अब कदाचित् वह फीकी न रही होगी, क्योंकि धीरे-धीरे रवि का लाल-लाल गोला उदित हो गया। जिन्होंने प्राकृतिक दृश्य देखा है, उन्हें ज्ञात है कि लाल गोला निकल आने पर किरणें क्रमशः प्रखरतर होती जाती हैं। प्रातः

काल ब्राह्ममुहूर्त में उठने वाले व्यक्तियों का यह भी अनुभव है कि सूर्य का लाल-लाल गोला निकलने के पूर्व ही पक्षियों का समूह अपने-अपने नीड़ों से निकल-निकल कर वन-प्रान्त की यात्रा प्रारम्भ कर देता है। हाँ, यदि कोई हारा-थका रात भर का जगा हुआ अथवा आहत पक्षी भले ही हो जो सूर्योदय के बाद भी सो रहा हो तो बात दूसरी है। अस्तु, लाल गोला निकल आने पर "चौंक कहीं पर छिपा मुदित बन-पाखी बोला" कैसे ? वस्तुतः स्वानुभूति परक कथन का महत्व ही काव्य का महत्व है। केवल कल्पना सत्य से बहुत दूर हो जाती है। ऐसी स्थिति में काव्य हृदय की वस्तु न बन कर मस्तिष्क की वस्तु बनता है। पर श्रेष्ठ काव्य तो वह है जिसकी रचना हृदय से ऊपर और मस्तिष्क के नीचे की स्थिति में होती है।

भोंपा चीख उठा, मेरी भोर हो गई,
श्रीमती जी जरा एक कप चाय बनादो।
सुना है सोने-सा चमकीला गोला एक सूर्य होता है।
जब वह आता है तो कुहासे के जाल को काट कर,

× × ×

सारी दुनिया को जगाने लगता है
सुना है चाँदी-सा चमकीला गोला एक चाँद होता है।
जब वह आता है तब मस्जिदों के गोल-गोल गुम्बदों पर

× × ×

खड़ा हो मुअज्जिन खुदा के नाम पर
उसके सारे बन्दों को पुकारने लगता है।[१]

—मदन वात्स्यायन—'शिफ्ट फोरमैन'

प्रस्तुत उद्धरण में 'सुना है' शब्द विचारणीय है। यदि शिफ्ट पर काम करने वाला फोरमैन है तो उसके काम करने के घण्टे अवश्य बदलते रहे होंगे। और सूर्य और चंद्र की प्रत्येक अवस्था में उसका चाक्षुष-प्रत्यक्ष भी हुआ होगा। करुणा की व्यञ्जना के लिए 'सुना है' का प्रयोग शिथिल है।

१— प्रतीक, सितम्बर, १९५१

पूर्णिमा से भर उठी है आज की बरसात की रात
घोल में इन बादलों के साँवली मिट्टी घुली है।
खो गई है बहुत कोमल झलक जैसे,
किसी गोदी के झमकड़े की
हाँ, इसी आकाश में मानो ॥[1]

—शमशेर बहादुरसिंह—'सावन की बहार'

बरसात की रात और 'पूर्णिमा से भर उठी है' में किस भाव की व्यंजना प्रधान है और वह भी सावन की बहार में। इसी प्रकार 'शाम का आखिरी गाना' शीर्षक रचना में:—

बीत गईं जग की संध्याएँ
जगती की सुन्दर संध्याएँ

ये दो पंक्तियाँ आवृत्ति के अतिरिक्त भावों की तीव्रता में किस प्रकार सहायिका हैं ?

भावों की संप्रेषणीयता की दृष्टि से एक प्रयोगवादी का उत्साह देखिये:—

मेरे सपने इस तरह टूट गये
जैसे भुँजा हुआ पापड़

प्रयोगवादी कविता के कतिपय अन्य स्वरूप:—

झननन झननन
घननन घननन
दीप जला,
दीप बुझा ।

यहाँ भावों की किस गहराई में पहुँचकर हृदय रस की अनुभूति प्राप्त करता है ? कुछ प्रयोगवादी कलाकार चीनी काव्य से प्रभावित होकर केवल शब्दों के प्रयोग द्वारा क्रिया के भाव को अनुभव कराना चाहते हैं। यथा:—

'मेढ़क पानी छुप्प'

'मेढ़क' शब्द से उसके उछलने की क्रिया का परिचय, 'पानी छुप्प' से उसके उछल-उछल कर पानी में कूदने का बोध कराया गया है। यदि कलाकार को यही अभिप्रेत है तो कहना पड़ेगा कि आज के विकासोन्मुख युग में भी कलाकार बालक की भाँति अभी बोलना सीख रहा है। जैसे बालक जब 'मम्

1—प्रतीक, अगस्त, १९५१

मम्' कहता है तब उसके माता-पिता या अन्य स्वजन यह समझ लेते हैं कि बच्चा यह कहना चाहता है कि पानी पियेंगे। अतः वे उसे पानी पिला देते है। इसी प्रकार कदाचित् कलाकार भी अस्फुट स्वरों में अपने अस्फुट भावों को अभिव्यक्त करके उनके भावों के समझने एवं अर्थ लगाने का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व पाठक पर छोड़ देना चाहता है।

भाषा के कतिपय प्रयोगों को भी देखना है। आज का युग खड़ी बोली का पूर्ण विकसित युग है। उसमें समस्त भावों की सम्यक् अभिव्यक्ति की क्षमता विद्यमान है। भाषा का अपना एक व्याकरण संयत निश्चित क्रम है, नियम है, जिसकी अवहेलना प्रयोगकर्त्ता की स्वच्छंदता का परिचय अवश्य दे सकती है, प्रयोग की सार्थकता एवं सामर्थ्य का नहीं। यथा:—

शक्ति दो बल दो हे पिता।
जब दुख के भार से मन थकने आय
पैरों में कुली की-सी लपकती चाल छटपटाय॥

× × ×

कैसे सहा होगा, पिता, तुम कैसे बचे होगे?
तुमसे मिला है जो विक्षत जीवन का हमें दाय
उसे क्या करें?
तुमने जोरी है अनाहत जिजीविषा
उसे क्या करें? कहीं—अपने पुत्रों, मेरे छोटे
भाइयों के लिए, यही कहो।[1]

—रघुवीरसहाय.

ऊपर की कविता में 'थकने आय' क्रिया का प्रयोग खड़ी बोली की दृष्टि से कहाँ तक समीचीन माना जायगा। साथ ही सरल चलताऊ भाषा के बीच में 'विक्षत', 'अनाहत', 'जिजीविषा' आदि का प्रयोग भी चिन्त्य ही समझा जायगा। इन शब्दों में जो भाव-गाम्भीर्य है उसका प्रस्तुत विषय से क्या सम्बन्ध है, यह भी विचारणीय है। इसी प्रकार—

हम कुंज-कुंज यमुना-तीरे
कर गूँथ-गूँथ धीरे-धीरे॥[2]

—अज्ञेय.

१—प्रतीक, फरवरी, १९५२
२—प्रतीक, सितम्बर, १९५२

में 'तीरे' शब्द बंगला-प्रभाव व्यक्त करता है। खड़ी बोली में ऐसे प्रयोग मान्य नहीं हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रयोगवादी भाषा के शास्त्रसम्मत प्रयोग-व्याकरणिक सम्बन्ध का कोई विशेष विचार नहीं करते हैं।

इतना ही नहीं, अपितु शब्दों को जानबूझ कर तोड़-मरोड़ कर तथा ग्रामीणता के आवरण से आवृत्त कर साहित्य में उनका प्रयोग समीचीन मानने में प्रयोगवादी साहित्यकार कदाचित् यह भूल जाते हैं कि प्रत्येक शब्द का अपना एक संस्कार एवं उसमें व्याप्त अपना एक अर्थगांभीर्य होता है। अतः उनके प्रयोग में विशेष सावधानी रखनी चाहिए। साथ ही विषयानुसार भाषा का प्रयोग भी अमान्य नहीं ठहराया जा सकता। किन्तु खेद का विषय है कि कभी-कभी प्रयोगवादी कलाकारों की हठवादिता से हिन्दी-उर्दू, ग्राम्यादि भाषा के प्रयोग से एक अजब खिचड़ी भाषा बनती जा रही है।

यहीं पर प्रयोगवादी कविता के विषय में छन्द की चर्चा भी आवश्यक प्रतीत होती है। छन्द काव्य का नादमय सौन्दर्य है। छन्द के साँचे में ढली कविता अपनी सुडौलता के कारण आकर्षण रखती है। छन्द की संगीतात्मकता में भाव स्वतः थिरकने लगता है और पाठक उसी संगीतात्मकता के सहारे उसके गंभीरातिगंभीर प्रदेश में प्रवेश कर सकता है। स्वर और लय का क्रम भावों की तीव्रानुभूति में सहायक होता है, किन्तु आज का प्रयोगवादी कलाकार प्रायः छन्दादि के बन्धन को स्वीकार न करके मुक्तक परंपरा में विश्वास व्यक्त करता है। वह अपनी कविता-कामिनी को छन्दों की कारा में जकड़ना नहीं चाहता। इसी सम्बन्ध में श्री शिवमंगलसिंह 'सुमन' का कथन है कि "भावनाओं की व्यापकता को सँवारने के लिए मुक्त छन्द बड़ा ही उपयुक्त प्रतीत हुआ और युग की चेतना स्वभावतः उसकी ओर उन्मुख हो उठी।" किन्तु इसी के विपरीत श्री भगवतीचरण वर्मा का कथन है कि "मुक्त छन्द की कविता को अधिक से अधिक मैं गद्य-काव्य मान सकता हूँ, कविता नहीं।" सच तो यह है कि छन्दोबद्ध काव्य की रचना साधना-सापेक्ष्य है। उसके लिए कौशल-विशेष की आवश्यकता है और आज का कवि कदाचित् उस तपश्चर्या से बचना चाहता है जो उपासना के लिए—सिद्धि के लिए अपेक्षित होती है। यही कारण है कि प्रयोगवादी कवियों के मुक्त छन्द अपने में एक हलचल-सी, एक बवण्डर-सा रखते हुए भी प्रभावशून्य प्रतीत होते हैं। उनकी करुणा और उच्छ्वास भी पाठक के हृदय को द्रवित नहीं कर पाते। हाँ, होता क्या है, एक विस्मय-कारिणी सृष्टि।

उपमानों की योजना, रूपकों का विधान आदि आलंकारिता के सम्बन्ध में भी प्रयोगवादी कलाकार अपनी दृष्टि-विशेष के द्वारा अलौकिकता को खोजना चाहता है। यथा—

१—"कितनी सहमी सहमी सी चिति की सुरमई पिपासा।"
२—"पहिले दरजे में लोग कफन की भाँति उजले वस्त्र पहने..."
३—"पूरब दिशि में हड्डी के रंग वाला बादल लेटा है,
पेड़ों के ऊपर गगन खेत में
दिन का श्वेत अश्व मार्ग के श्रम से थक कर मरा पड़ ज्यों"

इसमें सन्देह नहीं, युग-चेतना ने अनेकानेक वस्तुओं का निर्माण किया है। विज्ञान ने बहुत-सी नई वस्तुएँ मानव के समक्ष उपस्थित की हैं। अतः भावों की सहज अनुभूति के लिए आवश्यकतानुसार नवीन वस्तुओं, व्यापारों को देखना चाहिए ही, किन्तु नवीनता के आवेश में औचित्य की सीमा का उल्लंघन करके हम कहीं कलाबाजी में बाजीगर न बन जायँ, इसका भी ध्यान रखना चाहिए। ऊपर 'पिपासा' के साथ 'सुरमई' विशेषण किस भाव-विशेष की सृष्टि करता है? काव्य में आलंकारिक प्रयोगों में सुरुचि का ध्यान भी आवश्यक है। यथा—'कफन की भाँति उजले वस्त्र' हमारी समझ में कोई सौन्दर्य उत्पन्न नहीं करता। इसी प्रकार बादल के लिए भी हड्डी के रँग को उपमान रूप में रखना भी उचित नहीं प्रतीत होता है। हाँ, इससे कवि-हृदय में व्याप्त विक्षोभ का भाव अवश्य व्यक्त होता है, पर सुरुचि का अभाव खटकता है।

ऊपर के इस विवेचन से हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि प्रयोगवादी कवियों ने जो कुछ साहित्य की अर्चना में अपनी अंजलि अर्पित की है वह सम्पूर्णतः अनुपयोगी, असुन्दर एवं व्यर्थ-सी है। नहीं, ऐसा नहीं है, कतिपय कलाकारों की अपनी साधना विशेष है। वे अपनी सहज अभिव्यक्ति द्वारा मानव-हृदय को स्पर्श भी करते हैं। युग की व्यापक अनुभूति की व्यंजना द्वारा वे जीवन के सत्य को उद्भासित कर एक संदेश भी देते हैं। इसीलिए उनकी वाणी में माधुर्य है, प्रवाह है और फलतः प्रभाव भी। यथा—

"पीके फूटे आज प्यार के पानी बरसा री।
हरियाली छा गई हमारे, सावन सरसा री॥
बादल आये आसमान में, धरती फूली री।
अरी सुहागिन, भरी माँग में भूली भूली री॥

बिजली चमकी, भाग सखी री, दादुर बोले री,
अन्ध प्राण ही बहो, उड़े पंछी अनमोले री ।।"

—भवानीप्रसाद मिश्र—'मंगल वर्षा'

उक्त कविता में एक सहज कोमलता एवं मधुरता है। इसीलिए ये पंक्तियाँ मानव-हृदय को आकर्षित करने की क्षमता रखती हैं।

उमड़ते हुए मेघों द्वारा जीवन के तथ्य को समझने की यह चेष्टा वास्तविकता के निकट है—

"ये मेघ साहसिक सैलानी।
ये तरल बाष्य से लदे हुए,
द्रुत साँसों-से लालसा भरे
ये ढीठ समीरण के झोंके
कण्टकित हुए रोएँ तन के
किन अदृश करों से आलोड़ित
स्मृति शेफाली के फूल झरे।
झर-झर-झर-झर
अप्रतिहत स्वर
जीवन की गति आनी-जानी।"

—अज्ञेय

काव्य चाहे जिस वाद के साँचे में ढल कर आये, उसमें हृदय को स्पर्श करने की क्षमता होनी चाहिए। यदि काव्य तृप्ति और संदेश-विहीन है तो वह केवल फूटे पात्र की-सी झनकार करके शांत हो जायगा। अतः उसे मानवानुभूतियों के अधिकाधिक निकट होना चाहिए। यथा—

एक दिन कह रही थी भ्रमर से कली-
ओठ जूठे किये है, मुझे तू न छू
कह रहा था भ्रमर 'सुन अरी बावली,
निष्कलुष मैं बनूँ, ले मुझे चूम तू।'
आ गया एक झोंका तभी उस तरफ
हिल उठी डाल तो भू-गगन हिल गये
कुनमुनाई लजाई कली तो बहुत
आप ही आप लेकिन अधर मिल गये।

अन्त ऐसा हुआ उस मिलन का, मगर
दिन सिसकता रहा, रात खलती रही।
इस तरह तय हुआ साँस का यह सफर
जिन्दगी थक गई, मौत चलती रही।

'नीरज'

उपर्युक्त पंक्तियों में कली और भ्रमर के प्रतीकों द्वारा प्रेम की स्पर्श-पावनी-शक्ति का बड़ी ही मार्मिकता के साथ विवेचन किया गया है। कली साध्य का प्रतीक है और भ्रमर साधक का। साधक (भ्रमर) की प्रेम याचना को साध्य (कली) उस अपवित्रता का दोषी ठहराकर दुतकार देती है, परन्तु भ्रमर (साधक) के शब्दों में बावली कली उस सत्य को क्या जाने कि अपवित्र से भी अपवित्र आत्मा को प्रेम का एक पावन स्पर्श पवित्र करने में समर्थ है। किन्तु संसार में मिलन-विरह का कारण कुछ दूसरा ही है। प्रत्येक प्राणी तिनके के समान समय के झोकों के साथ उड़ रहा है। यही समय रूपी हवा का झोंका कभी हमें मिला देता है और कभी विलग कर देता है। अंतिम पंक्तियों में कवि ने इसी सत्य का उद्घाटन किया है।

वस्तु स्थिति का चित्रण करने वाला एक दूसरा भाव-पूर्ण चित्र इस प्रकार है :—

'जी हाँ हुजूर गीत बेचता हूँ।
मैं तरह-तरह के गीत बेचता हूँ।
मैं सभी किस्म के गीत बेचता हूँ।
जी माल देखिये, दाम बताऊँगा,
बेकाम नहीं है, काम बताऊँगा,
कुछ गीत लिखे हैं मस्ती में मैंने,
कुछ गीत लिखे हैं पस्ती में मैंने।
जी और गीत भी हैं, दिखलाता हूँ,
जी, सुनना चाहें आप तो गाता हूँ,
जी, छन्द और वे छन्द पसन्द करें—
जी अमरगीत और वे जो तुरत मरें।
ना, बुरा मानने की इसमें क्या बात,
मैं पास रखे हूँ कलम और दावात-
इनमें से भाये नहीं, नये लिख दूँ?

जी नये चाहिए नहीं. गये लिख दूँ।
इन दिनों कि दुहरा है कवि-धन्धा,
है दोनों चीजें व्यस्त, कलम-धन्धा।
कुछ घंटे लिखने के, कुछ फेरी के
जी, दाम नहीं लूँगा इस देरी के,
मैं नये पुराने सभी तरह के गीत बेचता हूँ।
जी हाँ हुजूर मैं गीत बेचता हूँ।

× × ×

जी, बहुत देर लग गई हटाता हूँ,
गाहक की मर्जी, अच्छा जाता हूँ।
मैं बिल्कुल अन्तिम और दिखाता हूँ-
या भीतर जाकर पूछ आइये आप
है गीत बेचना वैसे बिल्कुल पाप।
क्या करूँ मगर लाचार हार कर गीत बेचता हूँ।
जी हाँ हुजूर, मैं गीत बेचता हूँ।।'

—भवानीप्रसाद मिश्र— "गीत-फरोश"

प्रस्तुत कविता कवि-जीवन की दयनीय स्थिति का चित्रण है और है समाज पर कठोर व्यंग्य। उसका जीवन आज की पूँजीवादी व्यवस्था में कितना कठिन हो गया है, वह अपने जीवन-निर्वाह के लिए किस प्रकार परमुखापेक्षी है, इसी की व्यंजना इस कविता में है।

आज तक जितना भी प्रयोगवादी साहित्य उपलब्ध है, उसमें से कुछ ही रचनाएँ ऐसी हैं जो भारतीय मान्यता की दृष्टि से सम्मान प्राप्त कर सकती हैं। इसका एक कारण यह भी है कि हमारी साहित्य-परंपरा में कवि ने कभी अपने व्यक्तित्व को प्रधानता देने का आग्रह नहीं किया है। वह कला-निर्माण के क्षणों में अपनी व्यष्टि को समष्टि में ही लीन करके जन-जन की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करता रहा है। इस प्रकार उसकी अभिव्यक्ति समग्रतः सामाजिक रूप में ही हुई है, किन्तु आज का तथाकथित प्रयोगवादी साहित्य वैयक्तिकता के भार से इतना अधिक आक्रान्त है कि कला का सत्-स्वरूप उस भार के नीचे दब कर सिसकियाँ भरने लगता है। वैचित्र्य-विधान के मोह में पड़ कर प्रयोगवादी कलाकार कला की आत्मा की बड़ी ही निर्मम हत्या

करके भी यह समझता है कि उसने आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए पुण्य-पथ का प्रदर्शन किया है। यहाँ वह भूल जाता है कि वैचित्र्य-विधान ही काव्य नहीं है। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में "प्रयोगवादी साहित्यिक से साधारणतः उस व्यक्ति का बोध होता है जिसकी रचना में कोई तात्विक अनुभूति, कोई स्वाभाविक क्रम-विकास या कोई सुनिश्चित व्यक्तित्व न हो।"[1]

साधारणतः प्रयोगवादी साहित्यकार यह भूल जाता है कि घटना का वर्णन मात्र ही काव्य नहीं है। काव्य के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक वर्ण्य विषय के साथ कवि की व्यापक अनुभूति सम्बद्ध हो, साथ ही उसकी अभिव्यंजना इतनी सशक्त हो जिससे भावों की संप्रेषणीयता में आकर्षण और प्रभाव दोनों ही हों। रस-परिपाक इसी स्थिति में संभव है, यद्यपि आज का प्रयोगवादी कदाचित् रस की चिन्तना रूढ़िवादिता मानता है। ऐसे स्वयंभू कवियों की इस अहंमन्यता के परिणामस्वरूप ही साहित्यक्षेत्र में विकृति उत्पन्न हो रही है। विचारों एवं भावों की अपरिपक्व स्थिति तथा आत्म-प्रकाशन की असंयत उमंग साहित्यिक अराजकता की सृष्टि कर रही है। कदाचित् इसी स्थिति से ऊब कर सुमित्रानन्दन पन्त को कहना पड़ा, "जिस प्रकार प्रगतिवादी काव्यधारा मार्क्सवाद एवं द्वन्दात्मक भौतिकवाद के नाम पर अनेक प्रकार से सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनैतिक कुतर्कों में फँसकर एक कुरूप सामूहिकता की ओर बढ़ी, उसी प्रकार प्रयोगवाद की निर्झरिणी कल-कल छल-छल करती हुई, फ्रायडवाद से प्रभावित होकर, स्वप्निल-फेनिल स्वर-संगीत-हीन भावनाओं की लहरियों से मुखरित, उपचेतन, अवचेतन की रुद्ध-क्रुद्ध ग्रंथियों को मुक्त करती हुई, दमित-कुंठित आकांक्षाओं को वाणी देती हुई लोक-चेतना के स्रोत में नदी के द्वीप की तरह प्रकट होकर अपने पृथक अस्तित्व पर अड़ गई। अपनी रागात्मक विकृतियों के कारण अपने निम्न स्तर पर इसकी सौन्दर्य-भावना केचुओं, घोंघों, मेढकों के उपमानों के रूप में सरीसृपों के जगत् से अनुप्राणित होने लगी।"

हमारे इस विवेचन का तात्पर्य यह नहीं है कि प्रयोगवादी साहित्य अत्यन्त हेय एवं अग्राह्य साहित्य है। जैसा हम पहिले कह आये हैं, कतिपय कवियों की कतिपय अभिव्यक्तियाँ अत्यत्य मार्मिक एवं हृदयग्राही हैं। जहाँ कवि जीवन में तन्मय होकर उसकी तन्मयकारिणी अभिव्यक्ति भी

१—आधुनिक साहित्य पृष्ठ १९

२—उत्तरा-जुलाई, १९५२

कर सका है वहीं वह सफल हुआ है, किन्तु जहाँ कोरा वाक्-जाल अथवा टेढ़े-मेढ़े उलटे-सीधे उपमानों एवं रूपकों की जोड़-गाँठ करके काव्य का कंकाल खड़ा किया गया है, निश्चय ही वे स्वरूप भद्दे एवं अरुचिकर सिद्ध हुए हैं। अभी तो प्रयोगवादी कविता का शैशवकाल है, प्रयोगकाल है, अतः अभी से उसके सम्बन्ध में एक निश्चित धारणा बना लेना भी असंगत है। आवेश में किया गया कार्य कभी औचित्य की सीमा के अन्तर्गत नहीं आ सकता। ठीक यही तर्क अधिकांश प्रयोगवादी कवियों पर लागू होता है। कारण यह है कि अनुभूति और साहित्यिक साधना के अभाव में साहित्यकार बनने का उत्साह रखने वाले व्यक्तियों ने इस दिशा में जोर-शोर से कदम उठाया। अभी-अभी तो उनके इस शैशवकाल में लड़खड़ाने की स्थिति स्वाभाविक ही है। गतिमत्ता तो सशक्त होने पर ही संभव है।

भावुकतावाद, उत्तेजनावाद, बुद्धिवाद

किसी वस्तु के सम्बन्ध में विभिन्न व्यक्तियों की विभिन्न धारणाएँ संभव हैं और इन्हीं धारणाओं के आधार पर विभिन्न विचार-सरणियों का जन्म होता है। अतएव भावुक-हृदय अपनी विचार-गति के अनुसार ही उनका चित्रण भी करता है। अतः यह नहीं भूल जाना चाहिए कि विभिन्न वादों का केन्द्र एक ही होता है और उसी केन्द्र से विभिन्न दिशा में प्रकाश किरणें फैलती हैं।

मनुष्य की मानसिक स्थिति इन विचारों से विभिन्न रूपों में प्रभावित हुआ करती है। गुलाब का फूल देखकर वैज्ञानिक को जो कुतूहल होता है, वह कुतूहल भावुक हृदय को नहीं होता। भावुक के कुतूहल में आनन्द का पक्ष प्रधान होता है, जब कि वैज्ञानिक का कुतूहल बुद्धि तत्व के आश्रित रहता है। इसी प्रकार एक लोभी के हृदय में जो कुतूहल उत्पन्न होता है उसमें अहंता की प्रबलता के कारण उत्तेजना का अंश अधिक होता है। इस दृष्टिकोण से किसी वस्तु के तीन प्रभाव स्पष्ट देखे जा सकते हैं :—

१—भावुक पक्ष

२—उत्तेजक पक्ष

३—बौद्धिक पक्ष

यह आवश्यक नहीं है कि एक वस्तु एक व्यक्ति में सदैव एक ही प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करती रहे। प्रकृति ने पहिले सुमित्रानन्दन पन्त के हृदय में उत्तेजक पक्ष बन कर आसन ग्रहण किया था। आगे चलकर उसका भावुक पक्ष प्रबल हो गया और अन्ततः उसी प्रकृति में पन्त को बौद्धिकपक्ष दिखाई देने लगा। प्रसाद अपनी रचना में जहाँ-तहाँ भावुक हो उठे हैं, परन्तु उनके उत्तेजक पक्ष की भी कमी नहीं है। इस प्रकार उत्तेजनावाद और भावुकतावाद के नाम से स्वतन्त्र रचनाएँ नहीं मिलतीं, वरन् एक ही कवि की एक ही कृति

में स्थल-स्थल पर दोनों पक्ष देखे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ नीचे प्रतापनारायण मिश्र के दो छन्द दिये जाते है :—

"करुणानिधि पद विमुख देव-देवी बहु मानत।
कन्या अरु कामिनी-सराप लहि पाप न जानत॥
केवल दायज लेत और उद्योग न भावत।
करि बकरा भच्छन निज पेटहिं कबर बनावत॥
का, खा, गा, घा हू बिना पढ़े तिरवेदी पदवी धरन।
कलह प्रिय जयति कनौजिया, भारत कहँ गारत करन॥

× × ×

हाल समाजिन को का कहिये बातन छप्पर देयँ उड़ाय।
पै दुइ चारि जनेन को तजि के, कछु करतूति न देखी जाय॥
सगे समाजिन तें ऐठें, राँधि परोसिन को धरि खाय।
मुख ते वेद वेद गोहरावैं, लच्छन सबै सुलच्छन भै आय।।
आंकु न जानैं संसकीरति को, लेइँ न गायत्री को नाउँ।
तिनका आरज कैसे कहिये, मैं तौ हिन्दू कहत लजाउँ॥

—'प्रताप पीयूष'

उक्त उदाहरणों में कनौजिया जाति तथा आर्य समाजियों पर उत्तेजनात्मक स्थिति में कठोर व्यंग्य किये गये हैं। कवि का भाव-प्रवण हृदय भावुकता की अतिशयता के कारण इन दोनों की अधोगामिनी स्थिति से विचलित हो उठा है, फलतः उसकी अभिव्यक्ति ने यह रूप ग्रहण किया है।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का हृदय जब अन्तःप्यास से छटपटाने लगता है तब अपनी वर्तमान गति से मुक्ति पाने के लिए वह मचल उठता है। उनकी इस मलचन में आकुलता एवं दैन्य दोनों का ही चित्रण है:—

'ना जाने कितने युग-युग से प्यासे हैं जीवन–सिकता कण,
मन्वन्तर से अन्तरतर में होता है उद्दाम तृषा रण।
निपट पिपासाकुल जड़ जंगम, प्यास भरे जगती के लोचन,
शुष्क कंठ, रसहीन जीह-मुख, रुद्ध प्राण, संतप्त हृदय-मन।
मेटो, प्यास-त्रास जीवन का, लहरे चेतन सिहर सिहर कर,
इस सूखे अग जग मरुथल में ढरक बहो, मेरे रस निर्झर॥'

महादेवी वर्मा के निम्नलिखित गीत में उत्तेजना और भावुकता दोनों ही की अन्विति हुई है :—

"शलभ मैं शापमय वर हूँ, किसी का दीप निष्ठुर हूँ।

ताज है जलती शिखा
चिनगारियाँ शृंगार माला,
ज्वाल अक्षय कोष-सी
अंगार मेरी रंगशाला,

नाश में जीवित किसी की साध सुन्दर हूँ।"

—'आधुनिक कवि'

जीवन की निराशामयी स्थिति में मानव की प्रत्येक श्वास भार-सी प्रतीत होती है। आँसू सरीखी हलकी बूंद भी उसके जीवन को बोझिल करती हुई जान पड़ती है। भावुकता की इसी स्थिति में कवि गा उठता है—

'जीवन है साँसों का छोटे-छोटे
भागों में चिर विलाप।
अब भार रूप हो रही मुझे
मेरी आँखों की अश्रु धार।'

—रामकुमार वर्मा,

भावुकतावादी रचनाओं में कवि के भावों की कोमलता मानव-हृदय के अन्तर्जगत् में प्रविष्ट होकर रस की सृष्टि करती है। यथा :—

मेरे प्रियतम! आया हूँ, यह कविता तुम्हें सुनाने।
पढ़ इसे स्वयं रोने को, रो-रोकर तुम्हें रुलाने।
क्रंदन ही इसकी ध्वनि है, आँसू ही इसकी गति है।
है मर्म व्यथा ही इसकी, आहों पर इसकी यति है।

—'हृदयेश'—कसक.

प्रस्तुत पद में कवि ने जिस भाव-प्रवणता के साथ अपनी कविता की परिभाषा की है, वह अत्यन्त मार्मिक है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि के कोमल हृदय में वेदना करवटें बदल रही है। वस्तुतः भावुक हृदय का क्रन्दन ही तो काव्य के रूप का निर्माण करता है। इसी से तो पंत कहते हैं—

वियोगी होगा पहिला कवि,
आह से उपजा होगा ज्ञान,
उमड़ कर आँखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान।

प्रेम-मय जीवन में प्रायः भावुकता एवं उत्तेजना दोनों का ही सम्मिश्रण हो जाना स्वाभाविक है। प्रेमी की सहज खीझ एवं उपालंभ की भावना मिश्रित होकर उत्तेजना की सृष्टि करती है।

रत्नाकर के गोपी-उद्धव-संवाद-प्रसंग में अधिकांश छन्दों में उत्तेजना तथा भावुकता का सम्मिश्रण है। यथाः—

जोग को रमावै औ समाधि को जगावै इहाँ,
दुख सुख साधन सौं निपट निबेरी हैं।
कहै 'रतनाकर' न जानैं क्यों इतै धौं आइ,
साँसनि की सासना की बासना बखेरी हैं॥
हम जमराज की धरावति जमा न कछू,
सुरपति संपति की चाहति न ढेरी हैं।
चेरी हैं न ऊधो! काहू ब्रह्म के बबा की हम,
सूधौ कहे देति एक कान्ह की कमेरी हैं॥'

—'उद्धवशतक'

यहाँ हमें यह न भूलना चाहिए कि मन की उत्तेजित अवस्था, भाव-प्रवण अवस्था, वस्तु-विशेष के प्रति वैषयिक राग अथवा विराग की अवस्था का परिगणन 'स्व-स्वत्व' के ही अन्तर्गत होगा। यथा :—

वा निरमोहिनी रूप की रासि न ऊपर के मन आनति ह्वै है।
बारहिं बार बिलोकि घरी घरी सूरति तौ पहिचानति ह्वै है।
'ठाकुर' या मन की परतीति है, जो पै सनेह न मानति ह्वै है।
आवत हैं नित मेरे लिए, इतनो तो बिसेखि कै जानति ह्वै है।

इसमें विशुद्ध लालसा की दीप्तज्वाला जिसका केवल 'स्व' से सम्बन्ध है, विद्यमान है। इसीलिए रागात्मक वृत्ति की ऐसी स्थितियाँ सब की सब 'स्व स्वत्व' के अन्तर्गत है।

एक उदाहरण और देखिए जिसमें इन दोनों भावों—भावुकता एवं उत्तेजना का मधुर सम्मिश्रण दिखाई देता है :—

"चेरिये तैं जो गुपाल रचै तो चलौ री सबै मिलि चेरी कहावैं"।

इस पद में व्यक्तित्व की साधना है जिसमें व्यक्तित्व रागात्मक वृत्ति में लय होने के लिए प्रयत्नशील है। ऐसे भाव 'स्व-स्वत्व' के होते हुए भी 'स्व-पर-भिन्न-स्वत्व' की ओर गतिमान होते हैं। इस प्रकार का भाव-द्वन्द्व साहित्य में जहाँ-तहाँ बिखरा हुआ सर्वत्र और सर्वदा देखा गया है।

इश्क मज़ाजी यदि 'स्व-स्वत्व' की साधना है तो क्या हुआ, उस से तो इश्क हक़ीक़ी का विकास होता है जहाँ 'स्व-पर-भिन्न-स्वत्व' की प्रतिष्ठा है।

कवि की भावुकता जब रोष से मिश्रित होकर व्यक्त होती है तब वह विशुद्ध रूप से उत्तेजना का रूप ग्रहण करती है। यथा भूषण औरंगज़ेब के दुर्व्यवहार से उत्तेजित हो कर कह उठा—

किबले के ठौर बाप बादशाह साहजहाँ,
ताको कियो कैद मानो मक्के आगि लाई है।
बड़ो भाई दारा बाको पकरि कै कैद कियो,
मेहर हू नाहिं माँ को जायो सगो भाई है।
बन्धु तो मुराद बक्स बादि चूक करिबे को,
बीच दे कुरान खुदा की कसम खाई है।
'भूषण' सुकवि कहै सुनो नवरंगजेब,
एते काम कीन्हे तब पातशाही पाई है।

'भूषण'—'शिवबावनी'

इसी उत्तेजना ने भूषण को शिवा जी के पास भेज दिया, परन्तु वहाँ पहुँच कर शिवा जी का 'स्व-स्वत्व' 'स्व-जाति' में विलीन हो गया। इसीलिए शिवाजी का चारण बनकर भूषण ने उनका यश गायाः—

राखी हिन्दुवानी, हिन्दुवान को तिलक राख्यो,
अस्मृति पुराण राखे वेद विधि सुनी मैं।
राखी राजपूती, रजधानी राखी राजन की,
धरा में धरम राख्यो गुन गुनी मैं।
भूषण सुकवि जीति हद्द मरहट्ठन की,
देस देस कीरति बखानी तब सुनी मैं।
साहि के सपूत शिवराज, समसेर तेरी,
दिल्ली दल दाबि कै दिवाल राखी दुनी मैं।

इस प्रकार उत्तेजना का भी पर्यवसान हम 'स्व-पर-भिन्न-स्वत्व' में होते देखते हैं। यही उत्तेजना थी जिसने रामचरितमानस के रावण को 'रामनाम' अपने मुख से निकालने नहीं दिया और यही उत्तेजना 'स्व-पर-भिन्न स्वत्व' में विलीन होते समय 'कहाँ राम रन हतौं प्रचारी' कह कर समाप्त हुई।

बुद्धिवादः—बुद्धिवाद वस्तु के सम्बन्ध में वैज्ञानिक दृष्टिकोण उपस्थित करता है। अतएव बुद्धिवाद अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाये रख सकता है। एक कारण यह भी है कि बुद्धिवाद काल विशेष से सम्बन्ध नहीं रखता है। श्रद्धा और विश्वास का उल्लंघन करके बुद्धिवाद किसी भी काल में फल-फूल सकता है। जब पृथ्वी अचल मानी जाती थी, तब भी बाराहमिहिर और गेलीलियो ने बुद्धिवाद के सहारे पृथ्वी को चलायमान सिद्ध किया था। आज जब पृथ्वी को चलायमान मान लिया गया है तब आइन्सटीन का सापेक्ष्यवाद पृथ्वी की गति में भी नवीन सम्बन्धों की उद्भावना कर रहा है जिनका मेल कुछ प्राचीन विचारों से भी बैठ जाता है।

बुद्धिवाद इस प्रकार व्यक्तिगत अनुभूति प्रधान भावुकता अथवा उत्तेजना में बद्ध न होने के कारण वैयक्तिक नहीं होता। इसीलिए वह विकासोन्मुख रहता है। उसके लिए यह भी आवश्यक नहीं कि वह नवीन से नवीनतर की ही ओर चलता रहे। हो सकता है कि नवीनतम तक पहुँचा हुआ बुद्धिवाद प्रचीनतम को ओर दौड़ने लगे। इसीलिए उसमें परिवर्तन होता रहता है। और इसी बुद्धिवाद के परिणाम हैं साम्यवाद, समाजवाद और प्रयोगवाद।

बुद्धिवाद के इन प्रयोगों की दिशाएँ अनन्त हैं। उसका क्षेत्र अनन्त है। आज का बुद्धिवाद केवल आर्थिक दिशा की ओर गतिमान है। साम्यवाद का मोटो है पैसा। समाजवाद का 'स्लोगन' है पैसा। राष्ट्रीय समाजवादी भी इसी पैसे की ओर दौड़ रहा है। राष्ट्रवाद की प्रेरकशक्ति थी पैसा और स्वच्छन्दतावाद भी इसी पैसे के पीछे पागल बना घूम रहा है। अर्थात् आज के बुद्धिवाद का "टका धर्मः, टका कर्म, टकाहि परमंतपः। यस्य गृहे टकानास्ति कटा इव टकटकायते" है।

कुछ थोड़ा-सा पैसे से सम्बन्ध रखने वाला समाजशास्त्र सम्बन्धी भाग भी स्वीकार कर लेने के कारण ये बुद्धिवादी एक नया वाद चला रहे हैं और उसे समाजवाद का नाम देकर ढिंढोरा पीट रहे हैं। हमारा विनत निवेदन है कि यदि काव्य का उद्देश्य पंथ-प्रचार करना है तो जो कुछ आप कर रहे हैं ठीक है, किन्तु यदि काव्य का उद्देश्य संसार में थके हुए मन को शान्ति और आनन्द देना है तो आप इन वादों के द्वारा अपने उद्देश्य से ही च्युत नहीं होते, वरन् इस विशृंखल अराजकता के युग में नवीन अराजकता की उत्तेजना ही देते हैं। अच्छा होता यदि ये बुद्धिवादी काव्य को अपने इस दंगल से बाहर रखते। परन्तु आज साध्य के सामने साधन की चिन्ता किसे है?

हास्य-व्यंग्यादि

हास्य—अन्तर्मुख वृत्ति प्रधान काव्य 'स्व-स्वत्व' अथवा 'स्व-पर-भिन्न-स्वत्व' सम्बन्धी होता है तथा बहिर्मुख प्रवृत्ति-प्रधान-काव्य 'स्व-जगत्' सम्बन्धी रहता है। हमारे जागतिक अनुभव जिज्ञासा वृत्ति से प्रारम्भ होते हैं और तृप्ति पर समाप्त होते हैं। इस अनुभव-परंपरा में अनेक मानसिक वृत्तियाँ काम करती रहती हैं। मानव-हृदय में जब तक जिज्ञासा रहती है तब तक उसे होने वाली अनुभूति विशुद्ध ज्ञान परक होती है। इस ज्ञानपरक अनुभूति के मार्ग पर चलते-चलते हमारा संस्कार कुछ ऐसा बन जाता है कि उसकी अनुगामी अनुभूतियों को हम अनुकूल वेदनीय पाकर सुख का अनुभव करते हैं, परन्तु जब वे अनुभूतियाँ प्रतिकूल वेदनीय होकर उपस्थित होती हैं तब हम दुःख का अनुभव करते हैं। इन अनुकूल और प्रतिकूल वेदनीय अनुभूतियों में हमारा संस्कार प्रधान है। बहुत-सी ऐसी अनुभूतियाँ होती रहती हैं जिन्हें हम केवल संस्कारवश अनुकूल अथवा प्रतिकूल वेदनीय समझने लगते हैं। वैष्णव के मुख में मांस-खंड की कल्पना भी उसे दुःखप्रद प्रतीत होती है, परन्तु एक शाक्त उसमें अनुकूल वेदनीय सुख का अनुभव करता है।

सुख-दुःख की इस परिभाषा को, जिसके मध्य में एक ऐसी स्थिति रहती है जो कभी अनुकूल वेदनीयता की सीमा में पहुँच सकती है और कभी प्रतिकूल वेदनीयता की, सर्वथा एकान्तिक नहीं समझा जा सकता है। इस सीमा पर स्थित वस्तुओं में न तो सर्वथा सुखात्मकता रहती है और न दुःखात्मकता। ये हमारे कुतूहल, विस्मय तथा आश्चर्य का विषय रहती हैं। यह कुतूहल वृत्ति ही हास्य का मूल कारण है। संधि-सीमा पर होने के कारण कभी वह दुःख की कोटि में पहुँच जाती है और कभी सुख की कोटि में। शास्त्रकारों ने

इसी दृष्टि से हास्य को अनेक रूपों में विभक्त कर दिया है।[1] उसकी विशुद्ध सुखात्मक अनुभूति 'स्मित' 'हसित' और 'विहसित' में रहती है। 'अपहसित' और 'अतिहसित' दुःखात्मक अनुभूति के निकट पहुँच जाते हैं। कम से कम यदि इनका लक्ष्य व्यक्ति विशेष अथवा समाज विशेष होता है तो ये निश्चय ही दुःखात्मक अनुभूति की कोटि में आते हैं।

पाश्चात्य देशों में भी लगभग सत्रहवीं शताब्दि से इस विषय में ध्यान दिया जाना प्रारम्भ हुआ। हास्य के कारणों का विश्लेषण करते हुए हाब्स (Hobbes) का कथन है कि उत्कर्षमय स्थिति में पूर्व अनुभूत दुर्बलताओं पर हँसी आना स्वाभाविक है। इसी प्रकार किसी के अपकर्ष को देखकर भी सहज ही हँसी आ जाती है। इस प्रकार 'उत्कर्ष व्यंजक उल्लास' हास्य का कारण बनता है।[2] उन्नीसवीं शताब्दि में स्पेन्सर ने असंगति अथवा विषमता को हँसी का मूल कारण माना है। बीसवीं शताब्दि में फ्रेंच विद्वान बर्गसन (Bergson) ने आवृत्ति (Repetition), विपर्यय (Inversion) तथा यान्त्रिक क्रिया (Automatism) को हँसी का मूल कारण बताया। किन्तु ये सिद्धान्त प्रत्येक काल में और प्रत्येक स्थिति में सत्य नहीं सिद्ध होते, क्योंकि न तो प्रत्येक अपकर्ष और न प्रत्येक असंगति ही हास्य की सृष्टि करती है। कभी-कभी अपकर्ष तथा असंगति करुणा का भी विषय बनती है। प्रायः यह भी देखा गया है कि एक-सी स्थिति में रहने के कारण प्राणी ऊब-सा जाता है। ऐसी दशा में उसे उस स्थिति से जब कुछ अवकाश या विश्रान्ति प्राप्त होती है तब उसे यत्किंचित् हास्य का अनुभव होता है।

हास्य की अनुभूति का उदय संस्कारानुगत-पथ की अनुगामिनी अनुभूतियों से होता है, अर्थात् हम जैसी संभावना करते हैं, उस संभावना

१—"ज्येष्ठानां स्मित हसितं मध्यानां विहसितावहसिते च।
नीचानामपहसितं तथाविहसितं तदेष षड्भेदः॥"
—साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद

(हास्य के छः भेद स्मित, हसित, विहसित, अवहसित, अपहसित और अतिहसित हैं।)

2—The Passion of laughter is nothing else but sudden glory arising from sudden conception of some emineney in ourselves by comparing with the infirmity of other or with our own formerly."

—Hobbes.

से प्रतिकूल वस्तुओं की अनुभूति हास्य का उदय करती है ।[1] हमारी सहज अनुभूति तीन अंगुल लम्बी नाक की होती है । परन्तु यदि किसी की नाक पाँच अंगुल लम्बी हो तो वह हास्य को अनुभूति उत्पन्न करेगी । इसी प्रकार हम मनुष्य से सार्थक भाषा सुनने की आशा करते हैं, किन्तु जब वह गर्दभ स्वर में बोलने लगता है तो हास्य की उत्पत्ति स्वतः हो जाती है । धनंजय ने हास्य के कारणों का उल्लेख करते हुए विचित्र वेशभूषा, चेष्टा, शब्दावली तथा कार्य-कलाप का उल्लेख किया है ।[2] कुतूहल प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप विशुद्ध हास्य उत्पन्न होता है । इसमें न आलम्बन के प्रति किसी प्रकार का कटु भाव रहता है और न आश्रय में दु:खात्मक अनुभूति । भारतीय शास्त्रकारों ने इसी को हास्य रस की संज्ञा प्रदान की है ।

रामचरितमानस के नारद-प्रसंग में तुलसी ने नारद की अवस्था का जो वर्णन किया है वह विशुद्ध हास्य की कोटि में ही आता है ।[2] इसी प्रकार शंकर-विवाह-प्रसंग में भी बरात का वर्णन विशुद्ध हास्य की सृष्टि करता है:—

कोउ मुखहीन विपुल मुख काहू । बिनु पद कर कोउ बहु पद बाहू ॥
विपुल नयन कोउ नयन विहीना । रिष्ट पुष्ट कोउ अति तन खीना ।

तन खीन कोउ अति पीन पावन कोउ अपावन गति धरैं ।
भूषन कराल कपाल कर सब सद्य सोनित तन भरैं ॥
खर स्वान सुअर सृगाल मुख गन वेष अगनित को गनै ।
बहु जिनस प्रेत पिसाच जोगि जमात बरनत नहिं बनै ॥

—रामचरितमानस, बालकाण्ड

सूर की गोपियाँ उद्धव से निर्गुण के सम्बन्ध में प्रश्न करती हुई जब पूँछती हैं कि वह कहाँ रहता है, उसका माता-पिता कौन है, वह किस स्त्री का दास है, उसकी वेशभूषा, वर्णादि कैसा है, तब विशुद्ध हास्य का ही दर्शन होता है:—

१—"विकृताकृति वाग्विशेषरात्मनोऽथ परस्य वा ।
हासः स्यात् परिपोषोस्य हास्यस्त्रि प्रकृतिः स्मृतः ॥"

२—जेहि दिसि बैठे नारद फूली । सो दिसि तेहि न बिलोकी भूली ।
पुनि पुनि मुनि उकसहिं अकुलाहीं । देखि दशा हरगन मुसकाहीं ॥
—रामचरितमानस, बालकांड

निरगुन कौन देश को बासी ?
मधुकर कहि समुझाइ सौंह दै बूझति साँच न हाँसी ॥
को है जनक, कौन है जननी कहियत कौन नारि को दासी ।
कैसो बरन भेष है कैसो केहि रस मैं अभिलाषी ॥
पावैगो पुनि कियौ आपनौ जो रे करैगौ गाँसी ।
सुनत मौन ह्वै रह्यो बावरौ सूर सबै मति नासी ॥

सूरसागर, का० ना० प्र० सभा, पद ४२४६

रीतिकाल श्रृंगार प्रधान काल है। अतः इसमें हास्य के यत्र-तत्र बिखरे हुए रूप ही मिलते हैं। बिहारी का हास्य संचारी रूप में व्यक्त हुआ है। भूषण का छन्द

जोरि करि जैहैं जुमिला हू के नरेस पर,
तोरि अरि खंड खंड सुभट समाज पै।
भूषन असाम रूम बलख बुखारे जैहैं,
चीन सिलहट तरि जलधि जहाज पै॥
सब उमरावन की हठ कूरताई देखो,
कहैं नवरंगजेब साहि सिरताज पै।
भीख माँगि खैहैं बिन मनसब रैहैं पै न,
जैहैं हजरत महाबली शिवराज पै॥"

—'शिवाबावनी'

साधारणतः हास्य की सृष्टि करता है। भारतेन्दु काल में हास्य विशेष रूप से पुष्ट हुआ। भारतेन्दु तथा उनके मंडल के सदस्य प्रतापनारायण मिश्र आदि का हास्य उच्च कोटि का रहा है। मिश्र जी की 'बुढ़ापा' शीर्षक रचना हास्य का एक अच्छा उदाहरण है:—

हाय बुढ़ापा तोरे मारे अब तो हम नकुन्याय गयन।
करत धरत कछु बनतै नाहीं कहाँ जान औ कैस करन।
छिन भरि चटकि छिनै माँ मद्धिम जस बुझात खन होय दिया।
तैसे निखवख देखि परत हैं हमरी अक्किल के लच्छन॥

—'प्रताप पीयूष'

वर्तमान काल में भी हास्य रस के कई अच्छे लेखक हैं, जिन्होंने इस विषय की उत्तम रचनाएँ लिखी हैं। यथा भंग-प्रियता के सम्बन्ध में यह छन्द :—

छकते नित छान के होते कभी,
लुढिया-सिल के रगड़े में न तंग।
हँसते दिल खोल के टैक्स बिना,
लख के हुलिया सरकार की दंग॥
जग के षटराग से बेखटके,
रहते अलमस्त ही आपके ढंग।
यह रेणुका होती जो खाँड़ कहीं,
शिव ! गंग में होती जो दूधिया भंग॥

—'वचनेश'

प्रायः यह देखा जाता है कि लोग प्रत्येक महान् व्यक्ति से अपना या अपनी जाति का सम्बन्ध स्थापित करते हैं। श्री दयाशंकर दीक्षित "देहाती" कवि ने भी इसी मनोवृत्ति पर हास्य की सृष्टि करते हुए तुलसी को बड़े ही युक्तिपूर्ण ढंग से विभिन्न जातियों वाला बताया है। एक कंजर ने यह दावा किया कि तुलसी कंजर थे। इस दावा-पुष्टि में प्रमाण की योजना इस प्रकार की गई :—

भक्ति ममाखी, जग कुसुम, को रस धर्यो सँभारि।
मुक्ति सहित तुलसी हर्यो, मोमहिं जमहिं निकारि॥

एक सुनार ने कहा कि नहीं भाई, तुलसी तो सुनार थे, क्योंकि :—

बानी मानि सुनार की, तुलसी ऐस सुनार।
सब विकार घरिये तजै, सुबरन लिये निकार॥

एक दरजी से न रहा गया। उसने दावा किया कि न भाई, तुलसी तो दरजी ही थे, क्योंकि :—

मानस सूची में पुह्यो, ज्ञान ताग को तार।
जीव ब्रह्म दोउ पट सिये, तुलसी सूचीकार॥

उक्त पदों में हास्यात्मक शैली से मनोरंजक विषय का प्रतिपादन किया गया है। इनमें केवल हास्य ही प्रधान है, जिसकी अनुभूति सुखात्मक है।

जिस व्यक्ति या वस्तु को लक्ष्य में रख कर हास्य का प्रयोग किया जाता है, उसके प्रति हँसी करने वाले की सहज सहानुभूति की भावना भी पाई जाती है और वह प्रयुक्त हास्य के द्वारा हास्योत्पादक दुर्बलता या त्रुटि को दूर भी करना चाहता है। यथा :—

"यह सब ग्रहों की गड़बड़ी है। ये एक बार इतना कांड उपस्थित कर देते हैं। कहाँ साधारण बाला हो गई थी राजरानी। मैं देख आया, वही मागन्धी तो है। अब आम लेकर बेचा करती है और लड़कों के ढेले खाया करती है। ब्रह्मा भी भोजन करने के पहिले मेरी तरह भाँग पी लेते होंगे तभी तो ऐसा उलट फेर।" —अजातशत्रु

उक्त उद्धरण में हास्य के द्वारा सहानुभूति का भाव व्यक्त होता है। कभी किसी प्रकृति विशेष के कारण भी हास्य की सृष्टि हो जाती है। यथा, 'स' के स्थान पर 'श' का प्रयोग :—

"बंटाधार—तभी तो शम्पादक बन गये।............और यों मुफ्त के शाहित्य के शपूत कहलाते हैं। जब शे शम्पादक बने हैं तब शे शाढ़े शत्रह इंच तोंद बढ़ गई है। चाहे नाप के देख लो।"
—जी० पी० श्रीवास्तव, 'मरदानी औरत'

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' ने 'दुबे जी की चिट्ठी' शीर्षक रचनाओं में विशुद्ध हास्य की सृष्टि की है। बदरीनाथ भट्ट के 'टटोलूराम शास्त्री' में शुद्ध हास्य के दर्शन होते हैं। भगवती चरण वर्मा ने 'दो बाँके' नाम से कहानी संग्रह प्रकाशित करवाया है, इसमें भी रेल, अनशन, दो बाँके आदि कहानियों में हास्य की सृष्टि हुई है।

वाग्वैदग्ध्यः—हास्य में जब बुद्धि-कौशल का प्रयोग होने लगता है तब वह हास्य स्वतः संभवी न होकर बुद्धि-संभव हो जाता है। इसका प्राथमिक स्वरूप हाजिर जवाबी में दिखाई पड़ता है। अकबर ने बीरबल से कहा "गधा भी तमाखू नहीं खाता।" प्रत्युत्पन्न मतिवाले बीरबल ने तुरन्त उत्तर दिया, "हाँ हुजूर, गधा तमाखू नहीं खाता।" इस प्रकार का हास्य बुद्धि का परिणाम है। यहाँ न तो आलम्बन में विकृत भाव है और न आश्रय में कुतूहल वृत्ति। संस्कारपुष्ट शब्द-सम्बन्ध में वैचित्र्य की अनुभूति ही कुतूहल वृत्ति को जाग्रत करती है। ऐसा हास्य भी कटुता का स्पर्श नहीं करता है। इसे हम वाग्वैदग्ध्य (Wit) भी कह सकते हैं। हमारे यहाँ इसे साधारणतः सभा-चतुरता कहते हैं।

सूर की रचनाओं में वाग्वैदग्ध्य के अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं। यथा :—

'बूझत श्याम कौन तू गोरी?
कहाँ रहति? का की है बेटी? देखी नहीं कहूँ ब्रजखोरी॥

काहे कौं हम ब्रज-तन आवतिं, खेलति रहति आपनी पौरी।
सुनति रहति श्रवनन नँद-ढोटा, करत फिरत माखन-दधि चोरी॥
तुम्हरौ कहा चोरि हम लैं हैं? खेलन चलौ संग मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि, बातन भुरई राधिका भोरी॥'

सूरसागर, का० ना० प्रा० सभा, पद १२६१

उक्त पद में नन्दकुमार होने के नाते कृष्ण ने बड़े गर्व से कहा था, "तू कहाँ रहती है, मैंने तो तुम्हें कभी ब्रज की गलियों में देखा नहीं है।" कदाचित् कृष्ण को यह अभिमान था कि ब्रज की कोई भी बाला उनकी दृष्टि से बच ही नहीं सकती। पर उनकी आशा के विरुद्ध राधिका अत्यन्त स्वाभिमान-पूर्वक कह उठती है, "ब्रज में ऐसी कौन मूल्यवान वस्तु है जिसके लिए हम ब्रज जायँ, हमें दूसरे के यहाँ जाने से क्या प्रयोजन? हम तो अपने घर में ही रहती हैं। तुमने चाहे मेरे विषय में न सुना हो, पर हाँ, मैंने ब्रज के विषय में अवश्य सुना है कि वहाँ एक नन्द का लड़का है जो माखन और दही चुराया करता है।" इस पर कृष्ण से रहा न गया, वह बोल उठे, "नन्द का लड़का चोर है सही, पर वह चोरी तो वहीं करेगा जहाँ कुछ चुराने योग्य वस्तुएँ होंगी। तुम्हारे पास ऐसी कौन-सी वस्तु है जिसके चले जाने का भय हो।"

तुलसी में भी वाग्वैदग्ध्य पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। ब्रह्मा शंकर की कृपा से लोगों को सौभाग्यशाली होता हुआ देख कर पार्वती से प्रार्थना करते हैं कि जिन लोगों ने कभी कुछ दिया नहीं है अर्थात् भक्ति नहीं की है, उन्हें भी शंकर अपनी कृपा का दाम देते हैं। शंकर की कृपा इतनी अधिक है कि दुख-दीनता को कहीं पैर रखने का भी स्थान नहीं है और बेचारी आकुलता-मारी-मारी फिरती है, क्योंकि अब कोई दीन-दुखी कहीं रह ही नहीं गया है :—

"बावरो रावरो नाह भवानी।
दानि बड़ो दिन देत दये बिनु, वेद बड़ाई भानी॥
निज घर की बर बात बिलोकहु, हौ तुम परम सयानी।
सिव की दई सम्पदा देखत, श्री सारदा सिहानी॥
जिनके भाल लिखी लिपि मेरी, सुख की नहीं निसानी।
तिन रंकन कौ नाक सँवारत, हौं आयो नकुबानी॥
दुख दीनता दुखी इनके दुख, जाचकता अकुलानी।
यह अधिकार सौंपिये औरेहिं, भीख भली मैं जानी॥"

—विनयपत्रिका, पद ५

तुलसी ने उक्त पद में जिस वाग्वैदग्ध्य का प्रयोग किया है, उसमें आलंकारिक दृष्टि से व्याज-स्तुति भी है। "बावरो रावरो नाह भवानी" कह कर कवि ने शंकर के स्वाभाविक भोलेपन की ओर संकेत किया है। इसी प्रकार व्याज-स्तुति परक वाग्वैदग्ध्य निम्नलिखित छन्द में भी है :—

सूधरो जो होतो माँगि लेतो और दूजो कहूँ,
जाती बनि खेती करि खाती एक हर की।
ए को "पद्माकर" न मानत हैं नाथि चले,
भुजन के साथ है गरैया अजगर की॥
मैं तो याहि छोड़ौं पै न मोको यह छोड़त है,
फेरि लै री फेरि व्याधि आपने बगर की।
सैल पै चढ़त गहि ऊरध की गैल गंगा,
कैसो बैल दीन्हो जो न गैल गहै घर की॥

इस छन्द में गंगा के प्रति जिस प्रकार विद्रूप-गुण की अवतारणा की गई है उसमें कवि का रागात्मक भाव सन्निहित है। रागात्मकवृत्ति के साथ इस प्रकार वाग्वैदग्ध्य का योग उत्तम कोटि का हास्य है।

साधारणतः वाग्वैदग्ध्य मनोरंजन करने वाली कलापूर्ण अभिव्यक्ति होती है। इसके प्रयोग से हास्य की प्रभाव-तीव्रता बढ़ जाती है। वाग्वैदग्ध्य में प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति के लिए यमक और श्लेष का भी प्रयोग किया जाता है। यथा :—

"विदूषक—क्यों वेदान्ती जी, आप मांस खाते हैं या नहीं?

वेदान्ती—तुमको इससे कुछ प्रयोजन?

विदूषक—नहीं, कुछ प्रयोजन नहीं है। हमने इस वास्ते पूछा कि आप वेदान्ती अर्थात् बिना दाँत के हैं सो आप भक्षण कैसे करते होंगे।"

—भारतेन्दु—'वैदिक हिंसा-हिंसा न भवति'

यहाँ पर वेदान्ती शब्द में यमक है। प्रथम वेदान्ती शब्द संज्ञा है। दूसरी बार प्रयुक्त शब्द वेदान्ती दो भागों (वे-दान्ती) में बँट कर अर्थ किया गया—बिना दाँत वाला। इसी प्रकार श्लेष द्वारा भी वाग्वैदग्ध्य व्यक्त किया जाता है। यथा :—

"चिरजीवौ जोरी जुरै, क्यों न सनेह गंभीर।
को घटि, ये वृषभानुजा, वे हलधर के वीर॥"

—बिहारी

प्रस्तुत दोहे में 'वृषभानुजा' और 'हलधर के वीर' में श्लेष के द्वारा राधा और कृष्ण के अतिरिक्त गाय और बैल का भी अर्थ लिया जाता है। यहाँ पर अर्थ-सौष्ठव श्लेष के स्पष्ट होने में ही है।

हास्य का एक उदाहरण और देखिये :—

हूक-सी लगत देखे, चूक सो लगत चाखे,
लूक सो लगत यदि गरे ते उतरि जाय।
पत्तर धरै तौ जरै पाथरु चिटिक जाय,
धातु पात्र धारै तो अमेटो दागु परि जाय।
सक्कर सहत चाहे चौगुनो मिलाय देय,
रंग बदले न पात्र मीठे ही सों भरि जाय।
मेरी जान सपत पताल तरे दाबो राव,
दही बूँद भू पै परै, काँपै और डरि जाय।

—अज्ञात कवि

इस प्रकार का हास्य किसी भुक्त-भोगी की कल्पना से अधिक नहीं है। व्यक्तिगत विद्वेष अथवा कटाक्ष से विहीन इस प्रकार का हास्य निर्मल विनोद मात्र की सृष्टि करता है। यद्यपि हिन्दी-साहित्य में ऐसे हास्य की कमी है, फिर भी इस प्रकार की एक भावना हो सकती है, जिसका उद्देश्य शुद्ध विनोद हो। प्रयोगवादी कवि इस ओर कुछ-कुछ प्रवृत्त हो रहे हैं।

बिंध्य के बासी उदासी तपोव्रत धारी महा बिनु नारि दुखारे।
गौतम तीय तरी तुलसी सो कथा सुनि भे मुनि वृन्द सुखारे।
ह्वैहैं शिला सब चन्द्रमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे।
कीन्हीं भली रघुनायक जू करुना करि कानन को पगु धारे।

—कवितावली,

इस पद में जिस विनोद की सृष्टि होती है वह लोक-परक व्यक्ति विशेष की नहीं है, वरन् अलोक-सामान्य रागात्मक-मनोवृत्ति का परिचायक होकर उपस्थित हुआ है। इसलिए इस विनोद की भी वही स्थिति है जो उत्तेजनादि पूर्व कथित भावों की। कभी वह 'स्व-स्वत्व' में समाहित रहता है, कभी वह 'स्व' के साथ जगत् का संयोग स्वीकार कर लेता है और कभी स्वत्व और जगत् सब को समेट कर 'स्व-पर-भिन्न' में विलय होना चाहता है।

साधारणतः हास्य में वाग्वैदग्ध्य का प्रयोग विशुद्ध आनन्द की सृष्टि करता है, किन्तु कभी-कभी आक्षेप करने की भावना की प्रेरणा से भी इसका प्रयोग किया जाता है।

कटूक्ति-व्यंग्य-वक्रोक्ति

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। अतएव अनुकूल वेदनीय स्थिति ही सदैव उसके सामने नहीं आती है। अनेक अवसरों पर प्रतिकूल वेदनीय स्थितियाँ भी उपस्थित हो जाती हैं। इन प्रतिकूल वेदनीय स्थितियों पर यदि उसका अधिकार होता तो वह शासन करना चाहता। कलाकार इस शासन के लिए कभी-कभी हास्य को माध्यम बना लेते हैं। इस हास्य में उसकी खीझ मूर्तिमान हो उठती है। इसी खीझ में जब वह किसी पर बरस पड़ता है तब वह कटूक्ति (Sarcasm) का प्रयोग करता है, जब किसी समाज अथवा धार्मिक प्रणाली को अपना लक्ष्य बनाता है तब वह उपहास-व्यंग्य (Satire) का प्रयोग करता है, और जब वह गंभीर होकर कथन की ऐसी उक्ति का प्रयोग करता है जिसमें इच्छित अर्थ कथित शब्दों द्वारा व्यक्त अर्थ से बिलकुल प्रतिकूल होता है तब वक्रोक्ति (Irony) होती है।

कटूक्तिः—यह व्यंग्य की अपेक्षा शब्दों में कुछ अधिक कटु होता है। इसमें लेखक किसी व्यक्ति, वस्तु या घटना विशेष के कारण अत्यधिक खीझकर उबलने-सा लगता है। यथा एक बार एक दरबारी कवि दरबार में किसी कारणवश अनुपस्थित हो गया। उससे जब दरबार में अनुपस्थित रहने का कारण पूछा गया तब वह झल्ला कर कहने लगा :—

"साल छ-सात की दालि दराय के,
साहु कह्यो यह लेहु नई है।
फूँक दई लकड़ी बहुतेरिक,
साँझ ते आधिक राति लई है।
खाय लियो अकुलाय के काच ही,
चाकरी चूल्हे निहारि गई है।
खोय दियो मुजरा दरबार को,
दाल दधीच के हाड़ भई है।"

—'सुकवि', फरवरी १९३१

हिन्दी-साहित्य में छायावाद और रहस्यवाद के प्रयोग के कारण भी कवियों ने इन वादों का खूब मजाक उड़ाया। यह मजाक अपनी चरम सीमा में वैयक्तिकता तक पहुँच गया और विरोधी कविगण छायावादी कवियों को जली कटी सुनाने लगे। निम्नलिखित छन्द में कवि की छायावादियों के प्रति झुँझलाहट स्पष्ट है :—

उवर में छायावाद

चढ़ आई जूड़ी कट कट बोले दाँत, वाणी
अगति अतुक लगी छन्द से सिरजने।
जारे विषम ज्वर हैं, आँखों की विषम गति
छाया लगी काया-सी अनूप रूप सजने।
"वचनेश" बन गया आज मैं निराला कवि
उड़के अनन्त को लगा है मन भजने।
खाली जौ कुनेन मची कान में है झनझन
जान पड़ता है हृद्-तन्त्री लगी बजने॥

—वचनेश

छायावाद की ही भाँति मधुशाला ने भी प्राचीन परंपरा वाले कवियों को अत्यधिक चिढ़ा-सा दिया था। अतः उन्होंने भी अपनी खीझ का प्रदर्शन इस प्रकार किया :—

मधुशाला

परदे में रखी गई, राजपथ से हटाई गई,
अब कवि-वृन्द उसे बाहर निकालेंगे।
जगह जगह मधु-मन्दिर बनेंगे और
प्याले पर प्याला हलाहल ढालेंगे।
लेंगे मजे मस्ती के "सनेही" बदमस्त होके,
होगी जो जरूरत क़सम फिर खा लेंगे।
घर-घर होगा फिर शीशे की परी का नाच,
जान पड़ता है लोग तोबा तोड़ डालेंगे॥

—गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'

उद्धव ने गोपियों को निराकार उपासना करने का उपदेश देते हुए उनसे प्राणायामादि करने के लिए कहा। इस पर गोपियों का यह उत्तर कितना अधिक कटूक्ति पूर्ण है :—

और हूँ उपाय केते सहज सुढंग ऊधौ,
साँस रोकिबै कौ कहा जोग ही कुढंग है।
कुटिल कटारी है, अटारी है उतंग अति,
जमुना तरंग है, तिहारो सतसंग है।

—'रत्नाकर'—उद्धव शतक।

कटूक्ति (Sarcasm) का प्रयोग साधारणतः अवसर के अनुरूप व्यक्तिगत रूप में होता है और भाव-ग्रहण करने के अभिप्राय से इसमें न तो सुधार-भावना होती है, न सहानुभूति की अभिव्यक्ति ही। यह तो एक प्रकार से तीखा व्यंग्य होता है।

व्यंग्यः—मानव मात्र के सामूहिक सुधार का उद्देश्य लेकर आलोचनात्मक दृष्टिकोण के साथ-साथ विनोद तथा वाक्यपटुत्व (Wit) पूर्ण साहित्य रचना की प्रणाली का नाम उपहास-व्यंग्य है। कुशल व्यंग्यात्मक रचनाकार मानव-जीवन की विभिन्न दुर्बलताओं से पूर्ण अवगत रहता है। वह परिहासपूर्ण रचनाओं द्वारा उन दुर्बलताओं का विनाश करके सद्भावनाओं एवं विचारों का निर्माण करने का प्रयत्न करता है। व्यंग्य के अन्तर्गत लेखक का यह प्रयत्न होता है कि वैयक्तिक आक्षेपों को बचा दिया जाय।

हिन्दी-साहित्य में व्यंग्य का प्रयोग भक्तिकाल में सूर की रचनाओं में भ्रमरगीत में विशेष रूप से पाया जाता है। इसमें गोपियों ने उद्धव को खूब जली-कटी बातें सुनाई हैं। इस प्रसंग में इतना ध्यान रखना चाहिए कि ये व्यंग्य यद्यपि प्रत्यक्षतः वैयक्तिक हैं, पर सामान्यतः प्रेमी समुदाय द्वारा प्रयुक्त होने वाले वे व्यंग्य हैं जो प्रियजनों के प्रति किये जाते हैं। रीतिकाल में कविगण शृंगार के मद में बह रहे थे। देश-कल्याण अथवा कुरीतियों आदि के निवारण का प्रश्न उनके समक्ष था ही नहीं। आधुनिक काल में भारतेन्दु के समय से इस दिशा में विशेष ध्यान दिया जाने लगा। भारतेन्दु ने 'अंधेर नगरी' नामक एक प्रहसन लिखा था जिसमें देश की दशा पर व्यंग्यात्मक चित्र उपस्थित किये गये हैं। यथा :—

हिन्दू चूरन इसका नाम। विलायत पूरन इसका काम।
चूरन जब से हिन्द में आया। इसका धन बल सभी घटाया॥

× × ×

चूरन अमले सब जो खावैं। दूनी रिश्वत तुरत पचावैं॥

× × ×

चूरन साहेब लोग जो खाता। सारा हिन्द हजम कर जाता॥

—दूसरा अंक

इस चूरन प्रसंग में भारतेन्दु ने सम्पादक, अमला, महाजन, साहब, पुलिस आदि सभी का स्मरण किया है और उनकी रीति-नीति पर व्यंग्य का प्रयोग किया है।

भारतेन्दु ने 'अंधेर नगरी' में एक दूसरे स्थल पर ब्राह्मण जाति पर बड़ा ही मर्मभेदी व्यंग्य किया है :—

"जातवाला:—जात ले जात, टके सेर जात। एक टका दो, हम अपनी जात बेचते हैं, टके के वास्ते ब्राह्मण से धोबी हो जायँ और धोबी को ब्राह्मण कर दें। टके के वास्ते जैसी कहो वैसी व्यवस्था दें।" आदि-आदि।

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में भारतेन्दु ने मदिरापायी एवं मांसोपजीवी व्यक्तियों पर गम्भीर व्यंग्य किये हैं और उनकी वास्तविक स्थिति को समाज के समक्ष सामूहिक रूप में रक्खा है। यथा :

"पुरोहितः—दुहाई, दुहाई, मेरी बात तो सुन लीजिए। यदि मांस खाना बुरा है तो दूध क्यों पीते हैं, दूध भी तो मांस ही है, और अन्न क्यों खाते हैं। अन्न में भी तो जीव है और वैसे ही सुरापान बुरा है तो वेद में सोमपान क्यों लिखा है और महाराज, मैंने तो जो बकरे खाये वह जगदम्बा के सामने बलि देकर खाए।" —चतुर्थ अंक

प्रतापनारायण मिश्र की व्यंग्यात्मक रचनाएँ भी विशेष महत्व रखती हैं। उन्होंने जातीय, सामाजिक एवं धार्मिक विकृतियों के सम्बन्ध में सुधार की भावना से प्रेरित होकर व्यंग्य का प्रयोग किया है। 'तृप्यन्ताम' शीर्षक रचना में उन्होंने भारत की आर्थिक तथा सामाजिक दुर्दशा का बड़ा ही करुण चित्र व्यंग्यात्मक शैली में उपस्थित किया है। कतिपय छन्द इस प्रकार हैं :—

(१)

मृत भाषा समुझैं संस्कृत कहँ वेदन गनैं असभ्य कलाम।
फिरि का जानैं किमि मानैं हम विधि-निषेध कलि कुतसित काम॥
निजता निज भाषा निज धर्महिं देहिं तिलोदक आठौं जाम।
तुमहूँ पुरुष पुरुष बोहू सुनि वाही नाते तृप्यन्ताम॥

(२)

देख तुम्हारे फ़रज़न्दों का तौरो-तरीक़ तुमाओ कलाम।
ख़िदमत कैसे करूँ तुम्हारी अक़्ल नहीं कुछ करती काम।
आवे रंग न ज़र गुज़रानूं या कि मये-गुलगूं का जाम।
मुंशी चितरगुपत साहब तसलीम कहूँ या तृप्यन्ताम॥

—'प्रताप पीयूष',

गिरधर कविराय ने अन्योक्ति प्रधान शैली में गुण का सम्मान न करने वाले पर बड़ा ही चुटीला व्यंग्य कसा है:—

साँई घोड़न के अछत, गदहन पायो राज।
कौआ लीजो हाथ में, दूरि कीजिये बाज॥
दूरि कीजिये बाज, राज पुनि ऐसो आयो।
सिंह कीजिये कैद, स्यार गजराज चढ़ायो॥
कह गिरधर कविराय, जहाँ यह बूझि बड़ाई।
तहाँ न कीजिये भोर, साँझ उठि चलिए साँई॥

—'सूक्तिसुधा'

पाश्चात्य संस्कृति एवं सभ्यता के प्रसाद के कारण भारतीय जीवन में भी परिवर्तन हुआ। लोगों ने पाश्चात्य वेषभूषा की ओर अपनी रुचि का परिचय दिया। निम्नलिखित छन्द में इसी का व्यंग्यात्मक वर्णन हुआ है:—

भौहों का भय

संस्कृति पुरानी डरती है करती है सोच,
पूरे ठाट सभ्यता के आन कहीं जुड़जायँ।
डरते हैं कर्मवीर कलि के कुकर्म देख,
धर्म डरता है कहीं धज्जियाँ न उड़ जायँ।
करेगी हलाक पातिव्रत को तलाक अब,
पति डरते हैं कहीं पत्नी न बिछुड़ जायँ।
सफाचट मूँछों की तरफ देखती हैं जब,
भौहें डरती हैं कहीं हम भी न मुड़ जायँ॥

—रसिकेन्द्र

आज का शिक्षित वर्ग पाश्चात्य जीवन में ही आनन्द की कल्पना करता है। अतः वह पाश्चात्य सभ्यता में ढली नारी को अपनी जीवन-संगिनी के रूप में स्वीकार करना चाहता है। पर अन्ततोगत्वा उसे दुराशा के दर्शन होते है और उसका जीवन सुखमय की अपेक्षा दुखमय हो जाता है। 'स्वर्ग की झलक' में उपेन्द्रनाथ अश्क ने इसी सामाजिक स्थिति पर बड़ा ही मार्मिक व्यंग्य उपस्थित किया है। गोविन्दवल्लभ पन्त ने 'अंगूर की बेटी' नामक रचना में मद्यपान के दोषों को व्यंग्यात्मक शैली में प्रकट किया है।

व्यंग्य का एक उदाहरण और देकर इस प्रसंग को हम यहाँ समाप्त करेंगे। एक कवि को किसी राजा ने रजाई दी। रजाई कुछ हलकी थी। कवि अप्रसन्न

हो गये और कहने लगे—

रायजू को रायजू रजाई दई राजी ह्वैके,
चहूँ ओर देस देस सोहरत भई है।
साँस लेत उड़िगो उपल्ला औ भितल्ला सब,
दिन द्वैक बाती हेत रुई रह गई है।

इस छन्द में रायजू की खीझ मूर्तिमान है जो पाठक के मन में विनोद की सृष्टि करती है। दूसरी ओर

थोरेई गुन रीझते, बिसराई वह बानि।
तुमहूँ कान्ह मनो भये आजु कालिह के दानि।

—बिहारी

में भी उसी प्रकार की कृपणता पर व्यंग्य है जो कवि की खीझ का द्योतक है। परन्तु पहिले का उद्देश्य 'स्व-स्वत्व' में समाप्त होता है और दूसरे का उद्देश्य 'स्व-पर-भिन्न-स्वत्व' में। कवि जहाँ इस प्रकार केवल 'स्व' को देखता है वहाँ वह 'स्व-स्वत्व' विषयक खीझ का प्रतिपादन करता है और जहाँ उसकी दृष्टि सार्वजनीन हो जाती है वहाँ 'स्व-पर-भिन्न-स्वत्व' का।

साहित्य में इस प्रकार समस्त हास्य जो मानव प्रयोजित संस्थाओं की दुर्बलता की अभिव्यक्ति करता है तथा वैयक्तिक आक्षेप से मुक्त रहकर उस हास्य में सुधार-भावना को प्रश्रय देता है वह सब का सब उपहास-व्यंग्य के अन्तर्गत आता है।

वक्रोक्तिः—यह एक प्रकार की आलंकारिक उक्ति होती है जिसमें प्रयुक्त शब्दावली के विरुद्ध अर्थ ग्रहण किया जाता है। उदाहरणतः प्रशंसात्मक अभिव्यक्ति का प्रयोग निन्दा अथवा घृणा प्रकट करने के लिए किया जायगा। इसमें कटूक्ति की अपेक्षा शब्द की कटुता कम होती है। वक्रोक्ति की रचना करते समय लेखक के लिए आवेशमयी स्थिति में भी गम्भीर परिहास, भावकता-रहित निस्पृहता के साथ अभिव्यक्ति में एक शीतलता अत्यन्त आवश्यक होती है। इसका स्वरूप-विकास लेख की अपेक्षा वचन में विशेष रूप से होता है, क्योंकि वक्रोक्ति में द्व्यर्थबोध की क्षमता होती है और यह द्व्यर्थबोध वाणी अपनी ध्वनि अथवा श्लेष के द्वारा दूसरे को कराती है। यथाः—

एक कहैं, बन जोग जानकी! विधि बड़ विषम बली।

—गीतावली, अयोध्याकांड

ऊपर की पंक्ति में साधारणतः कोई विशेष अर्थ नहीं प्राप्त होता पर कंठध्वनि के द्वारा यह स्पष्ट होता है कि सीता जी बन के योग्य नहीं हैं। उनके लिए तो अयोध्या का प्रासाद ही उपयुक्त है।

श्लेष से पुष्ट होने वाली वक्रोक्ति इस प्रकार होगी:—

खोलो जू किवार, तू को हौ एती बार।
'हरि' नाम है हमारो, बसो कानन पहार में॥

कृष्ण ने तो बताया कि मै हरि-नामधारी कृष्ण हूँ। किन्तु राधा ने श्लेष के द्वारा 'हरि' का अर्थ बन्दर लिया और कहा कि यदि 'हरि' हो तो जंगल और पहाड़ों में जाकर वास करो।

परिवृत्ति:—हास्य की सृष्टि के लिए कतिपय हास्यरस के कवियों ने अन्य कवियों की गंभीर सारगर्भित रचनाओं को लेकर उन्हीं में हास्यात्मक भावनाओं का समावेश कर दिया है। कुछ कवियों ने किसी कविता की संगीतात्मकता एवं कतिपय शब्दों को लेकर परिवृत्ति की रचना की है। इन परिवृत्तियों का उद्देश्य होता है मनोरंजन की सृष्टि करना अथवा किसी कृति की आलोचना करना। कभी-कभी परिवृत्तियों द्वारा मूलरचना की प्रशंसा भी हो जाया करती है। जिस प्रकार कला में व्यंग्य-चित्रों का स्थान है उसी प्रकार काव्य में परिवृत्ति का स्थान है। आधुनिक काल में परिवृत्ति (Parody) का व्यवहार बढ़ता जा रहा है और इसका अपना एक साहित्यिक स्थान हो गया है। कतिपय परिवृत्तियाँ इस प्रकार हैं:—

कबीर के दो पद हैं:—

काल करै सो आज कर, आज करै सो अब्ब।
पल में परलै होइगी, बहुरि करैगो कब्ब॥१॥
पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
एकै आखर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होय॥२॥

उक्त दोहों की परिवृत्ति देखिए:—

काल मरै सो आज मर, आज मरै सो अब्ब।
ईंधन पै राशन भयो, फेरि मरैगो कब्ब॥१॥
अर्जी दै दै जग मुआ, नौकर हुआ न कोय।
पढ़ै खुशामद को सबक, नौकर मालिक होय॥२॥

रसखान का एक पद है:—

मानुष हौं तो वही रसखान, बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पशु हौं तो कहा बस मेरो, चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन।
पाहन हौं तो वही गिरि को, जो धर्यो कर छत्र पुरंदर धारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं, मिलि कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन।

उक्त छन्द की परिवृत्ति देखिए:—

मानुष हौं तो वही कवि 'चोंच',
बसौं सिटी लन्दन के किसी द्वारे।
जो पशु हौं तो बनौं बुलडाग,
चलौं चढ़ि कार में पोंछ निकारे।
पाहन हौं तो थियेटर हाल को,
बैठे जहाँ 'मिस' पाँव पसारे।
जो खग हौं तो बसेरो करौं,
किसी ओक पै टेम्स नदी के किनारे॥

राजनीतिक जीवन से सम्बन्धित कुछ परिवृत्तियाँ:—

साहेब से सब होत है, बन्दे ते कछु नाहिं।
नाई को बाभन करै, बाभन नाई माहिं॥१॥
नेता ऐसा चाहिए, जैसा सूप सुभाय।
चन्दा सारा गहि रहे, देय रसीद उड़ाय॥२॥
यह घर थानेदार का, खाला का घर नाहिं।
नोट निकारै पग धरै, तब पैठै घर माँहिं॥३॥

श्यामनारायण पांडेय की हल्दी घाटी की परिवृत्ति इस प्रकार है:—

नाना के पावन पायँ पूज नानी पद को कर नमस्कार।
उस अंडी की चादर वाली साली पद को कर नमस्कार॥
उस तम्बाकू पीने वाले के नयन याद कर लाल लाल।
डग डग सब हाल हिला देता जिसके खों-खो का ताल ताल॥
ले महाशक्ति प्रेस से कागज प्रत रखकर हिन्दुस्तानी का।
निर्भय होकर लिखता हूँ मैं पाकर दर्शन कृपलानी का॥

प्रगतिवादी एवं प्रयोगवादी कवियों की रचना-पद्धति को लेकर रची गई परिवृत्ति भी देखिये:—

"सुकुमार गधे।
मेरे प्यारे सुकुमार गधे।
जग पड़ा दुपहरी में सुनकर,
मैं तेरी मधुर पुकार गधे।
मेरे प्यारे सुकुमार गधे॥
तन मन गूँजा, गूँजा मकान,
कमरे की गूँजी दीवारें,
लो ताम्र लहरियाँ उठीं मेज,
पर रखे चाय के प्याले में॥"

—गोपालप्रसाद व्यास—'अजी सुनो'

इन परिवृत्तियों द्वारा भी कहीं कटूक्ति, कहीं व्यंग्य और कहीं विशुद्ध हास्य की सृष्टि की गई है।

इस समय हिन्दी का हास्य रसात्मक साहित्य पर्याप्त पुष्ट हो चुका है। यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि हिन्दी में स्वस्थ हास्य का अभाव नहीं है। काव्य-साहित्य में जिन कवियों ने हास्य की सृष्टि की है उनमें से कुछ का उल्लेख हास्य के विवेचन में हो चुका है। इनके अतिरिक्त मिश्रबंधुओं और शंकर कवि ने भी हास्य रसात्मक कविताएँ लिखी हैं। 'अनामिका' नामक काव्य ग्रंथ में 'निराला' ने 'सरोज स्मृति' शीर्षक कविता हास्य रस में ही लिखी है। बेढब की 'मैं जीवन में कुछ कर न सका' शीर्षक परिवृत्ति विशेष प्रसिद्ध है। पढ़ीस कवि की रचनाएँ हास्य की उत्पत्ति में विशेष रूप से सहायक होती हैं। कहानी जगत् में जी० पी० श्रीवास्तव का नाम हास्य रस के लिए विशेष प्रसिद्ध है। आपकी 'पिकनिक' तथा 'लम्बी दाढ़ी' प्रमुख रचनाएँ हैं। प्रेमचंद की 'मोटेराम शास्त्री' व्यंग्यात्मक कहानी भी हास्य की सृष्टि करती है। अन्नपूर्णा की 'मेरी हज़ामत', बेढब की 'मसूरी वाली', 'बनारसी एक्का', निराला की 'सुकुल की बीबी', रामनरेश त्रिपाठी की 'स्वप्नों के चित्र', भूपनारायण दीक्षित की 'नटखट पाँडे', 'दिलावर सियार' आदि रचनाएँ हास्य रस के उत्तम उदाहरण हैं।

कतिपय हास्य रसात्मक जीवन-चरित्र भी प्रकाशित हुए हैं, जिनमें जी० पी० श्रीवास्तव का 'लतखोरीलाल', अन्नपूर्णानन्द का 'महाकवि चच्चा', निराला का 'कुल्ली भाट'', बिल्लेसुर बकरिहा' आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। निबन्ध के रूप में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न', राजा शिवप्रसाद 'सितारे-

हिन्द' का 'राजा भोज का सपना', राधाचरण गोस्वामी का 'यमपुरी की यात्रा', प्रताप नारायण मिश्र का 'आप', जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी का 'अनुप्रास का अन्वेषण' शीर्षक निबन्ध भी हास्यरसात्मक साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। निबन्धों में गम्भीर विवेचन के बीच-बीच में व्यंग्य और वक्रोक्ति का प्रयोग करना आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की अपनी विशेषता रही है।

हास्य रसात्मक साहित्य के निर्माण में पद्मसिंह शर्मा और नारायण प्रसाद 'बेताब' का नाम भी किसी प्रकार नहीं छोड़ा जा सकता है। आपके व्यंग्य अत्यधिक प्रभावशाली होते हैं।

स्व-पर-भिन्न-स्वत्व [अध्यात्म] से प्रभावित वाद

स्व-पर-भिन्न-स्वत्व [अध्यात्म] से प्रभावित वाद

सामान्य परिचय

जिज्ञासा मनुष्य की स्वयंभू मनोवृत्ति है जिसके द्वारा मानव ने प्रकृति में एक निगूढ़ शक्ति की कल्पना की थी। इस कल्पना में कल्पना-शक्ति का उतना ही हाथ था जितना उसकी जिज्ञासा प्रवृत्ति का। मानसिक रचना (Mental Manipulation) के द्वारा भयंकर झंझावात में उसे किसी दानव का दर्शन हुआ और सरस बसन्त-शोभा में उसे किसी देवी का। ये कल्पनाएँ आदि मानव से लेकर आज के सुसभ्य प्राणी तक में विद्यमान हैं। इन का अतिक्रमण करने का अर्थ होगा जिज्ञासा और कल्पना शक्ति को खो देना।

इस प्रकार बहुरूपिणी प्रकृति में बहुरूपा कल्पनाएँ उसकी बहुमुखी उपासना की साधन बन गईं। मिश्र की आइसिस (Isis) नील नदी की देवी है, जुपिटर (Jupiter) स्वर्ण-सुखों का देवता है और संसार का संहार करने वाली दुर्गा शक्ति की देवी है।

ऐसा प्रतीत होता है कि धीरे-धीरे मनुष्य की कल्पना ने इन बहुरूपिणी शक्तियों का समुच्चय करना प्रारम्भ किया और क्रमशः वह उस एक शक्ति के पास पहुँच गया जिसे उसने अनेक रूपों में देखा। यही उसका सर्वश्रेष्ठ आविष्कार था। इसी समुद्र में उसकी समस्त विचार-धाराएँ आकर विलीन हो गईं। समस्त शक्ति के इस केन्द्र का नाम उसने ईश्वर रखा। जिस दिन उस ने ईश्वर की खोज कर ली होगी उस दिन उसने यह न सोचा होगा कि हमारा यह नवीन आविष्कार विवाद का ऐसा विषय बन जायगा जिसका समाधान असंभव होगा। बुद्धि-विकास के साथ-साथ उसकी समस्या उलझती गई। कभी वह प्रकृति की ओर देखता था, कभी प्रकृति से परे उस शक्ति की ओर, और कभी प्रकृति में शक्ति को देखा था, कभी शक्ति में प्रकृति को। उसके समक्ष प्रकृति और शक्ति की ही समस्या नहीं थी। एक

समस्या और भी थी जो उससे भी कहीं अधिक उलझी हुई थी। वह अपने और प्रकृति के सम्बन्ध को भी ठीक-ठीक न जान सकता था। जब तक उसने 'स्व' को जगत् से भिन्न नहीं समझा था, पेड़-पौधों और पशु-पक्षियों की भाँति वह अपने को भी जड़ प्रकृति समझता था, तब तक उसकी कोई अपनी समस्या नहीं थी। किसी प्रकार उदर-पोषण करते हुए जीवन-यात्रा निभा देने ही में उसकी इतिकर्तव्यता थी। परन्तु जिस दिन उसने अपने को प्रकृति से भिन्न समझ लिया, उसी दिन सारा कर्मकांड, समस्त ज्ञान-राशि और उनको सुलझाने के लिए उपासना का भारी बोझ उसके सिर पर लद गया। इस प्रकार जिस उलझन से वह चला था उसी उलझन में वह फिर फँस गया। बिहारी के शब्दों में—

> को छूट्यो यहि जाल परि, कत कुरंग अकुलाय।
> ज्यों ज्यों सुरझि भज्यो चहत, त्यों त्यों अरुझत जाय॥

मानव की इस मूर्खता का जन्म उसकी बुद्धिमत्ता से हुआ था। परन्तु उसकी इस बुद्धिमत्ता ने उसे कुछ ऐसे मार्ग भी दिये जिन्हे दे सकना प्रकृति की शक्ति के बाहर था। प्रकृति जो कुछ दे सकती थी वह केवल आपात रमणीय था। उसके लिए मीठे आम के फल तभी तक मीठे थे जब तक वे मुँह से नहीं लगे थे। परन्तु मुँह लगते ही वे मन से उतर जाते थे। दिन-दिन बढ़ने वाली इस सुखेषणा ने उसके जीवन को मशीन बना दिया जिसमें न विराम था, न विश्राम। इस उद्देश्यहीन गति से ऊबकर उसे अत्यधिक सुख की कामना थी जिसे उसकी इस बुद्धिमत्तापूर्ण मूर्खता ने पूर्ण किया। व्यक्ति को अपनी रुचि के अनुसार एक ऐसा आश्रय स्थान मिल गया जहाँ वह थोड़ी देर ठहर सकता था। उसके दुःख भी सुख बनने लगे थे और सुखों में भी आकर्षण नही रह गया था।

इन समस्याओं का समाधान करते समय मानव के समक्ष तीन वस्तुएँ थीं—प्रकृति थी, अहं था, अहं और प्रकृति से भिन्न एक तीसरी शक्ति थी। संभवतः उसने सब से पहिले इसी त्रैत का अनुभव किया। यही त्रैत (Trinity) किसी न किसी रूप में संसार के समस्त पंथों के मूल में उपस्थित है। कहीं ईश्वर, उसका बेटा और जगत् है, कहीं खुदा, रसूल और इंसान है, कहीं ब्रह्मा, विष्णु और महेश है। ईश्वर, जीव और प्रकृति के रूप में उपस्थित इस त्रैत ने भी जब सिमिट कर कहीं ईश्वर का तिरस्कार किया, कहीं जीव का तिरस्कार किया और कहीं प्रकृति का तिरस्कार किया, तब वह द्वैत के

रूप में उपस्थित हुआ। और द्वैत से भी जब उसे शान्ति न मिली तब वह एकत्व पर ठहरा, कहीं ईश्वर के रूप में और कहीं प्रकृति के रूप में।

साहित्य में ये ही तीन भावनाएँ दिखाई देती हैं। यहाँ एक बात जान लेना आवश्यक है कि हमें उस काल का साहित्य उपलब्ध नहीं है जब मनुष्य अपने को केवल प्रकृति समझता था अथवा प्रकृति में देवत्व भावना का विकास नहीं हुआ था। अतएव सब से प्रथम साहित्य में प्रकृति पर देवत्व भावना का आरोप संसार के समस्त प्राचीनतम साहित्य में मिलता है। वेदों में अग्नि, वरुण, मरुत् की उपासना की चर्चा है। यूनानी साहित्य में भी सूर्य, विद्युत और बादलों के देवताओं का वर्णन आता है। पारसी साहित्य भी अग्नि और सूर्य की उपासना के मन्त्रों से भरा है।

क्रमशः ईश्वर-भावना का विकास हुआ। वेदों के काल में ही एक ऐसी शक्ति की प्रतिष्ठा हो गई थी जो इन समस्त शक्तियों का आधार थी। परन्तु संभवतः इस शक्ति का प्रकृति से समन्वय, प्रकृति और इस शक्ति की एकरूपता की स्थापना उपनिषद् काल में हुई। उपनिषदों में हमें ऐसे विचार मिलते हैं—

ओमित्येतदक्षरमिदꣳसर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव।

—मांडूक्योपनिषद्, श्लोक १

[ओं यह अक्षर ही सब कुछ है। यह जो कुछ भूत, भविष्य और वर्तमान है उसी की व्याख्या है, इसीलिए यह सब ओंकार ही है। इसके सिवा जो अन्य त्रिकालातीत वस्तु है वह भी ओंकार ही है।]

× × ×

अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादो३ऽहमन्नादो३ऽहमन्नादः। अहꣳश्लोककृदहꣳश्लोककृदहꣳश्लोककृत्। अहमस्मि प्रथमजा ऋता३स्य। पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्यना३भायि। यो मा ददाति स इदेव मा३वाः। अहमन्नमन्नमदन्तमा३द्मि। अहं विश्वं भुवनमभ्यभवा३म्। सुवर्ण ज्योतीः। य एवं वेद। इत्युपनिषत्।

—तैत्तिरीयोपनिषद्, दशम अनुवाक

[मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ। मैं अन्न का भोक्ता हूँ, मैं अन्न का भोक्ता हूँ, मैं अन्न का भोक्ता हूँ। मैं इनका श्लोक 'संयोग' कराने वाला हूँ। मैं इनका श्लोक 'सयोग' कराने वाला हूँ, मैं इनका श्लोक 'संयोग' कराने वाला हूँ। मैं ऋत का सर्व प्रथम उत्पन्न तत्व हिरण्यगर्भ हूँ। मैं देवताओं से

भी पहिले विद्यमान अमृत का नाभि 'केन्द्र' हूँ। जो मुझे देता है वह इस कार्य से मेरी ही रक्षा करता है। मैं अन्न स्वरूप होकर अन्न खाने वाले को निगल जाता हूँ। मैं समस्त भुवन का अभिभव (तिरस्कार) करने वाला हूँ। मेरी ज्योति स्वर्ग है, जो इस प्रकार जानता है वह समीप बैठता है।]

आध्यात्मिक दर्शन के ये विचार जनसाधारण तक पहुँचते रहे और सामान्य मानव इनसे केवल इतना प्रभावित होता रहा कि वह जीवन के संतुलन में इनसे सहायता लेता रहा। व्यावहारिक जीवन में प्रकृति, आत्मा और ईश्वर की एकरूपता न तो आ सकती थी और न आई। अतएव साहित्य भी प्रत्यक्ष रूप में इस प्रकार के विचार-प्रतिपादन का साधन नहीं बना। अप्रत्यक्ष रूप से यह विचार महाकाव्य काल तक बने रहे। महाभारत में गीता के उपदेश इसी कोटि के है, जिनमें कहीं-कही तो उपनिषदों के शब्द भी ज्यों के त्यों मिलते हैं। यथाः—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥
—गीता, द्वितीय अध्याय, श्लोक २९

अद्वैत दर्शन के ये विचार महाभारत काल की भौतिकता में निहित हो गये थे। विचारक और जनता के बीच में एक ऐसा वर्ग आ गया था जो इन विचारों से अपने स्वार्थ-साधन का ही काम लिया करता था। दुर्योधन इसी वर्ग का प्रतिनिधि प्रतीत होता है। महाभारत में उसके मुख से भी वे ही विचार सुनाई पड़ते हैं जो भगवान व्यास के उपदेशों में निहित हैं, परन्तु इन विचारों के द्वारा वह केवल अपने अभीष्ट की सिद्धि करना चाहता है। इस आडम्बर का विनाश होना ही था और वह समय पर हो गया। चिंतन की धारा सबकी सम्पत्ति न बनकर कुछ थोड़े से व्यक्तियों तक सीमित रह गई।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में सामान्य मानव-जीवन में संतुलन लाने वाला दर्शन उससे आगे होकर वन में बस रहा था। अतएव अंतःशून्य आश्रय-विहीन मानव कर्मवाद के प्रपंच में फँस गया। यह कर्मवाद ही उस समय के मानव की सामान्य चेतना बन रहा था। कालान्तर में उसकी भी प्रतिक्रिया हुई।

ईश्वर का स्वरूप

आत्यंतिक सुख की कामना से मनुष्य ने 'स्व-पर-भिन्न' ईश्वर की कल्पना की। विचार करते-करते उसकी यह कल्पना केवल उसकी शक्ति के रूप में स्थिर हुई। सूर्य का प्रकाश, अग्नि की दाहकता, जल की शीतलता, वायु की गति और पृथ्वी की स्थिरता में उसने एक अचिंत्य शक्ति की कल्पना की थी। यह कल्पना केवल भावमय शक्ति थी। उसमें व्यक्तित्व का अभाव था। विभिन्न शक्तियों के रूप में प्रकाशित होती हुई यही शक्ति निम्नांकित वैदिक रचना में एक व्यक्तित्व को लेकर प्रकट हुई :—

"हिरण्यगर्भः समवर्ततताग्रे भूतस्यजातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥"

ऋ० १०-१२१-१

यह हिरण्यगर्भ भूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) का, साथ ही समस्त प्राणिवर्ग का जनक था। एक वही स्वामी था, वही इस पृथ्वी और आकाश को धारण किये हुए था। इसी शक्ति का विवेचन करते हुए ऋषियों ने कहा:—

"ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।"

ऋ० ८-८-४८

सत्तावान होने के कारण वह सत्य था। गतिमान होने के कारण वह ऋत था और तेजपुंज होने के कारण वह तपः था। यहाँ हम देखते हैं कि उस 'हिरण्यगर्भ' का स्वरूप-विवेचन किया जा रहा है। यह दूसरी धनात्मक (Positive) परिभाषा थी जो उस एक अचिंत्य शक्ति के लिए निश्चित की गई थी।

वैदिक युग में ही प्रभु के निर्गुण और सगुण दोनों रूपों की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। यजुर्वेद की नीचे लिखी ऋचा में प्रभु के इन दोनों रूपों का वर्णन इस प्रकार हुआ है:—

सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणं अस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् कविर्मनीषी-परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

—यजुर्वेद, ४०।८

इस ऋचा के अनुसार ईश्वर अकायम्, अव्रणम्, अस्नाविरम् अर्थात् निराकार है। इसी के साथ वह कवि, मनीषी, सर्वव्यापक और स्वयंभू है। ये शब्द उसके सगुण रूप के वाचक हैं। 'अपापविद्धम्' कह कर वेद ने ईश्वर को पाप की ओर प्रवृत्त होने वाले जीवों से पृथक् कर दिया है।

वेदों से प्रतिपादित ईश्वर धनात्मक और ऋणात्मक (Positive and Negative) परिभाषाओं से युक्त सगुण और निर्गुण दोनों रूपों में प्रतिष्ठित हुआ है। वेदों में दोनों प्रकार की स्तुतियाँ उपस्थित हैं।

यहाँ तक ईश्वर की भावना वस्तु-परक रही। यद्यपि ऐसे मंत्र भी मिलते हैं जो उसे अवस्तुपरक भी कहते हैं। परन्तु अवस्तुपरक ब्रह्म का विशेष विवेचन उपनिषद् काल में ही हुआ। मांडूक्य उपनिषद् में ईश्वर की व्याख्या करते हुए कहा गया है:—

"नान्तःप्रज्ञं न बहिः प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्य-मेकात्मप्रत्ययसारं प्रपंचोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥

—मांडूक्योपनिषद्, ७.

[जो न भीतर की ओर प्रज्ञावाला है, न बाहर की ओर प्रज्ञावाला है, न दोनों ओर प्रज्ञा वाला है, न प्रज्ञानघन है; न जानने वाला है, न नहीं जानने वाला है, जो देखा नहीं गया हो, जो व्यवहार में नहीं लाया जा सकता, जो पकड़ने में नहीं आ सकता, जिसका कोई लक्ष्य नहीं है, जो चिंतन करने में नहीं आ सकता, जो बतलाने में नहीं आ सकता, एकमात्र आत्मसत्ता की प्रतीति ही जिसका सार है (प्रमाण है), जिसमें प्रपंच का सर्वथा अभाव है, ऐसा सर्वथा शान्त, कल्याणमय, अद्वितीय तत्व (परब्रह्म परमात्मा का) चौथा पाद है, ऐसा ब्रह्मज्ञानी मानते हैं, वह परमात्मा है, वह जानने योग्य है।]

इस परिभाषा में परमात्मा के निर्विशेष रूप की व्याख्या की गई है। अब उसका सविशेष रूप देखिये। वैश्वानर[1] तेजस[2] और प्राज्ञ[3] उसके स्पष्ट सविशेष रूप हैं।

१—जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राऽऽप्तेरादिमत्त्वाद्वाऽऽप्नोति

[शेष टिप्पणी अगले पृष्ठ पर

पहिले सातवें मन्त्र में जो "चतुर्थ पद" कहा गया है उसकी विशेष व्याख्या करते हुए उसका निर्विशेष रूप इस प्रकार वर्णित हुआ है :—

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपंचोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोंकार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद य एवं वेद। —मांडूक्योपनिषद्, १२.

[इसी प्रकार मात्रा रहित प्रणव ही व्यवहार में न आने वाला प्रपंच से अतीत, कल्याणमय, अद्वितीय, पूर्ण ब्रह्म का चौथा पाद है। वह आत्मा अवश्य

पिछले पृष्ठ की शेष टिप्पणी]

सर्वान्कामनादिश्च भवति य एवं वेद।

—मांडूक्य उपनिषद्, ९

[(ओंकार की) पहिली मात्रा अकार ही (समस्त जगत् के नामों में अर्थात् शब्द मात्र में) व्याप्त होने के कारण और आदि वाला होने के कारण जागृत की भाँति स्थूल-जगत् रूप शरीर-वाला वैश्वानर रूप नामक पहिला पाद है। जो इस प्रकार जानता है वह अवश्य ही संपूर्ण भोगों को प्राप्त कर लेता है और सबका आदि (प्रधान) बन जाता है।]

२—स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षयति ह वै ज्ञानसन्ततिं समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद।

—मांडूक्य उपनिषद्, १०

[(ओंकार) की दूसरी मात्रा "उ" (अ से) उत्कृष्ट होने के कारण और दोनों भाव वाला होने के कारण स्वप्न की भाँति सूक्ष्म-जगत्-रूप शरीर वाला तेजस नामक (दूसरा पाद) है जो इस प्रकार जानता है वह अवश्य ही ज्ञान की परंपरा को उन्नत करता है और समान भाव वाला हो जाता है। इसके कुल में वेद रूप ब्रह्म को न जानने वाला नहीं होता।]

३—सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रामितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद। —मांडूक्य उपनिषद्, ११

[(ओंकार) की तीसरी मात्रा "म" ही माप करने वाला (जानने वाला) होने के कारण और विलीन करने वाला होने से सुषुप्ति की भाँति कारण में विलीन जगत् ही जिसका शरीर है, प्राज्ञ नामक तीसरा पाद है, जो इस प्रकार जानता है वह अवश्य ही इस सम्पूर्ण कारण जगत् को माप लेता है और सब को अपने में विलीन करने वाला हो जाता है।]

ही आत्मा के द्वारा परात्पर-ब्रह्म परमात्मा में पूर्णतया प्रविष्ट हो जाता है, जो इस प्रकार जानता है, जो इस प्रकार जानता है ।]

यह अव्यवहार्य आत्मा प्रपंच की शान्ति हो जाने पर शिव और अद्वैत रूप में प्रकाशित होता है । वह स्वयं आत्मा है और आत्मा के द्वारा आत्मा में पूर्णतया प्रविष्ट हो जाता है । इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध निर्विशेष ब्रह्म की कल्पना करता है और उत्तरार्द्ध सविशेष ब्रह्म की । इसी निर्विशेष-सविशेष ब्रह्म-विलक्षण-ब्रह्म का रूप हिरण्यगर्भ होकर जगत् को उत्पन्न करता है और जगत् को अपने में विलय करके निर्विशेष होकर अपने में स्थिर हो जाता है । उसकी इस क्रिया का वर्णन उपनिषद् इस प्रकार करती है :—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा
पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति ।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि
तथाक्षरात्सम्भवतीहि विश्वम् ॥

—मुंडकोपनिषद्, प्रथम खण्ड, ७

[जिस प्रकार मकड़ी (जाले को) बनाती है और निगल जाती है, (तथा) जिस प्रकार पृथ्वी में नाना प्रकार की औषधियाँ उत्पन्न होती हैं (और), जिस प्रकार जीवित मनुष्य से केश और रोम (उत्पन्न होते हैं); उसी प्रकार अविनाशी परब्रह्म से यहाँ इस सृष्टि में सब कुछ उत्पन्न होता है ।]

जैसे मकड़ी के भीतर उपस्थित जाला मकड़ी में समाया हुआ है, अव्यक्त अवस्था में पड़ा रहता है, उसी प्रकार उस निर्विशेष ब्रह्म से इस सविशेष जगत् की उत्पत्ति होती है । वह ब्रह्म केवल अक्षय है । अविनाशी है अथवा केवल शब्दमय है । ईश्वर के इस रूप से आगे आज तक के विचारक कदाचित् कुछ नहीं कह सके । किसी न किसी रूप में इन्हीं विचारों की छाया विभिन्न सम्प्रदायों के माध्यम से साहित्य पर पड़ती रही है ।

"यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते" में उत्पत्ति और विनाश की दो क्रियाएँ उसी विभु में सन्निहित होती हुई बताई गई हैं । साथ ही जगत् के निमित्त, उपादान और समवायि कारण की भी प्रभु में ही स्थिति दिखाई देती है । जाला मकड़ी के शरीर से ही उत्पन्न होता है । मकड़ी उसके लिए किसी भिन्न उपादान को बाहर से संग्रह नहीं करती । अतएव जाले का उपादान कारण भी मकड़ी ही है । मकड़ी स्वयं उसका निमित्त-कारण भी है अर्थात् स्वभिन्न किसी ऐसे साधन का प्रयोग वह नहीं करती है जो जाला बनाने में सहायक

हो। जाले का रूप भी उसी के भीतर निहित है। जाला चौकोर होगा या षट्कोण, उसके तागों में परस्पर कितना अन्तर होगा इसे बताने के लिए किसी बाह्य प्रेरणा की आवश्यकता उसे नहीं है। इस प्रकार जैसे मकड़ी जाले का उपादान, निमित्त और समवायि कारण है, उसी प्रकार इस जगत् के समस्त तत्व प्रभु से उत्पन्न हुए हैं, प्रभु ही उन्हें बनाने वाला है और जगत् में उपस्थित समस्त आकार-प्रकार उसी में स्थित हैं।

इस प्रकार प्रभु में समस्त व्यापारों की परिसमाप्ति होते हुए भी व्यापार-भेद तो है ही। उत्पत्ति का व्यापार निश्चय ही विलय के व्यापार से भिन्न है, भले ही एक ही गति के वे आदि-अन्त क्यों न हों, परन्तु जो आदि है वही अन्त नहीं है। आदि-अन्त की परिसमाप्ति जिस अनादि-अनन्त में होती है उसमें स्थित होते हुए भी परस्पर सापेक्ष्य के कारण दोनों की स्थिति है। इसी लिए असत् होते हुए भी मान लिया जाता है कि यह क्रिया का आदि है और यह उसका अन्त। आदि और अन्त की इन्ही दोनो सीमाओं का नाम ब्रह्मा (बढ़ने वाला) और शंकर (शांत करने वाला) कहा जाता है।

मानव-प्रकृति है कि जब तक कोई कार्य उसके परिश्रम से सिद्ध होता है तब तक उसकी अहंता सफलता के अभिमान को छोड़ना नहीं चाहती। इसीलिए वह आरंभ को अपनी शक्ति से सम्पन्न होता हुआ समझता है, परन्तु अंत के प्रति उसकी वैसी निष्ठा नहीं होती। बहुधा असफल होने पर वह असफलता का कारण किसी दूसरे को मानने लगता है। यह कारण आज भाग्य के रूप में स्वीकृत हो गया है। इस असफलता-विधायक भाग्य से वह डरता भी है। इसीलिए उसके प्रति सहज ही प्रणत भी होता है। संभवतः इसी कारण उस चरम शान्ति-कारक प्रलयंकर शंकर के सम्मुख उसकी प्रार्थना पहुँचने लगी होगी और आदि-कारण ब्रह्म-रूप ब्रह्मा को उसने भुला दिया होगा। वेदों में भी शंकर, रुद्र जैसे नामधारी देवताओं के स्तुति परक मन्त्र अधिक संख्या में हैं।

सूर्य तपता है, निश्चित काल तक तप कर पश्चिम में डूब जाता है। चन्द्रमा की अमृतवर्षिणी किरणें पृथ्वी को आप्यायित करती हैं। सूर्य और चन्द्र इस प्रकार प्रकृति और प्राणिमात्र को जीवन-रस का दान करते रहते हैं। इनके इस अजस्रदान ने न केवल तृप्ति प्रदान की है, वरन् उसमें ज्ञात-अज्ञात कृतज्ञता का भाव भी उत्पन्न किया होगा। भले ही आज का वैज्ञानिक इसमें कार्यकारण-सम्बन्ध की जिज्ञासा करता रहे, परन्तु उस पहिले श्रद्धालु भावुक

के हृदय ने किसी ऐसी शक्ति का आभास पाया होगा जो उसकी जीवन-रक्षा के लिए निरंतर उद्युक्त है। उसने इस रक्षक शक्ति को सूर्य की किरणों में क्रियाशील देखा, इसलिए उसने सूर्य में नारायण की कल्पना की। अपनी सहस्र किरणों से समुद्र को धवलित करते हुए वह नारायण जब समुद्र में प्रतिफलित हुआ तब उसका नारायण[1] नाम सार्थक हो गया। उसी ने क्रमशः मानव-कल्पना का आलिंगन करते-करते सहस्र शेषफणों से युक्त, लक्ष्मी-सेवित, क्षीरसागर-निवासी, अनन्तशायी भगवान् विष्णु का रूप स्वीकार किया। सूर्य-चन्द्र दोनों उसके नेत्र हुए, वायु उसका प्रश्वास हुआ। इस प्रकार समस्त तत्वों का आधारभूत विभु का वह रक्षकरूप विष्णु नामधारी बनकर हमारी भक्ति का विषय बन गया। इस प्रकार हमारे समक्ष भगवान् के पाँच रूप उपस्थित हुए:—

१—निर्विशेष ब्रह्म, जो केवल ऋणात्मक [Negative] परिभाषा से कहा जा सकता है।

२—सविशेष ब्रह्म अथवा हिरण्यगर्भ जिसके लिए धनात्मक [Positive] परिभाषाएँ भी प्रयुक्त हो सकती है।

३—जगत् की उत्पत्ति का आदिकारण ब्रह्मा जिसके विषय में भगवती गीता कहती है :—

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ १४/३

४—जगत् का प्रलय करने वाला शंकर।

५—जगत् की रक्षा का हेतु विष्णु।

वस्तुतः अन्तिम तीन रूप सविशेष ब्रह्म की ही विशेष शक्तियों के नाम हैं। परन्तु साधकों की भावना ने अपने-अपने भाव के अनुसार किसी एक को हिरण्यगर्भ अथवा निर्विशेष-ब्रह्म की कोटि में मान लिया है और उसी पर अपना विशेष ध्यान केन्द्रित करके उसी की उपासना और तत्सम्बन्धी विधियों का विचार किया गया है।

प्रकृति और जीव.—हम पहिले कह आये हैं कि प्रभु ही जगत् का उपादान, निमित्त और समवायि कारण है। आणविक शक्ति के रूप में उपस्थित उस अचिंत्य शक्ति का जो रूप हमारे सामने आया है वही जब इतना

१—नार=जल+अयन=घर; जल में घर है जिसका अर्थात् नारायण।

आश्चर्यजनक है कि उसके सामने हमारी आँखें मिच जाती हैं तब इसके उपा-दान को यदि:—

"आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम् ।
आश्चर्यवत् वदति तथैव चान्यः ॥" —गीता, २/२९

कहा गया तो अत्युक्ति नहीं की गई। परन्तु उसको प्रकृति का उपादान-कारण मानते रहने से जगत्-व्यवहार चलना कठिन है। इसीलिए अभेदवादियों की यह दृष्टि व्यवहार में भेदवादी बन गई है।

अब प्रकृति को प्रभु से अलग मानना इसलिए भी आवश्यक है कि जीवन-रस-सिंचन के लिए आधाराधेय की स्वीकृति के बिना कोई दूसरा उपाय भी नहीं है। इसीलिए ऐसे भी कुछ विचारक हुए हैं जिन्होंने प्रकृति को प्रभु से भिन्न स्वीकार कर लिया है।

यहाँ तक तो हम दोनों का अलग-अलग भेद देख सकते हैं और दोनों की अलग सत्ता स्वीकार्य हो सकती है, परन्तु एक तीसरा तत्व है जीव, जो स्वयं इतनी बड़ी उलझन है कि उसे जितना ही सुलझाने का यत्न करो उतना ही वह उलझता जाता है।

जीव क्या है? क्यों है? और इस होने का परिणाम क्या होगा? ये तीन प्रश्न आज तक सुलझ नहीं सके हैं, और हमारा अपना मत है कि जिस दिन जिसके आगे ये प्रश्न सुलझ जायँगे उस दिन उसे कुछ भी ज्ञातव्य शेष नहीं रहेगा। आज तक जीव के सम्बन्ध में निम्नांकित धारणाएँ स्वीकार की जा चुकी हैं:—

१—शून्यवाद अथवा विज्ञानवाद:—जीव प्रकृति का संघात है।
२—एकेश्वरवाद:—जीव ब्रह्म की प्रेरणा से उत्पन्न हुआ है।
३—द्वैतवाद:—जीव नित्य, शाश्वत और स्वतन्त्र तत्व है।
४—विवर्तवाद:—जीव अध्यास अथवा भ्रान्ति है।
५—द्वैताद्वैतवाद:—जीव चिदंश है।
६—विशिष्टाद्वैतवाद:—चित् अचित् या सत् चित्-विशिष्ट ईश्वर का शरीर जीव है। ईश्वर जीव में व्यापक है।
७—विशुद्धाद्वैतवाद:—जीव तदेव ही है।

ये धारणाएँ ही आगे चलकर ईश्वर सम्बन्धी विवेचन में आध्यात्मिक वादों (मतों) के रूप में प्रस्तुत हुईं जिनका विवेचन हम आगे करेंगे।

शून्यवाद:—बौद्ध-दर्शन में जीवन को पंच स्कंधों का समुदाय माना गया है। वह इन स्कंधों के बिखर जाने को निर्वाण की अवस्था मानता हुआ

जीव का भी अभाव मानता है। उसकी दृष्टि में प्रारम्भ में सब कुछ शून्य था। जो कुछ इस समय दिखाई देता है वह उसी समय तक है जब तक वह दृष्टि-पथ से ओझल नहीं होता है।

केवल कुछ जड़वादी ही इस शून्यावस्था को अस्वीकार करते हैं, क्योंकि वे प्रत्यक्ष को ही सत्य और सब कुछ मानते हैं। परन्तु यह प्रत्यक्ष दुःखाक्रान्त है। इस दुःख को दूर करने के लिए तप और सदाचार ही साधन हैं। तप और सदाचार दोनों में ही त्याग अपेक्षित रहता है। और त्याग के लिए मनुष्य सहज ही तैयार नहीं होता, क्योंकि त्याग का कृतित्व परोक्ष सत्ता को लक्ष्य में रखकर प्रवृत्त होता है। जड़वादी परोक्ष में विश्वास न करके कह उठता है :—

"भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः"

अतएव,

पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत् पतति भूतले।
पुनरुत्थाय वै पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते।

इस प्रकार जड़वादी त्याग और तपस्या में विश्वास न करके ऐहिक सुख प्राप्ति के साथ अपने को संबद्ध कर देते हैं।

यहाँ एक बात ध्यान में रखने की यह है कि अध्यात्मवादी अपने चिंतन का केन्द्र किसी अचिन्त्य शक्ति को मानते हैं। किसी न किसी रूप में, किसी न किसी मार्ग द्वारा वे उस अचिन्त्य शक्ति तक पहुँचने का प्रयास करते हैं। प्रारम्भ में जो जितना ही अधिक इस प्रयास में लगता था अथवा लगने का अनुयायी था, समाज उसका उतना ही अधिक आदर करता था। धीरे धीरे क्रमागत परंपराओं के द्वारा तत्सम्बन्धिनी विधियों का विश्लेषण होता गया। अनेक शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त ये विधियाँ दुरूह और जटिल होती गईं। अतएव उनका अधिकार सब के लिए नहीं रहा। किसी सीमा तक यह उचित भी था, क्योंकि संसार के व्यवहारों में अधिक उलझा हुआ मन इन दुरूहताओं में सहज प्रवृत्त नहीं हो सकता था। परन्तु इस सीमित अधिकार बंधन ने समाज के एक वर्ग को सिद्धान्ततः इस मार्ग पर चलने से वंचित कर दिया, यद्यपि व्यवहारतः कभी वैसा न हो सका। जो व्यक्ति अधिकारी थे उनके लिए यह मार्ग सदैव खुला रहा। उपनिषदों में 'रैक्व' ठेलेवाला भी अध्यात्मतत्व का उपदेष्टा कहा गया है। पुराण ऐसे अनेक उदाहरण देते हैं जिनमें चांडाल, मांस-विक्रेता और वेश्याएँ इस अध्यात्म तत्व की अधिकारिणी सिद्ध की गई हैं। परंतु व्यवहारतः स्वतंत्रता होते हुए भी

सैद्धान्तिक बन्धन कुछ लोगों को असह्य था। फलतः इन नवीन सम्प्रदायों ने इस बन्धन को उठाकर समस्त मानव के समानाधिकार की घोषणा की। इस घोषणा का फल यह हुआ कि फूस की अग्नि की भाँति ये नवीन विचार फैल गये और ऐसा जान पड़ने लगा कि यही सत्य है और यही धर्म है।

जहाँ तक विश्व-बंधुत्व का प्रश्न है, जहाँ तक मानव के समानाधिकार की घोषणा है, कोई धर्म अथवा कोई विचार इनका तिरस्कार करके जीवित नहीं रह सकता। प्राचीन आर्यधर्म इसका प्रतिपादक ही था और उसने जो प्रतिबंध लगाये थे, वे केवल समाज की कार्य-व्यवस्था को सुसंगठित रखने के लिए थे। साधारणतः कोई भी नियम उसी समय तक हितकारी होता है जब तक उसकी आत्मा का पालन किया जाता है। जब उसके शब्दों का पालन होता है तब उनमें अनेक दोष दिखाई पड़ने लगते हैं। यही बात आर्यजाति के प्रतिबंध की हुई थी। इन नवीन सम्प्रदायों ने भी जब प्रतिबंध की आत्मा का तिरस्कार कर दिया, तब निर्बाध उच्छृंखलता उत्पन्न हो गई और इनकी प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई।

इस प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप स्मार्त और वैष्णव मार्ग समाने आते हैं। विषय की सुबोधता की दृष्टि से इन मार्गों का भी यत्किंचित् परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

स्मार्त और वैष्णव मार्ग

बौद्ध-सम्प्रदाय ने आर्यधर्म को भयंकर आघात पहुँचाया था। ऐसा जान पड़ने लगा था कि अब आर्यधर्म न रहेगा, क्योंकि बौद्धों के पास विश्व-बन्धुत्व का दिव्य सन्देश था, राज-शक्ति थी और प्रबल संघ-शक्ति भी थी। विदेशों में ईसाई प्रचारकों ने जिन परिस्थितियों में प्रचार किया था, लगभग वैसी ही परिस्थितियाँ बौद्ध-धर्म के प्रतिपादक आर्य-प्रचारकों के सामने थीं। साधारणतः संसार की सामान्य चेतना लगभग एक ही दिशा में घूमती है। नवोदित ईसाई-धर्म के साथ ही नवोदित हिन्दू-धर्म की एककालता भी इसी का प्रमाण है। अन्तर केवल इतना है कि ईसाई-धर्म के प्रचारक जिन लोगों में प्रचार कर रहे थे उनके धार्मिक विश्वास शिथिल-से हो रहे थे। आर्य-प्रचारकों को जिन परिस्थितियों में प्रचार करना था वे परिस्थितियाँ उनसे भिन्न थीं। बौद्ध-धर्म दार्शनिक सिद्धान्तों का बल प्राप्त कर चुका था, दृढ़ भूमि पर प्रतिष्ठित सिद्धान्त स्थिर किये जा चुके थे और त्रिपिटकों का निर्माण सन् ७८ ई० में हो चुका था। इन प्रतिकूल परिस्थितियों में इस नवोदित आर्य-धर्म के प्रचारक को असहाय अवस्था में उस धर्म का प्रचार करना था जो बौद्ध-धर्म के प्रतिकूल वर्णाश्रम

व्यवस्था में विश्वास करे, बौद्धों की भाँति चाहे जिस ऐरे-गैरे पचकल्यानी को प्रव्रज्या लेने की आज्ञा न दे, विशृंखल एवं अस्तव्यस्त सामाजिक कर्मकाण्ड की पुनः-स्थापना करे और कभी प्रत्यक्ष न हो सकने वाले ईश्वर को स्वीकार करे।

नवोदित आर्य-धर्म ने ईश्वर को प्रत्यक्ष किया। उसने निर्गुण-निराकार ईश्वर के स्थान पर सगुण-साकार ईश्वर उपस्थित किया। यह सगुण-साकार ईश्वर सब का था, सब के लिए था और सब को सुलभ था। उसने बन्धन के दो भाग कर दिये। एक भाग वैदिक-कर्म-विभाजन था और दूसरा था परमात्मा का आश्रय। संभवतः कोई अन्य विभाजन इतना स्वाभाविक नहीं हो सकता था। अतएव उसका यह विभाजन सहज स्वीकार हुआ।

नवीन आर्य-धर्म को बिखरी हुई शक्ति का संचय भी करना था। अत-एव उसने बौद्ध-धर्म के कुछ सिद्धान्त (जो उसके अपने वैदिक धर्म के अविरोधी थे और केवल बौद्ध-धर्म उन पर विशेष बल देता था) स्वीकार कर लिये। इन्हीं में जीव-दया का भी सिद्धान्त था। इस नवोदित धर्म ने जो सब से बड़ा काम किया वह यह था कि बुद्ध को भी उसने ईश्वर का अवतार मान लिया और बौद्ध धर्म के ऊपर ऐसा हिन्दुत्व लाद दिया जिससे वह पिंड नहीं छुड़ा सकता। यही व्यवहार उसने जैन-धर्म के साथ भी किया।

ये घटनाएँ ईसा से सौ वर्ष पूर्व से लेकर लगभग तीन सौ वर्ष पश्चात् तक की हैं। इस काल में समन्वय का ही साहित्य प्रस्तुत किया गया। ज्ञान और भक्ति के दो स्पष्ट मार्ग उपस्थित हो गये। निवृत्ति और प्रवृत्ति के पथ मिलकर एक केन्द्र की ओर प्रवृत्त हुए और इस प्रकार वैष्णव पथ, शैव-पथ, शाक्त पथ, गाणपत्य और सूर्योपासना की प्रवृत्ति प्रचारित हुई। ये मार्ग ऐसे थे जिन पर कोई भी व्यक्ति चल सकता था। किसी प्रकार का कर्म, व्यवसाय या जाति बन्धन नहीं था। केवल अपनी रुचि की आवश्यकता थी। प्रवृत्ति-मार्ग और निवृत्ति-मार्ग दोनों ही साधन के समक्ष थे। अपनी रुचि के अनुसार किसी भी मार्ग का अवलम्ब ग्रहण किया जा सकता था।

× × ×

। प्रकृति से भिन्न जीवन की सत्ता नहीं है। इस पर आज का वैज्ञानिक भी एक मत नहीं है। एक समय था जब डारविन के विकासवाद के सिद्धान्त ने मनुष्य के मस्तिष्क से स्वयं चेतन को निकाल फेंकने का घोर प्रयत्न किया था। उसे अपने इस प्रयास में सफलता भी मिल गई थी। डारविन का यह विकासवाद विशुद्ध भौतिक आधार पर आधारित था। इस भौतिक युग में उसने जो जड़ पकड़ ली थी वह अनुकूल वातावरण में फलती-फूलती रही। वैज्ञानिकों

का एक दल आज भी उसी आधार पर चल रहा है और प्रतिक्रिया के सिद्धांत को स्थापित करके समस्त चेतन व्यापारों का समाधान करना चाहता है। रूस के मनोवैज्ञानिक विद्वान पोलोव इस दल के नेता हैं। भविष्य में क्या होगा यह तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु उसकी इस सफलता पर पश्चिम अथवा पश्चिम से प्रभावित कुछ पूर्वीय पुस्तक-विज्ञानी ही विश्वास कर सके। उन्होंने चेतन को केवल प्रकृति का संघात माना, मुक्ति और साधना को ढोंग और ईश्वर को ढकोसला ठहराया।

जैसा हम कह चुके हैं, भारतवर्ष के भी कुछ विद्वानों ने इसे स्वीकार कर लिया था। उसी का प्रभाव नेहरू जी के 'पिता के पत्र पुत्री के नाम' के लेखों में देखा जा सकता है। परन्तु भारतीय आस्तिक-हृदय, विशेषतः भाव-पूर्ण कवि का हृदय, इसे कभी स्वीकार नहीं कर सका। अतएव कवि की वाणी में इस वाद की प्रतिध्वनि कभी नहीं सुनाई दी। यह समझना भूल होगी कि यह विचार सम्पूर्णतया डारविन की ही अपनी उपज है। बृहस्पति के अवतार महात्मा चार्वाक् बहुत पहिले ही कह गये थे "भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः" इसीलिए वे "ऋणं कृत्वा घृत पिबेत्" को भी विहित ठहरा गये थे। किन्तु पश्चिम में यदि डारविन का नगाड़ा न बजा होता तो भारतीयों को इसका पक्का विश्वास न होता। महाकवि देव का एक छन्द भी हमारी दृष्टि में आया है जो इस दिशा में संकेत करता है :—

हैं उपजे रज-बीज ही तैं,
बिनसे हू सबै छिति छार के छाँड़े।
एक से दीख, कछू न विसेखि,
ज्यों एक उन्हार कुम्हार के भाँड़े॥

उर्दू के एक कवि ने जीवन और मृत्यु की भौतिक-विज्ञानवादी परिभाषा इस प्रकार दी है :—

ज़िन्दगी क्या है? अनासिर[1] में ज़हूरे तरतीब[2]।
मौत क्या है? इन्हीं अजज़ा[3] का परेशां होना।

कवि प्रश्न करता है, जीवन क्या है? साथ ही वह उत्तर भी देता है—

१—अनासिर=तत्व।

२—ज़हूरे तरतीब=क्रम प्रकट होना।

३—अज़ज़ा=अवयव।

पंचभूत का सक्रम-संघातही जीवन है। वह पुनः प्रश्न करता है, मृत्यु क्या है? और उत्तर देता है कि इन तत्वों का बिखर जाना ही मृत्यु है।

आज के प्रगतिवाद में भौतिक-विज्ञानवाद की कुछ झलक दिखाई देती है। इसका विवेचन प्रगतिवादी साहित्य के साथ किया जा चुका है।

एकेश्वरवादः—हम पहिले त्रैत का कुछ वर्णन कर चुके हैं। व्यवहार जगत् में इस त्रैत को माने बिना काम नहीं चलता है। अतएव यह भी आवश्यक हो जाता है कि इस त्रैत के प्रत्येक अंग की परिभाषा अलग-अलग कर दी जाय। कतिपय दार्शनिक ईश्वर-जीव-प्रकृति इन तीनों को अलग-अलग स्वीकार करके इनकी व्याख्या करते हैं। इन दार्शनिकों ने प्रकृति को जड़-वस्तु और भोग-सामग्री माना तथा जीव को उसका उपभोक्ता, किन्तु पराधीन माना, जीवों की संख्या अनन्त स्वीकार की, परमात्मा को सबका स्वामी और सबके कर्मों का नियंता स्वीकार किया। उसे एक, सर्वशक्तिमान् और सर्व-व्यापक माना। इस भावना में एक होते हुए भी परमात्मा सब कुछ नहीं था। उससे प्रकृति और जीव भिन्न थे।

प्रस्तुत निबंध का यह विषय नहीं है कि विभिन्न मतों में ईश्वर के उस एक रूप को किस प्रकार स्वीकार किया गया है, इस पर विचार किया जाय। भारतीय साहित्य में मुसलमान धर्म के एकेश्वरवाद का प्रभाव पड़ा। अतएव इस एकेश्वरवाद का स्वरूप-निर्देश करने के लिए हम इतना कह देना आवश्यक समझते हैं कि इस धर्म का ईश्वर एक है। उसने जीव और प्रकृति को नेस्त (नास्ति) से हस्त (अस्ति) के रूप में उत्पन्न किया। जीव (रूह) को बहकाने वाला शैतान है। यह शैतान जब तक जीवित है, तब तक उसके नियन्त्रण से बाहर है। यद्यपि वह 'कादिरुलमुतलक' (सर्वशक्तिमान्) है। परन्तु कुछ सोच-समझ-कर कयामत के दिन तक उस पर नियन्त्रण नहीं करता। ऐसा परमात्मा प्रकृति और जीव से भिन्न एक शक्ति है। पौराणिक कल्पनाओं की भाँति वह भी कहीं सातवें आसमान पर बैठा है। वहीं बैठा-बैठा एक छत्र सम्राट् की भाँति अपने शासन में समस्त प्रजा का पालन करता है। वह—

राम झरोखे बैठ के सबका मुजरा लेय।
जैसी जाकी चाकरी ताको तैसा देय॥

साथ ही वह दुष्टों का दमन भी करता है, और सन्तों का पालन भी। परन्तु यह काम वह नित्य नहीं करता है। यह काम उसने एक दिन के लिए निश्चित कर रखा है। जिस दिन कयामत होगी उस दिन दुष्टों को यह मालूम हो जायगा कि उनकी दुष्टता का क्या परिणाम होता है। दोज़ख की आग में जलते हुए दुष्टों को अपने कर्मों पर पश्चात्ताप होगा और सन्त स्वर्ग-सुख का भोग करेंगे। पूर्व की व्यावहारिक कल्पना और इस कल्पना में अन्तर केवल इतना ही है कि पूर्व का ईश्वर प्रत्येक समय कर्मों का फल देता रहता है और यह एकेश्वर एक निश्चित समय में।

अपने कर्मों से छुट्टी पाने का उपाय भी पूर्व और पश्चिम के दार्शनिकों ने लगभग एक-सा ही माना है। अन्तर केवल इतना है कि एकेश्वरवादी इस्लाम धर्म कयामत के दिन ईश्वर के किसी प्रतिनिधि द्वारा कर्म-मुक्ति मानते है और भारतीय धर्म-परंपरा ज्ञान, कर्म और भक्ति के समन्वय द्वारा प्रभु की शरणागति में ही मुक्ति मानती रही है।

इस मत के अन्तर्गत एकमात्र ब्रह्म का निराकार अस्तित्व मान्य है। वही सबका नियंत्रक है, शासक है। उसके अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता है ही नही। संसार के समस्त साधक उसी एक की प्राप्ति के लिए अनेकानेक साधनाओ में रत है। कबीर कहता है कि एक पुरुष (ब्रह्म) की प्राप्ति कैसे हो :—

ऐसा कोई ना मिलै, सब विधि देइ बताइ।
सुनि-मंडल में पुरिष एक, ताहि रहै ल्यौ लाइ॥

—कबीर-ग्रंथावली

वह एकमात्र ब्रह्म ही सर्वत्र समाया हुआ है :—

संपटि माँहि समाइया, सो साहिब नहिं होइ।
सकल भांड में रमि रह्या, साहिब कहिये सोइ॥

—कबीर-ग्रन्थावली

अतः उस एकमात्र ब्रह्म का जानना ही जानना है, अन्य वस्तुओं के जानने से लाभ नहीं :—

जे ओ एक न जाँणियाँ, तौ बहु जाँण्याँ क्या होइ।
एक तैं सब होत हैं, सब तैं एक न होइ॥

—कबीर-ग्रंथावली

उक्त उदाहरणों से कबीर मत को एकेश्वरवादिता स्पष्ट है। जायसी भी इसी एकेश्वरवादिता का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं :—

सुमिरौं आदि एक करतारू। जेहि जिउ दीन्ह कीन्ह संसारू॥
—पद्मावत, स्तुति खंड,

आदि-ब्रह्म ही एकमात्र कर्त्ता है, उसी ने जीव और संसार का निर्माण किया है। उस ब्रह्म का आदि-अन्त नहीं है, वह अद्वितीय है :—

आदि एक बरनौ सोइ राजा। आदि न अन्त राज तेहि छाजा॥

× × ×

छत्रहिं अछत, निछत्रहिं छावा। दूसरि नाहिं जो सरवरि पावा।
—पद्मावत, स्तुति खंड

जो लोग ईश्वर की प्रेरणा से जीव की उत्पत्ति मानते हैं वे उसके प्रत्येक काम में ईश्वर की ही प्रेरणा देखते हैं। उनका कहना है कि "होता है वही जो मंजूरे खुदा होता है।" हमारे यहाँ भी सन्तो ने इस भावना को स्वीकार किया है :—

नट मर्कट इव सबहिं नचावत। राम खगेस वेद अस गावत॥ —तुलसी

× × ×

साहब सों सब होत है, बंदे से कछु नाहिं।
राई को पर्वत करे, पर्वत राई माहिं॥ —कबीर

मलूकदास इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त करते हैं :—

अजगर करै न चाकरी, पच्छी करै न काम।
दास मलूका यों कहै, सबके दाताराम॥

द्वैतवादः—कर्मवाद सकाम भावना पर आश्रित है। उस युग में कामना थी स्वर्ग सुख की। अतएव प्रतिक्रिया के रूप में जो प्रेरणा उत्पन्न हुई उसने इस परोक्ष सुख का तिरस्कार किया। परोक्ष सुख के तिरस्कार का अर्थ था सकाम यज्ञ-कर्मों के प्रति अवहेलना की भावना। इस पक्ष के विद्वानों का मत था जीवन को संयम पूर्वक सदाचार में प्रवृत्त करना। इससे आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति प्राप्त होगी। इस दृष्टि से विचार करने वाले दार्शनिकों ने ईश्वर का परित्याग कर दिया। उनके पास केवल जीव और प्रकृति ही रह गई। उनकी दृष्टि में संयोग-वियोग ही जीवन और मृत्यु थी। जैन-दर्शन इसी प्रकार का द्वैत-वादी था।

आस्तिक द्वैतवादियों में मध्वाचार्य प्रमुख हैं। इनके मत के अन्तर्गत जीव की सत्ता ईश्वर और प्रकृति से नितान्त भिन्न मानी गई है। इसके अनुसार जीव को अपने कर्मों से निवृत्ति नहीं मिल सकती है, उसे इस जन्म अथवा उस जन्म में कर्म-फल का भोग तो करना ही पड़ेगा। अपने सत्कर्मों के द्वारा जीव स्वर्गलोक तथा उससे भी ऊँची पदवी सत्यलोक, गोलोक अथवा बैकुंठ में भगवान् के समीप ही स्थान प्राप्त करता है। इन स्थानों का नामकरण भी विभिन्न विचारकों की विभिन्न विचार-परंपरा के अनुसार विभिन्न रूपों में हुआ है। इन स्थानों में पहुँचने पर भी जीवात्मा का परमात्मा के साथ ऐक्य संभव नही है। उसे सालोक्य, सामीप्य अथवा सारूप्य मुक्ति में से किसी एक प्रकार की मुक्ति ही संभव है। सूर इसी स्थिति का वर्णन इस प्रकार करते हैं :—

चकई री चल चरन सरोवर, जहाँ न प्रेम वियोग।
जहँ भ्रम निसा होत नहिं कबहूँ, वह सागर सुख जोग॥

द्वैत-भावना का समर्थन करते हुए कबीर कहते हैं :—

धरती गगन पवन नहिं होता, नहीं तोया नहीं तारा।
तब हरि, हरि के जन होते, कहै कबीर विचारा॥

सूर जहाँ यह कहते हैं कि "कै हमहीं कै तुम ही माधव अपुन भरोसे लरिहौं" वहाँ ब्रह्म और जीव के बीच की द्वैत-भावना स्पष्ट है। तुलसी की भक्ति-भावना में भी द्वैत का भाव निहित है।

रत्नाकर की गोपियाँ जहाँ यह कहती हैं

मान्यौ हम, कान्ह ब्रह्म एक ही, कह्यो जो तुम,
तौहूँ हमैं भावति ना भावना अन्यारी की।
जैहै बनि बिगरि न बारिधिता बारिधि की,
बूँदता बिलैहै बूँद बिबस बिचारी की॥

—उद्धव शतक

× × ×

काहू तौ जनम में मिलैंगी स्यामसुन्दर कौं,
याहू आस प्रानायाम साँस मैं उड़ावै कौन।
परि के तिहारी ज्योति ज्वाल की जगाजग में,
फेरि जग जाइबे की जुगति जरावै कौन॥

—उद्धव शतक

वहाँ वे द्वैत-भावना का ही प्रतिपादन करती हैं।

एकेश्वरवादियों की भाँति द्वैतवादी भी अंशतः भाग्यवादी अथवा कर्मवादी हैं। एकेश्वरवादी जहाँ पूर्णतः भाग्यवादी है, वहाँ द्वैत-वादी दैव के साथ मनुष्य के कर्म को भी स्वीकार करता है। इस भाग्यवादिता अथवा दैववादिता का प्रभाव भी अध्यात्म-पथ के पथिकों पर पड़ा है। इसके द्वारा कर्मानुसार फलों की प्राप्ति सुनिश्चित है। सूर भी कर्मों के महत्व को मानते है। सांसारिक विषय-वासनाओं से संपृक्त उनका मन अपने कर्म-विपाक से भयभीत हो उठा है। अतः वह स्वयं स्वीकार करता है कि जिन-जिन कर्मों को मैने किया है उनका फल बड़ा भयानक है, उनसे निवृत्ति एकमात्र तुम्हारी कृपा पर ही अवलम्बित है :—

अब हौं नाच्यो बहुत गुपाल।
काम क्रोध को पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल॥
× × ×
कोटिक कला काछि देखराई, जल थल सुधि नहि काल।
सूरदास की सबै अविद्या, दूरि करौ नँदलाल॥

सूरसागर, का० ना० प्र० सभा, पद १५३

तुलसी तो भाग्यवादी हैं हीं, किन्तु उनकी साधना का मूल कर्म में निहित है। इसी से वे कहते हैं :—

जो जस करइ सो तस फल चाखा। कर्म प्रधान विस्व रचि राखा॥

जब तक मानव संसारी है तब तक उसे कर्म से निवृत्ति नहीं। और जब तक वह कर्म में रत है तब तक उसे कर्मानुसार फल भी भोगना पड़ेगा। इसीलिए वे कहते हैं :—

कबहुँक हौं यह रहनि रहौंगो।
× × ×
जथा लाभ संतोष सदा काहू सों कछु न कहौंगो।

—विनयपत्रिका, पद १७२

विवर्तवादः— शून्यवाद का विवेचन हम पहिले कर चुके हैं। वस्तुतः शून्यवाद नास्तिकवाद ही है। इसलिए इसका प्रतिवाद आस्तिकवाद द्वारा ही संभव था। बौद्ध कहता था "पहिले नहीं था, बाद में नहीं रहेगा अतएव बौद्ध धर्म में जो कुछ दिखाई देता है, वह भी नहीं है।" इसका उत्तर यही था "पहिले भी था, बाद में भी रहेगा और बीच में भी है।" भगवान्

शंकराचार्य ने बौद्धों को यही उत्तर दिया। आदि गुरु भगवान् शंकराचार्य का समय विवादग्रस्त है। कुछ लोग उन्हें ईसा की प्रथम शताब्दि पूर्व में मानते हैं और कुछ उन्हें ईसा की सातवीं शताब्दि का। हमारा अपना मत है कि भले ही भारतवर्ष के चारों कोनों में मन्दिरों की स्थापना करने वाले भगवान् शंकराचार्य सातवीं शताब्दि के रहे हों, परन्तु इस नवोदित आर्य-धर्म का कोई प्रचारक ईसा की प्रथम शताब्दि पूर्व में हुआ अवश्य, जिसकी बलवती वाणी के प्रभाव से गान्धार, पांचाल, काश्मीर, ब्रह्मावर्त, सौराष्ट्र, मालवा और दक्षिणापथ गूँज उठा था, जिसकी पवित्र वाणी ने 'भज गोविन्द' का पवित्र मन्त्र शक—हूणों को भी देकर उन्हें 'वासुदेव मन्त्र' से दीक्षित किया। सातवीं शताब्दि के भगवान् शंकर के सम्मुख धर्म—प्रचार की इतनी जटिल समस्या नहीं थी, जिसके लिए उन्हे पटे-पटे बौद्ध-धर्म का खंडन करना होता, जिसकी प्रवृत्ति शंकर के प्रत्येक भाष्य में दिखाई देती है। साथ ही सातवीं शताब्दि के भगवान् शंकराचार्य स्वयं शैव थे और भाष्यों में शैव धर्म के विशेष प्रकार अथवा वैष्णव धर्म के खंडन की अभिरुचि लेशमात्र भी नहीं पाई जाती है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि श्री गौड़पाद के शिष्य प्रस्थानत्रयी के भाष्यकार भगवान् शंकर संभवतः ईसा की प्रथम शताब्दि से पूर्व के ही है।

भगवान् शंकर के सामने एक समस्या थी, जो नहीं था, और जो नहीं रहेगा उसका बीच में होना सामयिक है, यह बात समझ में आती है, क्योंकि यह हमारा नित्य प्रत्यक्ष है। परन्तु पहिले भी था, अब भी है, और आगे भी रहेगा, ऐसा अप्रत्यक्ष सत्य साधारण बुद्धि के द्वारा स्वीकार नही कराया जा सकता। इस असाध्य का साधन करने के लिए भगवान् शंकर ने बौद्धों की ही युक्ति का सहारा लिया और उसमें केवल इतना जोड़ दिया कि जिसका अत्यन्ताभाव है उसका भाव और जिसका भाव है उसका अत्यन्ताभाव नही हो सकता है। अतएव जो कुछ है, वह है और वह सदा रहेगा। हम केवल जगत् को इस रूप में देखते है कि वह नहीं था और नहीं रहेगा। इसलिए हम जगत् को इस रूप में मान लेंगे कि जगत् नहीं है, परन्तु इस जगत् का मूल कोई है, कोई था और कोई रहेगा। उसी की सत्ता से पहिले का जगत् था, वर्तमान का जगत् है और भविष्य का जगत् होगा। जगत् के सम्पूर्ण मिथ्यात्व में ही हमें उस सम्पूर्ण सत्य-रूप अचिन्त्य शक्ति का अनुभव होता है। फिर जगत् क्या है? केवल उस अचिन्त्य शक्ति की सद्-असद् विलक्षण सत्ता का अध्यास; "शून्यभित्ति पर चित्र रंग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे" है, इसी को शंकर का विवर्तवाद कहते हैं। ईसा की सातवी आठवीं शताब्दि तक यह विचार

अपनी पूर्णता पर पहुँच चुका था। आगे चलकर भी इसका प्रभाव संत-साहित्य, सूफी साहित्य आदि पर दिखाई दिया। आज के कुछ रहस्यवादी भी अनुभव-विहीन इसी स्थिति की ओर दौड़ रहे हैं।

शंकर द्वारा प्रतिपादित मत में संसार के मिथ्या स्वरूप में ही सत्स्वरूप ब्रह्म की शक्ति को माना गया है, और उसकी प्रतिष्ठा की गई है तथा अन्य सबकी अप्रतिष्ठा। जब तक हमारी दृष्टि आवृत है, तब तक उसका सत्स्वरूप दृष्टिगत नहीं होता है। सूर इसी तथ्य को इस प्रकार कहते हैं:—

जौं लौं सत सरूप नहिं सूझत।
तौ लौं मृगमद नाभि बिसारे फिरत सकल बन बूझत॥
अपनो मुख मसि-मलिन मन्दमति देखत दर्पन माँहीं।
ता कालिमा मेटिबे कारन पचत पखारत छाँहीं॥

—सूरसागर, का० ना० प्र० सभा, पद ३६८

मृग की नाभि में ही कस्तूरी विद्यमान है, किन्तु वह बेचारा अबोध उस मद की सुरभि को ढूँढ़ता-ढूँढ़ता इधर-उधर मारा-मारा फिरा करता है और उसे अपनी ही वस्तु का पता नहीं लग पाता है। अपने ही मुख की मलीनता निवारणार्थ प्रतिविम्ब की कालिमा धोना यदि मिथ्याप्रयास नहीं तो क्या है? यदि मृग को अपनी ही कस्तूरी का और मिथ्यात्व से भ्रमित पुरुष को अपने मुख की कालिमा का बोध हो जाय तो फिर उसकी भ्रमित अवस्था परिशांत हो जाय। हमारे कष्टों का, हमारी सम्पूर्ण अशान्ति का कारण एकमात्र भ्रम ही है। आत्मज्ञान होते ही समस्त विकार नष्ट हो जाते हैं। सूर पुनः कहते हैं:—

अपुनपौ आपुन ही मैं पायो।
सब्दहिं सब्द भयो उजियारो सतगुरु भेद बतायो॥

× × ×

सपने माँहिं नारि को भ्रम भयो बालक कहुँ हिरायो।
जागि लख्यो ज्यों का त्यों ही है ना कहुँ गयो न आयो॥
सूरदास समुझे की यह गति मन ही मन मुसुकायो।
कहि न जाय या सुख की महिमा ज्यों गूँगे गुर खायो॥

सूरसागर, का० ना० प्र० सभा, पद ४०७

भ्रमजनित दुःख भ्रम के निवारण से ही मिटता है और पूर्ण सुख एवं शान्ति की उपलब्धि निर्भ्रम अवस्था में ही संभव है।

तुलसी संसार की इस भ्रामक अवस्था का कारण जड़ और चेतन के बीच ग्रन्थि पड़ जाना मानते हैं। इस ग्रन्थि में भी मिथ्यात्व ही है, किन्तु यह मिथ्या-प्रतीति इतनी अधिक दृढ़ प्रतीत होती है कि मानव के लिए उससे अलग अन्य विचार-सामग्री उपस्थित ही नहीं होती है। इसीलिए उस ग्रन्थि का छूटना कठिन ज्ञात होता है:—

जड़ चेतन ग्रन्थि परि गई। जदपि मृषा, छूटत कठिनई॥

—रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड

यह ग्रन्थि क्या है? तुलसी कहता है:—

केशव कहि न जाय का कहिये।
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिये॥
सून्य भित्ति पर चित्र रंग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोये धुये न, मरै भीति, दुख पाइय यह तनु हेरे॥

—विनयपत्रिका, पद १११

जगत्-रूप चित्र शून्य रूपी भित्ति पर बिना रंग का उपयोग किये अशरीरी चित्रकार द्वारा चित्रित किया गया है। उस चित्र का आकार-प्रकार क्या होगा? इसके सम्बन्ध में कवि कहता है—"केशव कहि न जाय का कहिये।" फिर यह अवर्णनीय चित्र इतने पक्के रंग से बना है कि "धोये धुये न।" भ्रान्ति की प्रबलता इतनी जटिल है कि उससे सुलझाव किसी प्रकार नहीं प्राप्त होता। दूसरी विचित्रता इस चित्र की यह है कि अमूर्त पदार्थों द्वारा चित्रित यह अमूर्त चित्र स्वयं ही अपनी मृत्यु के भय से भयभीत होता है। तथा जब इस भीति की कल्पना भी करता है तो दुःख का अनुभव करता है।

विवर्तवादी मुक्ति में जीवात्मा की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार नहीं करते। उनका स्वत्व-विलय ही मुक्ति है। सूर इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त करते हैं:—

"सूर सिंधु की बूँद भई, मिलि मति गति दृष्टि हमारी।"

द्वैताद्वैतवाद:—बौद्धदर्शन का शून्यवाद यदि खंडित किया जा सका तो भगवान् शंकर के विवर्तवाद के द्वारा ही। बौद्ध-दर्शन पूर्व पक्ष था, विवर्तवाद उत्तरपक्ष। प्रश्न और उत्तर के द्वारा एक वस्तु की स्थापना हो चुकी थी और वह वस्तु थी "निखिलहेयप्रत्यनीक"। इतना कहने से स्वीकारात्मक परिभाषा नहीं बन सकी; और निषेधात्मक परिभाषा से वस्तु का बोध नहीं होता। अतएव स्वीकारात्मक परिभाषा देने के लिए भगवान् निम्बार्क ने यत्न किया।

प्रभु में 'चित्' के साथ 'चिदंश' की स्थापना की। वह चिदंश भी है और सम्पूर्ण चित् भी। परन्तु चिदंश न तो सम्पूर्ण है और न उसकी सत्ता स्वतः स्वतंत्र है। वह सम्पूर्ण के साथ रहता हुआ भी सदैव अपनी सत्ता में उपस्थित है। यथा आग सम्पूर्ण है, उसकी चिनगारियाँ उसका अंश है। आग में सब चिनगारियाँ सम्मिलित हैं, चिनगारी स्वयं सम्पूर्ण आग नहीं है, आग में रहते हुए भी चिनगारी की स्वतंत्र सत्ता है, परंतु आग जैसे आग और चिनगारी दोनों में है वैसे ही प्रभु 'द्वैत' में रहने वाला 'अद्वैत' है और वह सच्चिदानंद स्वरूप है। इस रूप में उसकी परिभाषा निषेधात्मक न होकर स्वीकारात्मक हुई।

तुलसी सर्ववाद समन्वय की प्रवृत्ति को लेकर उत्पन्न हुए। इसीलिए वे कहते हैं—

> अव्यक्तमूलमनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने।
> षट कन्ध शाखा पञ्चविंश अनेक पर्ण सुमन घने।
> फल युगल विधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे।
> पल्लवित फूलत नवल नित संसार बिटप नमामहे।
>
> —रामचरितमानस, उत्तर कांड

यह परंपरा बराबर चलती रही है। प्राचीन संत-साहित्य में कबीर की वाणी में भी इसी की ध्वनि सुनाई देती है।

द्वैताद्वैत में अद्वैत ब्रह्म की सत्ता को द्वैत रूप में स्वीकार किया गया है, अर्थात् ईश्वर और जीव में प्रत्यक्षतः द्वैत का अभाव होते हुए भी द्वैतभाव नित्य है, जैसे सागर जल ही जल है, परन्तु बूँदों की स्वतन्त्र सत्ता सागर में रहते हुए भी नित्य है। कबीर कहते हैं :—

> लाली मेरे लाल की, जित देखूँ तित लाल।
> लाली देखन हौं गई, हौं हूँ ह्वै गई लाल॥

यहाँ पर द्रष्टा और द्रष्टव्य दोनों ही भिन्न-भिन्न है। किन्तु द्रष्टव्य का कुछ इतना अधिक विस्तार है कि द्रष्टा स्वतः द्रष्टव्य में मिलकर तदाकार हो जाता है। वह तदाकार होते हुए भी अपना अस्तित्व नहीं खोता है।

मानस में इसी द्वैताद्वैत की भावना को व्यक्त करते हुए तुलसी कहते हैं :—

> ईश्वर अंश जीव अविनासी। चेतन अमल सहज गुन रासी॥
> सो मायावस भयउ गोसाईं। बँधेउ कीर मर्कट की नाईं॥

× × ×

परवस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता ॥

× × ×

हौं जड़ जीव ईस रघुराया। तुम मायापति हौं बस माया ॥

जीव माया के आवरण से आवृत होकर ही अपने को प्रभु से भिन्न पाता है। प्रभु में वह शक्ति विद्यमान है जिससे वह माया का विनाश करता है। अतः जीव माया से रहित होकर प्रभु से मिलने के लिए उसी शक्ति की याचना करता है जिससे माया-पाश कट सके।

ब्रह्म ही जीव का कल्याणकारक है। उन दोनों के बीच सेव्य-सेवक के भाव से भी जीव का निस्तार हो सकता है। इसी तथ्य को तुलसी कहते हैं :—

ब्रह्म तू हौं जीव, तू ठाकुर हौं चेरो।
तात मात गुरु सखा, सब विधि हितु मेरो ॥

—विनयपत्रिका

रैदास के 'प्रभु तुम चन्दन हम पानी' तथा मीरा के 'मेरे तो गिरधर गुपाल दूसरो न कोई' में भी यही भावना प्राप्त होती है।

महादेवी की निम्नांकित पंक्तियों में भी द्वैताद्वैत की भावना स्पष्ट व्यक्त हुई है :—

नयन में जिसके जलद वह तृषित चातक हूँ।
शलभ जिसके प्राण में वह निठुर दीपक हूँ ॥
फूल को उर में छिपाये विकल बुलबुल हूँ।
एक होकर दूर तन से छाँह वह चल हूँ ॥

दूर तुमसे हूँ अखंड सुहागिनी भी हूँ।

—महादेवी वर्मा, 'आधुनिक कवि'

नदी में भी जल है और समुद्र में भी जल है। जब तक दोनों की सत्ता अलग अलग है तब तक दोनों जलों के नाम भी अलग-अलग है, परन्तु जब नदी समुद्र में मिल जाती है तब दोनों जल मिलकर एक रूप हो जाते है उसमें किसी प्रकार का फिर विभेद दिखाई नहीं देता। साधक भी अपने को अपने परम साध्य में नदी की भाँति लीन कर देना चाहता है। पर उसकी कामना-पूर्ति का उपाय क्या होगा इससे वह अनभिज्ञ है :—

तटनी ने निज अंबुधि पाया, सबने पाया प्रेमाधार।
पता नहीं इस परिप्लावित को, कभी मिल सकेगा वह पार ॥

—'विक्रमादित्य'

जब माया-संपृक्त ब्रह्म ने अपना कौतुक स्वयं देखने को इच्छा की तब इस सृष्टि का निर्माण हुआ :—

अश्रु का अम्बुधि है जीवन।
रुदन ही जिसका प्रथम चरण॥
जब असीम को कौतुक भाया।
तब अनित्य काया में आया॥
इच्छा से उपजाई माया।
जिसने जग प्रपंच फैलाया॥
ज्योति पर डाला अवगुंठन।
अश्रु का अम्बुधि है जीवन॥

—'विक्रमादित्य'

विशिष्टाद्वैत :— मन की आत्यन्तिक तृप्ति के लिए अंश और अंशी की भावना पर्याप्त नहीं थी, क्योंकि अनन्त 'चित्' में 'चिदश' की सत्ता पृथक् और सीमित रहती है, उसकी एक मिति बँधती है। और जहाँ मिति बँधती है वहाँ वह ससीम हो जाता है। पर असीम को ससीम बनाना असीम की सत्ता के प्रतिकूल है। इसलिए एक नई कल्पना ने जन्म लिया। सम्पूर्ण जगत् उसका शरीर हुआ और वह शरीरी। प्रकृति के शरीर में वह प्राण रूप से प्रतिष्ठित है। परन्तु प्रकृति से भिन्न न रहते हुए भी प्रकृति में दिखाई नहीं देता। इस प्रकार सम्पूर्ण चिद् और अंशी को एकता स्थापित हो गई और उसका प्रकाश भी हम तक पहुँचने लगा। अर्थात् हमें यह अनुभव होने लगा कि प्रकृति के 'सत्' और 'चित्' दोनों में एक ही आनन्द रूप प्रभु उपस्थित है। करोड़ों घड़ों में एक ही सूर्य की छाया है। भगवान् रामानुजाचार्य इस मत के प्रतिपादक हुए और इस मत का विकास ग्यारहवी शताब्दि से चौदहवीं शताब्दि तक हुआ।

द्वैताद्वैत मत के द्वारा ईश्वर और जीव का सम्बन्ध अंश और अंशी के रूप में स्वीकार किया गया है; किन्तु विशिष्टाद्वैत के अनुसार व्याप्य और व्यापक की भावना को ग्रहण किया गया है। जिस प्रकार शरीर में प्राण विद्यमान है उसी प्रकार दृश्यमान जगत् में ब्रह्म विद्यमान है। उसे इधर-उधर खोजने का प्रयास करना व्यर्थ है। इसी तथ्य को गोरखनाथ इस प्रकार कहते हैं:—

बाहरि न भीतरि नेड़ा न दूरि।
षोजत रहे ब्रह्मा अरु सूर॥
सेत फटक मनि हीरैं बीधा।
इहि परमारथ श्री गोरख सीधा॥[१]

सम्पूर्ण दृश्य जगत् की स्थिति ब्रह्म में ही है और इस जगत् में भी ब्रह्म ही रहता है। सृष्टि के जो नाना भेद दिखाई पड़ते हैं, उसका कारणभूत ब्रह्म ही है:—

एक मैं अनंत, अनंत मैं एकै, एकै अनंत उपाया।
अंतरि एक सौं परचा हुवा, तब अनंत एक मैं समाया॥[२]

फूलों की सुगंध में, चकमक की आग में कबीर को जिस ब्रह्म का दर्शन हुआ था वह मायाविशिष्ट ही था। कबीर कहता है:—

"चाम के महल में बोलता राम है,
चाम और राम को चीन्ह भाई।"

इससे अधिक स्पष्ट राम के विशिष्टाद्वैत स्वरूप का दर्शन अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकता। तुलसी जहाँ यह लिखता है

एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके॥
—रामचरित मानस, अरण्यकांड

वहाँ वह प्रभु को विशिष्ट ही मानता है।

एक मूल शक्ति ब्रह्म ही सृष्टि का रचयिता है। उसके ही चारों ओर सृष्टि के अनेकानेक तत्व बिखरे पड़े हैं, जो उसकी इच्छा के अनुसार उसकी

१— परब्रह्म आत्मतत्व न बाहर है, न भीतर, न निकट है न दूर। ब्रह्मा और सूर्य उसे खोजते ही रह गये (उसका रहस्य न पा सके)। श्वेत स्फटिक मणि को हीरे ने बेध लिया (आत्मा ने रहस्य का भेदन कर ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया।)

—गोरखबानी सबदी, पद १७४

२— एक (परब्रह्म) ही में अनंत सृष्टि का वास है और अनंत एक ही परब्रह्म का निवास है। उस एक ही ने इस अनंत सृष्टि को उत्पन्न किया है। जब आभ्यन्तर में उस एक से परिचय प्राप्त हो जाता है, तब सारी अनंत सृष्टि एक ही में समा जाती है।

—गोरखबानी, पद १४

कृतियों में योग दिया करते हैं। प्रसाद इसी तत्व का निरूपण इस प्रकार करते हैं:—

वह मूल शक्ति उठ खड़ी हुई,
अपने आलस का त्याग किये,
परमाणु बाल सब दौड़ पड़े,
जिसका सुन्दर अनुराग लिये।

—कामायनी, काम सर्ग

युग व्यतीत हो रहे हैं, कल्पान्तों की भी कोई परिमिति नहीं है, पर आज तक कोई यह नहीं कह सका कि युगों और कल्पों की सीमाओं को भी पार कर अपना लीला-विलास करनेवाला कौन चितेरा अपने सर्वव्यापकतत्व की भावना में महान् आजतक अपनी अटल गति में गतिमान है। इसीलिए एक जिज्ञासा विशेष, कुतूहल विशेष उत्पन्न होता है:—

तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी,
देख लूँ उस ओर क्या है?
जा रहे जिस पंथ से युग कल्प,
उसका छोर क्या है!

—महादेवी वर्मा

इसी विशिष्टाद्वैत की भावना को व्यक्त करते हुए निराला कहते हैं:—

"तुम विमल हृदय उच्छ्वास,
और मैं कान्त कामिनी कविता।"

—'तुम और मैं'

विशुद्धाद्वैतवाद:—चिदंशों की एकता स्थापित करने में विशिष्टाद्वैत सफल हो गया। परन्तु शरीर और शरीरी का सूक्ष्म अन्तर फिर भी लिपटा ही रहा। इससे मुक्ति नहीं मिल सकी और इसीलिए विचारकों को तृप्ति भी नहीं मिली। अतएव श्रीमद्वल्लभाचार्य ने नवीन विचार उपस्थित किया। उन्होंने कहा कि "प्रकृति उसका (ब्रह्म का) शरीर नहीं है, वरन् प्रकृति स्वयं ब्रह्म है। गुलोबुलबुल में उसका रूप नहीं, वरन् जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है।" की बात उपस्थित हुई। भगवती गीता कहती है:—

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥

—अध्याय १०, श्लोक ३९

[हे अर्जुन ! समस्त प्राणियों की उत्पत्ति का कारण मैं हूँ । जो कुछ स्थावर या जंगम है, वह मेरे बिना नहीं है ।]

अर्थात् जगत् में ईश्वर नहीं है, वरन् ईश्वर में जगत् है । जो कुछ है वह ईश्वर है । अब प्रकृति और प्रभु में, जीव और प्रकृति में, जीव और प्रभु में कोई अन्तर नहीं । न माया की उपाधि है, न अंश-अंशी का भेद है, न शरीर और आत्मा का विकार है । न जगत् मिथ्या है । शुद्ध अद्वैत, अविकारी, अपरिणामी, अभिन्न एक सत्ता है और वह सत्ता है सच्चिदानन्द स्वरूप अखिल सद्गुणाकर ब्रह्म की । यह जगत् उसकी लीला है । वह स्वयं अपनी लीला करके अपना खेल आप ही देख रहा है । आप अपने में ही रमता है, अपने को आप ही प्रेम करता है । नित्य संयुक्त होते हुए भी नित्य विरह का अनुभव करता है, और इस नित्य विरह के आनन्द से पुष्ट होकर नित्य सुख में लीन रहता है ।

यह नहीं है कि यह भावना आचार्यपाद वल्लभ का आविष्कार हो । भारतीय दार्शनिकों ने इस भावना का साक्षात्कार सदा से किया है ।

"आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनं आश्चर्यवत् वदति तथैव चान्यः" में आश्चर्यवत् पदार्थ इस जगत् रूप पहेली का मूल कारण है । जिस दिन इस पहेली का भेद खुल जाय, उसी दिन उस ब्रह्म का दर्शन प्राप्त हो जाय । सन्त-साहित्य में यह धारणा विभिन्न रूपों में दिखाई देती रही है । जयदेवकृत "गीतगोविन्द" में 'विहरति हरिरिह सरस वसन्ते' कहकर कवि इस सरस बसन्त रूप संसार में हरि का पवित्र विहार ही देख रहा है । चैतन्य महाप्रभु की तन्मयता इसी वाद का परिणाम है । विद्यापति और सूर की वाणी का माधुर्य इसी की देन है । अष्टछाप परंपरा तो मानों इसी की उपज है । रसखान का "बैठो पलोटत राधिका पायँन" पद प्रभु के इसी रूप की ओर संकेत करता है । यह भावना इतनी मधुर है कि भारतीय साहित्य को सबसे अधिक प्रभावित इसी ने किया । इसीलिए यदि इस भावना का साहित्य एक ओर रक्खें और शेष साहित्य दूसरी ओर तो 'स्व-पर-भिन्न' जगत् का समस्त शेष साहित्य यदि हलका नहीं तो फीका अवश्य लगेगा ।

इस मत के प्रवर्तक आचार्य वल्लभ हैं । इन्होंने अंश-अंशी, शरीर शरीरी, माया की उपाधि आदि पूर्वकथित सिद्धान्तों को हटाकर केवल यह माना कि प्रकृति और ब्रह्म में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है, स्वय ब्रह्म ही प्रकृति है । जिस प्रकार सुरभि और पुष्प में कोई भेद नहीं है उसी प्रकार प्रकृति

और ईश्वर में भेद नहीं है। समस्त दृश्यमान जगत्, उसका गुण गुणी-भाव न तो अनस्तित्वमय है और न सापेक्ष्य भावना है, वरन् जो कुछ है वह निरपेक्ष्य सत्य है। इस निरपेक्ष सत्य का नाम ही ब्रह्म है। केवल स्व-पर-भेद-भान के समाप्त होते ही ब्रह्म-मात्र रह जाता है। शंकर की भाँति 'स्व' को भूलना नहीं है, वरन् 'स्व' को जानना ही ब्रह्म को जानना है। अहंता का मिटाना जहाँ विवर्तवादी अथवा अन्य विचारक आवश्यक समझते हैं, वहाँ अहंता का विस्तार विशुद्धाद्वैत के लिए आवश्यक है। यहाँ खुदी का पर्दा नहीं वरन् खुदी में खुदाई को देखना है। 'अहं ब्रह्मास्मि' का भान प्रकृति से भिन्न पदार्थ में नहीं देखना है, वरन् प्रकृति को ही यह समझना है कि 'अहं ब्रह्मास्मि'। इसी भाव को सूर कहते हैं:—

कबहुँक अहुठ परग करि बसुधा, कबहुँक देहरि उलंघि न जानी।
कबहुँक सुर मुनि ध्यान न पावत, कबहुँ खिलावत नँद की रानी।
—सूरसागर, का० ना० प्र० सभा, पद ७६२

जो प्रभु विश्व को अपने साढ़े तीन पग में ही नाप लेता है वही अपनी नर-लीला में देहली को भी नहीं लाँघ पाता है, और जो सुर, मुनि आदि के ध्यान से भी परे है, उसीको यशोदा अपनी गोद में खिला रही हैं।

ब्रह्म स्वयं ही कर्ता है और स्वयं ही कार्य है। कर्ता और कार्य में अभेद है। देव के शब्दों में यह 'आपही कहार आपही पालकी चढ़्यौ फिरै" है। वस्तुतः परम-तत्व एक ही है, उसके नाना आकार-प्रकार दृश्यमान अवश्य होते हैं:—

एक छवि के असंख्य उडगन,
एक ही सब में स्पन्दन।
एक छवि के विभाव में लीन,
एक विधि के आधीन।
× × ×
एक ही तो असीम उल्लास,
विश्व में पाता विविधाभास।
तरल जलनिधि में हरित विलास,
शान्त अम्बर में नील विकास।
—पन्त, 'आधुनिक कवि'

इसी भाव को प्रसाद इस प्रकार कहते हैं:—

नीचे जल था ऊपर हिम था,
एक तरल था एक सघन।
एक तत्व की ही प्रधानता,
कहो उसे जड़ या चेतन॥

—कामायनी, चिंतासर्ग

महादेवी वर्मा बीन के रूपक द्वारा प्रभु के सम्बन्ध में विशुद्ध अद्वैतभावना व्यक्त करती हुई कहती हैं:—

"तुम्हारी बीन ही में बज रहे हैं बेसुरे सब तार।
मेरी स्वाँस में आरोह,
कर अवरोह का संचार।
प्राणों में रही घिर घूमती चिर मूर्च्छना सुकुमार।
चितवन ज्वलित दीपक गान,
दृग में सजल मेघ मलार।
अभिनव मधुर उज्ज्वल स्वप्न शतशत राग के शृंगार।
समहर निमिष प्रतिपग ताल,
जीवन अमर स्वर विस्तार।
मिटती लहरियों ने रच दिये कितने अमिट संसार।
तुम अपनी मिला लो बीन,
भर लो अँगुलियों में प्यार।
घुलकर करुण लय में तरल विद्युत की बहे झंकार।

ब्रह्म की अखंडता और सर्व रूपत्व की भावना को श्लेष के द्वारा बड़ी ही सुन्दरता से राजाराम शुक्ल 'राष्ट्रीय आत्मा' ने व्यक्त किया है:—

वन उपवन में वनमाली बन,
वही रहा नवजीवन डाल।
वही वनज वन में विकसित हो,
रहा मधुप कुल को प्रतिपाल।
भुवन-भुवन में, भवन-भवन में,
नित प्रति आँखमिचौनी खेल।

प्राण पवन में, मलय पवन में,
त्रिविध पवन में रमा रसाल ॥ —'जीवन'

'रत्नाकर' जी के उद्धव भी गोपियों को समझाते हुए विशुद्धाद्वैत की भावना का ही प्रतिपादन करते हैं:—

सोई कान्ह सोई तुम सोई सबही हैं लखौ,
घट-घट अन्तर अनन्त स्यामघन कौं।
कहै रतनाकर न भेद भावना सौं भरौ,
बारिधि औ बूँद के बिचारि बिछुरन कौं ॥
—उद्धव शतक

साधना पद्धति

हम पहिले कह चुके हैं कि महत्व का आदर्श स्थिर करते-करते मनुष्य ने ईश्वर-भावना स्थापित की और यह भी विवेचन किया जा चुका है कि किस प्रकार पहिले स्थिर की गई ईश्वर-भावना धनात्मक रही और धीरे-धीरे किस प्रकार वह निषेधात्मक (ऋणात्मक) होती गई। यह नहीं है कि किसी काल विशेष में केवल धनात्मक परिभाषा ही सर्वमान्य रही हो अथवा ऋणात्मक परिभाषा ने सर्वजन स्वीकृति प्राप्त कर ली हो। वस्तुतः ईश्वर व्यक्तिगत अनुभूति का विषय है। अतएव व्यक्तिगत रुचि के अनुसार उसकी परिभाषा भी वैसी ही बनती रही।

ईश्वर की परिभाषा कैसी भी क्यों न रही हो, एक भावना सदैव एक रस और सर्वजन-व्यापिनी बनी रही। वह भावना थी उसके महत्व के प्रति प्रणति। ईश्वर के महत्व की जिस प्रकार की अनुभूति मनुष्य करता रहा है उसकी याचना का स्वरूप भी उसी के अनुसार बनता रहा है। जिसने उसे राजिक समझा, उसने उससे रोज़ी की कामना की, जिसने उसे अलख निरंजन के रूप में ग्रहण किया वह उससे निरंजन, निर्लेप होने की कामना करता रहा। इसी प्रकार अपनी-अपनी धारणा के अनुसार अपनी-अपनी वस्तु उससे माँगी गई और उस सर्वभूतमय ने अपने भक्त की सभी इच्छाएँ पूरी भी कीं। इन पूर्णकाम भक्तों ने केवल अपनी सफलता से संतोष नही किया, वरन् अपना प्रसाद सबको देकर सबको सुखी बनाने की कामना की और यही था वह हेतु जिससे विभिन्न साधना-पद्धतियों का उदय हुआ।

निर्लेप और निरंजन ईश्वर हमारी अनुभूति का विषय नहीं हो सकता अथवा कम से कम उसका ऐन्द्रिय सन्निकर्ष संभव नहीं है। अतएव उस तक

पहुँचने के लिए केवल दो ही मार्ग संभव हैं। पहिला मार्ग सीधा है, परन्तु संसारीजन के लिए वह किसी प्रकार भी संभव नहीं। शरीर में रहने वाला आत्मा निरंजन है। इस निरंजन के द्वारा उस निरंजन की अनुभूति हो सकती है। परन्तु अपने शरीर में रहने वाले इस आत्मा का ही निरंजन रूप में उपलब्ध कर लेना लगभग असंभव है। कबीर कहते हैं:—

सतगुरु की महिमा अनत, अनत किया उपकार।
लोचन अनत उघाड़िया, अनत दिखावनहार॥

इन लोक-बाह्य नेत्रों का खोल सकना जिनसे उस अनन्त का दर्शन होता है, व्यक्ति के लिए सरल संभव नहीं है। इसलिए यह मार्ग साधना विशेष में गुरु के महत्व पर विशेष निर्भर है। उसका कारण भी है। विभु की अनन्त चेतनसत्ता यदि इस जगत् को रचकर तटस्थ वृत्ति ग्रहण करके बैठी रही होती तो फिर उस तक पहुँच सकना प्रकृति के लिए संभव न होता। उस ने इस अत्यन्त गोपनवृत्ति को कभी स्वीकार नहीं किया। अतः वह गुह्य तत्व दीपक के प्रकाश की भाँति कहीं न कहीं अवश्य चमका। एक दीपक से दूसरा दीपक प्रकाश पाता गया और उसकी परंपरा बराबर बनी रही। आज भी उसका सर्वथा अभाव नहीं है। कहीं न कहीं वह धारा बह रही है। राधा (प्रकृति) की ओर दौड़ता हुआ मन जिस दिन उस एक पुरुष के प्रकाश में आ जायगा तो उलट कर उसी धारा में समा जायगा। इस धारा को उलटने के लिए जो बात कही गई है वह सीधी नहीं कही जा सकती। या तो उसके प्रतीक स्थापित किये जाते हैं और लोकानुभूति के द्वारा उस अनुभूति का अनुभव देने की चेष्टा की जाती है और प्रतीकवाद को स्थापना होती है अथवा उलटी धारा बहाने के कारण जो बात कही जाती है वह भी उलटी-सी ही होती है। यथा:—

चींटी चढ़ी पहाड़ पै, नौ मन तेल लगाय।
हाथी मारि बगल में दाबा, ऊँट लिया लटकाय॥

में कबीर इसी धारा के उलटने की ओर संकेत करता है। इसी प्रकार "काहे री नलिनी तूँ कुम्हिलानी" में भी प्रतीकों के साथ विपरीत संकेत-प्रयोगों के द्वारा वह इस धारा के उलटने का प्रयत्न करता है और संकेतवाद के द्वारा आत्मानुभूति देना चाहता है।

यह सीधा मार्ग है। परन्तु यह जितना सीधा है उतना ही दुर्गम भी है। इसीलिए इस मार्ग को तुलसी ने कृपाण की धारा कहा है।[1] कृपाण की धारा

१—ज्ञान का पंथ कृपान के धारा। परत खगेस लगै नहिं बारा॥
—रामचरित मानस, उत्तरकांड

कहने का तात्पर्य यह भी है कि यदि एक बार इसकी चोट सीधी पड़ गई तो प्रकृति और पुरुष की ग्रंथि सदा के लिए कट भी जाती है। दूसरी ओर मनुष्य यदि थोड़ा भी काँप गया तो ऐसा डूबता है कि फिर थाह नहीं मिलती है। इसीलिए कबीर कहते हैं:—

"रमैया की दुलहिन लूटा बजार।"

इस पथ के एक दूसरे साधक हैं जो प्रकृति के इस सीमित प्रतिनिधि शरीर को ऐसा बना देना चाहते हैं कि उसमें आसक्ति का बीज ही उत्पन्न न हो सके और इसके लिए वे काया-शोधन का विधान करते हैं। यह साधना-पद्धति भी नवीन नहीं है। वैदिक काल से इसका स्रोत बहता आ रहा है। भारतीय आश्रम-व्यवस्था में इसका मूल विद्यमान है। परन्तु इसके प्रचार का श्रेय वज्रयान सम्प्रदाय को है। वज्रयानी शून्यवादी थे। वे चेतना को संस्कार-जन्या मानते थे। इन संस्कारों के बिखर जाने को वे निर्वाण अवस्था कहते थे। यही उनका चरम लक्ष्य है, क्योंकि ये संस्कार ही दुःख का हेतु है। इन संस्कारों के निर्माण का साधन शरीर है। इसलिए शरीर-शोधन ही मुक्ति (निर्वाण) का साधन है। इसी कारण हठयोग की व्यवस्था की गई। भारतीय तपश्चर्या में भी इस प्रकार शरीर—शोधन का प्रयत्न दिखाई देता है। गीता में कृष्ण ने इसी ओर संकेत किया है:—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

अध्याय २, श्लोक ५६

अर्थात् इस देही के निराहार (विषयास्वाद विमुख) रहने से विषय-निवृत्ति हो जाती है। विषयनिवृत्ति से आस्वाद भावना भी रुक जाती है। परन्तु यह आस्वाद भावना तब तक समाप्त नहीं होती जब तक उस परम (ब्रह्म) का दर्शन नहीं होता। उसका दर्शन होते ही यह रस भी निवृत्त हो जाता है।

वज्रयानियों की यह साधना बाबा गोरखनाथ ने स्वीकार की और उसे शिवाद्वैत भावना के साथ मिलाकर आर्यशास्त्र-सम्मत बना दिया। संभवतः भगवान् शंकर के उपरान्त इस दिशा में क्रान्ति का सर्वप्रथम श्रेय ज्ञात ऐतिहासिक युग में बाबा गोरखनाथ को ही है, जिन्होंने शिवाद्वैतवाद की स्थापना से न केवल निरीश्वरवादी बौद्धों को नामशेष कर दिया, वरन् इस यौगिक-साधना को ऐसा सरल-सुलभ कर दिया कि आज तक की परंपरा में आनेवाले समस्त संत उनसे उधार लेकर ही संपदावान् हुए हैं। भले ही कुछ

लोगों ने इस ऋण को स्वीकार न किया हो और कुछ ने उनके सर्वांगीण योग-मार्ग की आलोचना की हो।

आज यह षट्-चक्र-भेदन, कुंडलिनी-जागरण, ज्योतिदर्शन, त्रिपुटी का अभ्यास, नाद-साधना आदि के नाम से जो कुछ भी प्रचलित है वह सब का सब गोरख की कृपा का ही फल है।

राजयोगः—भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है:—

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥

—चतुर्थ अध्याय, श्लोक ३

जिस योग-दीपक की ज्वलन्त शिखा से कृष्ण ने अर्जुन का बुझा हुआ दीपक जलाने की चेष्टा की है, वह दीपक भी पुरातन काल से प्रभु के द्वारा प्रकाशित किया गया है, जिसे वे स्वयं कहते हैं:—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥

—चतुर्थ अध्याय, श्लोक १

लोक-मर्यादा-रक्षा के लिए प्रभु ने यह प्रकाश घोरांगिरस से पाया और फिर अर्जुन को दिया। यह राजयोग क्या था? अपने ही शब्दों में स्थितप्रज्ञ की परिभाषा बताते हुए कृष्ण कहते हैं:—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥

—अध्याय २, श्लोक ५५

आत्मा में ही स्वतः सन्तुष्ट होता हुआ जब आत्मा सारी इच्छाओं का त्याग कर देता है तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है। यह ध्यान रखने की बात है कि प्रभु ने गीता में सर्वत्र कर्मफलत्याग पर ही बल दिया है। यहाँ कर्म की मूलभूत प्रेरणा कामना के विधान का त्याग वर्णित है। मूलभूत प्रेरणा का त्याग कर्मत्याग के समान ही नहीं है। कर्मत्याग को कृष्ण ने गर्हित बताया है और इसीलिए बार-बार कर्म करने की प्रेरणा दी है। इस प्रकार उन्होंने कर्म को योग की पदवी पर प्रतिष्ठित कर दिया है। उसकी व्याख्या करते हुए वे कहते हैं:—

"तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।"

गीता, अध्याय २, श्लोक ५०

कर्म को कुशलतापूर्वक करना ही योग है। यह परंपरा भी बराबर चलती आई है। कबीर के:—

"मन को क्यों नहिं मूड़िये जामैं विषय विकार।"

अथवा—

"कर का मनका डार के, मन का मनका फेर।"

में फलेच्छा-त्याग और 'आत्मनः तुष्टः' की भावना ही दिखाई देती है। कथनी और करनी की एकता यही राजयोग है। कबीर जब कहता है:—

कहता तो बहुता मिला, गहता मिला न कोय।
सो कहता बहि जान दे, जो गहता नहिं होय। —कबीर ग्रंथावली

तब वह इसी राजयोग-विमुख प्राणी के त्याग की आज्ञा देता है। अथवा—"जोग करन्ते जोगी बूड़े, ध्यान करन्ते ध्यानी।" में भी राजयोग-विमुख योगी और ध्यानी का चित्र खींचता है। संभवतः लगभग समस्त सन्त आजीवन अपने व्यवसाय में लगे रहे और लोक-मर्यादा-रक्षा करते रहे। सधना कसाई, नामा दर्जी, रैदास चमार आदि के व्यापारों तथा उनकी साधना की क्रियाओं का पता तो है ही। जीविकोपार्जन हेतु व्यावसायिक महत्व को व्यक्त करते हुए कबीर कहते हैं:—

कबीर जे धंधे तौ धूलि, बिन धंधे धूलै नहीं।
ते नर बिनठे मूलि, जिनि धंधे ध्याया नहीं॥

—कबीर ग्रंथावली

निर्गुणमार्गी प्रेमयोग :—प्रेम मानव-जीवन की कोमलतम मनोवृत्ति है। परन्तु इसमें एक दोष है। यह द्वैत का आश्रय लिये बिना प्रवृत्त नहीं हो सकता। जब हम अपने शरीर से प्रेम करते हैं तब भी आत्मा और शरीर का द्वैत लगा रहता है। आत्मा अपनी आत्मा को प्रेम करता है अथवा शरीर अपने ही शरीर को प्रेम करता है ऐसा सुनने और देखने में नहीं आया। निर्गुणमार्ग की यह सबसे बड़ी बाधा है। जब तक निर्गुण में द्वैत की कल्पना न की जाय तब तक प्रेम-साधना संभव नहीं। इसीलिए किसी न किसी रूप में समस्त प्रेममार्गी सन्तों ने साधना-पथ में द्वैत की कल्पना की है।

ईसा की सातवीं शताब्दि में भारतीयों की साधना-पद्धति का अरबों की रूखी एकेश्वरवादिता से सम्पर्क हुआ। धार्मिक अभिमान से भरे हुए संगठन की शक्ति से सम्पन्न अरब अपनी तटस्थ एकेश्वरवादिता का त्याग नहीं कर सके। साथ ही कोमल और तीक्ष्ण प्रभाव करने वाली भारतीय प्रेम-साधना के

प्रभाव से अपने को बचा नहीं सके। "सोऽहं" की मधुर-पुकार ने 'मंसूर-हल्लाज' को इतना अधिक प्रभावित किया कि उसकी वाणी में वह प्रतिध्वनित होने लगी। सचमुच 'सूली ऊपर पिया की सेज' पर चढ़कर उस प्रणयी ने अपने प्रेम को चरितार्थ कर दिया। वह शूली पर चढ़ गया, परन्तु उसका रक्त रक्तबीज की भाँति अनेक रूपों, अनेक आकारों में इस्लाम की कठोर एकेश्वर-वादिता के समक्ष खड़ा हो गया। फलतः इस्लाम के ईश्वर को उसके साथ समझौता करना पड़ा। अब वह तटस्थ ईश्वर केवल तटस्थ नहीं रह सका, उसे प्रियतमा का रूप धारण करना पड़ा, उसे प्राप्त करने के लिए प्रेमीजन विकल हो उठे। सरमद और दारा ने उसके वियोग में प्राण खोये। कबीर, जायसी, नामदेव, बारी साहबा आदि की विरह-पीड़ा में उसी प्रियतम की मिलन-कामना बोल रही है[1]। यह है निर्गुण मार्ग की प्रेम-साधना। इस

१—"दुलहनी गावहु मंगलचार।
हम घरि आये हो राजा राम भतार ।।
तनरति करि मैं मनरति करि हूँ, पंचतत्त बाराती।
रामदेव मोरे पाहुने आये, मैं जोबन में माती ॥
सरीर सरोवा वेदी करि हूँ, ब्रह्मा वेद उचार।
रामदेव संग भाँवर लेहूँ, धनि धनि भाग हमार ।।
सुर तैंतीसूँ कोटिक आये, मुनिवर सहस अठासी।
कहैं कबीर हम ब्याहि चले हैं, पुरिष एक अविनासी ॥
—कबीर ग्रन्थावली

× × ×

"पिउ हिरदय महुँ भेट न होई। को रे मिलाव, कहौं केहि रोई ?"
—जायसी 'पदमावत'

प्रभु जी, तुम चन्दन, हम पानी।
जाकी अँग अग बास समानी ॥
प्रभु जी, तुम घन, हम वन मोरा।
जैसे चितवत चन्द चकोरा ।।
प्रभु जी, तुम दीपक, हम बाती।
जाकी जोति जरै दिन राती ।।
प्रभु जी, तुम मोती, हम धागा।
जैसे सोनहिं मिलत सुहागा ।।
प्रभु जी, तुम स्वामी, हम दासा।
ऐसी भक्ति करै रैदासा ॥
—रैदास

मार्ग ने कुछ तो हठयोग से लिया, कुछ राजयोग से और कुछ गोपियों से। इस प्रकार भारतवर्ष में यह त्रिवेणी प्रवाहित हुई जो अब तक अनेक पिपासुओं की पिपासा शांत करती रहती है। आज के युग में यही साधना-पद्धति रहस्य-वाद के नाम से पुकारी जाती है। अन्तर केवल इतना है कि उक्त सन्तों में अनुभूति की सत्यता थी, पर आज उसका दर्शन यदा-कदा ही प्राप्त होता है।

सगुणोपासना:—हम ईश्वर-भावना का विकास बताते हुए यह कह आये हैं कि मूलतः ईश्वर-भावना धनात्मक थी। उसका विकसित रूप ऋणा-त्मक परिभाषा हुई जो निर्गुण-निरंजन के रूप में लोक-ग्राह्य हुआ। ऋणात्मक परिभाषा में मानव-प्रवृत्ति के विकास की सीमा नहीं। इसलिए यह परिभाषा अधिक दार्शनिक है। परन्तु हम यह भी कह चुके हैं कि ससीम मानव-बुद्धि असीम के सम्मुख पहुँचते ही चकरा जाती है। इसीलिए बुद्धि-विकास के लिए उपयोगी होते हुए भी ऋणात्मक परिभाषा सदैव बुद्धि का विषय बनी रही, वह हृदय का विषय नहीं बन सकी।

धनात्मक परिभाषा मौलिक परिभाषा थी। अतएव उसमें हृदय का सामंजस्य भी स्थापित हो सकता था। इसीलिए संसार की सभी संस्कृतियों में ईश्वर का आदि-रूप धनात्मक परिभाषा के रूप में ही देखा गया। ग्रीस, मिश्र, बाबुल, अरब, पारस आदि सबने ईश्वर को सगुण रूप में स्वीकार किया था और भारतीयों ने उसकी परिभाषा दी थी 'अखिलसद्गुणाकर तथा सच्चिदानन्द'। संसार के अन्य देश अधिकांशतः राजनीतिक प्रभाव से दबकर अपनी इस भावना का त्याग कर बैठे। भारतवर्ष ने अपने साधना-बल से न केवल इसकी रक्षा की वरन् उसे उसी प्रकार पल्लवित, पुष्पित बनाये रखा जैसे श्रीमद्भाग-वतकाल में थी। यह नहीं है कि भारतवर्ष ने इसके लिए कष्ट नहीं उठाया। सब कुछ झेलते हुए भी इस भावना ने भारतीय हृदय को सदैव बल प्रदान किया।

एक आश्चर्य है। सन्त चाहे दक्षिण के रहे हों चाहे पश्चिम के, सबने अपनी साधना के प्रचार का माध्यम अधिकांशतः हिन्दी भाषा को ही बनाया। केवल देश का ही अन्तर नहीं, अपितु कठोर धर्मान्ध मुसलमानों को भी जब इस प्रेम की चोट लग गई तब उनकी वाणी के तार भी जिस स्वर में झंकृत हो उठे, वह स्वर हिन्दी का ही था। जयदेव का गीतगोविंद संस्कृत की अपेक्षा हिन्दी के अधिक निकट है। चंडीदास के पदों में बँगला कम और हिन्दी अधिक है।

विद्यापति के सम्बन्ध का विवाद अब प्रायः शांत हो चुका है और यह निश्चित हो चुका है कि विद्यापति हिन्दी के ही कवि थे। नानक, सुन्दरदास पंजाब और राजपूताना के थे। नामदेव और सेना नाई दक्षिण की विभूति थे।

इन सन्तों में से जिन्होंने भी सगुण ब्रह्म को अपना आराध्य माना है, वे दो श्रेणियों में विभक्त हैं : राम-भक्ति-शाखा और कृष्ण-भक्ति-शाखा। राम-भक्ति-शाखा मर्यादावाद में सीमित रही और कृष्ण-भक्ति-शाखा प्रेम-मार्ग पर चल पड़ी। प्रभु के पतितपावनत्व[1] पर, आर्तसहायकत्व[2] पर इनका विश्वास अडिग बना रहा। इन्होंने अपने यत्न की अपेक्षा प्रभु की कृपा को अपना प्रधान साधन समझा। इसीलिए दीनता[3] और स्व-दोष-दर्शन[4] की ओर

१—पतितपावनत्व :—

मैं हरि पतितपावन सुने।
मैं पतित तुम पतितपावन, दोउ बानक बने॥
व्याध गनिका गज अजामिल, साखि निगमनि भने।
और अनेक अधम तारे, जात कापे गने॥
—विनयपत्रिका

२—आर्तसहायकत्वः—

राघव गीध गोद करि लीन्हों।
नयन-सरोज सनेह सलिल सुचि मनहुँ अरघ जल दीन्हों॥
सुनहुँ लखन! खगपतिहिं मिले वन मैं पितु मरन न जान्यो।
सहि न सक्यो सो कठिन विधाता, बड़ो पछु आजुहिं भान्यो॥
—गीतावली

३—दीनताः—

दीन दयालु को ऐसो ही धाम है, दीनन की सुधि लेत सदाई।
—नरोत्तमदास

४—स्व-दोष-दर्शन

तुम सम दीनबंधु न दीन कोउ मो सम सुनहुँ नृपति रघुराई।
मो सम कुटिल मौलिमनि नहिं जग, तुम सम हरि न हरत कुटिलाई॥
हौं मन बचन करम पातक-रत, तुम कृपालु पतितन गति दाई।
हौं अनाथ प्रभु, तुम अनाथ हित, चित यहि सुरति कबहुँ नहिं जाई॥
—विनयपत्रिका

इनकी प्रवृत्ति अधिक रही। प्रेमावेश ने यदि कहीं इन भक्तों को व्याकुल किया तो कहीं इनमें कुछ थोड़ी सी धृष्टता[1] भी उत्पन्न हुई। कहीं-कहीं इस प्रकार के उपालम्भ[2] और निरपेक्ष भाव से सेवा की भावना[3] भी इन सन्तों में देखी जाती है। वस्तुतः मनुष्य के राग-विराग के जितने भी विषय हैं उन सबको लेकर अपने प्रभु के समक्ष उपस्थित होना तथा अपने को "जेहि तेहि भाँति डर्‌यो रहौं, पर्‌यो रहौं दरबार" के रूप में उपस्थित करना इनकी साधना का मार्ग है। इनका अवलम्ब रहा है श्रद्धा और विश्वास।

सिद्धावस्था:—वस्तुतः सिद्धावस्था अपनी कल्पना की वस्तु है। जो साधक जिस प्रकार की ईश्वर की कल्पना को लेकर प्रवृत्त हुआ उसकी मुक्ति भी उसी प्रकार की है अर्थात् भौतिकविज्ञानवादी की सिद्ध अवस्था प्रकृति के तत्वों का बिखर जाना है, निर्वाणवादियों का संस्कार टूट जाना है, अविवर्त-वादियों के लिए अद्वैतानुभव-मात्र है, द्वैतवादी बैकुंठ, गोलोक, हंसलोक आदि की कल्पना करता है। द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैतवादी,

---

१—धृष्टता:—

आजु हौं एक एक करि टरिहौं,
कै हमहीं कै तुमहीं माधव, अपुन भरोसे लरिहौं॥

—सूरदास, का० ना० प्र० सभा, पद १३४

सम्हारहु अपने को गिरधारी।
मोर मुकुट सिर पाग पेंच कसि राखहु अलक सँवारी॥

× × ×

हम नाहीं उनमें जिनको तुम सहजहिं दीने तारी।
बाने जुगओ नीके अबकी 'हरीचंद' की बारी॥

—भारतेन्दु, प्रेमफुलवारी, पद १०

२—उपालम्भ:—

आप ही करम करि पार उतरौगे तौ,
हौं ही करतार करतार तुम काहे के। —सेनापति

३—निरपेक्ष भाव से सेवा भावना:—

तुलसी चातक के मतै, स्वातिहुँ पिये न पानि।
प्रेम तृषा बाढ़त भली, घटे घटैगी आनि॥

— तुलसी दोहावली

सायुज्य[1], सामीप्य[2] अथवा सारूप्य[3] मुक्ति की कल्पना करते हैं। हमारा मत है कि कबीर की साधना-पद्धति सिद्धावस्था का स्वरूप सालोक्य[4] मुक्ति को मानती है। सगुण भक्त कवियों ने अपनी सिद्ध अवस्था की एक दूसरी कल्पना की है। वे अपना अस्तित्व मिटाना नहीं चाहते। अथवा अद्वैत बनाये रखकर भी जागतिक सुखों से वंचित होना नहीं चाहते। अतएव प्रभु की नित्य लीला में सम्मिलित होकर अथवा उसका दर्शन करके आनन्द-लाभ की कामना करते हैं। तुलसी ने इसीलिए कहा है:—

असि विचार जे परम सयाने। मुकुति निरादरि भगति लुभाने ॥
—रामचरितमानस, उत्तराकांड

अथवा

सगुन उपासक मुक्ति न लेहीं। तिन कहँ राम भगति निज देहीं ॥
—रामचरितमानस, उत्तरकांड

१—सायुज्यः—
"सो जाने जेहि देहु जनाई। जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई ॥"—तुलसी

२—सामीप्यः—
"जेहि तेहि भाँति पर्‌यो रहौं, डर्‌यो रहौं दरबार ॥" —तुलसी

३—सारूप्यः—
"बूँद समानी समुद्र में, सो कत हेरी जाय।" —कबीर

४—सालोक्यः—
"नीव विहूँणा देवरा, देह विहूँणा देव।
कबीर तहाँ विलम्बिया, करै अलख की सेव ॥" —कबीर

रहस्यवाद

इतिहास

हम पहिले कह चुके हैं कि परमात्मा का अनभिव्यक्तरूप सब कुछ होते हुए भी हमारे उपयोग का नहीं है। जो "रूप, रेख, गुन जाति जुगुत बिन" है वह हमारे आश्रय का विषय नहीं हो सकता। वहाँ तो 'निरालंब मन चकृत धावे' ही होता है। संग्रह मनुष्य की प्रकृति है और सुन्दर के प्रति आकर्षण उसकी सहज प्रवृत्ति। इस विषय में आबाल वृद्ध सभी की मानसिक स्थिति समान है। मानव की सहज मानसिक प्रवृत्ति श्रेष्ठ को अपना बनाने में सुख और संतोष अनुभव करती है। संग्रह की यह स्वयंभू मनोवृत्ति जिसे एकत्र करना चाहती है, उसमें आकर्षक गुणों की प्रतिष्ठा करती है। ये गुण विषय में चाहे हों, चाहे न हों, द्रष्टा की दृष्टि विषय में उनका आरोप अपने आप कर लेती है। द्रष्टा की यह मिथ्या-व्यवसिति ज्ञान की पूरिका होती है। अतएव मिथ्या होते हुए भी अध्यवसायवशात् सत्य के निकट पहुँच जाती है और इसीलिए अरूप में रूप, अनाम में नाम, अरेख में रेख, अगुण में गुण और अजाति में जाति की कल्पना उत्पन्न हो जाती है और इसीलिए "रूप-रेख-गुन-जाति-जुगुति बिन" वह 'रूप रेख गुन जाति जुगुति सह' बनकर हमारे संग्रह का विषय बन जाता है।

परमात्मा की यह भावना सनातन भावना है। वेदों में इसीलिए उसे 'हिरण्यगर्भ', 'अग्नि' अथवा 'पुरोहित' कहकर रूप दिया गया है। और यदि यह सत्य है कि वेद संसार का प्राचीनतम साहित्य है तो यह भी न्याय्य है कि वेद ने ही सबसे पहिले उस अरूप में रूप की कल्पना की। उपनिषद् अनेक रूपों में यही काम करते आये हैं। अग्नि-विद्या, मधु-विद्या, सामोपासना, प्राणोपासना इत्यादि सब में उस अतीन्द्रिय-ग्राह्य को इन्द्रिय-ग्राह्य बनाने की चेष्टा

प्रतीत होती है। इस प्रकार उसकी निराकारता को खंडित किये बिना ही उसमें साकारता स्थापित करने की चेष्टा रहस्य-भावना की मूल है।

मनुष्य देश, काल और परिस्थितियों की सीमा में बँधा हुआ है। वह जब अपने इन बन्धनों को तोड़ कर बाहर जाना चाहता है, तब जो प्रयास करता है, वह प्रयास उसका साधन बनता है। प्रयास के विभिन्न प्रकारों ने विभिन्न पंथों को जन्म दिया। गन्तव्य एक है, परन्तु मार्ग अनेक हैं। इन अनेक मार्गों में भी गन्तव्य के प्रति गति की प्रवृत्ति में भी एकता है। 'मुझे मिल जाय' यह भावना और केवल यही भावना प्रत्येक प्रस्थान की तैयारी में, प्रत्येक पाद-निक्षेप में और प्रत्येक हृदय में समान उत्सुकता उत्पन्न करती हुई सब को एक-सा व्याकुल बनाये रहती है :

> They reckon ill who leave me out,
> when me they fly, I am the wings.
> I am the doubter and the doubt,,
> I the hymn, the Brahman sings.
>
> —Emerson.

"वे भ्रान्त धारणा में फँसे हुए है जो यत्न करते समय मुझे भूल जाते हैं, क्योंकि सत्य यह है कि जब वे मुझ तक आने के लिए उड़ते हैं तब ही मैं उन के पंख बनता हूँ, मैं ही प्रमेय और प्रमाता हूँ, और मैं ही वह गीत हूँ जो मेरी स्तुति में ब्राह्मण गाया करते हैं।" यही उस परम रहस्य के प्रति गति का रहस्य है।

यहाँ एक बात और समझ लेनी आवश्यक है। साधना के दो रूप हैं। एक अपने भीतर और दूसरी अपने से बाहर। अपने को पूर्ण बनाना और पूर्ण में अपने को मिला देना, दोनों का परिणाम यद्यपि एक ही है, परन्तु दोनों के व्यापार भिन्न हैं। चाहे बूँद का महासागर बन जाय और चाहे बूँद महासागर में मिल जाय, दोनों बातें एक-सी हैं। 'एक जीव, एक ब्रह्म कहावत, सूर श्याम झगरो' में सूर भी अपने श्याम से झगड़ रहा है। वह कहता है कि या तो तुम मुझे अपने में मिलाकर ब्रह्म बना लो या मुझ में मिलकर ही ब्रह्म बन जाओ। यदि मुझे जीव कहलाओगे और तुम अपने को ब्रह्म कहलाते रहोगे तो हम तुम झगड़ते ही रहेंगे। तुलसी इसीलिए कहते हैं, "तुहि प्रिय लागै राम कै तू रामहिं प्रिय होय" क्योंकि चाहे खरबूजे पर छुरी गिरे या छुरी पर खरबूजा गिरे, दोनों दशाओं में खरबूजा ही कटेगा।

साधना के इन विभिन्न मार्गों ने मानव की वृत्ति को तृप्त करते हुए उसे आगे बढ़ाया। उसके अभाव की पूर्ति करके उसकी स्वयंभू मनोवृत्तियों को चरितार्थ किया। पलायन (Flight), दीनता (Self-abasement), आहतभावना (Repulsion) ने भय, दैन्य और निराशा की सृष्टि करके उसे आर्त्त-भक्त बनाया, संग्रह प्रवृत्ति (Acquisition) ने अर्थार्थी, जिज्ञासा (Curiosity) ने जिज्ञासु और आत्म-प्रकाश (Self-assertion) ने मुमुक्षु। भावनाओं की इन भिन्न-रूपताओं के कारण साध्य की एकता होते हुए भी साधन की विभिन्नता स्वाभाविक थी और साधन की इस विभिन्नता में ही अनेक पंथों के निर्माण का बीज है। प्राचीन दार्शनिकों ने उस अमूर्त रूप देने की चेष्टा की। उसकी विभिन्न शक्तियों के विभिन्न प्रतीक स्थापित किये। इन प्रतीकों के द्वारा मनुष्य की सहज वृत्तियों की तृप्ति सरलता से होती थी। इसीलिए प्रतीकोपासना का विधान प्रकृत-जन सुलभ था। आदि अकृत्रिम मानव-जीवन जब तक अकृत्रिम बना रहा, बुद्धिवाद ने जब तक शर-संधान नहीं किया, तब तक उसका भोलापन उसमें रमण करता रहा। उसकी कोमल श्रद्धा अनन्य भाव से अपने प्रतीक को अर्पित होती रही है, और उसे अन्तःसुख प्राप्त होता रहा है। यह नहीं है कि दार्शनिक के बुद्धिवाद के द्वारा निश्चित की हुई साधना से सिद्ध आनन्द कुछ विशेषता सम्पन्न रहा हो, जिससे हम यह कह सकें कि ऐसे भोले श्रद्धालु का श्रद्धाजनित आनन्द हेय अथवा निम्न स्तर का था। सच तो यह है कि आनन्द एक ही है। बुद्धिवादी जिसे बुद्धि से पाता है, वही श्रद्धालु को श्रद्धा से प्राप्त होता है।

बहुधा बुद्धिवाद प्राकृत जन की श्रद्धा को विचलित तो कर देता है, परन्तु उसे दूसरा ऐसा आलंबन नहीं दे पाता जिसमें वह अपना मन रमा सके। और इसीलिए जीवन में कृत्रिमता का समावेश हो जाता है। पथ से विचलित होकर मन कुपथ का आश्रय लेता है। इसीलिए भगवान कृष्ण ने कहा है :

"न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।" —गीता

प्रतीकोपासना में विभिन्न मानव-वृत्तियों को तृप्त करने के लिए विभिन्न पूजन-विधान थे। उनमें एक विधान यह भी था कि प्रभु को प्रिय के रूप में वरण किया जाय। कुछ साधक भावावेश में स्वयं उसके प्रेम में पागल हो गये और मधुर-भावना के गीत गाने लगे। यह प्रथा भी पूर्व और पश्चिम में रही है कि संतान का इन देव प्रतीकों के साथ विवाह कर दिया जाय। पश्चिम में

यह भावना संभवतः 'हव्वा' की अपवित्रता के कारण स्त्रीमात्र को अपवित्र समझ कर उससे सम्बन्ध रखने से उत्पन्न पाप की शान्ति के लिए उद्भूत हुई थी। इन देव-समर्पित बालक-बालिकाओं को प्रारम्भ से ही देव-सेवा और उसे पति-भाव से भजने की शिक्षा दी जाती थी। इस प्रकार इनमें मधुर-भावना उत्पन्न की जाती थी। ईसा से कई शताब्दि पूर्व ग्रीस, श्याम, फिलस्तीन में ऐसे मंदिर थे जिनमें देव-दास-दासियों की बहुत बड़ी संख्या रहती थी। उनका काम था मधुर भाव से प्रभु की उपासना करना।

मनुष्य के लिए अपनी सहज प्रवृत्तियों का सर्वथा तिरस्कार कर सकना बड़ा कष्ट-साध्य होता है, अतः देव-समर्पित किशोर और किशोरियों में जब वासना का सम्पूर्णतः परिष्कार न हो सका तब वे सांसारिकता की ओर झुके। पर इस सांसारिकता में भी एक प्रकार का आदर्श विशेष था। कदाचित् उसी की रक्षा के कारण यूनान की थायस वेश्या होते हुए भी देवियों में परिगणित हुई, बुद्धकाल की आम्रपाली नगरवधू होकर भी राष्ट्रीय सम्मान की अधिकारिणी बनी। यहाँ पर इतना अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि देव-समर्पित दास-दासियों की सांसारिकता को दोष की दृष्टि से नहीं देखा गया। वहाँ साध्य और साधन की एकरूपता का ध्यान नहीं रक्खा गया था। उनके लिए शारीरिक सुख भी देव-समर्पित ही था। कदाचित् इसी भावना का पकड़ पाना ही इनके जीवन का चरम उद्देश्य था।

हम यह नहीं कहते कि समस्त देवदासियाँ या देवदास इसी देवभावापन्न मिलन और विरह के अधिकारी थे। हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि इस भावना के मूल में विकृति और लम्पटता नहीं थी, वरन् पवित्रता और त्याग था। इसीलिए उनमें माधुर्यभाव की प्रतिष्ठा होती थी। दक्षिण की अंदाल इसी प्रकार की एक देवदासी थी जिसके गीत आज भी मीरा के गीतों की भाँति दक्षिण में भक्तिभाव से गाये जाते हैं। ✓

पश्चिम के इन देव-प्रतीकों का विनाश सबसे पहिले 'यहोवा' के उपासक यहूदियों के द्वारा किया गया। यह घटना ईसा से लगभग ८०० वर्ष पहिले हुई है। 'यहोवा' के उपासक कठोर और निर्दय हाथों से इन देव-प्रतीकों का विनाश करने में तो समर्थ हुए किन्तु उस भावना का विनाश कर सकना संभव न था। 'यहोवा' निर्गुण मूर्ति होते हुए भी उसी उपासना का आधार बन

गया।[१] संभवतः निर्गुण ईश्वर के प्रति रागात्मक वृत्ति का दर्शन यहोवा की उपासना में ही पहिले-पहिल दिखाई दिया और यही पश्चिम के रहस्यवाद का जन्म-दिवस था।[२]

अनेक संतों द्वारा यह उपासना-पद्धति अनेक नीच-ऊँच देखती हुई कभी अन्तःसलिला सरस्वती की भाँति और कभी क्षुद्र धारा स्रोतस्विनी की भाँति बराबर बहती ही रही। जब कट्टरता का बल बढ़ा, यह बाहर से भीतर चली गई और जब वह फौलादी पंजा ढीला हुआ तब यह बाहर आकर फिर भावुक हृदयों को तृप्त और शीतल करने लगी। 'यहोवा' के काल में ही यह उपासना शामियों के 'बाल', 'कादेश' और 'ईस्तर' प्रभृति अनेक देवताओं को छोड़कर 'यहोवा' को समर्पित होने लगी।

विचार और संस्कृति के केन्द्र भारत और यूनान दोनो में साधना की दो पद्धतियाँ अनादिकाल से चली आ रही हैं। एक पद्धति लोक की साधा-

---

१—"......यहोवा इसराइल की संतानों का नायक था, नेता था, स्वामी था, शासक था, अधिपति था, संक्षेप में प्रियतम के अतिरिक्त सभी कुछ था।......फिर भी हम स्पष्ट देखते हैं कि उसके मंदिरों में देवदासों तथा देवदासियों की चहलकदमी तो थी ही; उसके भावुक भक्तों ने उसके लिए पत्नी का (इसराइल, पृष्ठ २४) विधान भी कर दिया था।"—तसव्वुफ अथवा सूफी मत, पृष्ठ २०

२—श्री सीताराम चतुर्वेदी रहस्यवाद के इतिहास के संबंध में अपने ग्रंथ समीक्षा-शास्त्र (पृष्ठ १२३७) में लिखते हैं—'२० ई० पू० यहूदी फिलो ने ही सर्वप्रथम रहस्यवाद का तत्व चलाया। ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दि के कुछ भिषज्ञों ने ईश्वर और मनुष्य के बीच प्रेम के आदान-प्रदान के प्रयोगात्मक लक्षण की बात चलाई। असीसी के सन्त फ्रान्सिस ने प्रेमी ईसा और उस संसार के लिए प्रेम-मदिरता का अनुभव किया जो ईश्वर-सम्पृक्त आत्माओं की पवित्र सृष्टि के रूप में दिखाई पड़ता है और जहाँ सब भाई-बहन हो जाते हैं। संत फ्रान्सिस का यह आन्दोलन इटली में रमन लल ने चलाया, जिसने माधुर्य-भाव या पत्नीत्व भाव के रहस्यवाद के बदले 'सखा-भाव के रहस्यवाद' का प्रसार किया जिसमें आत्मा को ईश्वर का मित्र बनाकर मिलाने की बात कही जाती है। जर्मनी में साहित्यिक रहस्यवाद का विकास श्रीमती मैक्थिल्ड ने किया जो मध्ययुग की सबसे महान महिला रहस्यवादिनी थी।

रण जनता के अनुकूल साधनों का विधान करती रही है और दूसरी विशिष्ट के लिए। एक विधि-निषेध के मार्ग पर चलती हुई लोक-धर्म की प्रतिष्ठा के साथ-साथ ईश्वराभिमुख है, दूसरी लोक-धर्म की चिन्ता छोड़कर अन्तराभिमुख गतिमान् है। इसीलिए एक प्रकाशित है, दूसरी गुह्य। एक का आधार है, 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः पर धर्मो भयावह,' दूसरे का आधार है :

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

गीता, अ० १८, श्लोक ६६

यह दूसरा मार्ग रहस्य का मार्ग था जिसे हमारे यहाँ वेद-बाह्य समझा गया। परन्तु जाता वहीं था जहाँ वेद-सम्मतमार्ग ले जाते थे। अन्तर केवल इतना ही था कि वेद-सम्मत मार्ग विधि-निषेध की विषम घाटियों के चक्कर में घूमता हुआ समतल भूमि में ही चलता था, दूसरा विधि-निषेध की घाटियों को सीधा पार करता था। इसमें कठिनाई थी, परन्तु इस मार्ग पर चलने से गन्तव्य निकट आ जाता था। यहाँ न शास्त्र-ज्ञान की आवश्यकता थी, न कर्मकांड की; केवल अनन्य भाव से आत्मसमर्पण आवश्यक था। वह भाव भी रूढ़िबद्ध नहीं था। साधक की अपनी रुचि ही आवश्यक थी। अर्थात् यदि साधक शत्रु-भाव रखता था तो प्रभु शत्रु होकर उसके पास पहुँचते थे, मित्र-भाव के लिए वह मित्र था। दास के लिए वह स्वामी, पिता के लिए वह पुत्र और प्रियतम के लिए प्रेमी और प्रेमी के लिए प्रियतम था। गीता में प्रभु ने यह प्रतिज्ञा की भी कि:—

"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" अ० ४, श्लोक ११

इस साधना पद्धति को राज-विद्या, राजगुह्य कहकर पुकारा जाता था। इसकी अपनी एक स्वतन्त्र परंपरा थी जो ब्राह्मण-धर्म से स्वतन्त्र और अपने आप में ही विकसित होती रही थी। जिसे विवस्वान् ने मनु से कहा था, मनु ने इक्ष्वाकु से। यह नहीं है कि इस विद्या के उपदेष्टा का कार्य केवल ब्राह्मणेतर-व्यक्तियों के हाथ में था। ब्राह्मण इस आचार का उपदेष्टा था। परन्तु सामान्य आचार-शास्त्र के उपदेशक की भाँति यह उपदेश सर्वजनसुलभ नहीं था। इसकी प्राप्ति के लिए, अधिकारी आवश्यक था। इसीलिए इसे राजगुह्य कहा गया।

हम ऊपर कह चुके हैं कि साधना की यह परंपरा भारतवर्ष में लोक-सम्मत न होकर गुह्य थी। इसके गुह्य होने का कारण था। जो साधना लोक-मर्यादा का अतिक्रमण करती हो उसे सार्वजनीन नहीं बनाया जा सकता।

यूनान के दार्शनिक भी इसे समझते थे। समाज के लिए व्यक्ति की प्रतिष्ठा करने वाला प्लेटो व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए समाजशास्त्र से पृथक् ऐसी ही एक प्रेमपद्धति[1] की कल्पना करता है और वहाँ भी यह प्रेम-पद्धति गुह्य रूप में ही अधिकारियों को प्राप्त होती रही है। यह प्रेम का पन्थ था। अतएव सबके काम का नहीं था। कबीर के शब्दों में 'सीस उतारे भुईं धरै' तब इस घर में पैठने का अधिकारी हो सकता था। यह भी एक कारण था जिससे पश्चिम में भी भाव-प्रवण सिद्धों के द्वारा विषम परिस्थितियों में भी यह साधना-पद्धति निरन्तर चलती रही।

पश्चिम में असहनशीलता अधिक रही है। उसका इतिहास ऐसी साक्षियों से भरा पड़ा है जिसमें अनेक बार इन भावुक सन्तों को प्राणों की बाजी लगाकर प्रेम निभाना पड़ा। जब-जब ऐसे अवसर आये तब-तब इन सन्तों ने भी "कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः" अपने को सब ओर से समेट कर अपने में ही इस प्रकार छिपा लिया कि वे समस्त प्रहार सहकर भी जीवित रह सके। आचार के परमोपदेशक बुद्ध ने इस धर्म के प्रति उपेक्षा की तो उनके साधकों ने "बुद्धौ शरणमन्विच्छ, बुद्धं शरणं गच्छामि" के रूप में इसी भावना की प्रतिष्ठा कर दी। शान्ति के उपदेशक मसीह को उन्हीं के शिष्यों ने संघ के पति-रूप में स्वीकार किया। तात्पर्य यह है कि यह ऐसा कोमल और मधुर-भाव है जो कठोर मे कठोर धार्मिक कट्टरता को अनन्तिकाल में ही इसके सामने झुकना पड़ता है। यह समय का वाद नहीं है जिसे नगाड़ा पीट कर प्रचारित करने की आवश्यकता हो, बरन् आत्मा का सत्य है, जो स्वयं प्रकाशित होता है।

मसीह के उपरान्त इस भावना पर दूसरा आघात मुसलमान धर्म की कट्टरता ने किया। हजरत मुहम्मद साहब ने संगठन की प्रेरणा से रुचि वैचित्र्य को मिटाने की चेष्टा की और अरबों को एक निश्चित मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी। निश्चित मार्ग इस प्रवृत्ति का शत्रु है। अतएव ऐसे सन्त जो इस मानसिक प्रवृत्ति के थे, इस्लाम में दीक्षित होकर भी कट्टर मुल्लाओं के कोप-भाजन होते रहे।

जैसा पहिले कह चुके हैं कि यह भावना मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है; इसका तिरस्कार करके कोई धर्म अधिक काल तक नहीं चल सकता। इस्लाम

१—तसव्वुफ अथवा सूफीमत, पृष्ठ २१

का विश्व-बन्धुत्व सामान्य मानव की भावना है, साथ ही तलवार का भय उसके मनवाने का साधन है। परन्तु इस्लाम के द्वारा ईरान की विजय उसे महँगी पड़ी। ईरान मुसलमान हो गया। परन्तु ईरान ने इस्लाम को अरब का इस्लाम नहीं रहने दिया। ईरान के सन्तों ने इस्लाम में ही परिवर्तन कर दिया। इस्लाम के खलीफा अली और उनकी शिष्य-परंपरा के अनुगामी बायज़ीद बुस्तानी उस मधुर भाव के इस्लाम में प्रवर्तक कहे जाते हैं, जो अब तक गुह्य-परंपरा में चला आ रहा था। इस्लाम का परिधान धारण करके इस परंपरा को अब छिपकर चलने की आवश्यकता नहीं रही। यद्यपि सब उसके अधिकारी नहीं थे, परन्तु अब यह भावना अरब और फारस के कवियों के द्वारा प्रकाश रूप में सुनाई जाने लगी। जो शेख और ज़ाहिद, मुल्ला और इमाम इस भावना के कट्टर शत्रु थे, वे इन सन्तों की मधुर वाणी में उपहास के पात्र बन गये। एक ओर "बनती नहीं है बादओ सागर कहे बगैर"[१] रही, दूसरी ओर "शोरे पन्दे नासह ने जख्म पर नमक छिड़का, आपसे कोई पूछे तुमने क्या मज़ा पाया।"[२] इस प्रकार एक ओर तो इस्लाम के उपदेशक उपहास के पात्र हुए, दूसरी ओर मदिरा जो हराम है, इन सन्तों का आवश्यक अंग बन गई। इस्लाम बुत-शिकनों का संघ है, परन्तु सन्त मीर कहता है :—

मीर के दीन व मज़हब को क्या पूछते हो।
अजी इनने तो, कश्का[३] खींचा दैर[४] में बैठा कबका तर्क[५] इस्लाम किया।

ऐसा ही कोई भावुक सन्त कट्टरता से ऊब कर कह उठा :—

खुदा खुदा न सही, राम राम कर लेंगे।
तुम्हारे बन्दे हैं, झुककर सलाम कर लेंगे॥

१—(अध्यात्म-तत्त्व की बात) मदिरा और चषक की चर्चा के किये बिना नहीं बनती। यद्यपि इस्लाम इन्हें हराम मानता है।

२—प्रेमी प्रेम-बाण से आहत है, मौलवी साहब उसे प्रेम-पन्थ के दोष दिखा जोहद-तकवा (त्याग और पवित्रता) का उपदेश देते हैं, परन्तु घायल प्रेमी के घावों पर उपदेशक महोदय का यह 'शोर' नमक छिड़क रहा है। घायल पूछता है कि आपका यह 'शोर' हमारा जो कुछ हित करता है, उसे तो हम ही जानते है, परन्तु यदि आपसे पूछा जाय कि आपको इससे क्या स्वाद मिलता है तो आप क्या कहेंगे?

३—कश्का=तिलक। ४—दैर=मन्दिर। ५—तर्क=त्याग।

अर्थात् मुसलमानों के कठोर शासन में भी वे चिरन्तन भावनाएँ जिन पर आत्मा की तृप्ति निर्भर है, आध्यात्मिक रूप में उपस्थित रहीं। विद्वानों का मत है कि राबिया (आठवी शताब्दि का अन्त और नवीं का प्रारम्भ) पहिली कवियत्री थी जिसने अपने को परमात्मा की प्रिया घोषित किया। वह कहती है:—

"हे नाथ! मै आपको द्विधा प्रेम करती हूँ। एक तो यह मेरा स्वार्थ है कि मैं आपके अतिरिक्त किसी अन्य की कामना नही करती। दूसरे यह मेरा परमार्थ है कि आप मेरे पर्दे को मेरी आँखों के सामने से हटा देते हैं ताकि मैं आपका साक्षात्कार कर आपकी सुरति में निमग्न हूँ। किसी भी दशा में इसका श्रेय मुझको नही मिल सकता। यह तो आपकी कृपा-कोर का प्रसाद है।"

—'तसव्वुफ अथवा सूफीमत', पृष्ठ ४४

सातवी शताब्दि के अन्त तक भारतवर्ष का सम्बन्ध बहुत दिनों के व्यवधान के बाद फिर से मुसलमानों के साथ हो चला था। आठवीं शताब्दि में जहाँ भारतवर्ष बौद्ध-विहीन हो रहा था, वहाँ अनेक बौद्ध-विद्वान् तलवार या संघबल से इस्लाम में दीक्षित हो रहे थे। खलीफा हारूं रशीद और ईरान का अब्बासिया वंश विद्या-प्रेमी था। इनके प्रयत्न से अनेक भारतीय दार्शनिक ग्रंथ और भावनाएँ इस्लाम को प्राप्त हो रही थीं। बौद्धों का शान्ति मार्ग, भागवत् धर्म का प्रेम मार्ग, नल-दमयन्ती की मिलन और विरह गाथा, उपनिषदों का अध्यात्म तत्व सभी इस्लाम को प्रभावित कर रहे थे। अतएव जिहाद का उन्माद जैसे-जैसे शान्त होता जारहा था, वैसे-वैसे स्वाभाविक कोमलता विचारकों का हृदय आकृष्ट करती जारही थी और सन्तों की भावना कठोर इस्लामी शासन में भी निर्द्रोह अद्वैत की ओर बढ़ रही थी। धीरे-धीरे उदारता और कट्टरता का द्वन्द्व समाप्त हो रहा था। विद्या और अविद्या, अहंब्रह्म की भावना, तर्क का अनुभव में परित्याग, गुरु और शिष्य परंपरा, मुक्ति और परमात्मा के स्वरूप की व्याख्या पर विचार होने लगा था। जुलनून हल्लाज, मंसूर, गज़ाली आदि इस परंपरा को आगे बढ़ा रहे थे। मुल्तान भारतीय सूफी सम्प्रदाय का केन्द्र बन चुका था और बगदाद ईरानी सन्तों का। भारतवर्ष में शेख मुईनुद्दीन चिश्ती, सरमद इस परंपरा को साधक-दृष्टि से आगे बढ़ा रहे थे। भारतवर्ष में अनेक नगर सूफी सन्तों के केन्द्र बन गये थे, जहाँ अब भी सूफी सन्तों की गद्दियाँ पाई जाती हैं। यथा अजमेर, लाहौर, कालपी, फतेहगढ़ आदि ऐसे ही स्थान हैं। मौलाना रूम और हाफिज़ इस परंपरा के सर्वश्रेष्ठ फारसी कवि हैं। हाफिज़ का दीवान तो प्रत्येक मुसलमान

की दृष्टि में उसी प्रकार पूज्य है जिस प्रकार तुलसी का रामचरितमानस हिन्दू की दृष्टि में। हिन्दी की परंपरा में सूफी कवि जायसी, उसमान, मुबारक, मंझन, कुतबन आदि कवि आते हैं। सन्त-सम्प्रदाय पर भी इस पद्धति का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव दिखाई देता है।

कबीर की कठोरता में यदि कहीं कवित्व है तो ऐसे ही स्थलों पर जहाँ प्रेम-पीर की व्याख्या है। रैदास, दादू, सुन्दरदास, तुलसी साहब, मीरा, सहजो, दयाबाई आदि कवि-सम्प्रदाय में उस परंपरा की छाप पाई जाती है।

पराधीन होने के कारण भारतीय साहित्य सहज रूप में अपने शासकों के साहित्य से प्रभावित हुआ। वैसे भी संस्कृतियों का आदान-प्रदान साहित्य के रूप को नवीनता प्रदान करता रहता है। भारत में हमारे साहित्य पर मुसलमानों के साहित्य का प्रभाव तो पड़ ही चुका था। अंग्रेजों का प्रभुत्व स्थापित होते ही यहाँ की चिन्तन-पद्धति और साहित्य पर पाश्चात्य चिन्तन-धारा एवं अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव भी पड़ने लगा।

हिन्दी का रहस्यवादी साहित्य, यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो स्पष्टतः दो रूपों में उपस्थित होता है। एक रूप तो वह है जो कबीर, जायसी, मीरा आदि की रचनाओं में उपलब्ध होता है; और दूसरा रूप वह है, जो आधुनिक कवियों की रचनाओं में पाया जाता है। आधुनिक काल के अधिकांश रहस्यवादी कवि अंग्रेजी साहित्य से ही प्रभावित हैं। इनकी रहस्यात्मक कृतियों में अंग्रेजी साहित्य के स्वच्छन्दतावाद—रोमेन्टीसिज्म (जिसका विवेचन हम आगे करेंगे) का प्रभाव स्पष्ट व्यक्त होता है। विषय की सुबोधता की दृष्टि से रोमेन्टीसिज्म का संक्षिप्त परिचय यहाँ भी आवश्यक होगा। अंग्रेजी साहित्य में उन्नीसवीं शताब्दि में नवयुग का प्रारम्भ होता है। अस्तु, नवीन सामाजिक चेतना के अनुसार ही इस युग में काव्य के विषयों एवं उनकी अभिव्यंजना-पद्धति में भी नवीनता का संचार हुआ। साहित्य में जीवन के प्रति जिज्ञासा एवं कुतूहल का भाव जाग्रत हुआ और आध्यात्मिकता के प्रति भी एक प्रकार की सजग उत्सुकता के दर्शन हुए। प्रतीकात्मक शैली से काव्य में आध्यात्मिक विषयों का विवेचन पूर्व रोमेन्टिक काल में ब्लेक की रचनाओं में प्राप्त होता है। वह शिशु—(Child) को ईश्वर का प्रतीक मानकर उसमें पवित्रता, कोमलता और आनन्द का अनुभव करता है। वर्ड्सवर्थ शिशु को ईश्वर के रूप में स्वीकार करता है। वह एक प्रकार से प्रकृति में ही परमेश को देखता है। रोमेन्टिक काल का शैली प्रमुख कवि है। वह यद्यपि व्यक्ततः केवल प्रकृति के ही प्रति

प्रेम-भावना रखता हुआ नास्तिक-सा प्रतीत होता है, किन्तु उसका अन्त:प्रदेश आस्तिकता से ओत-प्रोत है। इस युग का एक अन्य प्रमुख कवि कॉलरिज है, जो अपने काव्य में अलौकिकता का प्रेमी प्रतीत होता है। यहाँ पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि अंग्रेजी के कवियों के समक्ष प्रकृति प्रायः आध्यात्मिक प्रेरणाओं से पूर्ण रही है।

अंग्रेजी साहित्य के रोमेण्टिक काल के इन कवियों का प्रभाव हिन्दी कवियों पर भी अभिव्यञ्जना-पद्धति, भाषा-शैली एवं काल्पनिक रूपविधान के रूप में विशेष पड़ा। रवीन्द्रनाथ टैगोर को जबसे गीतांजलि पर 'नोबेल' पुरस्कार प्राप्त हुआ तबसे उनकी रचनाओं का प्रभाव हिन्दी साहित्य पर भी पड़ना प्रारम्भ हुआ। टैगोर का साहित्य बाडलेयर तथा डब्ल्यू० बी० ईट्स से विशेष प्रभावित है। इस प्रकार बहुत अंशों में पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव हिन्दी कवियों पर माध्यम-पद्धतियों से पड़ा है। केवल कुछ ही कवि ऐसे हैं जिन्होंने अंग्रेजी साहित्य का सीधा प्रभाव ग्रहण किया है।

हिन्दी के रहस्यवादी साहित्य पर प्रकारान्तर से यहाँ के धार्मिक एवं राजनीतिक आन्दोलनों का भी प्रभाव पड़ा है। धार्मिक आन्दोलनों (आर्यसमाज-ब्रह्मसमाज), धार्मिक महापुरुषों (स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, महर्षि अरविन्द) एवं राजनीतिक महापुरुषों (महात्मा तिलक और महात्मागांधी) ने अपनी आध्यात्मिक प्रेरणाओं द्वारा यहाँ के जन-जीवन को प्रभावित किया।

अध्यात्म की यह प्रेरणा काव्य की भूमि में आकर जब चिन्तना का विषय बनी तभी आधुनिक कवियों की रचनाओं में रहस्योन्मुख प्रवृत्ति का दर्शन हुआ। कुछ कवियों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से दार्शनिक गुत्थियों को सामने रक्खा, कुछ ने अपने हृदय के भक्तिमय समर्पण को वाणी का रूप देकर संयोग और वियोग के रूपों का विधान किया।

कतिपय आलोचकों ने हिन्दी के प्रमुख रहस्यवादी कवियों पर पड़ने वाले आध्यात्मिक प्रभावों का उल्लेख करते हुए यह स्वीकार किया है कि निराला पर रामकृष्ण परमहंस तथा स्वामी विवेकानन्द का प्रसाद पर उपनिषद्, शैव-दर्शन तथा बौद्ध-दर्शन का तथा पंत और महादेवी पर उपनिषद् ग्रन्थों और वेदान्त का प्रभाव पड़ा है। इसी सम्बन्ध में मार्क्स के

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की भी चर्चा की जाती है और 'इस चिंता धारा के सफल कवि पंत'[1] माने जाते हैं।

अभी-अभी हम अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव का उल्लेख कर चुके हैं। इसमें सन्देह नहीं कि हमारी राजनीतिक पराधीनता ने केवल हमारे भौतिक जीवन को ही प्रभावित नहीं किया, अपितु हमारा मानसिक जीवन भी दासता की शृंखला में बद्धमूल हुआ। अतएव जो कुछ अपना था वह प्राचीन होने के कारण कुरूप माना जाने लगा। नवीनता में नवीन रूप और नवीन आकर्षण दिखाई पड़ने लगा। कहीं-कही प्राचीनता और नवीनता की संकरसृष्टि भी की गई। रहस्य और छाया के स्पष्ट गीत गाये जाने लगे। अनेक नवीन कवि इस भावना का प्रतिनिधित्व करने के लिए भू-विवर से निकल आये। उन कवियों का अपराध केवल इतना ही था कि इन्होंने भारतीय मानसिक पृष्ठभूमि का विचार किये बिना ही शून्य में प्रासाद निर्माण का प्रयत्न किया। साधना की दृढ़ आधार भूमि के अभाव में ये कवि वर्षा समाप्त होते ही लुप्त हो गये।

आधुनिक काव्य के सम्बन्ध में यह बड़े आश्चर्य की बात है कि जहाँ कहीं भी कवि ने अपनी आत्माभिव्यक्ति में मिलन और वियोग के गीत गाये वहीं आलोचकों ने उन्हे आध्यात्मिक जामा पहिना दिया और रचनाकार को रहस्यवादी होने का प्रमाण पत्र प्रदान कर दिया। इस कथन से हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य में रहस्यात्मक रचना का पूर्ण अभाव है। कुछ ऐसी विशिष्ट रचनाएँ अवश्य है जिनमें हमें रहस्यानुभूति का दर्शन होता है। हाँ, हम इतना अवश्य कहेगे कि इस दर्शन में हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क की झाँकी अधिक है।

कुछ आलोचकों ने यह भी जानने की चेष्टा की है कि वर्तमान हिन्दी साहित्य में सर्वप्रथम रहस्यवादी कवि कौन है। वस्तुतः दृढ़तापूर्वक इसका निश्चय कर सकना कठिन है, क्योंकि ऐसी कितनी ही रचनाएँ है जो प्रकाश में न आसकने के कारण ऐतिहासिक तुला पर नही तौली जा सकी हैं। प्रचार के इस युग में जिसको भी प्रेस और पत्र का साधन मिल गया वही अग्रदूत और महाकवि बन बैठा। फिर भी यदि हम आधुनिक साहित्य में प्रारम्भिक रहस्यात्मक रचनाओं का पता लगाना चाहे तो हमें माखनलाल चतुर्वेदी 'भारतीय आत्मा' और प्रसाद की रचनाओं को देखना होगा। इन दोनों ही कवियों ने अपने कवि-जीवन के प्रारम्भ में ब्रज भाषा में रचनाएँ की है जिनमें कवि का आस्तिक

1—छायावाद युग, पृष्ठ ८५

हृदय व्यक्त हुआ है। माखनलाल जी की एक रचना सन् १९०३ की प्राप्त हुई है:—

श्याम लोचन मन बसि गये री।
मधुर बैन करि सैन नैन सो छीन लीन मन चपल अयन सों,
कछु न सुहावत सुधि न रैन सों जब हरि हँसि गये री।

इसके पश्चात् चतुर्वेदी जी की सन् १९११–१२ के आसपास की रचना इस प्रकार की है:—

लो आया उस दिन जब मैंने संध्या वंदन बन्द किया।
क्षीण किया सत्कार्य कार्य के उज्ज्वल पथ को मंद किया।
द्वार बन्द होने ही को थे तो वायु वेग बलशाली था।
पानी हृदय कहाँ रसना में रटने को वनमाली था।
अर्द्धरात्रि विद्युत प्रकाश घन गर्जन करता फिर आया।
जो जो बीते सहूँ कहूँ क्यों कौन कहेगा लो आया।

ऊपर की इन रचनाओं से यह स्पष्ट है कि कवि की भाव-राशि ब्रज भाषा की गोद से हटकर खड़ी बोली की गोद में आ बैठी है और अभिव्यंजना की नवीन लाक्षणिक शैली के प्रति कवि का ममत्व बढ़ रहा है। प्रसाद की ब्रज-भाषा की प्रारम्भिक रचनाएँ पुस्तक-रूप (कानन-कुसुम) में उपलब्ध हैं। अतः उनका यहाँ उल्लेख नहीं किया जारहा है। इस विवेचन से हमारा तात्पर्य केवल इतना ही है कि हिन्दी-साहित्य के ज्ञात प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि द्विवेदी युग की काव्यधारा से अलग रह कर बहने वाली दूसरी धारा का प्रतिनिधित्व करने वालों में सबसे प्रथम प्रसाद तथा माखनलाल चतुर्वेदी 'भारतीय आत्मा' का नाम आता है। इनके पश्चात् पंत, निराला, महादेवी वर्मा आदि के द्वारा काव्य का नवीन स्वरूप-विधान प्रारम्भ होता है। एक बात और, रहस्यवाद के इतिहास के विवेचन में किस कवि ने कौन-सी रचना लिख कर सर्व प्रथम रहस्यात्मक काव्य लिखा, यह प्रश्न विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। ये कवि कुछ आगे या पीछे साहित्य की नवसृजन वेला में अपना कृतित्व किस रूप में अर्पित कर सके, उन्होंने जो साहित्य का रूप सँवारा उसका हिन्दी साहित्य के इतिहास में क्या मूल्य है, यही प्रश्न विचारणीय है।

विवेचन

मानव चेतना में उत्सुकता, विस्मय और जिज्ञासा की प्रवृत्तियाँ सहजरूप में विद्यमान हैं, उनमें उसका हृदयस्थ राग भी क्रियाशील रहता है। रुचिकर पदार्थों के प्रति उसका राग जाग्रत होता है और अरुचिकर पदार्थों के प्रति विराग। यही राग जब लौकिकता से हटकर अलौकिकता की ओर उन्मुख होता है तब उस क्रिया की संज्ञा होती है अध्यात्म। इस अध्यात्म तत्व के अन्वेषण में ही नाना प्रकार के कुतूहल की सृष्टि हुई है। यह कुतूहल ही नई-नई पहेलियाँ, समस्याएँ उपस्थित करता है। इस प्रकार एक रहस्य, एक उलझन और उसके सुलझाने के लिए एक विशिष्टमार्ग की प्रेरणा उत्पन्न होती है।

साधारणतः भारतीय प्रवृत्ति अध्यात्म-परक रही है। प्रत्येक प्राणी इस प्रवृत्ति से उत्पन्न होने वाली गवेषणा में किसी अचिन्त्य शक्ति तक पहुँच गया। विभिन्न रूप, विभिन्न भाव और विभिन्न शक्ति के प्रतीक इस प्रभु तक पहुँचने के लिए उसने विभिन्न मार्गों का अवलम्बन लिया। संसार की असारता नश्वरता से खिन्न होकर प्रभु की विमल शक्ति-प्रदायिनी-गोद में बैठने का सुख अनुभव करने के लिए लालायित रहा है। साधना-क्षेत्र में प्रभु के समीप पहुँचने का एक साधन है विधि-निषेध सम्मत शास्त्रमार्ग और दूसरा साधन है अनुभूति-प्रधान मार्ग। अनुभूति-प्रधान-मार्ग को न विधि की चिन्ता है, न निषेध की। इसका अर्थ यह नहीं है कि यह मार्ग विधि-निषेध का सर्वथा त्याग करता है। इसका केवल इतना ही प्रयोजन है कि विधि-निषेध-परक-मार्ग के प्रति वह उपेक्षाभाव रखता है। अतएव इस मार्ग पर चलने के लिए वह अपने को बाध्य नहीं समझता है।

अनुभूति-प्रधान-मार्ग प्रभु से आत्म-सम्बन्धी भावना को प्रधानता देता है। सम्बन्ध-भावना सम्पूर्णतः लौकिकी प्रवृत्ति है। असम्बन्ध में सम्बन्ध की दृढ़ता और वेग उत्पन्न करने वाली सबसे बलिष्ठ प्रवृत्ति दाम्पत्य भावना की है। प्रभु का साक्षात् सम्बन्ध न तो शरीर से है और न मन से। इसीलिए उस असम्बद्ध में सम्बन्ध-भावना बढ़ते-बढ़ते इतनी अधिक बढ़ जाती है कि साधक सहज दाम्पत्य भावना को साधना का विशेष अंग मानने लगता है। इसीलिए इस मार्ग में 'नेम कहा जब प्रेम कियो' की भावना का आ जाना अस्वाभाविक नहीं है, परन्तु इस 'नेम'-विहीन-प्रेम के भीतर भी एक नेम है। वह नेम बिहारी के शब्दों में इस प्रकार है—

छुटन न पैयत छिनकु बसि, नेह नगर यह चालि ।
मार्‌यो फिर फिर मारियत, खूनी फिरत खुस्याल ।।

मार्‌यो का फिर-फिर मारा जाना और खूनी का खुस्याल फिरना एक नियम है। दूसरा नियम है, 'छुटन न पैयत छिनकु बसि'। जिस प्रकार खूनी का खुशहाल फिरना लोक-बाह्य है, इसी प्रकार किसी अत्याचार पीड़ित का देश न छोड़ पाना भी लोक-बाह्य ही है। परन्तु इस पंथ में यह लोक-बाह्य-धर्म ही शास्त्र सम्मत धर्म है जो उसका पालन नही कर रुकता वह उस मार्ग का पथिक नहीं बन सकता है।

अनेक संतों ने अपनी इस लोक-बाह्य-साधना में सफलता प्राप्त की है। उन्होंने इस मार्ग की अपनी विभिन्न-अनुभूतियों को भी व्यक्त किया है। इन अनुभूतियों का विश्लेषण करने के उपरान्त हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचते है :—

१- प्रभु के प्रति जिज्ञासा, कुतूहल अथवा विस्मय की भावना,
२- प्रभु का महत्व और उसकी अनिर्वचनीयता,
३- प्रभु के दर्शन का प्रयत्न,
४- प्रभु के प्रति विभिन्न सम्बन्धो की उद्‌भावना,
५- प्रभु से एकाकारिता।

१—जिज्ञासा, कुतूहल अथवा विस्मय की भावना—

भारतीय हृदय प्रारम्भ से ही आस्थावान रहा है। उसने विश्व के कण-कण को अपनी प्रेम-भावना का दान दिया है। कृतज्ञता उसके जीवन का अग बनकर उसमें रमा गई है। आदिकालीन प्राकृतिक-शक्तियों की उपासना का बीज उसकी कृतज्ञता में ही निहित है। विकासोन्मुख भारतीय हृदय प्राकृतिक-शक्तियों—इन्द्र-वरुण-अग्नि आदि की उपासना से ही सतुष्ट न रह सका। उसने उस परम शक्ति की जिज्ञासा की जो इन शक्तियों पर भी नियंत्रण करती है। कदाचित् इसीलिए वेद में मंत्र आता है— "कस्मै देवाय हविषा विधेम"।

'कस्मै देवाय' शब्द ही रहस्य के जानने की क्रिया की ओर संकेत करता है। रहस्य का मूल इसी आश्चर्य-अन्वेषण—शोध की क्रिया में विद्यमान है। प्राकृतिक शक्तियों के दोनों ही रूप भय-मिश्रित और आनन्द-मिश्रित हमारे समक्ष आये। भय-मिश्रित आश्चर्य का नाम विस्मय है और आनन्द-मिश्रित—आश्चर्य का नाम कुतूहल है। जिज्ञासा की भावना ने मानव-हृदय में प्रभु के

प्रति विस्मय और कुतूहल दोनों का ही संचार किया है। कबीर के कतिपय अध्यात्म-परक पदों में विस्मय का भाव पाया जाता है। यथा :—

अवधू सो जोगी गुरु मेरा, (जो यहि) पद का करै निबेरा।
तरिवर एक मूल बिनु ठाढ़ा, बिनु फूलै फल लागा।
साखा पत्र किधौ नहिं वाके, अस्ट-गगन-मुख गाजा॥
यौ बिनु पत्र करह बिनु तूँबा, बिनु जिभ्या गुन गावे।
गावनहार के रेख रूप नहिं, सतगुरु होय लखावे॥
पंछिक खोज मीन को मारग, कहँहि कबीर दोउ भारी।
अपरमपार पार परसोतिम, मूरति की बलिहारी॥

[एक मूल-प्रकृति रूप श्रेष्ठ—वृक्ष है, वह बिना मूल के खड़ा है, क्योंकि सबका मूल प्रकृति है और प्रकृति का मूल कोई नहीं। उस मूल-प्रकृतिरूप-वृक्ष में बिना फूल के विश्वरूपी फल लगा हुआ है, उस विश्व-वृक्ष के शाखा पत्र कुछ नहीं है और वह वृक्ष अष्ट-प्रकृतिरूप से संसार में फैला है। इस शरीर में पौ (अंकुर) के बिना पत्र (द्विदल का कमल) है और करह (डंडी) के बिना एक तुम्बा (मस्तक) लगा हुआ है। और अजपाजाप करने वाले योगी, बिना जिह्वा के गुणगान (अजपाजाप) करते हैं। गावनहार (श्वासों) के रूप—रेख कुछ भी नहीं है। यदि स्वरोदय के भेदी सद्गुरु मिलें तो सब रहस्य समझा करें। कबीर साहब कहते हैं कि विहंगममार्गी और मीन मार्गी योगियो की लीलाओं का दिग्दर्शन मैंने कराया है। यह सब नाना प्रकार के मन के खेल हैं। जिस प्रकार आकाश में उड़ते हुए पक्षी का मार्ग ढूँढ़ निकालना और जल में तैरती हुई मछली का रास्ता निर्धारित करना कठिन है इसी प्रकार विहंगममार्ग (खेचरी मुद्रा) और मीनमार्ग (स्वरोदय) में भी भारी उलझन है। जो पुरुष मन और माया के बन्धनों से रहित है, वही पुरुषोत्तम है। अतः उसकी मूर्ति (स्वरूप) की मै बलिहारी हूँ।][1]

जब तक हम किसी से अपरिचित रहते हैं तब तक उसकी समस्त अद्भुत क्रियाओं के प्रति एक विस्मय का-सा भाव उत्पन्न होता रहता है, किन्तु जब वह कुछ-कुछ जान पड़ने-सा लगता है तब कुतूहल की भावना जागृत होती है। यह कुतूहल कुछ नैकट्य-परक-सा होता है। यथा—

१—बीजक-टीकाकार बिचारदास

शून्य नभ में उमड़ जब दुख-भार-सी,
नैश तम में सघन छा जाती घटा।
बिखर जाती जुगनुओं की पाँति भी,
जब सुनहले आँसुओं के तार-सी।
तब चमक जो लोचनों को मूँदता,
तड़ित की मुस्कान में वह कौन है? —महादेवी वर्मा

उस परोक्ष सत्ता के इन विस्मय एवं कुतूहल कारक स्वरूपों को अनुभव करके अचानक यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इन रूपों का विधायक कौन है? यह कौन का प्रश्न ही बड़ा जटिल है। बुद्धि की सीमा से परे है। यदि किसी प्रकार उस कौन का उत्तर सूझ भी गया तो उसकी अभिव्यक्ति तो प्रायः असंभव ही है। इसी से कबीर कहते है:—

वर्णहु कौन रूप और रेखा, दोसर कौन आहि जो देखा।
ओंकार आदि नहिं वेदा, ताकर कहहु कौन कुल भेदा॥

वह भिन्न स्थानों में भिन्न रूप में है:—

घट घट में रटना लगि रही, परगट हुआ अलेख री।
कहुँ चोर हुआ कहुँ साह हुआ, कहुँ बाम्हन है कहुँ सेख जी॥

चाक्षुष प्रत्यक्ष के अभाव में जब उसका एक निश्चित रूप ही नही ज्ञात है तब कैसे कहा जाय कि वह ऐसा ही है। इसी से:—

हलका कहूँ तो बहु डरौं, भारी कहौं तो झूँठ।
मैं का जानू राम को, नैना कबौं न दीठ॥ —कबीर

उसी अव्यक्त सत्ता के प्रति कुतूहल-मिश्रित-जिज्ञासा को प्रसाद व्यक्त करते है:—

हे अनन्त रमणीय कौन तुम, यह मैं कैसे कह सकता।
कैसे हो? क्या हो? इसका तो, भार विचार न सह सकता।
—'कामायनी', आशा सर्ग

प्रभु की रमणीयता में ही खोये हुए मानव के पास इतनी शक्ति-क्षमता कहाँ जो कैसे और क्या के प्रश्न का उत्तर खोजने में समर्थ हो। प्रकृति के विभिन्न रूपों में जो क्रियाशीलता परिलक्षित होती है उसका संचालक निश्चय ही कोई न कोई होगा। अतः कवि ओस और विहंगों के दृश्यों को देखकर उनके अन्तर में व्याप्त उस परोक्ष शक्ति का ज्ञान प्राप्त करने के लिए विस्मय-स्तब्ध हो प्रश्न कर उठता है:—

ओसों का हँसता बालरूप,
यह किसका है छविमय विलास ?
विहँगों के कण्ठों में स-मोद,
यह कौन भर रहा है मिठास ?

—रामकुमार वर्मा

मानव-हृदय अनुभूतियों का आधार है, उसी में हास, करुणा, चिन्ता, निश्वास वास करते हैं। इन्हीं सबका संकलितरूप जीवन का परिचय है। ये साँसें जो प्रतिक्षण लौटती रहती हैं, निष्प्रयोजन नहीं है। उनकी क्रिया सोद्देश्य है। ये उस परोक्ष सत्ता का चरण-चुम्बन करने के लिए ही क्रियान्वित हो रही हैः —

कौन तुम मेरे हृदय में ?
कौन मेरी कसक में नित मधुरता भरता अलक्षित ?
कौन प्यासे लोचनों में घुमड़ घिर झरता अपरिचित ?
अनुसरण निःश्वास मेरे कर रहे किसका निरन्तर ?
चूमने पद-चिह्न किसके लौटते यह श्वास फिर-फिर ?

—महादेवी वर्मा

२—महत्व और अनिर्वचनीयता—

वस्तुतः कौन का प्रश्न ही रहस्य की सृष्टि करता है। जब इस कौन का उत्तर प्राप्त होने लगता है तब अनुभूति और भी अधिक गहरी हो उठती है। साधक अपनी अनुभूति की व्यापकता में उस परोक्षसत्ता के व्यापकत्व को अनुभव करने लगता है। उसकी सर्व व्यापकता ही उसके महत्व का प्रतीक है। उसके महत्व का ज्ञान प्राप्त करना मानो उसी में लय हो जाना है। कबीर कहते हैंः—

लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल ॥

व्यक्त जगत् में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसमें उसकी शक्ति विद्यमान न हो। प्रखर ज्योति-विकीर्णकारी-सूर्य, सुशीतल-ज्योत्स्ना से अवनीतल को आप्लावित करने वाला चन्द्र, ये नक्षत्र और ये बहुमूल्य मणि-मोती उसी का तो प्रसार हैं। कमल में उसी की नयनाभिरामता है। निर्मलनीर में उसी के शरीर की आभा है, हंस उसी के हास्य का प्रतिफल है और हीरे में उसी की दंत-पंक्ति की कान्ति विद्यमान हैः—

बहुतै जोति जोति ओहि भई।
रवि, ससि, नखत दिपहि ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती॥
जहँ जहँ बिहँसि सुभावहिं हँसी। तहँ तहँ छिटकि जोति परगसी॥
नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन जोति नग हीर॥

—जायसी

प्रभु के इस विराट स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिए न जाने कब से प्रयत्न किया जा रहा है, किन्तु आज तक कोई भी प्रयत्न सफल नहीं हुआ, अपितु 'मर्ज बढ़ता ही गया ज्यों-ज्यों दवा की' की स्थिति उत्पन्न हो गई। हमारी अनेकानेक चिन्तन-प्रणालियों ने उसके स्वरूप को अपने तर्क-वितर्क के आवरण से आवृत कर डाला:—

सब कहते हैं खोलो खोलो,
छवि देखूँगा जीवन-धन की।
आवरण स्वयं बनते जाते,
हैं भीड़ लग रही दर्शन की।

—कामायनी, कामसर्ग

प्रभु का यद्यपि दर्शन नहीं हो सका, किन्तु उसके वैराज्य का भान अवश्य हुआ। इसी से तो:—

हे विराट, हे विश्वदेव, तुम-
कुछ हो ऐसा होता भान।
मंद गंभीर धीर स्वर संयुत,
यही कर रहा सागर गान॥

—कामायनी, आशासर्ग

वह प्रभु वस्तुतः इतना विराट है कि:—

"जलद वहाँ पानी भरता है, पवन कर रहा है पवमान।
बड़वानल जठरानल बन कर, वहाँ पचाता है पकवान॥
वहाँ तृप्त संतुष्ट सभी हैं, क्षुधा, तृषा का न नाम लेश।
सब धनेश की भाँति धनिक हैं, वहाँ न ऊँच नीच व्यवधान।"

—राजाराम शुक्ल "राष्ट्रीय आत्मा"

वह विराट यद्यपि अप्रत्यक्ष है, किन्तु मानव की शत-शत यात्राओं का एक वही विश्राम-स्थल है। वहीं पर सुख-शान्ति और संतोष की उपलब्धि हो सकती है:—

अब तो यह विश्वास जम गया-
कि बस यहीं है शान्ति।
यहीं तुम्हारे द्वारे हैं-
इस जीवन का कल्याण।
खड़े हम इसीलिए अनजान। —'नवीन'

यह अनजान खड़ा रहना व्यर्थ नहीं होता, क्योंकि:—

चुभते ही तेरा अरुण बाण,
बहते कन-कन से फूट-फूट,
मधु के निर्झर से सजल गान। —महादेवी वर्मा

३—दर्शन का प्रयत्न—

प्रभु की महत्वानुभूति के प्राप्त होते ही मानव का सहज लोभी हृदय अधिक चंचल हो उठता है और वह उसके दर्शनार्थ मचलने लगता है:—

कौन बन बसथि महेस, केओ नहिं कहथि उदेस।[१] —विद्यापति

कबीर भी 'कब रे मिलहुगे राम' कह कह कर उसी दर्शन की रट लगाया करते हैं। जायसी भी दर्शनाभिलाषा को अपने मानस-पुट में सँजो रहा है, किन्तु बड़ी व्याकुलता के साथ:—

पिउ हिरदै महँ भेंट न होई। को रे मिलाव कहौं केहि रोई॥
—पद्मावत

आराध्य यदि दो चार कोस की दूरी पर हो और उसके दर्शन न हो सकें तो कोई बड़ी चिन्ता या उलझन की बात नहीं है, किन्तु सबसे बड़ा दुख तो इस बात का है कि प्रभु इतने निकट हैं कि 'जब जरा गरदन झुकाई देख ली'; किन्तु फिर भी जीवन में वह पुण्य-घटिका किसी परम-कृपा-प्राप्त के समक्ष ही कभी उपस्थित होती है। हाँ, ऐसा अनुभव साधक को सदैव होता रहता है कि प्रियतम अब आये, अब आये:—

१—महेश (ब्रह्म) किस वन में रहता है। अरे, उसका पता भी तो कोई नहीं बताता है।

नयन श्रवण-मय, श्रवण नयन-मय,
आज हो रही कैसी उलझन,
क्या प्रिय आने वाले हैं ? —महादेवी वर्मा

प्रतीक्षा के पथ का पथिक अपनी भावपूर्ण स्थिति में यह विश्वास करने लगता है—

आज नयन के बँगले में संकेत पाहुने आये री सखि
जी से उठे, कसक पर बैठे और वेसुधी के बन' घूमे
युगुल पलक ले चितवन मीठी पथ-पद चिह्न चूम पथ भूले ।
दीठ डोरियों पर माधव को बार-बार मनुहार थकी मैं
पुतली पर बढ़ता-सा यौवन ज्वार लुटा न निहार सकी मैं ।
दोनों कारागृह पुतली के सावन की झर लाये री सखि!
आज नयन के बंगले में संकेत पाहुने आये री सखि!
—'भारतीय आत्मा', 'हिमतरंगिनी'

४—विभिन्न सम्बन्धों की उद्‌भावना—

दर्शन के इस प्रयत्न-काल में साधक अनुभव करता है कि इस दृश्यमान जगत् के समस्त पदार्थों में—अणु-परमाणु में वही समाया हुआ है । सर्वत्र उसी की बाँकी झाँकी विद्यमान् है । उसके पश्चात् साधक अपने और प्रभु के सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त करता है । वह उसको अनेक रूपों में देखता है । फलतः अनेक प्रकार के भावों की सृष्टि होती है । सर्व प्रथम प्रभु स्वामी बन कर रक्षा करने आता है, उसके पश्चात् माता-पिता के रूप में उपस्थित होकर अपना अतुल स्नेह साधकरूप-पुत्र को प्रदान करता है । इस भावना के कारण स्वामी-सेवक के बीच की जो दूरी है वह वहाँ कुछ कम हो जाती है । इसके पश्चात् पति-पत्नी की सम्बन्ध-भावना उत्पन्न होती है जो साधक को आराध्य के और भी अधिक निकट खींच लाती है । इसी दाम्पत्य भाव में विभिन्न अनुभूतियों की सृष्टि होती है । **उत्सुकता, सौन्दर्यानुभूति, करुणा-विरह, मिलन-सुख आदि** इसी स्थिति में उत्पन्न होते हैं :

उत्सुकता—

मैं डोरे डोरे जाऊँगा, तो मैं बहुरि न भौ जलि आऊँगा ।
सूत बहुत कुछ थोरा, ताथैं लाई ले कंथा डोरा ।
कंथा डोरा लागा, जब जरा-मरण भौ भागा ।

जहाँ सूत-कपास न पूनी, तहाँ बसै एक मूनी।
उस मूनी सूँ चित लाऊँगा, तो मैं बहुरि न भौ जलि आऊँगा ॥

मूल बंध एक पाया। तहाँ सिद्ध गणेश्वर राया ॥
तिस मूलहि मूल मिलाऊँगा। तो मैं बहुरि न भौ जलि आऊँगा ॥
कबीरा तालिब तोरा। तहाँ गोपाल हरी गुर मोरा ॥
तहाँ हेत हरी चित लाऊँगा। तो मैं बहुरि न भौ जलि आऊँगा ॥

—कबीर

पिव जो देखइ मुझको, हौं भी देखउँ पीव।
हौं देखउँ देखत मिलइ, तो सुख पावइ जीव ॥

—दादू

हाँ सखि आओ, बाँह खोल हम,
लग कर गले जुड़ालें प्राण।
फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में,
हो जावें द्रुत अन्तर्धान ॥

—पंत

इन छन्दों में प्रिय-मिलन की उत्कंठा स्पष्ट है।

सौन्दर्यानुभूतिः—

प्रभु की सौन्दर्यानुभूति साधक को तल्लीनता प्रदान करती है और यह तल्लीनता ही भक्त-हृदय में रस की सृष्टि करती है:

सदालीन आनन्द में, सहजरूप सब ठौर।
दादू देखे राम को, दूजा नाहीं और ॥

—दादू

बिजली माला पहने फिर, मुसकाता-सा आँगन में।
हाँ कौन बरस जाता था, रस बूँद हमारे मन में ?

—प्रसाद

करुणा-विरहः—

प्रेम का परिपाक विरह में ही संभव है। अतएव रहस्यवादी संत या कवि आराध्य के विरह के ही गीत गाते हुए पाये जाते हैं:—

"एकहि पलंग पर कान्ह रे, मोर लेख दूर देस भाग रे ।।" —विद्यापति

यद्यपि कृष्ण और हम एकही पलँग पर हैं, पर ऐसा प्रतीत होता है कि वे मेरे लिए दूर देश में भाग गये हैं—यहाँ पलँग से तात्पर्य शरीर से है।

कबीर भी हरि के विरह में व्याकुल है—

हरि मोर पीव माई हरि मोर पीव ।
हरि बिनु रहि न सकै मोर जीव ।।

—कबीर

दादू की विरहिणी आत्मा भी वैरागिन बनकर 'हर-मारग' को जोहा करती है :—

दरसन कारन विरहिनी, वैरागिन होवइ ।
दादू विरह वियोगिनी[1], हरि मारग जोहइ ।।

—दादू

"कब की ठाड़ी पंथ निहारूँ, तेरे द्वार खड़ी।" कहती हुई मीरा जिस उत्सुकता एवं विरह को व्यक्त करती है वह उसकी एकान्त साधना का सुन्दर प्रतीक है। प्रिय-वियोग की करुणा नीचे की पंक्तियों में कितनी अधिक करुण हो उठी है—

नित जलता रहने दो तिल-तिल,
अपनी ज्वाला में उर मेरा ।
उसकी विभूति में फिर आकर,
अपने पद-चिह्न बना जाना ।।

—महादेवी वर्मा

इस जीवन में तो प्रिय से मिलन नहीं हो पाया। अतः नित्यप्रति तिल-तिल भर जलना तो है ही और जब यह शरीर जल कर राख हो जाय तब हे प्रियतम, तुम इतनी कृपा करना कि इस पर अपने पदचिह्न बना जाना। इस प्रकार तुम्हारे चरणों का स्पर्श करने का सौभाग्य मेरे शरीर की जली हुई राख को ही प्राप्त हो जायगा। इसी प्रसंग में जायसी की ये पंक्तियाँ स्मरण आ रही हैं:—

यह तन जारौं छार करि, कहौं कि पवन उड़ाव ।
मकु तेहि मारग गिरि परै, कंत धरै जहँ पाँव ।।

ऐसे प्रसंग की उद्भावना केवल प्रिय-हृदय में प्रेमी के प्रति करुणा संचार के अभिप्राय से होती है। साधक अपनी साधना के प्रत्येक स्वरूप में

अपने साध्य के ही समीप है। उससे विलग उसका कोई दूसरा अस्तित्व है ही नहीं।

मिलन-सुखः—

साधक प्रभु-मिलन का सुख उसी की कृपा पर अवलंबित समझता है। और जब अनन्त साधना के उपरान्त उसकी उपलब्धि हो जाती है तब उजियाला रूप आत्मज्ञान प्राप्त हो जाता है। आत्मज्ञान प्राप्त होते ही आत्मा परमात्मा में लीन हो जाता है :—

बहुत दिनन में मैं पीतम[1] पाये।
भाग बड़े घर बैठे आये॥
मंगलचार माँहि मन राखौं।
राम रसायन रसना चाखौं॥
मंदिर[2] माँहि भया उजियारा।
लै सूती अपना पीव पियारा॥
मैं रे निरासी जै निधि पाई।
हमहिं कहा यहु तुमहिं बड़ाई॥
कहै कबीर मैं कछू न कीन्हा।
सखी सुहाग राम मोहिं दीन्हा॥"

—कबीर

साईं की सेवा करने पर घर (घट) के भीतर ही प्रिय की प्राप्ति होती है:—

दादू तौ पिय पाइए, कर साईं की सेव।
काया माँहिं लखायसी, घर ही भीतर देव॥ —दादू

पथिक जो पहुँचे सहि के घामू।
दुख बिसरइ, सुख होइ बिसरामू॥
जेहि पाई यह छाँह अनूपा।
फिरि नहिं आय सहइ यह धूपा।

जायसी

संसार-यात्रा का जो पथिक (साधक) यहाँ का घाम (सांसारिक कष्ट) सह कर प्रभु की चिर-विरामदायिनी-शीतल-गोद में पहुँच जाता है फिर उसे

१—पीतम = परमात्मा, (२) मंदिर = शरीर

किसी प्रकार का भी कष्ट अनुभव नही होता है। उस अमरधाम में इतनी अधिक छाया (सुख) है कि वह फिर वहाँ से (प्रभु के समीप से) लौट कर संसार में नही आना चाहता है।

प्रभु और साधक दोनों के बीच में माया का अवगुण्ठन पड़ा हुआ है। यही अवगुण्ठन समस्त कष्टों का मूल है। यदि वह हट जाय तो निश्चय ही अनन्त कल्लोल, अनन्त सुख और अनन्त शान्ति की उपलब्धि हो सकती है—

चाँदनी सदृश खुल जाय कहीं, अवगुण्ठन आज सँवरता-सा।
जिसमें अनन्त कल्लोल भरा, लहरों में मस्त विचरता-सा॥
—प्रसाद, कामायनी

जब तक प्रभु के निकट साधक नहीं पहुँचता है तभी तक उसके कष्टों की तालिका बढ़ती जाती है और जब वह उसके निकट पहुँच जाता है और अपनी साधना की चरम स्थिति में उसी में लय हो जाता है तब उसे अनन्त सुख की प्राप्ति होती है। उस समय उसकी स्थिति उस नदी की भाँति होती है जो पावन उदधि में मिलकर अपने को उसी में विलय कर देती है। तत्पश्चात् न नदी है और न जल है, यदि कुछ है तो केवल उदधि। इसी प्रकार आत्मा के परमात्मा में लीन हो जाने पर फिर उसके सम्बन्ध में कोई क्या कह सकता है:—

वह कल-कल नादिनी ह्लादिनी, प्रकट कर रही निज आह्लाद।
पल में मिलन एक पद पर है, पावन प्रेमोदधि प्रासाद॥
पट खुल गये और दोनों ही, हुए एक अन्तर्पट ओट।
फिर क्या हुआ ? यह न पूछो, बस कौन कह सका वह संवाद॥
—राजाराम शुक्ल 'राष्ट्रीय आत्मा'

भक्ति की रहस्यमयी भूमिका की अन्तिम स्थिति वह है जिसमें साधक को प्रभु में तन्मयी भावत्व की उपलब्धि होती है। इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए जिन सम्बन्धों का ऊपर विवेचन किया जा चुका है उनके अतिरिक्त एक अन्य सम्बन्ध होता है सखा-भाव का। इस भाव के प्राप्त हो जाने पर साधक सखा के रूप में ब्रह्म की प्रत्येक लीला के साथ अपने को अन्वित मानता है। इस स्थिति में न उसमें दास की-सी दीनता रहती है, न पुत्र की-सी लघुता और न प्रणय का-सा संकोच। उन समस्त मर्यादाओं से मुक्त वह अपने प्रिय का स्वयं भी प्रियतम बन जाता है।

१—प्रभु से एकाकारिताः—

रहस्यात्मक काव्य के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि भावाभिव्यक्ति के लिए कोई न कोई आलम्बन अवश्य हो। अतः निर्गुण परंपरा के कवियों ने भी जहाँ कहीं रहस्यमयी अभिव्यक्ति की है वहाँ उनका आलम्बन स्पष्ट रहा है। उनकी भक्ति यद्यपि निर्गुण-परक थी, किन्तु रहस्याभिव्यक्ति के लिए उनका निर्गुण ब्रह्म भी सगुणवत हो गया है। ये सन्त कवि सगुणोपासक कवियों की भाँति अपने निर्गुण ब्रह्म के माधुर्य पर मुग्ध होते हैं और उसके विरह में रुदन करते हैं। उनकी साधना का एकमात्र लक्ष्य है उस ब्रह्म की प्राप्ति। जब कभी साधकों को उस अलौकिक ज्योति का कुछ अंश मिल जाता है तब उनकी आत्मा आनन्द से विभोर हो उठती है और वे अपने उस आनन्द में विश्व को भी साक्षी बनाना चाहते हैं। इसीलिए उन्हे उसकी अभिव्यक्ति अपेक्षित होती है। किन्तु जब वाणी हृदय के भावों की सम्यक् अभिव्यंजना नहीं कर पाती है तब वे उसे प्रतीक-विधान द्वारा व्यक्त करना चाहते हैं। इसीलिए रहस्यात्मक कृतियों में प्रतीक-योजना विशेष रूप से पाई जाती है।

निष्कर्षः—रहस्यात्मक कृतियों के सम्बन्ध में जो अनेकानेक विवाद चले थे, वे आज तक प्रायः शांत नहीं हो सके हैं। कतिपय आलोचक रहस्य और छाया को एक ही में मिला देते हैं। कुछ का कथन है कि-'छायावाद रहस्य-वाद की प्रारम्भिक स्थिति है। छायावाद द्वार है तो रहस्यवाद आँगन है।' इसी प्रकार की अनेक विचारधाराएँ साहित्य जगत् में प्रसरित हो रही हैं। हमारा अपना मत है कि छायावाद और रहस्यवाद विशुद्ध रूप से दो भिन्न धाराएँ हैं। रहस्यवाद का सम्बन्ध अध्यात्म जगत् से है। इसकी चिन्तनप्रणाली में ब्रह्म का अनवरत ध्यान, उसी को समस्त सृष्टि में व्याप्त पाने की भावना का ग्रहण प्रधान है।

रहस्यात्मक रचनाओं के लिए जो 'रहस्यवाद' नाम प्रचलित है उसके सम्बन्ध में भी हमें आपत्ति है। कारण यह है कि वाद तो तर्क-वितर्क की स्थिति में संभव होता है पर रहस्यात्मक रचनाओं में तो चिन्तन की ही प्रधानता है। सच तो यह है कि इस क्षेत्र में प्रभु का ध्यान ही सर्वोपरि है। ध्यान करते-करते अनुभूति के रूप में जो ज्योति प्राप्त होती है, साहित्य में उसी की अभिव्यक्ति की जाती है। अतः इस प्रकार की रचनाओं के लिए वाद की संज्ञा न देकर यदि उन्हें रहस्यानुभूति या रहस्य भावना कहा जाय तो कदाचित् अधिक युक्तिसंगत

होगा। पर तथाकथित आधुनिक रहस्यात्मक-रचनाओं को यदि रहस्यवाद के अन्तर्गत रख भी दिया जाय तो एक दृष्टि से अनुचित न होगा, क्योंकि इन रचनाओं में बुद्धिगत-वाद का प्राधान्य है और साधना-सम्पन्न अनुभूति का जो रहस्य का प्राण है, प्रायः अभाव है। हम नाटक की भाँति काव्य-रचना में भी भावों का अनुकरण अथवा अभिनय करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दे रहे हैं। इसका यह आशय नहीं है कि प्रायः सभी कवि इसी मनोवृत्ति के है। कुछ ऐसे भी कवि हैं जिनकी रचनाओ का अपना विशेष स्थान है। शुक्ल जी ने वर्तमानकालीन काव्य की वेदनात्मक अनुभूतियों को अवास्तविक माना था। प्रारम्भ में इस प्रकार की रचनाओं के सम्बन्ध में आपका मत कुछ विशेष अच्छा न था, किन्तु बाद में आपने मत-परिवर्तन किया और पंत, प्रसाद, निराला तथा महादेवी वर्मा को आधुनिक काल में नई दिशा की ओर संचरणशील होने वाले कवियों एवं कवियित्रियों में विशिष्ट स्थान प्रदान किया है।

आलोचकों की दृष्टि से वर्तमान कालीन रचनाओं में रहस्यानुभूति की व्यंजना में जो त्रुटि प्रतीत होती है उसका एक कारण यह भी है कि उनमें चिन्तन की गम्भीरता एवं विचारों की गुरुता का अभाव है जो प्राचीन कवियों की रचनाओं में नहीं पाया जाता है। साथ ही इन रचनाओं में वास्तविक अनुभूति का वैसा ही अभाव दिखाई देता है जैसा कि मध्यकालीन कवियों के प्रकृति वर्णन में था। न प्रकृति के साथ उनका रागात्मक सम्बन्ध था, न इनका प्रभु के साथ रागात्मक सम्बन्ध है। जैसे उन्होंने प्रकृति को काम-विलास का साधन बनाया वैसे ही इन्होंने रहस्य भावनाओं को बुद्धि-विलास का साधन समझा है। इसीलिए कहीं-कहीं यह रहस्य भावना क्षुद्र, लौकिक और हेय शृंगार वासना के निकट पहुँच गई है। प्राचीन रहस्यवादी कवि स्वयं साधक थे। जीवन के व्यापारों में रत रहते हुए भी वे अपनी विशेष साधना चलाते रहते थे। वे केवल कवि ही नहीं थे, वरन् स्वयं संत भी थे। अतएव उनकी भावना उनकी व्यक्तिगत अनुभूति का आधार लेकर चलती थी। इसीलिए उनकी दशा निश्चित् थी, क्योंकि साधना की निरन्तरता उन्हें विशेष दिशा में आगे बढ़ाती रहती थी। उनकी स्थिति एक ऐसे यात्री की थी जो गन्तव्य को पहचानता था और उसी की ओर अबाध गति से चलता रहता था। वहाँ ऐसी स्थिति नहीं थी कि—

चलन चलन सब कोइ कहै, मोहिं अंदेसो और।
साहब सों परचो नहीं, पहुँचेंगे केहि ठौर॥

उनके—"विषम कहार मार मदमाते, चलै न पाँव कठोरा रे" नहीं थे। इसी-लिए उन्हें "मन्दविलन्द अभेरा दलकन, तापै दुख झकझोरा रे" का भय नहीं था और "नाँव गाँव कर भूला रे" की स्थिति भी नहीं थी। उनकी भावना ने जिस सूत को पा लिया था उसे ही वह निरन्तर कातती और लपेटती रहती थी जिसकी लपेट की उलझन में एकतारता थी और थी सुलझन।

आज का भावुक संसार में बैठा है। उसकी वृत्तियाँ संसार में उलझी हैं। बुद्धिवाद के सहारे वह कभी-कभी चौंक पड़ता है। अन्धकार में बैठे हुए अकस्मात् सहस्रशः विद्युद्दीपों के प्रकाशित हो जाने की भाँति उसकी आँखें प्रकाश की झलक पा जाती हैं और फिर बटन बन्द हो जाता है। अनुभूति ठहर जाती है। इस झलक में एकतानता नहीं है, एकरसता नही है, समगति नही है और सम-प्रवाह भी नहीं है। व्यक्ति की अनुभूति केवल व्यक्ति की नहीं है, वरन् कवित्व को विलय करके बुद्धि उसमें केवल अनुभूति-शेष-भाव रखना चाहती है। इसीलिए आज का रहस्यवादी व्यक्ति को हटाकर समष्टि की अनु-भूति व्यक्त करना चाहता है और इसीलिए उसकी वाणी में अधिक अस्पष्टता है, अधिक प्रतीक-विधान है, वेदना मन्द है और प्रभाव लगभग नहीं-सा है। यदि है तो इतना ही कि एक विस्मय विजड़ित सौन्दर्यानुभूतिजन्य कुतूहल की भावना।

छायावाद

इतिहास

मानव-प्रकृति में नवीनता के प्रति सहज आकर्षण तथा अनुकरण-प्रियता विद्यमान है। वह अपनी प्रत्येक वस्तु को अभिनव सौन्दर्य प्रदान करना चाहता है, कभी स्वकल्पित-रूप–विधानों द्वारा और कभी अनुकरण के आधार पर। अतएव उसकी समस्त अभिव्यक्तियाँ भी अभिनव-सौन्दर्य प्रसाधन की ओर प्रवृत्त दिखाई पड़ती हैं। साहित्य में वीरगाथा काल से लेकर आज तक हम उसकी इसी प्रवृत्ति का दर्शन पाते हैं।

भारतेन्दु काल तक आते-आते काव्य ब्रज और अवधी की सीमाओं से मुक्त होकर खड़ी बोली के आँगन में विहार करने लगा था। दूसरे शब्दों में खड़ी बोली हमारी समस्त अभिव्यक्तियों का माध्यम बन रही थी। समाज-सुधार, राष्ट्रीयता आदि कतिपय नवीन विषयों का भी साहित्य में समावेश हो रहा था, किन्तु शृंगार पर रीतिकालीन प्रभाव अब भी विद्यमान था। कविगण शृंगार के काल्पनिक चित्रों की चकाचौंध में चमत्कृति को ही प्रधानता दे बैठे थे और प्रेम के नाम पर वासनात्मक स्वरूपों की ही चर्चा चल रही थी। पर यह स्थिति अधिक समय तक न रह सकी। आधुनिक वैज्ञानिक विकास ने देश-काल की सीमाओं को निकट ला दिया था। अस्तु, भारत भी विश्व के सम्पर्क में आने लगा था। अंग्रेजों के शासन के कारण अंग्रेजी साहित्य और उनकी संस्कृति का प्रभाव हमारे साहित्य पर पड़ने लगा था। पाश्चात्य राजनीतिक परिस्थितियों एवं क्रान्तियों ने भारतीय चिंतना को भी प्रभावित किया। यूरोप की औद्योगिक क्रांति से उत्पन्न नव-चेतना का प्रभाव भी अंग्रेजों के माध्यम से भारत पर पड़ना स्वाभाविक था। जिस प्रकार पाश्चात्य देशों में साहित्य में रोमेन्टिसिज्म ने प्राचीनता एवं शास्त्रीय पद्धति को अस्वीकार किया उसी प्रकार हिन्दी साहित्य में भी रीतिकालीन काव्य-परिपाटी का सामूहिक विद्रोह देखने में आता है। श्रीधर पाठक, मुकुटधर पाण्डेय, मैथिलीशरण गुप्त आदि की रचनाएँ इस तथ्य

के लिए प्रमाण स्वरूप हैं। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् भारत में जिन अनेकानेक विचारधाराओं का वेग बढ़ा उनमें राष्ट्रीयता की भावना प्रधान है। विदेशों द्वारा स्वराष्ट्र रक्षा के प्रयत्नों को देखकर भारतीय हृदयों में भी स्वाधीनता एवं राष्ट्रीयता की भावना तीव्रतर हुई। युद्धोत्तर-कालीन सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों ने एक अवसादमय वातावरण उत्पन्न कर दिया था। ये दोनों ही प्रभाव साहित्य में भी प्रतिबिंबित हुए। कविगण अब उन्हीं पिटी-पिटाई पद्धतियों पर वासनात्मक-प्रेम के गीत गाने में संकोच अनुभव करने लगे। फलतः उनकी रागात्मक प्रवृत्तियों ने अभिव्यक्ति का दूसरा माध्यम निश्चित् किया। यह नवीनता लाक्षणिक प्रयोगों, ध्वन्यात्मकता एवं अन्योक्ति प्रधान शैली के रूप में उपस्थित हुई। कहीं-कहीं इसी शैली में जन-जीवन से ऊबे हुए मानव-हृदय की आध्यात्मिक भावनाएँ भी व्यक्त हुईं, परन्तु बहुत हलके एवं संकेतात्मक रूप में। इसी समय बँगला साहित्य में व्यक्त आध्यात्मिकता का प्रभाव भी हमारी अभिव्यक्तियों पर पड़ा। इसीलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन है,—"छायावाद का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में जहाँ उसका सम्बन्ध कथा-वस्तु से होता है अर्थात् जहाँ कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलंबन बना कर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यञ्जना करता है। छायावाद का दूसरा प्रयोग काव्यशैली या पद्धतिविशेष के व्यापक अर्थ में है।"[१]

हिन्दी के छायावादी साहित्य के इतिहास के सम्बन्ध में आलोचकों एवं पाठकों की यह सहज जिज्ञासा होती है कि इस धारा का प्रवर्तक कौन है। साधारणतः साहित्य के विवेचन में प्रवर्तक की अपेक्षा प्रवर्तित रूप का विशेष महत्व होता है। वैसे भी प्रवर्तक की खोज करने में तथ्य-प्राप्ति के प्रति सन्देह एवं निष्पक्ष बने रहने की आशंका अवश्य उत्पन्न हो जाती है। क्योंकि इस प्रकार के विवेचन में यदा-कदा वैयक्तिक रुचि और ममत्व भी कार्य करने लगता है। अवन्तिका[२] नामक मासिक पत्रिका के 'छायावाद का प्रवर्तक कौन?' शीर्षक एक परिसंवाद में विभिन्न व्यक्तियों ने अपने भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किये है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास मे उद्धरण देकर सियारामशरण गुप्त ने मैथिलीशरण गुप्त और मुकुटधर पाण्डेय को 'हिन्दी कविता की नई धारा (छायावाद) का प्रवर्तक' मानने की बात कही है। उनका

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ७४७। २—जनवरी, १९५४.

यह भी कथन है कि 'प्रमुख छायावादी कवियों ने अपनी कविता प्रारम्भ में हरिगीतिका के स्वरों में मुखरित की है।' रायकृष्णदास, सुमित्रानन्दन पंत तथा इलाचन्द्र जोशी जयशंकर प्रसाद को छायावाद का जनक मानते हैं। विनय-मोहन शर्मा तथा प्रभाकर माचवे ने माखनलाल चतुर्वेदी की सन् १६११-१२-१३ के आस-पास की रचनाओं में नवीन शैली का दर्शन करके उन्हीं को छायावादी काव्य का प्रथम कवि माना है। नन्ददुलारे वाजपेयी ने छायावादी काव्य-पद्धति के क्रमिक विकास को ध्यान में रखकर समन्वयात्मक शैली में इस प्रश्न पर विचार किया है। वे सन् १६१३ से १६२० तक के समय की स्वछंदतावादी काव्य-प्रवृत्ति को ही 'छायावाद की विशिष्ट काव्य शैली' मानते हुए मुकुटधर पाण्डेय, रायकृष्णदास और प्रसाद में छायावाद की प्रयोगावस्था के चिह्न देखते हैं। वाजपेयी जी छायावाद की राष्ट्रीय शाखा का उद्भव और उन्मेष माखनलाल चतुर्वेदी और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की रचनाओं में पाते हैं और निराला को 'छायावादी शैली की अपेक्षा स्वच्छंदतावादी भावधारा' के अधिक निकट समझते है।

छायावादी युग-प्रवर्तन का श्रेय किसी को भी दिया जाय, हमें तो केवल उसके रूप-विन्यास पर ही विशेष विचार करना है। भारतेन्दुकालीन युग-चेतना करवटें बदलती हुई द्विवेदी-युग में जिस प्रकार स्फूर्ति का संचय कर रही थी, हमारी दृष्टि में काव्य की इस नई धारा का वही सशक्त वेग था जो भारती के अनेकानेक उपासकों को अपने में बहा ले गया। इस काल में काव्य का जो नव रूप निर्मित हुआ उसे प्राचीनता के पोषकों ने 'छायावाद' नाम दिया जो कदाचित् इन नूतन कलावादियों को अरुचिकर प्रतीत हुआ। उनको यह अरुचि पंत के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त हुई है—"छायावाद नाम से मै संतुष्ट नहीं हूँ। यह तो द्विवेदी युग के आलोचकों के द्वारा नई कविता के उपहास का सूचक है।"[१]

छायावादी काव्य के मूल्यांकन में भी विभिन्न मत कार्य कर रहे हैं। कुछ लोगों ने इस पद्धति की रचना को इस युग की अत्यन्त श्रेष्ठ रचना माना है। शंभूनाथ सिंह का कथन है "छायावाद आधुनिक हिन्दी कविता के स्वाभाविक विकास की एक महत्वपूर्ण मंजिल है जहाँ पहुँच कर हिन्दी कविता भक्ति कालीन काव्य की ऊँचाई और गौरव को पुनः प्राप्त कर सकी है।"[२] इस मत के सम्बन्ध में हमें केवल इतना ही कहना है कि शंभूनाथ जी

१—'अवन्तिका', जनवरी '५४। २—वही

छायावाद के प्रति अपने अत्यधिक ममत्व के कारण यदि ऐसा विचार रखते हैं तो उनकी आत्मतुष्टि के लिए यह उपयुक्त ही है। साधारणतः हम तो केवल इतना ही कह सकेंगे कि काव्य की छायावादी धारा ने अपनी नवीनता के कारण कुछ समय के लिए सहृदय पाठकों को आकर्षित अवश्य किया और इस आकर्षण में मानववृत्ति को यत्किंचित् परितोष भी हुआ।

विवेचन

जैसा पहिले लिखा जा चुका है, छायावाद के सम्बन्ध में दो दृष्टियों से विचार किया गया है : एक उसका आध्यात्मिक दृष्टिकोण और दूसरा उसका शैलीगत दृष्टिकोण। इसमें सन्देह नहीं कि काव्य में जहाँ तक अभिव्यंजना का सम्बन्ध है, प्रायः सभी आलोचक इस तथ्य के सम्बन्ध में एकमत है कि छायावादी साहित्य में 'कल्पनावाद', 'कलावाद' का प्रभाव पड़ा है और उसमें कलाकार की वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति प्रधान है; साथ ही युग ने छायावादी साहित्यकार को कतिपय नवीन दृष्टिकोण भी दिये। किन्तु छायावाद में रहस्यवाद की भाँति आध्यात्मिकता का समावेश है, इस तथ्य के स्वीकार करने में आलोचकों को आपत्ति है। इस प्रकार स्पष्टतः दो विचारधाराएँ उपस्थित हो जाती है। विषय को समझने की दृष्टि से विभिन्न मतों को देखना आवश्यक है—

रामचन्द्र शुक्ल—"रहस्यवाद के अन्तर्गत रचनाएँ पहुँचे हुए पुराने संतों या साधकों की उस वाणी के अनुसरण पर होती हैं जो तुरीयावस्था या समाधि दशा में नाना रूपकों के रूप में उपलब्ध आध्यात्मिक ज्ञान का आभास देती हुई मानी जाती थीं। उस रूपात्मक आभास को यूरोप में 'छाया' कहते थे। इसी से बंगाल में ब्रह्मसमाज के बीच उक्त वाणी के अनुकरण पर जो आध्यात्मिक गीत या भजन बनते थे वे छायावाद कहलाने लगे।"[1]

महादेवी वर्मा—"छायावाद का मूल दर्शन सर्वात्मवाद में है।"

गंगाप्रसाद पाण्डेय—"विश्व की किसी वस्तु में एक अज्ञात सप्राण छाया की झाँकी पाना अथवा उसका आरोप करना ही छायावाद है।"[2]

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ७४७। २-'छायावाद रहस्यवाद' पृष्ठ २४.

नन्ददुलारे वाजपेयी—"नई छायावादी काव्यधारा का भी एक आध्यात्मिक पक्ष है, परन्तु उसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है।"[1]

गुलाबराय—"छायावाद और रहस्यवाद दोनों ही मानव और प्रकृति का एक आध्यात्मिक आधार बतलाकर एकात्मवाद की पुष्टि करते हैं।"[2]

जयशंकरप्रसाद—"कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश विदेश की सुन्दरी के बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी तब हिन्दी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया।"[3]

नगेन्द्र—"कोई आध्यात्मिक प्रेरणा छायावाद के मूल में है—यह मानना भ्रान्ति होगी।"[4]

प्रथम पाँच विचारकों ने स्पष्टतः छायावाद को आध्यात्मिकता से प्रभावित माना है। प्रसाद वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति को प्रधानता देते हैं और नगेन्द्र छायावादी काव्य में आध्यात्मिकता का सम्पूर्णतः तिरस्कार करते हुए उसे विशुद्धरूप में 'भावात्मक एवं आत्मगत' मानते है। वे अपने कथन की पुष्टि में कहते है "........उन कवियों का तारुण्य था जब मन की सहज भावनाएँ अभिव्यक्ति के लिए व्याकुल हो रही थीं। बाद में प्रसाद या महादेवी भारतीय अध्यात्म दर्शन के सहारे अथवा पंत देश-विदेश के भौतिक सर्व हितवादी दर्शनों के आधार पर उसे परिशुद्ध एव संस्कृत भले ही कर पाये हों, परन्तु आरम्भ से कोई दिव्य प्रेरणा उन्हे थी, यह मानना असत्य होगा।" इसमें सन्देह नहीं कि छायावादी काव्य के प्रारम्भिक काल में कलाकार अपने वातावरण से ऊब कर किसी ऐसे एकान्त स्थान की चिन्ता में था जहाँ उसे कुछ शान्ति मिल सके, पर प्रकृति से बढ़कर दूसरा उत्तम स्थान उसे नहीं मिल सका। इसी से तो प्रसाद कहते हैं—

ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे
जिस निर्जन में सागर लहरी
अम्बर के कानों में गहरी—
निश्छल प्रेम कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे।

---

(१) आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ३१८, (२) काव्य के रूप,पृष्ठ १२७।
(३) काव्यकला तथा अन्य निबंध, पृष्ठ १२३ (४) छायावाद की परिभाषा

किन्तु एकान्त स्थान में बैठा हुआ भारतीय कलाकार जीवन की कुंठाओं से ऊबा हुआ आध्यात्मिक-चिंतन का स्पर्श न करेगा। यह भी अस्वाभाविक प्रतीत होता है इसी से महादेवी वर्मा कहती है—"इस युग की प्रायः सब प्रतिनिधि रचनाओं में किसी न किसी अंश तक प्रकृति के सूक्ष्म सौन्दर्य में व्यक्त किसी परोक्ष सत्ता का आभास भी रहता है और प्रकृति के व्यक्तिगत सौन्दर्य पर चेतना का आरोप भी, परन्तु अभिव्यक्ति की विशेष शैली के कारण कहीं सौन्दर्यानुभूति की व्यापकता, कहीं संवेदन की गहराई, कहीं कल्पना के सूक्ष्म रंग और कहीं भावना की मर्मस्पर्शिता लेकर अनेक वादों को जन्म दे सकी है।"[1] छायावादी काव्य की विवेचना करते हुए सीताराम चतुर्वेदी का मत है—'रहस्यवाद और छायावाद दोनों में सबसे बड़ा अन्तर यही है कि रहस्यवाद में साधक या ज्ञाता किसी तत्व की स्वयं खोज करके उस तत्व के सम्बन्ध में अपने अनुभव का बखान करता है, किन्तु छायावाद में न तो साधना होती है, न अनुभव होता है, वरन् साधक के अनुभव की छाया या शैली पर उसी प्रकार की काल्पनिक काव्यात्मक अभिव्यक्ति की जाती है। प्राकृतिक दृश्यों या वस्तुओं से रहस्यात्मक प्रेरणा लेकर काव्य में ढाल देना ही छायावादी का लक्ष्य और साध्य है।'[2] पंत के शब्दों में "छायावाद के रूप-विन्यास में कवीन्द्र-रवीन्द्र तथा अंग्रेजी कवियों का प्रभाव पड़ा, भावना में युग-संघर्ष की आशा-निराशा का तथा विचार-दर्शन में विश्वदेववाद, सर्वात्मवाद तथा विकासवाद का प्रभाव पड़ा।"[3]

वस्तुतः छायावाद को आध्यात्मिकता की प्रेरणा या आध्यात्मिक काव्य अथवा रहस्यवाद का प्रथम सोपान मानना असंगत है। साथ ही उसे आध्यात्मिकता से पूर्णतः शून्य मानना भी उचित नहीं है। इस सम्बन्ध में हमारा मत यह है कि छायावादी काव्य में आध्यात्मिकता का यत्किंचित् संस्पर्श (टच) अवश्य रहता है। कवि इस पद्धति को अपना कर रहस्यवादी की भाँति आध्यात्मिक विवेचन उपस्थित नहीं करना चाहता है और न किसी साधना पद्धति का निर्माण करता है। छायावादी साहित्य अनेकानेक प्रभावों को लेकर चला है।

१—आधुनिक कवि, पृष्ठ १०.

२—समीक्षाशास्त्र, पृष्ठ १२२६.

३—उत्तरा.

भाव-विकास की दृष्टि से छायावादी काव्य का क्षेत्र संकुचित नहीं माना जा सकता। इसकी अभिव्यक्तियाँ विभिन्न दिशाओं की ओर गई हैं। साधारणतः छायावादी काव्य में निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं:—

१. सौन्दर्य भावना,
२. शृंगार अथवा प्रेम की भावना,
३. करुणा की विवृति,
४. प्रकृति-प्रियता,
५. जीवन-दर्शन,

१—सौन्दर्य भावना—

सौन्दर्य-प्रियता मानव का सहज गुण है। वह प्रत्येक सुन्दर वस्तु के साथ अपने हृदय के रागात्मक सम्बन्ध को स्थापित करने के लिए सदैव उद्युक्त रहता है। बाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा आन्तरिक सौन्दर्य की ओर वह विशेष आकृष्ट होता है। प्रसाद का भाव-प्रवण-हृदय प्रकृति में नारी-रूप का मनोरम दर्शन करता है। यथा—

उठ-उठ री लघु लोल लहर।
करुणा की नव अंगराई-सी॥
मलयानिल की परछाँई-सी।
इस सूने तट पर छिटक-छहर,
शीतल, कोमल चिर-कम्पन-सी॥
दुर्ललित हठीले बचपन-सी।
तू लौट कहाँ जाती है री॥ —लहर

निराला भी इसी सौन्दर्य-भावना से प्रभावित होकर कहते हैं—

पहचाना अब पहचाना
हाँ, उस कानन में खिले हुए तुम
चूम रहे थे झूम-झूम ऊषा के स्वर्ण कपोल,
अठखेलियाँ तुम्हारी प्यारी-प्यारी
व्यक्त इशारे से ही सारे बोल मधुर अनमोल। —परिमल

२—शृंगार अथवा प्रेम की भावना—

शृंगार अथवा प्रेम के क्षेत्र में छायावादी कलाकार लौकिकता से ऊपर उठ जाता है। वह आश्चर्यचकित होकर अपनी प्रिय-वस्तु को देखने लगता

है। यहीं पर सृष्टि के प्रति उसका रागात्मक भाव प्रबल हो जाता है और वह कह उठता है—

> तड़ित-सा सुमुखि! तुम्हारा ध्यान।
> प्रभा के पलक मार, उर चीर,
> गूढ़ गर्जन कर जब गंभीर,
> मुझे करता है अधिक अधीर,
> जुगुनुओं-से उड़ मेरे प्राण,
> खोजते हैं तब तुम्हें निदान। —पंत

छायावादी कलाकार प्रकृति के विभिन्न रूपों में अपने ही हृदय की छाया अनुभव करता है। यहाँ उसकी वैयक्तिकता उभर पड़ती है और वह शृंगार-दर्शन के लिए अपनी आकुलता को व्यक्त करने लगता है—

> कलियो, यह अवगुण्ठन खोलो।
> ओस नहीं है, मेरे आँसू—
> से ही मृदु पद धोलो॥
> कोकिल-स्वर लेकर आया है
> यह अशरीर समीर।
> सुखमय सौरभ आज हुआ है,
> पंचबाण का तीर॥ —रामकुमार वर्मा

३—करुणा की विवृति—

मानव-हृदय की सुकुमारता, कोमलता, उदारता आदि सभी मानवोचित् गुणों की अभिव्यक्ति हृदय की कारुणिक-स्थिति में ही सम्भव है। सम्पूर्ण जीवन नीरस हो गया होता यदि करुणा की निष्पत्ति न हुई होती। विश्व के समस्त व्यापारों में आकर्षण की सृष्टि करने वाली यही एक करुणा है। छायावादी कवि भी अपने जीवन के एकांत संगीत में इसी को सहचरी रूप में प्राप्त करता है। वह अपने हृदय की शून्यता को नभ के रूप में पाता है और बादलों को अपनी आहों की धूम्र-राशि के रूप में—

> नभ क्या है? मेरा हृदय शून्य, फैला अतिशय सहृदय विशाल।
> आहों से उत्थित धूम्र-राशि, बन गई भयानक जलद-जाल॥

प्रसाद भी अपने करुणा-कलित-हृदय की विकल रागिनी को सुनते हैं और हाहाकार के स्वरों में गर्जन करने वाली असीम वेदना को अपनी व्याकुलता के क्षणों में कह उठते हैं—

अभिलाषाओं की करवट, फिर सुप्त व्यथा का जगना,
सुख का सपना हो जाना, भीगी पलकों का लगना।—आँसू.

काले-काले बादल आकाश को आच्छादित कर देते हैं। गर्जन-तर्जन होता है। वर्षा होती है, चारों ओर अन्धकार छा जाता है, कवि इस दृश्य द्वारा अपने दुर्भाग्य को देखता है और एक साम्य-सा स्थापित करता है। इस प्रकार बादल द्वारा मानव के भाग्य का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

मेघों का यह मंडल अपार,
जिसमें पड़कर तम एक बार ही
कर उठता है चीत्कार !!
ये काले-काले भाग्य अंक
नभ के जीवन में लिखे हाय !—रामकुमार वर्मा

४—प्रकृति प्रियता—

छायावादी रचनाओं में प्रकृति-प्रियता का विशिष्ट स्थान है। कवि प्रकृति के माध्यम से ही अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति किया करता है। इस प्रकार प्रकृति का मानवीकरण भी छायावादी काव्य में देखा जाता है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रकृति का समस्त मानवीकरण-व्यापार छायावाद है। हमारी सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रवृत्तियाँ प्रकृति के विभिन्न रूपों में अपना स्वरूप झाँकती रहती हैं और उन्हीं के द्वारा साहित्य में वे अपनी अभिव्यक्ति भी कर डालती हैं। इस प्रकार प्रकृति हमारी भावनाओं की प्रतीक बन कर उपस्थित होती है।

झर गई कली, झर गई कली।
चल सरित-पुलिन पर वह विकसी,
उर के सौरभ से सहज-बसी,
सरला प्रातः ही तो विहँसी,
रे कूद सलिल में गई चली। —पंत-'गुंजन'

प्रस्तुत कविता में कली जीवन का प्रतीक है और सरिता संसार का प्रतीक है। जिस प्रकार नदी के किनारे की कली जल के प्रवाह में बह जाती है, उसी प्रकार यह जीवन भी संसार के प्रवाह में बह जाने वाला है, अस्थिर है।

जैसा कि अभी कह चुके हैं, छायावादी कवि प्रकृति में मानव-व्यापारों का भी आरोप करता है और इसी क्रिया के द्वारा अपने भावों की अभिव्यक्ति भी। यथा—

अपने ही सुख से चिर चंचल,
हम खिलखिल पड़ती हैं प्रतिपल,
जीवन के फेनिल मोती को
ले-ले चल कर तल में टल-टल।
छू-छू मृदु मलयानिल रह-रह
करता प्राणों को पुलकाकुल,
जीवन की लतिका में लह-लह
विकसा इच्छा के नव-नव दल।

—पंत-"लहरों का गीत"

यहाँ कवि ने लहरों द्वारा उस व्यक्ति का चित्र चित्रित किया है जो अपने ही सुख में निमग्न है।

जिस दिन नीरव तारों से, बोलीं किरणों की अलकें,
सो जाओ अलसाई हैं, सुकुमार तुम्हारी पलकें।

—महादेवी वर्मा

इन पंक्तियों में 'नीरव तारों' और 'किरणों' में मानवीकरण किया गया है।

५—जीवन-दर्शन—

जीवन से अलग काव्य की स्थिति नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं है कि काव्य में जीवन को ठूँस-ठूँस कर भरा ही जाय। तात्पर्य केवल इतना ही है कि काव्य में जीवन की ही मौलिक प्रवृत्तियों की उद्भावना होती है, जिससे वह जीवन से दूर नहीं जा पाता है। सफल कलाकार इस तथ्य को अनुभव करते हुए काव्य में जीवन-दशाओं का बड़ा सुन्दर समन्वय करते हैं। जीवन है क्या? केवल सुख-दुख का एक विचित्र मोहक सम्मिश्रण। इसी तथ्य को व्यक्त करते हुए पंत कहते हैं—

यह साँझ-उषा का आँगन, आलिंगन विरह-मिलन का,
चिर हास-अश्रुमय आनन, रे इस मानव जीवन का। —पंत

प्रस्तुत अंश में साँझ और उषा, दुख-सुख के प्रतीक हैं। इसी दुखवाद की विवृति महादेवी की रचनाओं में भी पाई जाती है। यथा—

मैं नीर भरी दुख की बदली
विस्तृत नभ का कोना कोना

मेरा न कभी अपनी होना,
परिचय इतना इतिहास यही,
उमड़ी कल थी; मिट आज चली।

जीवन क्या है, इसकी बिसात क्या है, क्षणभंगुरता ही तो इसका एकमात्र परिचय है।

हम देखते हैं कि प्रायः सभी छायावादी अभिव्यक्तियों में एक विशिष्ट सुकुमारता विद्यमान है और साधारणतः सभी अभिव्यक्तियों का माध्यम विशेष रूप से प्रकृति ही है। कहीं उसके प्रति विस्मय की भावना है, कहीं शृंगार की, कहीं प्रेम की, कहीं करुणा की। विरह-मिलन के गीत भी कवियों ने प्रकृति के विभिन्न उपादानों के आश्रय से गाये हैं। अतएव छायावादी काव्य का अध्ययन करने के लिए उसके दो प्रमुख स्वरूपों पर विशेष ध्यान देना होगा। एक उसका शैलीगत स्वरूप और दूसरा विषयगत स्वरूप। शैलीगत स्वरूप काव्य का बाह्य विवेचन होगा। छायावादी काव्य के पूर्व कवित्त, सवैया, दोहा, छप्पय आदि छन्द ही विशेष प्रचलित थे। किन्तु छायावादी कवियों ने अतिप्रचलित छंदों को अस्वीकार करके अप्रचलित छंदों तथा मुक्तक प्रणाली को स्वीकार किया। यहाँ हम जान बूझ कर नवीन छंदों की बात नहीं कर रहे हैं, क्योंकि हमारा विश्वास है कि छायावादी कवियों ने किसी नवीन छंद का अनुसंधान नहीं किया। हाँ, कहीं-कहीं नवीनता इस बात में अवश्य मानी जा सकती है कि उन्होंने दो भिन्न छंदों को एक ही में मिलाकर नया छंद बनाने की चेष्टा की है। उन्होंने बहुत से छंद तो उर्दू से लिए तथा कुछ प्राचीन छंदों का परिशोधन एवं परिमार्जन् भी किया। छंदों के सम्बन्ध में उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनमें एक लयकारिणी मधुरिमा विद्यमान है। संगीतात्मकता के प्रवाह में भाव की तीव्रतर अनुभूति होती है। उन कवियों की एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने चुन-चुन कर कोमलकान्त पदावली का आग्रहपूर्वक चयन किया है जिससे सौन्दर्यविधान में एक विशेष आकर्षण उत्पन्न होता है। उनके कथन लाक्षणिकता के सहारे अधिकाधिक संवेदनीय बन गये हैं। उनकी व्यंजनाशैली की यही सबसे बड़ी विशेषता है।

काव्य के अन्तरंग पक्ष के अन्तर्गत विषयगत स्वरूप आता है। इस दृष्टि से छायावादी कवियों ने प्रकृति को प्रधानता दी है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उन्होंने काव्य में प्रकृति-वर्णन किया है। इससे केवल इतना ही समझना चाहिए कि उनकी अधिकांश अभिव्यक्तियों का माध्यम प्रकृति रही है। प्रकृति

के विभिन्न उपादान प्रतीक-रूप में प्रयुक्त हुए हैं। पावस, मेघ, विद्युत, नदी, सागर, लहर, उषा, संध्या, नक्षत्र, चन्द्र, रश्मि, ज्योत्स्ना, अंधकार, तरुवर, लता, कलिका, पतझड़, बसन्त, पराग, मलयानिल, भ्रमर, कोकिल, पपीहा, हिम, ओसकण आदि से छायावादी कवि को प्रेरणा मिलती रहती है और घूम-फिर कर ये ही या इनसे मिलते-जुलते प्राकृतिक पदार्थ उसकी अभिव्यक्ति को शक्ति प्रदान करते रहे हैं। उसने प्रकृति के सुखद एवं दुखद दोनों ही पक्षों को देखा है। उसके प्रेम और सौन्दर्य की भावना भी प्रकृति के ही पालने में झूलती रही है। वैयक्तिक करुणा और विरह को भी प्रकृति ने मुखरता प्रदान की है। इसमें सन्देह नहीं कि छायावादी काव्य में वैयक्तिकता की प्रधानता रही है। वैयक्तिकता का अर्थ यह है कि कवि की वे भावनाएँ जो स्वच्छन्दरूप से समाज में व्यक्त नहीं की जा सकती हैं, प्रकृति की कल्पनाओं के साथ साहित्य में व्यक्त हुईं। रीतिकालीन और छायावादी कवियों में अंतर इतना ही है कि एक की प्रकृति पशु-सत्य के रूप में उपस्थित हुई और दूसरे की आधुनिक सभ्य-सत्य के रूप में। इस वैयक्तिकता प्रधान प्रवृत्ति ने छायावादी कवि को सांसारिकता से निराश होने पर आदर्श की ओर उन्मुख किया। यही आदर्शोन्मुख भावना अध्यात्म की ओर बढ़ती हुई-सी प्रतीत हुई। यहाँ यह बात भी ध्यान रखना आवश्यक है कि छायावादी अभिव्यक्ति अध्यात्म-चिन्तन नहीं है, अपितु उसके अन्तर्गत केवल अध्यात्म की छाया है। भक्तिकालीन कवियों ने स्पष्टतः आध्यात्मिक विवेचन किया है, किन्तु छायावादी कवि उस चिन्तन का केवल आभास देता है और रहस्यवादी कवि रहस्य को जिज्ञासा में लीन हो जाता है।

इस प्रकार छायावादी साहित्य भी चली आती हुई काव्य-परंपरा के समक्ष एक प्रकार का प्रयोग ही था। इसमें सन्देह नहीं कि छायावादी कवियों ने अपनी रचनाओं को व्यापक अनुभूति, शब्द-सौष्ठव, मनोरंजनकारी काल्पनिक चित्र-विधान एवं तन्मयकारिणी भाव-धारा प्रदान की। जिस प्रकार सागर में समय-समय पर अनेकानेक लहरियाँ उठा करती हैं उसी प्रकार साहित्यिक-धारा में भी समय-समय पर लहरें आती रहती हैं। छायावाद भी इन्हीं में से एक हिलोर है जो अब प्रायः शान्त-सी हो गई है, किन्तु हिलोर से जो प्रान्त आर्द्र हो गया है उसी की शीतलता आज भी यत्र-तत्र विद्यमान है।

प्रतीकवाद

इतिहास

मानव अपनी अनुभूतियों की अधिकाधिक विशद अभिव्यक्ति चाहता है, किन्तु जब भावनाओं की अभिव्यक्ति सीधे-सादे ढंग से नहीं हो पाती है तब वह प्रतीकों का सहारा लेता है। प्रतीक का शाब्दिक अर्थ है 'चिह्न'। साहित्य में अधिकांश प्रतीक दृश्य जगत् से ही सम्बन्धित होते हैं। इसका कारण यह है कि प्रकृति के विभिन्न उपादानों, स्वरूपों के साथ नैत्यिक परिचय के कारण हमारा रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। यह सम्बन्ध जब तक हृदयस्थ रहता है तब तक इसकी अमूर्तावस्था रहती है, किन्तु जब हम प्रकृति के पदार्थों का प्रयोग अपनी भावाभिव्यक्ति के साथ करते हैं तब उस रागात्मक सम्बन्ध का मानों मूर्तीकरण कर देते हैं। यथा, सुमनों का सौरभ-दान देख कर हमारे हृदय में एक प्रकार का विशिष्ट आनन्दोल्लास उत्पन्न होता है। संस्कारवशात् इस क्रिया के प्रति हमारा हृदयस्थ राग तन्मयत्व प्राप्त कर लेता है। यह तन्मयता उस समय विशेष सजग हो उठती है जब हम किसी उदार वृत्ति का चित्रण करते हैं और उदारता, त्याग आदि सद्प्रवृत्तियों का प्रभावोत्पादक चित्रण करने के लिए सुरभि-दान में लीन सुमनों को प्रतीक-रूप में उपस्थित करते हैं। गूढ़ातिगूढ़ भावों की व्यंजना प्रतीक के माध्यम से सहज और स्पष्ट हो जाती है।

जब हम किसी वस्तु को मीठा कहते हैं तब यदि मीठा शब्द के साथ वस्तु का नाम जुड़ा न हो तो उस वस्तु की मिठास का वास्तविक अनुभव हमें नहीं होता, क्योंकि शक्कर की मिठास, गुड़ की मिठास, दूध और पानी की मिठास, आम, संतरा और नीबू की मिठास में जो अन्तर है, उसके वाचक शब्द हमारे पास नहीं हैं। इसी प्रकार जब हम प्रेम, घृणा, क्रोध आदि मनोभावात्मक शब्दों का प्रयोग करते हैं, अथवा सुख, दुख, कष्ट, पीड़ा आदि अनुभवात्मक विवरण देते हैं तब हम अपनी केवल मनोदशा का संकेतात्मक परिचय दे पाते हैं। मनुष्य की वाणी केवल वैखरी है। अतएव उसमें सम्पूर्ण अनुभूति को व्यक्त करने की सामर्थ्य न कभी थी और न आज है। स्त्री और

पुत्र सम्बन्धी क्रोध का शत्रु-सम्बन्धी क्रोध से अन्तर बताने की शक्ति वाणी में नहीं है। स्वयं स्त्री और पुत्र सम्बन्धी घृणा में कितना अंतर हो सकता है उसका शतांश भाग भी घृणा शब्द से व्यक्त नहीं हो सकता। भोजन के कष्ट, निवास के कष्ट और वस्त्र के कष्ट में स्पष्ट अंतर है। परन्तु केवल कष्ट शब्द इन तीनों का वाचक होने के कारण किसी कष्ट का यथार्थ बोध नहीं करा सकता। वाणी की इस असमर्थता के कारण अनादिकाल से विशेष अनुभूति को अधिक स्पष्ट करने के लिए तत्सदृश अनुभूतियों का स्पष्ट वर्णन करने की प्रथा चली आरही है। "योऽस्मान् द्वेष्टियं वयं द्विष्मस तं वो जम्भे दध्मः" जिसके साथ हम द्वेष करें, या जो हमारे साथ द्वेष करे उसको हम आपकी दाढ़ों में रखते हैं। "जम्भे दध्मः" शब्द उस क्रोध का परिचायक है जिसमें अपने द्वेष्टा को इस तरह चबा जाने की भावना उदित होती है जैसे मुँह में रखकर कौर चबा डाला जाता है। किसी शरीरी को इस तरह चबाया नहीं जा सकता। उसकी गर्दन काट दी जा सकती है, बोटी-बोटी अलग की जा सकती है, परन्तु इतना कहने पर भी क्रोध की वह तीक्ष्णता व्यक्त न होती जो चबा जाना कहने से व्यक्त होती है। शब्द के इसी प्रकार के प्रयोग का नाम 'प्रतीक-स्थापन' है और इस प्रकार के प्रतीक-स्थापन की प्रवृत्ति का नाम प्रतीकवाद है।

अनादि काल से यह प्रवृत्ति चली आ रही है। इस सम्बन्ध में वेदों के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। उपनिषदों में अनेक गाथाएँ पूर्णतः प्रतीकवाद ही है। योगवसिष्ठ के समस्त उपाख्यान प्रतीकात्मक हैं। लोगों का तो कहना है कि महाभारत का सम्पूर्ण काव्य प्रतीक-स्थापन का ही यत्न है। कौरव और पांडवों को वे ऐतिहासिक व्यक्ति ही नहीं मानते हैं। श्रीमद्भागवत का भक्ति-सम्बन्धी आख्यान विशुद्ध प्रतीकात्मक आख्यान है। धर्मोपदेश के लिए लिखे गये आख्यान प्रतीकात्मक ही हैं। सूफी कवियों ने अपनी भित्ति प्रतीकों के ही आधार पर खड़ी की है। "प्रतीक ही सूफी साहित्य के राजा हैं। उनकी अनुमति के बिना सूफियों के क्षेत्र में पदार्पण करना एक सामान्य अपराध है। प्रतीकों के महत्व को समझ लेने पर तसव्वुफ एक सरल चीज हो जाती है।"[1]

पाश्चात्य साहित्य में भी प्रतीक का महत्वपूर्ण स्थान है। फ्रान्स और बेलजियम में तो उन्नीसवीं शताब्दि में यथार्थवाद के प्रति विद्रोहात्मक

१—चंद्रबली पांडेय—'तसव्वफ अथवा सूफीमत', पृष्ठ ९७

भावनाओं का प्रचार हुआ और प्रतीक-विधान को साहित्य एवं संगीत में विशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ।[1] सन् १८८६ में 'फिगारो' नामक पत्र में प्रतीकवाद एक सम्प्रदाय विशेष के रूप में स्वीकृत हुआ। इस सम्प्रदाय के लेखक प्रतीकों द्वारा अपनी विभिन्न मानसिक स्थितियों को व्यक्त किया करते थे। उस समय प्रतीकवाद का "आन्दोलन चित्रकला और संगीत में प्रभाववाद के साथ-साथ और उपचेतन के दर्शन के साथ-साथ उन्नीसवीं शताब्दि के अन्तिम भाग के आदर्शवाद से मिलकर उस स्वैरवाद (रोमान्टिमिज़्म) की एक शाखा बन गया जिसके साथ वह निर्बाध रूप से सम्बद्ध है।"[2] आगे चलकर प्रतीकवादी दो दलों में विभक्त हो गये। एक ने बर्लें का अनुगमन किया और दूसरे ने मलार्मे का। बर्लें के अनुयायियों में प्रतीक-विधान में दूसरे दल की अपेक्षा सरलता एवं स्पष्टता का विचार अधिक किया गया है।

भारतीय संत कवियों ने भी प्रतीक-स्थापन की प्रवृत्ति दिखलाई है। कबीर के साहित्य में अनेक स्थलों पर प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति हुई है। स्पष्टवादी तुलसी भी अपनी भावना को व्यक्त करने के लिए जहाँ-तहाँ प्रतीकों का सहारा लेते हैं। चातक की प्रेम-साधना पर लिखे गये उनके समस्त दोहे प्रतीक-पद्धति पर है। इनमें घन के प्रति चातक के प्रेम की अनन्यता प्रभु के प्रति भक्त हृदय की तत्कालीनता का प्रतीक होकर उपस्थित हुई है।

रीतिकालीन कवियों ने भी जहाँ-तहाँ प्रतीक-विधान के द्वारा काव्य-सौन्दर्य वृद्धि में सफलता पाई है। आगे चलकर मानसिक दासता के द्वारा इस क्षेत्र में भी क्लिष्ट कल्पना का सहारा लेकर प्रतीकों की इतनी बाढ़ आगई कि बुद्धिग्राह्यता बहकर अज्ञेयता के सागर में डूब गई। ऐसे कवि भी दिखाई दिये जो अपनी रचना को आप ही नहीं समझ पाते। फिर दूसरों की क्या कही जाय। कुशल यही हुई कि यह नदी यौवन की भाँति जल्दी ही उतर गई।

प्रतीक का महत्व वस्तुतः उसके द्वारा संकेतित अर्थ में है। किन्तु जब हम काव्य में प्रतीक को ही सब कुछ मान लेते हैं, दूसरे शब्दों में जब प्रतीक साधन न होकर साध्य बन जाता है तब वह अपने महत्व को नष्ट कर देता है और काव्य का उपकारी न होकर अपकारी बन जाता है।

1—In France and Belgium at the end of the 19th century the symbolists were members of a school of literature and music that rebelled against realism and sought to express them selves by indirect rather than direct suggestion.
—A Dictionary of English Literature by Watt. Page 316.

२—समीक्षाशास्त्र, पृष्ठ १२७३

विवेचन

हिन्दी साहित्य में प्रतीकों का प्रयोग विभिन्न रूपों में हुआ है। इसका अन्योक्ति विशिष्ट अधिकांश साहित्य प्रतीकात्मक है जिसमें कलाकार अन्योक्तियों के सहारे अनेकानेक मार्मिक भावसंकेत उपस्थित किया करते हैं। यथा:

चले जाहु ह्याँ को करै, हाथिन को व्यापार।
नहिं जानत या पुर बसैं, धोबी, गोंड, कुम्हार ॥ —बिहारी

प्रस्तुत पद में 'हाथिन को व्यापार' से तात्पर्य सद्गुणों की परख है और धोबी, गोंड़, कुम्हार अयोग्य व्यक्ति के प्रतीक हैं।

इसी प्रकार ये पंक्तियाँ भी :

टूटे नख रद केहरी, वह बल गयो थकाय।
हाय जरा अब आइके, यह दुख दियो बढ़ाय ॥
यह दुख दियो बढ़ाय, चहूँ दिसि जंबुक गाजें।
ससकु लोमरी आदि, स्वतंत्र करें सब राजें ॥
बरनै 'दीनदयाल' हरिन बिहरैं सुख लूटें।
पंगु भयो मृगराज, आज नख रद के टूटे ॥

इस पद में केहरी अथवा मृगराज प्रतीक है किसी सम्पन्न वीर एवं पराक्रमी व्यक्ति का और जम्बुक, लोमड़ी, शसक आदि प्रतीक है कायर एवं निर्बल प्राणियों के।

कतिपय प्रतीक परंपरानुगत होते हैं। उनके द्वारा भावाभिव्यक्ति में एक सहज गुण आ जाता है। यथा सुदीर्घ काल से उषा सुख का और संध्या दुःख का प्रतीक बनकर साहित्य में प्रयुक्त हो रही है। यह आवश्यक नहीं है कि जो प्रतीक हमारे देश में प्रचलित हों वे ही दूसरे देश के साहित्य में भी पाये जाते हों। अपनी भौगोलिक स्थिति एवं अनुभूति के आधार पर प्रतीकों का देशगत होना भी स्वाभाविक है। यथा, पाश्चात्य देशों में जहाँ सूर्य-दर्शन दुर्लभ होता है वहाँ धूप आनन्द और सुख का प्रतीक मानी जाती है। किन्तु हमारे यहाँ ऐसा नहीं है। यहाँ तो धूप को सांसारिक ताप, दुख, एवं कष्ट के रूप में माना गया है:—

पथिक जो पहुँचे सहिके घामू, दुःख बिसरइ सुख होइ बिसरामू— "जायसी
इसी प्रकार पाश्चात्य देशों में स्थान की दूरी की नाप मील के पत्थर (Mile Stone) से होती है। अतः जीवन के अन्तिम उद्देश्य या यात्रा के लिए भी उसका प्रयोग हुआ 'दि लास्ट माइल स्टोन आफ लाइफ' (The last mile-Stone of life) यदि इसी को अपने साहित्य में अनूदित करके इस

प्रकार प्रयुक्त किया जाय—'...ओ मेरे जीवन के अन्तिम पाषाण' तो भाव की सम्प्रेषणीयता के स्थान पर उपहास की सृष्टि होगी।

कुछ प्रतीक वैयक्तिकता को लेकर चलते हैं। कलाकार अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए किसी विशेष रूप को किसी विशेष अर्थ में ग्रहण कर लेता है यथा पन्त ने 'माया' की अभिव्यक्ति के लिए 'छाया' का प्रयोग किया है और निराला ने प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए 'मधु' का।

कुछ प्रतीक युग विशेष में ही प्रयुक्त होते हैं। जैसे आधुनिक काल में छायावाद और रहस्यवाद से प्रभावित होकर 'मधुमास', 'पतझड़' आदि सुख और दुःख के लिए प्रयुक्त हुए है। इस प्रकार हम प्रतीकों के ये रूप पाते हैं :—

१—परंपरानुगत, २—देशगत, ३—व्यक्तिगत, ४—युगगत

प्रतीकों का प्रयोग आध्यात्मिक जगत् में विशेष रूप से हुआ है। साधक के हृदय में साधनापूर्ति के क्षणों में जो आनन्दोल्लास उत्पन्न होता है, उसे वह लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर जन-जन तक पहुँचा देना चाहता है। वह जब उस भावोल्लास को सर्वसाधारण में प्रचलित शब्दों के सहारे ठीक-ठीक अभिव्यक्त नहीं कर पाता है तब प्रायः प्रतीकों का आश्रय ग्रहण करता है। निश्चय ही इनके प्रयोग से भाव की सम्यक् अभिव्यक्ति संभव हो जाती है। यथाः—

काहे री नलिनी तूँ कुँभिलानी।
तेरे ही नालि सरोवर पानी॥
जल में उतपति जल में बास।
जल में नलिनी तोर निवास॥
ना तलि तपति न ऊपरि आगि।
तोर हेत कहु कासन लागि॥
कहै कबीर जे उदकि समान।
ते नहिं मूए हमारे जान॥

—कबीर

नलिनी जीवात्मा है, सरोवर का जल समस्त विश्व में व्याप्त परमात्म-तत्व है जो इस कमलिनी में भी समाया है। इस आत्मा रूपी कमलिनी को जला सकनेवाली आग न तो नीचे तपती है और न ऊपर। लौकिक अथवा अलौकिक

कोई ऐसा बन्धन नहीं है जो इस आत्मा को बाँध सकता हो या कष्ट पहुँचा सकता हो। फिर न जाने कौन-सी भावनाएँ हैं जिनमें फँसी हुई आत्मा कष्ट-अनुभव करता है, यह कष्ट उसी समय तक है जब तक आत्मा स्वयं अपने को प्रभु से भिन्न समझता है। जब नलिनी रूप आत्मा जल रूप ब्रह्म में विलीन हो जायगा तो जन्म और मृत्यु का भय दूर हो जायगा। जीव और ब्रह्म की इस एकता का प्रतिपादन करने के लिए कमलिनी और जल के प्रतीक स्थापित किये गये हैं।

काल (मृत्यु) की व्यापकता का भाव व्यक्त करने के लिए निम्नांकित प्रतीकात्मक प्रयोग किया गया है :—

माली आवत देखि कर, कलियन करी पुकार।
फूले-फूले चुन लिये, काल्हि हमारी बार॥

—कबीर

उपर्युक्त इन पंक्तियों में माली 'काल' का प्रतीक है, कली 'जीव' का प्रतीक है। तात्पर्य यह है कि संसार में एक न एक दिन सभी को काल-कवलित होना पड़ेगा, किसी को आज तो किसी को कल; केवल समय का अन्तर है।

इसी प्रकार जायसी भी निम्नांकित पंक्तियों में जीवन-मरण की क्रिया को प्रतीकात्मक शैली से व्यक्त करते हैं :—

मुहमद जीवन जल भरन, रहट घरी के रीति।
घरी जो आई ज्यों भरी, ढरी जनम गा बीति॥

यहाँ पर प्रतीक का प्रयोग रूपक के रूप में किया गया है। जिस प्रकार जल की घरी रहँट के चक्र पर भरती और खाली होती रहती है उसी प्रकार यह जीवन भी जन्म और मृत्यु के चक्कर में पड़ा रहता है।

उक्त पदों में एक व्यापक आध्यात्मिक सिद्धान्त की प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्ति की गई है। आध्यात्मिक तत्व की प्राप्ति के लिए अनेकानेक प्रक्रियाओं—साधनों का भी प्रयोग करना पड़ता है। सन्त कवियों ने इन साधनों का वर्णन भी प्रतीकात्मक शैली में किया है :—

दुलहिनी गावहु मंगलचार,
हम घरि आये हो राजा राम भरतार।
तन रति करि मैं मन रति करिहूँ, पंच तत्त बाराती।
रामदेव मोरे पाहुने आये, मैं जोबन में माती।

सरीर सरोवर बेदी करिहूँ, ब्रह्मा वेद उचार।
रामदेव सँग भाँवर लेहूँ, धनि-धनि भाग हमार।
सुर तैतीसूँ कोटिक आये, मुनिवर सहस अठासी।
कहैं कबीर हम ब्याहि चले हैं, पुरिष एक अबिनासी ॥—'कबीर'

इस पद के आधार से तन को समस्त भावपूर्वक प्रभु को समर्पण करके उन्हीं में मन को लगा देना है, पंचतत्वों और उनसे सम्बन्ध रखने वाले विषयों को साथ लेकर प्रभु के समक्ष उपस्थित होना मिलन के लिए आवश्यक है। साधना के इसी मार्ग का निरूपण इस पद में किया गया है।

जायसी ने भी साधना की क्रिया के लिए प्रतीक रूप में 'चारि बसेरे' का प्रयोग किया है :

नवौ खंड नव पौरी, औ तहँ बज्र किवार।
चारि बसेरे सों चढ़े, सत सों उतरै पार ॥[1]

ये चार बसेरे सूफी सम्प्रदायान्तर्गत चार पड़ाव हैं :

१—शरीअत　　३—मारिफत
२—तरीकत　　४—हक़ीक़त

भारतीय साधना पद्धति के अनुसार ये ही चार बसेरे ज्ञान-पक्ष, कर्म-पक्ष, उपासना-पक्ष और तत्व-प्राप्ति-पक्ष माने जा सकते हैं।[2] "सूफी सम्प्रदाय

१—पद्मावत, सिंहल द्वीप वर्णन खंड, पृष्ठ १६

२—इन चार पड़ावों के सम्बन्ध में साधना की दृष्टि से विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से नामकरण किये हैं। कहीं-कहीं पर क्रम वैपरीत्य भी है, जो इस प्रकार है:—

[अ] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार।
१—शरीअत=कर्मकांड। २—तरीकत=उपासनाकांड।
३—हक़ीक़त= ज्ञानकांड।४—मारिफत=सिद्धावस्था।

[इ] आचार्य चन्द्रबली पांडे के अनुसार।
१—शरीअत=कर्मकांड। २—तरीक़त=उपासनाकांड।
३—मारिफत= ज्ञानकांड।४—हक़ीक़त=ज्ञाननिष्ठा।

[उ] आचार्य मुन्शीराम शर्मा के अनुसार।
१—शरीअत = ज्ञानकांड।२—तरीक़त= कर्मकांड।
३—मारिफत=उपासनाकांड। ४—हक़ीक़त = तथ्य प्राप्ति।

[शेष अगले पृष्ठ पर

के ये चार साधन भारतीय साधना के ज्ञान (ऋक्), कर्म (यजु), उपासना (साम) और विज्ञान (अथर्व) से मिलते जुलते है और दोनों को एक ही कह दें तो अनुचित नही है।" १

सच तो यह है कि संसार अपनी मोहकता में ही स्पृहणीय है, किन्तु यह मोहकता कच्चे रंग के समान है जो थोड़ी ही धूप में उड़ जाती है। मानव इसी रूप में भूला-भटका फिरा करता है। यह भटकन ही उसकी अशान्ति का हेतु बनती है। उसकी आकुलता ही संसार के प्रति विरक्ति का भाव उत्पन्न करती है। यह विरक्ति ही उसे प्रभु के निकट ले जाती है, जहाँ पहुँचने पर फिर सांसारिक आकर्षण उसे आकर्षित नही कर पाता है। वह प्रभु की चरण-शरण में ही आनन्दोल्लास अनुभव करता है। इसी स्थिति को निम्नांकित पंक्तियों में सरिता के प्रतीक द्वारा व्यक्त किया गया है:—

आज मिला तट घाट री,
डूब उछल संसृति सरिता में।
इन मादक चंचल लहरों ने, डाल रूप के जाल सलोने,
खींच लिया मुझको उर अंतर, बन्द विवेक कपाट री।
अघ में अटका, भ्रम में भटका, झेल झेल झटके पर झटका।
विलख उठा, प्रभु करुणा जागी, पाई पावन बाट री।

पिछले पृष्ठ से आगे]

उक्त तीनों मतों में हमें अन्तिम मत अधिक युक्ति-संगत प्रतीत होता है, क्योंकि शरअ का अर्थ है नियम। नियम का जानना अर्थात् ज्ञानी बनना। तरीक़त से अर्थ है तरीका का पालन करना अर्थात् कर्म करना अतएव दूसरी स्थिति कर्मकांड की हुई। मारिफत से अभिप्राय है ईश्वर के प्रेम में मग्न होना। यह स्थिति उपासना की है। अतएव तीसरी अवस्था में उपासना कांड आता हैं। चौथी अवस्था हक़ीक़त की है अर्थात् उसकी वास्तविक अवस्था का ज्ञान प्राप्त करके तत्व को समझ लेना है। इसी से उसे तथ्य या तत्व प्राप्ति की स्थिति मानना अधिक समुचित होगा।

१—डा० मुन्शीराम शर्मा—'पद्मावत भाष्य', पृष्ठ २१

अब मन नहीं हटाये हटता, बार बार प्रभु ही प्रभु रटता,
अब न लुभाता मोहक गति से, सुन्दर सरिता घाट री।
न्यौछावर बाँकी झाँकी पर, जीवन का सर्वस्व निरन्तर,
आश्रित सकल मनोरथ मेरे, चंचल चित की चाट री।
हृदयासन पर देव विराजे, मनहर मंगल वादन बाजे,
'सोम' पान उल्लास हास के, शोभित सुखकर ठाट री।

—मुन्शीराम शर्मा 'सोम'

संसार सरिता के समान है। इसका पार करना ही परमतत्व का साक्षात् करना है। विषय-वासनादि ही मादक चंचल लहरें हैं, पावन घाट प्रतीक है श्रेयस् पथ का, बाँकी झाँकी प्रतीक है ज्ञान की प्रकाशमयी अवस्था का, मंगलवादन प्रतीक है आनन्दमयी अवस्था का और सोमपान प्रतीक है आनन्द रस का। इस प्रकार कवि की भावुकता ने अपनी व्यापक अन्तर्दृष्टि द्वारा साधना की जिस प्रतिफलित अवस्था का चित्रण किया है, वह अत्यन्त हृदय-स्पर्शी है।

साहित्य में जितने प्रकार के भाव या विचार है, उतने ही प्रकार की अनुभूतियाँ भी हैं। ये अनुभूतियाँ ही तो भावों अथवा विचारों के मूल में विद्यमान हैं। हमारी अनुभूति जब गहन हो जाती है तब भावों में भी गंभीरता उत्पन्न हो जाती है। अतः उस गम्भीरता में अवगाहन कराने के लिए भी कलाकार, प्रायः प्रतीकों का आश्रय लिया करता है। यथाः—

साजन लेइ पठावा, आयसु जाइ न मेट।
तन मन जोबन साजिकै, देइ चली लेइ भेंट ॥[1]

उक्त पद में साजन परमात्मा है, 'तन मन जोबन साजि कै' भेंट करना सम्पूर्ण रूप से अपने को प्रभु को समर्पित करना है।

प्रगतिशील लेखकों ने भी जन-जीवन की कारुणिक स्थिति का चित्रण करने के लिए अनेकानेक प्रतीकों का सहारा लिया है जिनमें उनकी वैयक्तिक छाप विद्यमान है। वैयक्तिक छाप से तात्पर्य यह है कि ये प्रतीक साहित्य की परंपरा में अनेकानेक कवियों द्वारा प्रयुक्त न होकर केवल कवि-विशेष द्वारा प्रयुक्त हुए हैं। यथा निम्नलिखित कविता में धर्मवीर भारती ने विकास प्रवण चेतना को फूल, जीवन को प्रशस्त एवं प्रकाशित करनेवाली अपनी अन्तर्वेदना को मोमबत्ती और कभी न पूर्ण होनेवाली आकांक्षाओं—अभिलाषाओं को टूटे सपने माना है:

१—पद्मावत, 'पद्मावती रत्नसेन भेंट खंड', पृष्ठ १२१

ये फूल मोमबत्तियाँ और टूटे सपने
ये पागल क्षण,
यह काम काज, दफ्तर, फाइल, उचटा-सा जी, भत्ता वेतन
इनमें से रत्ती भर न किसी से कोई कम,

× × ×

यह काम काज संघर्ष विरस कड़वी बातें
ये फूल मोमबत्तियाँ और टूटे सपने ।[१]

हिन्दी-गद्य-साहित्य में भी प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। प्रसाद का 'कामना' शीर्षक नाटक प्रतीकात्मक है। इसके समस्त पात्र प्रतीक रूप हैं। इस रचना द्वारा प्रसाद ने अपनी सोई हुई प्राचीन सांस्कृतिक चेतना को पुनः जाग्रत करना चाहा है। सच तो यह है कि हमारी वासना जब प्रकृति की विकृतियों में उलझ गई और प्रकृति के स्वस्थ वातावरण को छोड़ दिया गया तभी से हमारे जीवन में असंतोष और विनाश की सृष्टि हुई।

'नव रस' नामक नाटक में भी प्रतीक का प्रयोग किया गया है। वीर सिंह 'वीर' रस का, प्रेमलता 'श्रृंगार' रस की, रुद्र देव 'रौद्र' रस का, भीम 'भयानक' का, ग्लानिदत्त 'वीभत्स' का, लीला 'हास्य' की, करुणा 'करुण' की, शान्ता 'शान्त' रस की और मधु 'वात्सल्य' रस के प्रतीक हैं। इस नाटक में इन रस गत पात्रों द्वारा वर्तमानकालीन संघर्ष पर विचार किया गया है।

'अम्बा' की रचना भी प्रतीकात्मक है। भीष्म और अम्बा दोनों ही प्रतीकात्मक नाम हैं। भीष्म पौरुष से उद्भ्रान्त गर्वमंडित पुरुष का प्रतीक है और 'अम्बा' शोषित, दलित तथा अपनी स्थिति को समझने वाली नारी की प्रतीक है।

आधुनिक काल में रहस्यवादी, छायावादी और प्रगतिवादी रचनाओं में प्रतीकों के प्रयोग पर विशेष बल दिया जा रहा है। कतिपय लेखक प्रयोगवादिता के जोश में भी प्रतीकों का उपयोग करके साहित्य में एक नवीन सृष्टि करना चाहते हैं। उनका नवीनता के प्रति यह व्यामोह उनकी साहित्य-साधना में कितनी शक्ति प्रदान करेगा, इसका मूल्यांकन तो भविष्य के क्षण ही कर सकेंगे। साहित्य में कोई भी वाद क्यों न आये, अनुभूतियों—भावों की ऐसी सुरुचिपूर्ण एवं

१—सम्मेलन पत्रिका, भाग ३८, अंक ३।

प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति होनी चाहिए जो मानव-हृदय को परितोष प्रदान कर सके। अतएव प्रतीकों को भी भाव अथवा विचार सापेक्ष्य होना चाहिए। जब तक प्रतीकों के साथ हमारा इन्द्रिय-प्रत्यक्ष नहीं होगा तब तक वे भाव अथवा विचार की न तो सृष्टि ही कर सकेंगे और न उन्हें बल ही प्रदान कर सकेंगे। प्रतीकों में लाक्षणिक चमत्कार की सृष्टि का भी एक गुण होना आवश्यक है। इस गुण के लिए कलाकार के लिए कल्पना-प्रवण होना अत्यन्त वांछनीय है। कल्पना का वेग कहीं भावों को ही काल्पनिक न बना दे, इस विषय में भी विशेष सतर्क रहना चाहिए।

शैलीगतवाद

शैलीगत वाद

ध्वनि, रीति, अलंकार, वक्रोक्ति, रस, रमणीयतावाद,

इतिहास

इस विषय में किसी की विमति नहीं है कि काव्य का प्रधान-उद्देश्य आनन्द-विधान करना है और काव्य-परंपरा ही नहीं, समस्त साहित्य-परंपराएँ आनन्द अथवा उसके अपरपर्याय सुख के लिए प्रवृत्त रही है, परन्तु यह सुखोपलब्धि हमें किस प्रकार होती है अथवा साहित्य उसका सम्पादन किस प्रकार करता है इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। कोई शब्दों में निहित अर्थ-विचार से संतुष्ट हुआ है, किसी ने शब्द के परंपरागत अर्थ को महत्व दिया है, किसी दूसरे ने शब्दों के परस्पर सगठन पर विचार किया है। इसी भाँति अनेक समुदाय बन गये। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि विभिन्न सम्प्रदाय होते हुए भी भारतीय काव्य-शास्त्री यही मानते रहे हैं कि वाद का शास्त्र के लिए उपयोग है, शास्त्र का वाद के लिए नहीं। शब्दों के स्व-अर्थ-विचार को महत्व देते हुए भी भारतीय शास्त्रकारों ने यह नहीं कहा कि काव्यों में स्व-अर्थ-विचार पर ही ध्यान देना चाहिए। उन्होंने यही प्रतिपादित किया कि प्रत्येक सत्काव्य में शब्दों का स्व-अर्थ-विचार अपने आप ही आ जाता है। अर्थात् सत्काव्य की विचार-परंपरा ऐसी होती है जिसमें शब्दों के स्व-अर्थ द्वारा अर्थ विशेष की उपलब्धि होती रहती है। इसीलिए शास्त्रीय दृष्टि से विभिन्न मार्ग होते हुए भी काव्य-दृष्टि से केवल एक ही मार्ग बना रहा और वह मार्ग था आनन्द-विधान। आनन्द के स्वरूप के सम्बन्ध में भी भारतीय विचारक एकमत नहीं थे। कोई उसे शरीरगत लावण्य के सदृश समझता रहा, कोई उसे आत्मा मानता रहा, किसी ने उसे चमत्कृति माना और कोई मनोरमता को काव्यगत आनन्द समझता रहा। किसी ने उसे ब्रह्मास्वाद-सहोदर कहकर अलौकिक और अतर्क्य प्रमाणित किया। इतने मतभेद होते हुए भी काव्य-मार्ग में हानि नहीं हुई। वह अपनी अबाधगति से एकरस चलता रहा। किसी वाद में अवरुद्ध होकर उसकी गति किसी विशेष दिशा में मुड़ी नहीं। उसका उद्देश्य सदैव आनन्द-

सम्पादन रहा है। अतएव भारतीय साहित्य-शास्त्र में वाद लक्ष्य पर लक्ष्य रखते हुए विभिन्न विद्वानों के विभिन्न दृष्टिकोण के रूप में उपस्थित हुए और काव्य की विभिन्न परिभाषाएँ सामने आईं।

जो विद्वान् शब्दों के स्व-अर्थ पर विशेष बल देते हैं उन्हें अभिधावादी कहा जाता है, जो शब्द-संगठन को काव्य का साधन मानते हैं वे रीतिवादी कहलाते हैं, जो परंपरागत अर्थ को महत्व देते हैं उन्हें ध्वनिवादी कहते हैं। अलंकार को विशेष महत्व देने वाले अलंकारवादी, चमत्कृति को काव्य-जनित आनन्द मानने वाले वक्रोक्तिवादी, रस-रूप शुद्ध आनन्द को काव्य की आत्मा मानने वाले रसवादी और मन को रमाने वाली शक्ति को विशेषता देने वाले रमणीयतावादी कहलाते हैं। इनके स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए नीचे एक उदाहरण दिया जाता है—

शीश पगा न झगा तन में प्रभु जाने को आहि बसे केहि गामा।
धोती फटी सी लटी दुपटी अरु पाँय उपानहु की नहिं सामा।
द्वार खड्यो द्विज दुर्बल एक रह्यो चकिसो बसुधा अभिरामा।
पूछत दीनदयाल को धाम बतावत आपनो नाम सुदामा।

—नरोत्तम

अभिधावादी कहेगा कि सुदामा का दैन्य 'शीश पगा न झँगा तन में' 'धोती फटी सी लटी दुपटी' के द्वारा शब्द के अपने अर्थ की शक्ति से व्यक्त हुआ है और इससे भगवान् कृष्ण के नेत्रों के सम्मुख किसी वास्तविक दीन का चित्र उपस्थित हुआ है।

रीतिवादी इस पर एक प्रश्न का चिह्न लगायेगा और कहेगा कि यदि कवि ने शब्द-संगठन के इस प्रयास में सुदामा शब्द पहिले रख दिया होता तो कदाचित् द्वारपाल को इस दीन दशा के सुनाने का अवकाश ही न मिलता और वह करुणा जो इस अभिधार्थ से व्यक्त हुई है, स्मृति के सहारे मैत्रीभाव में लीन हो जाती। अतएव शब्द संघटन ही इस छंद को सत्काव्य की पदवी देता है।

'पूछत दीनदयाल को धाम' का अभिधार्थ है 'दीनों पर दया करने वाले का घर', परन्तु द्वारपाल के द्वारा प्रयुक्त यह शब्द उसके अपने मस्तिष्क की उपज है। वस्तुतः सुदामा ने पूछा था—'धीरज अधीर के, हरन पर-पीर के, बताओ बलवीर केरे भवन यहाँ कौन हैं ?' राजदरबार के व्यवहार से अनभिज्ञ इस भरी-पूरी नगरी में सुदामा भिक्षुक बन कर नहीं आया था। वह अपने मित्र से अपनी पीड़ा निवेदन करने के लिए ही आया था। इसीलिए वह 'धीरज अधीर के' इत्यादि कहता है। परन्तु द्वारपाल उसे दीन समझ कर उस पर दया करने की

प्रेरणा करता है, अर्थात् द्वारपाल यह कहता है, कि एक भिखारी द्वार पर खड़ा है, उस पर आपकी कुछ दया हो जाय। यह निश्चित है कि शब्द का यह अभिधार्थ नहीं है और शब्द की इसी शक्ति को महत्व देने वाला ध्वनिवादी कहलाता है।

वक्रोक्तिवादी ध्वनिवादी से थोड़ा आगे बढ़कर कहता है कि शब्द का वही अर्थ आनन्दप्रद हो सकता है जो हमारे चेतोविस्फार का कारण हो। वह कहता है, सुदामा की दीन दशा के वर्णन से भी अधिक बलशाली शब्द 'जाने को आहि बसे केहि गामा' और 'रह्यो चकिसो' है। इन शब्दों के द्वारा ही सुदामा की दयनीय दशा की तीव्रतम व्यंजना होती है अर्थात् सभ्यजनोचित परिधान के अभाव में यह नहीं कहा जा सकता कि वह वर्णतः अथवा आश्रमतः कौन है? 'बसे केहि गामा' कहकर द्वारपाल उसे अपरिचितों की श्रेणी में इतनी दूर फेंक देता है कि कल्पना ही उसे ढूँढ़ सकती है। उसका भौचक्कापन न केवल उसकी दीन दशा का ज्ञापक है, वरन् उसकी मनोदशा को भी प्रत्यक्ष कर देता है। शब्द की इसी शक्ति का नाम वक्रोक्ति है। यह वक्रोक्ति जिस काव्य में न हो, वह सत्काव्य नहीं है।

इन सब वादों में मुख्य लक्ष्य मन को रमा देना है। इसलिए रमणीयतावादी काव्य-साहित्य की मनोरमता पर विशेष बल देता है। इस छंद का प्रत्येक शब्द मन को रमाने में समर्थ है। अतएव यह छंद रमणीयतावाद की कसौटी पर खरा उतरता है, सत्काव्य की गणना में आता है।

रस और अलंकार का हम आगे विस्तृत विवेचन करेंगे। अस्तु, इन्हे हम यहाँ छोड़ते है।

ध्वनि सम्प्रदायः—भारत का नाट्य शास्त्र कवि और कवि-कार्य का वेद है, स्मृति भी नहीं, शास्त्र भी नहीं। जैसे प्रस्थान-त्रयी "उपनिषद्, वेदांत और गीता" पर ही समस्त ईश्वरवाद निर्भर है, उसी प्रकार भरत के नाट्य-शास्त्र पर समस्त साहित्यिकवाद निर्भर हैं। भरत के सूत्र 'विभावानुभावसहचारिसंयोगाद्रस-निष्पत्तिः' के संयोग और निष्पत्ति शब्द ने न केवल रस के विभिन्न सम्प्रदायों को जन्म दिया, वरन् ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन को ध्वनि की प्रेरणा भी इसी से प्राप्त हुई। वैयाकरणों का स्फोट आनन्दवर्धन का इतना उपकारी नहीं था जितना भरत का यह सूत्र।

आनन्दवर्धन में रीति सम्प्रदाय की प्रतिक्रिया हम इस रूप में पाते हैं कि रीति सम्प्रदाय और अलंकार सम्प्रदाय परस्पर विरोधी नहीं थे। ये दोनो

सम्प्रदाय उपकार्य-उपकारक भाव से एक दूसरे की स्वीकृति कर रहे थे। दोनों अभिधा-व्यापार पर निर्भर रह कर आगे बढ़ रहे थे। आनन्दवर्धन पहिला व्यक्ति था जिसने अभिधा-व्यापार का खण्डन किया और यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि जहाँ शब्द और अर्थ अपने प्रचलित स्वरूप को छोड़ कर अपने में ही निहित किसी दूरवर्ती अर्थ की अभिव्यक्ति करने लगते है, वहीं ध्वनि होती है और वहीं सत्-काव्य। व्यंजना का महत्व स्थापित करना आनन्दवर्धन का कृतित्व है और ध्वनिवादी के लिए आनन्दवर्धन द्रष्टा—ऋषिकल्प बन गया। सच तो यह है कि ध्वनि-निरूपण में आनन्दवर्धन ही आदि है और आनन्दवर्धन ही अन्त। आगे चलकर उसकी परंपरा को चलाने वाले ही हुए, कोई विशेषता उत्पन्न कर सकने वाला न हो सका। अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ कविराज से लेकर आज तक के सब शास्त्रकार आनन्दवर्धन से प्रभावित हुए हैं और ऐसा विश्वास है कि आगे भी प्रभावित होते रहेंगे।

रीतिवादः—संभवतः काव्य की परिभाषा के सम्बन्ध में रीतिवाद सब से प्राचीन है। भरत के नाट्य शास्त्र में अभिनय के वाचिक और अंगहार रूपों में पात्र-भेद से भाषा-भेद और वेशभूषा-भेद की कल्पना दिखाई देती है। इसी प्रकार वात्स्यायन-काम-सूत्रों में प्रसादन के निमित्त समय और प्रयोजन को आधार मानते हुए विभिन्न प्रकार की वार्ता का संकेत मिलता है। चार विद्याओं में भी आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, दंडनीति की चर्चा करते हुए शत्रु, मित्र और उदासीन के प्रति वार्तालाप के ढंग पर विचार किया गया है। इस विवेचन से यह प्रतीत होता है कि यद्यपि रीतिशास्त्र का साहित्यिक विवेचन इस समय तक नहीं हुआ था, तथापि वार्तालाप की विशेष शैलियों का निर्माण हो चुका था और प्रभावात्मकता के लिए उसके नियम और उपनियम बनने लगे थे। यह काल भारत का सूत्रकाल है जो ईसा की सातवीं शताब्दि के पूर्व से पहिली शताब्दि के पूर्व तक आता है। आधुनिक ऐतिहासिकों की दृष्टि से यदि हम अग्निपुराण का साक्ष्य स्वीकार करें और व्यास निर्मित मानें तो रीतिवाद का जन्म महाभारत काल में मानना होगा। परन्तु विद्वानों का मत है कि अग्निपुराण मुगलकाल की रचना है। हो सकता है कि अग्निपुराण में मौलिक रूप में कुछ विषय ऐसे भी हों जिनमें रीतियों का संकेत हो, जिस पर मुगलकाल में अधिक विचार करके अग्निपुराण की कलेवर-वृद्धि की गई हो। यूनानी दार्शनिक अरस्तू का रीतिशास्त्र के सम्बन्ध में जो विवेचन मिलता है उसमें भी भारतीय रीति-परंपरा का दर्शन प्राप्त होता है। अतः यदि अग्निपुराण को हम प्रामाणिक न समझें तो

रीतिशास्त्र के साहित्यिक रूप के आविष्कार का श्रेय हमें अरस्तू को देना होगा।

अरस्तू ने साहित्य और तर्क दोनों शास्त्रों पर पुस्तकें लिखीं। सिलोजिज्म (Syllogism) का आविष्कर्ता अरस्तू जहाँ अनुमान का स्वरूप स्थिर करता है वहाँ रीतिशास्त्र में भी ओजपूर्ण और कोमल शैली की स्थापना करता है। अरस्तू के शिष्य डिमेट्रियस ने शैली का चार रूपों में विभाजन किया है।[1]

१. प्रसन्न मार्ग (Plain Style)
२. उदात्त मार्ग (Stately Style)
३. मसृण मार्ग (Polished Style)
४. ऊर्जस्वी मार्ग (Powerful Style)

इन दोनों विद्वानों ने शब्द-संघटना के प्रभावात्मक उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर शैली का विभाजन किया था। अरबों ने भी ओजपूर्ण और कोमल मार्गों का वर्णन किया। फारसी की रज्मियाँ[2] और वज्मियाँ[3] शायरी इन्हीं शैलियों के निदर्शन हैं।

भारतवर्ष में रीतिशास्त्र का विकास बोली के देश-विशेष से सम्बन्ध रखने के कारण हुआ। अतएव शब्द-चयन की प्रवृत्ति में अन्तर होना स्वाभाविक था। भारत की बहिरंग भाषाओं में आज भी दन्त्य 'स' के स्थान पर तालव्य 'श' बोला जाता है। दाक्षिणात्य दन्त्य 'ल' को कुछ-कुछ मूर्धन्य-सा बोलते हैं। इस प्रकार देश-भेद से भाषाभेद और भाषाभेद से शैली-भेद होना स्वाभाविक था।

नाटकों में एक नियम बन चुका था कि स्त्रियाँ और प्रकृतजन प्राकृत-भाषा में वार्तालाप करें, पुरुष संस्कृत में। विचित्रता यह है कि पुरुषों की संस्कृत को प्रकृत जन और स्त्रियाँ समझती हैं तथा आवश्यकता पड़ने पर संस्कृत बोल भी लेती हैं, उसी प्रकार स्त्रियों और विभिन्न देशवासी, विभिन्न प्राकृत जनों की बहुरूपा विभिन्न प्राकृत भाषा को पुरुष समझते हैं और आवश्यकता पड़ने पर प्राकृत बोल भी लेते हैं। यही नहीं, आवश्यकता के अनुसार यावनी भाषा के प्रयोग का भी उल्लेख मिलता है। इसी वाणी-वैचित्र्य के वैविध्य

१—भारतीय साहित्य शास्त्र, पृष्ठ २२३
२—ओजपूर्ण शायरी
३—प्रसाद-माधुर्य गुण युक्त शायरी

से भामह को प्रेरणा मिली और ईसा को लगभग पाँचवी शताब्दि में उन्होंने वररुचि के प्राकृत व्याकरण पर प्राकृत प्रकाश नामक ग्रंथ लिखकर प्राकृत भाषा को स्थिर और निश्चित मार्ग देने की चेष्टा की। संभवतः शैली के सम्बन्ध में उन्होंने इस व्याकरण को लिखते समय विचार किया होगा और देखा होगा कि किस प्रकार विदर्भ देश-वासी असमासा कोमल शैली का प्रयोग करते हैं और गौड़ देशीय समास बहुला शैली का। एक बात और ध्यान देने की है। संस्कृत व्याकरण की दुरूहता इन शैलियो के मूल में रही होगी। समास बहुला शैली देखने में अवश्य कठिन जान पड़ती है, परन्तु लिखने में सरल है। असमासा शैली देखने में सरल पर लिखने में कठिन है। अतएव विचारक के दृष्टिकोण से असमासा शैली को महत्व प्राप्त हो जाना स्वाभाविक ही है। और इसीलिए वैदर्भी रीति का विशेष सत्कार हुआ।

इसका यह अर्थ नही है कि भामह ने शैली के जो दो मुख्य भेद स्वीकार किये, केवल वे ही लक्ष्य ग्रंथों में उपस्थित है। भामह ने इन कोमल और पेशल शैलियों की शक्ति को स्वीकार किया है और उन्हे विशेष महत्व दिया है। भामह से अनतिदूरवर्ती बाणभट्ट चार दिशा की चार शैलियाँ 'उदीच्य, प्रतीच्य, प्राच्य और दाक्षिणात्य, स्वीकार करते है और दंडी व्यक्तिगत भेद से शैली के आनन्त्य के पक्षपाती है। सम्भवतः दंडी ने ही शैली के मूल तत्व को पकड़ा और उन्होंने ही यह स्थापित किया कि शैली व्यक्ति का व्यक्तित्व है। इतना होते हुए भी दंडी शैली को देशीय सीमाओं से बाहर नहीं निकाल सके और यह अस्वाभाविक भी नहीं था कि देश विशेष की अभिभाषण शैली विशेष बनी रहे। संभवतः दंडी ने पांचाली शैली को और जोड़ दिया।

वामन और रुद्रट समकालीन प्रतीत होते हैं। वामन आठवीं शतक के अन्त और नवीं शतक के प्रारम्भ तक रहे हैं। रुद्रट की चर्चा नवीं शताब्दि के आदि में निर्मित राजशेखर की काव्यमीमांसा में मिलती है। इससे प्रतीत होता है कि रुद्रट भी आठवीं शताब्दि के हैं। इस समय तक सम्पूर्ण देश की सांस्कृतिक एकता स्थिर हो चुकी थी, बौद्ध प्रभाव नष्ट हो चुका था। बड़ी विचित्र घटना यह है कि छोटे-छोटे राज्य जब आपस में कटे-मरे जाते थे उस समय एक ही तार काश्मीर से कन्याकुमारी तक झनझना रहा था जिसके स्वर में सभी स्वर संवादी थे, कोई भी विवादी नहीं था। इस सांस्कृतिक एकता ने संस्कृत की समस्त शैलियों की देशिक सीमाओं को भंग कर दिया। अब रह

गया केवल रुचि-भेद। इस तथ्य को रुद्रट ने पहचान लिया और उसने कहा कि वैदर्भी का मंद्र विदर्भ देश की ही सम्पत्ति नहीं है, गौड़ी का मध्य गौड़ों की ही बपौती नहीं है, अथवा पांचाली का तार स्वर पांचालों की वैयक्तिक सम्पत्ति नहीं है। सरस्वती की इस वीणा का प्रत्येक स्वर, प्रत्येक लय और ताल में बजाने का अधिकार प्रत्येक प्राणी को है, इसके लिए केवल भावुक हृदय और तीव्र अनुभूति ही अपेक्षित है। अनुभूति की व्यञ्जना के लिए मध्य, मंद्र और तार स्वर स्वतः उत्पन्न होते है, सर्वत्र उत्पन्न होते हैं, प्रेरणा और स्थान की आवश्यकता नहीं, प्रवृत्ति और अवसर की ही आवश्यकता है।

दंडी से लेकर रुद्रट और वामन तक रीति की धारणा में भी परिवर्तन हुआ। पहिले जो रीति केवल शब्द संघटन पर विचार करती थी, उसने क्रमशः गुण, अलंकार और रस धारणा को भी आत्म-सात् कर लिया था। इसकी प्रतिक्रिया हमें ध्वनिवादी सम्प्रदाय में दिखाई देती है।

अलंकार-संप्रदायः—हम पहिले कह आये है कि अलंकार-सम्प्रदाय रीति-सम्प्रदाय का सहकारी रहा है। अतएव अलंकार-सम्प्रदाय का विरोधी कोई नहीं रहा। काव्य के प्रति अलकार की उपयोगिता लगभग सभी ने स्वीकार की है। परन्तु दंडी पहिला व्यक्ति था जिसने अलंकार को विशेष महत्व दिया। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि दंडी का अलंकार-सम्प्रदाय इतना व्यापक है कि उसमें सभी कुछ आ जाता है। लगभग सभी लक्षणकारों ने अलंकार-शास्त्र का विवेचन किया है। वामन, रुद्रट, राजशेखर, मम्मट, विश्वनाथ और पंडित-राज जगन्नाथ ने अलंकार-शास्त्र को काव्य में उचित स्थान देने की चेष्टा की है।

मम्मट ने काव्य की परिभाषा में कहीं कह दिया था कि "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।" इस वाक्य के "अनलंकृती पुनः क्वापि" पर चन्द्रालोककार जयदेव इतने अप्रसन्न हो गये कि उन्होंने अनलंकार-वादी को फटकार दिया और कहा :

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥

—चन्द्रालोक, प्रथम मयूखः।

अर्थात् ऐसा ही कृती काव्य को अलंकार विहीन मान सकता है जो अग्नि को अनुष्ण मानता हो।

यह हमारी दृष्टि में केवल अर्थवाद है। अलंकारों की उपादेयता में सन्देह नहीं। और अलंकारों का क्षेत्र इतना व्यापक है कि कोई ऐसा काव्य नहीं मिलेगा जिसमें कोई न कोई अलंकार न हो, फिर भी अलंकार केवल अलंकार ही है, काव्य का शोभा-आधायक है। अग्नि के धर्म उष्णता की भाँति वह उसका सहज धर्म नहीं है। अनेक अवसरों पर अलंकार का ध्यान भी हमें नहीं आता और काव्य-गत आनन्द की प्राप्ति हमें हो जाती है। इस लिए अप्रकट-उपकारक अलंकार यदि बना भी रहे तो भी अलंकार ही काव्य है, ऐसा स्वीकार नहीं किया जा सकता और इसीलिए जयदेव का यह मत सर्व मान्य नहीं हुआ।

हिन्दी में इस सरणि का अनुसरण जसवंत-जसोभूषण और केशव में दिखाई देता है। यह परम्परा जैसे संस्कृत में समाप्त नहीं हुई वैसे ही हिन्दी में भी आधुनिक काल के पूर्व तक बराबर चलती रही, और आज भी अलंकार रूप बदल कर नये नामो से अपना रंग दिखा रहे है।

वक्रोक्ति सम्प्रदायः—सूक्ष्म ग्राहिणी बुद्धि अलंकार विवेचना में प्रवृत्त होकर वक्रोक्ति तक पहुँच गई। वाणी के वैदग्ध्य का आदर सदा से होता आया है। अतएव कविजन उसका आदर न करते, यह कैसे संभव था। कालिदास ने एक छंद कहा थाः—

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया पिनाकिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतः त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी॥[१]

—कुमारसंभव, पंचम सर्ग, श्लोक ७१,

वक्रोक्ति जीवितकार उक्त छंद की आलोचना करता हुआ कहता है कि पिनाकिनः के स्थान पर "कपालिनः" का पाठ भणिति की वक्रता के कारण कितना तीक्ष्ण हो सकता है, इसे भावुक हृदय ही अनुभव कर सकता है।

शास्त्रकारो की दृष्टि में यह बात सदैव चुभती रही है कि मनोवेगों को इस प्रकार तीक्ष्णता प्रदान करने वाली शक्ति कौन-सी है :

"अलंकृतिरलंकार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते।
तदुपायतया तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता॥"

—वक्रोक्ति जीवित,

१—भावार्थ : शंकर जी पार्वती से कहते हैं—हे पार्वती, ऐसा जान पड़ता है कि इस पिनाकी की समागम प्रार्थना के द्वारा दो वस्तुएँ शोचनीयता को प्राप्त हो गईं, एक तो उस कलावान चन्द्र की कला, दूसरी संसार के नेत्रों की कौमुदी तुम।

अलंकृति क्या है और अलंकार्य क्या है ? कुन्तक कहता है कि हम दोनों को एक दूसरे से अलग करके विवेचन करते हैं, क्योंकि यही वह उपाय है जिसके द्वारा एक दूसरे के स्वरूप की स्थापना होती है और इसी के द्वारा सालंकार पदार्थ को काव्य पदवी प्राप्त होती है। वह कहता है :

शब्दार्थौ सहितौ वक्र कविव्यापार शालिनी।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी ॥

—वक्रोक्ति जीवित,

(वह बन्ध जिसमें कवि-वक्र-व्यापार की उपस्थिति हो और जिसके कारण वह बन्ध उस वक्र-व्यापार को समझने वालों के लिए आनन्दप्रद हो, ऐसा शब्द और अर्थ का बन्ध काव्य कहलाता है।)

ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन ने ध्वनि को अलंकार्य माना है और उसकी सिद्धि के लिए व्यजंना के स्थापन का भगीरथ प्रयत्न किया है। व्यंजना को शब्द-शक्ति मानने के विरुद्ध नैयायिकों का एक दल खड़ा हो गया। उस दल का विरोध कर सकना न्याय की खरी कसौटी के साथ संभव नहीं और बहुधा व्यजंना निरवकाशा ही हो जाती है। परन्तु काव्यगत आनन्द की प्राप्ति के लिए केवल अभिधा समर्थ नहीं। यह ऐसा डायलमा (Dilemma) था जिससे बच सकना कठिन था। अतएव कुन्तक ने एक नवीन मार्ग की प्रतिष्ठा की। उसने अलंकार सम्प्रदाय भुक्त वक्त्रोक्ति का उद्धार करके यह सिद्ध किया कि वक्रोक्ति ही इस आनन्द की उत्पादिका है और यह वक्रोक्ति अभिधा व्यापार ही है। उसने कहा कि जैसे एक ही इषु-व्यापार बर्म-चर्म-मर्म-छेदन-पूर्वक प्राण हरण करता है, वैसे ही एक ही अभिधा व्यापार वक्रोक्ति के सहारे रस-उत्पत्ति भी करती है। तीन विभिन्न व्यापार मानने की आवश्यकता नही। प्रत्येक अलंकार, प्रत्येक व्यंग्य और प्रत्येक रस की व्यंजना अभिधा के द्वारा ही होती है। और यह अभिधा है कवि के अन्तर में स्थित वक्रोक्ति।

यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि कुन्तक का विरोध रसवाद से नहीं है, न ध्वनिवाद से है। उसका विरोध केवल व्यापारत्रय (अभिधा, लक्षणा, व्यजंना) की कल्पना से है। वह कहता है कि जो कुछ कवि कहना चाहता है, वह कवि का अभिधेय ही है। वह चाहे रस हो, चाहे अलंकार, चाहे कोई अन्य वस्तु। इसीलिए कुन्तक ने वक्रोक्ति का विवेचन करते हुए उसी में ध्वनि, अलंकार और रसों का अन्तर्भाव कर दिया है। कुन्तक की कृति सम्पूर्ण नहीं हो सकी और वह सम्प्रदाय प्रवर्तन भी नहीं कर सका। किन्तु कुन्तक जो

अकेले चुनौती दे गया है उसका उचित उत्तर किसी के पास नहीं। आगे चलकर वक्रोक्ति उस अर्थ में गृहीत न हो सकी जिस अर्थ में कुन्तक ने उसका प्रयोग किया था, और केवल एक अलंकार के रूप में परवर्ती कवियों ने उसका प्रयोग किया।

रसवादः— हम साहित्य का अध्ययन क्यों करें ? यह प्रश्न ऐसा है जिसका उत्तर विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से दिया है। तुलसी ने उसे "कीरति भनिति भूति भल सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई ॥" कहा है। मम्मट ने "काव्यं यशसे अर्थकृते, व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये" कहा है। कोई कला को जीवन के लिए मानता है, कोई उसे बंडल आव लाइज़ (Bundle-of lies) कहता है और कोई कला का उद्देश्य ढूंढ़ने की चिन्ता करना भी पाप समझता है।

फिर अनादि काल से मानव क्यों गाता है, क्यों रोता है ? उसके गान और रुदन में कविता क्यों दिखाई देती है ? उसके सुख-दुःख की संगिनी कविता क्यों बनी ? स्पष्ट है कि कविता का उद्देश्य 'मानव जीवन का सब कुछ है', या 'कुछ नहीं' है। जो कुछ नहीं है वह भी हमारे साथ सदैव लगा रहता है। हम इस पक्ष को मानते हैं कि कविता हमारे जीवन का सब कुछ है। इसीलिए यह हास और रुदन में, बैर और प्रेम में, क्रोध और भय में, घृणा और उत्साह में हमारे जीवन के प्रत्येक भाव के साथ जुड़ी चलती है। हम मम्मट के इस वाक्य से सहमत है कि कविता "कान्ता सम्मिततया उपदेशयुजे" है। आज का वैज्ञानिक कलावादी संभव है 'उपदेशयुजे' पर आपत्ति प्रकट करे। उसके संतोष के लिए हम कविता का एक और उद्देश्य कह सकते हैं जो मम्मट की इस उक्ति से भी मेल खाता रहेगा और आज के वैज्ञानिक को भी संतोषप्रद होगा। बिहारी कहता है:—

> मार्‌यो मनुहारिन भरी, गार्‌यो खरी मिठाहिं।
> वाको अति अनखाहटौ, मुसकाहट बिनु नाहिं ॥

अर्थात् कविता में और कुछ चाहे हो या न हो, उसकी गालियों में भी मिठास है और अनखनाहट में भी मुसकाहट है। इसी का नाम 'रस' है और इसी रसवत्ता के कारण कला को कला की पदवी प्राप्त होती है। साथ ही वह 'कान्ता सम्मिततया उपदेशयुजे' हो सकती है। अन्यथा 'शास्त्रगुरूपदेश' की बातें न जाने कितनों ने सुनी अनसुनी की होंगी।

कविता के इस उद्देश्य को महामुनि भरत और अग्निपुराणकार व्यास ने स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है। परवर्ती आचार्यों ने भी इस रस की महत्ता को कभी अस्वीकृत नहीं किया। भामह से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक की आचार्य परंपरा इसे मानती चली आई है। वैष्णवों में तो एक रससंप्रदाय ही है। पुष्टिमार्ग का आधार रस है और हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों ने तो रसोपासना ही की थी। आज का कवि भी रसांगों के उद्‌बोधन के प्रयत्न में लगा हुआ है।

'रस' को यद्यपि इतना महत्व प्राप्त रहा, परन्तु उसे काव्य की आत्मा विश्वनाथ ने ही माना। परवर्ती हिन्दी आचार्यों ने रस विवेचना में शृंगार को ही रसवत्ता प्रदान करदी। शेष रस गौण हो गये। आज का कवि उसकी प्रतिक्रिया में संलग्न हुआ। परन्तु रस का शाब्दिक अर्थ 'रस्यते आस्वाद्यते' है। अर्थात् जिसका आस्वादन किया जा सके वही रस है। कवि इस आस्वाद्यमान रस से मुँह तो नहीं फिरा सका, परन्तु आस्वाद्यमान होने के साधनों में उसने अन्तर उत्पन्न करने की चेष्टा की। जहाँ पुराना कवि व्यंजना के दूरीभूत प्रसंग को दोष मानता था, वहाँ आज का कवि वैचित्र्यवाद का नाम लेकर कल्पना के ऐसे रूप खड़ा करने में व्यस्त हो गया जिसके सम्बन्ध में हमें उर्दू के एक कवि की यह उक्ति चरितार्थ जान पड़ती है—

"कलामे मीर समझे हम ज़ुबाने मीरज़ा समझे।
मगर इनकी कही यह आप समझे या खुदा समझे॥"

यदि स्थिति यहीं तक रही होती तो हम विश्वास कर लेते कि ये कल्पना के महल हैं, सत्य के प्रचंड झंझावात में आप ही उड़ जायँगे। ऐसा ही हुआ भी। परन्तु आगे चलकर कवि इस काल्पनिक जगत् से नीचे गिरा और इतना नीचे गिरा कि एक ओर उसने यह देखा कि कुछ लोग दौड़े चले जा रहे हैं। उन्हीं के पीछे वह भी दौड़ पड़ा और "मारग अगम संग नहिं संबल नाँव गाँव कर भूला रे" की दशा में अपना दमड़ी का चिराग लिये अब भी दौड़ा चला जा रहा है।

रमणीयतावादः—जहाँ तक रीतिसम्प्रदाय का प्रश्न था, वहाँ तक रीतियों के सर्वसाधारण होने के कारण विवाद का प्रश्न नहीं था। परन्तु जब ध्वनि अथवा रस काव्य के आवश्यक अंग बन गये तब एक विवाद का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। ध्वनि के सम्बन्ध में विवाद का निरूपण तो स्वयं ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने किया और कहा है कि जहाँ शब्द और अर्थ अपने-स्व-अर्थ को

गौण नहीं कर देते वहाँ उत्तम काव्य नहीं होता। अर्थात् उसकी दृष्टि से अभिधामूलक, लक्षणामूलक, अलंकारमूलक काव्य सत्काव्य नहीं। इस दृष्टिकोण से देखने पर काव्य का एक बहुत बड़ा अंश काव्य-श्रेणी से बाहर हो जाता है। केवल उपर्युक्त काव्य ही नहीं, ऐसा व्यंजनामूलक काव्य जिसमें व्यंजना प्रधान न हो, सत्काव्य नहीं ठहरता। इस संकीर्ण परिभाषा के द्वारा काव्य की सीमा इतनी सकुचित हो जाती है कि ध्वनिकार को ही कहना पड़ा कि 'द्वित्रा पंचषा महाकवयो दृश्यन्ते।' दो तीन या पांच छः ही महाकवि देखे जाते हैं। काव्य की यह संकीर्ण परिभाषा काव्य के उपयुक्त नहीं है।

रसवादी का मत भी इसी प्रकार संकीर्ण है। एक तो रसोद्बोध मानव मे ही संभव है। दूसरे तिर्यकयोनिगत प्राणियों की रसभावना मानव-जीवन की निरन्तर सहकारिणी बनी रही है। वह भावना भी शुद्ध रस की अनुभूति में रस परिभाषा को ही मान्य ठहराने पर बाधित हो जाती है। प्रकृति का सुन्दर रूप भी मानव को सदैव आकृष्ट करता रहा है। अतएव आलम्बनात्मक प्रकृति का वर्णन रस-परिभाषा के अनुसार सत्काव्य नहीं ठहरेगा। सूक्ति सम्पन्न काव्य तो रस-परिभाषा की मान्यता के द्वारा एक दम काव्य-क्षेत्र से बाहर जा पड़ेगा। अतएव रस-परिभाषा भी संकीर्ण परिभाषा है।

पंडितराज जगन्नाथ ने इन परिभाषाओं की संकीर्णता पर ध्यान दिया। साथ ही उनकी दृष्टिपथ से रस का महत्व भी ओझल नहीं था। अतएव पंडितराज जगन्नाथ ने रमणीयतावाद की स्थापना की। अर्थात् वह शब्दार्थ जिसमें मनुष्य के मन को रमाने की शक्ति है, काव्य कहलाता है। वे कहते हैं 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यं।' पंडितराज की यह परिभाषा इतनी व्यापक है कि इसमें प्राच्य और पाश्चात्य सभी परिभाषाएँ अन्तर्भूत हैं। 'कला कला के लिए है' कहनेवाला जिस सौन्दर्यबोध की सृष्टि करने की इच्छा करता है, रमणीयता उसी का उपलक्षण है। रस रमणीयता के अन्तर्भुक्त है, वक्रोक्ति का परिणाम विच्छित्ति विशेष है और रीति, गुण, अलंकार सब का एकमात्र प्रयोजन यही रमणीयता है। हमारी दृष्टि में काव्य की यही सर्वव्यापक परिभाषा है और इसीलिए वस्तुगत वाद कोई बना रहे, यदि शैलीगत रमणीयतावाद का अभाव है तो वह काव्य काव्य नहीं। अतएव यह वाद सर्वसाधारण है और सर्वातिशायी सर्वव्यापक है। कृतिविशेष में इसकी परीक्षा यदि की जायगी तो वह परीक्षा मानों यही सिद्ध करेगी कि कृतिविशेष काव्य है अथवा नहीं।

प्राच्य शैलीगत वादों का सामान्य विवेचनः—भारतवर्ष का यह शास्त्रीय विचार केवल दृष्टि वैचित्र्य ही है। जैसे रस-सिद्धान्त में रस की निष्पत्ति के सम्बन्ध में भरत मुनि के सूत्र की व्याख्या करते हुए अनेक विचारकों ने अनेक मत दिये। अभिधावादी उसे अभिधा से निष्पन्न मानते है, चाहे वह बीजांकुर न्याय से उत्पन्न हुआ हो चाहे अनुमानगम्य हो, चाहे अभिधा के भावकत्व व्यापार के भोजकत्व व्यापार में परिणत होने पर आस्वाद्यमान हुआ हो, रस की सत्ता सभी ने स्वीकार की है। ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन और उसके टीकाकार अभिनवगुप्त उसे व्यंजना का परिणाम मानते हैं। रस की सत्ता को वे भी अस्वीकार नहीं करते। अलंकार, रीति अथवा वक्रोक्ति को काव्य का प्राण मानने वाले भी काव्यगत आनन्द को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखते। इनका मत है कि साध्य और साधन दो भिन्न वस्तुएँ है। आनन्द साध्य है और काव्य उसका साधन। काव्य में उपस्थित रहते हुए भी काव्य का वह परिणाम है जो आस्वाद्यमान होकर चमत्कृति के रूप में उपस्थित होता है। काव्य का परिणाम होने के कारण न वह स्वय की आत्मा है और न काव्य का स्व-तत्व।

आनन्द अथवा सौन्दर्य कवि या भावुक के हृदय में अवश्य रहता है। उस आनन्द की शाब्दिक उद्भावना ही काव्य का स्वरूप धारण करती है। इसलिए पूर्ववर्ती विचारकों ने यदि आनन्द को काव्य की आत्मा नहीं माना तो हम उनको दोष नही दे सकते। परन्तु न्यायतः काव्य का आनन्द चाहे कवि के हृदय का हो, चाहे भावुक के हृदय का, वही काव्य है ऐसा नहीं कहा जा सकता। जिन शब्दार्थों के द्वारा वह आनन्द व्यक्त होता है वे शब्दार्थ ही काव्य कहे जाते हैं। इसीलिए पंडितराज जगन्नाथ को कहना पड़ा, 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यं।' यहाँ प्रसंगतः वक्रोक्ति जीवितकार के मत की भी यत्किंचित् विवेचना कर लेनी आवश्यक है। वक्रोक्तिजीवितकार वक्रोक्ति को प्रसिद्ध अलंकार से भिन्न 'वैदग्ध्यभंगी भणिति' के रूप में स्वीकार करता है। वह उदाहरण देता है कि जैसे रूप, गठन, अलंकार, वेशभूषा, चेष्टा इन सबसे भिन्न लावण्य नाम की एक वस्तु अंगनाओं में रहती है, यही लावण्य विच्छित्ति (विशेष शोभाशालिता) का हेतु वक्रोक्ति है। हमें तो इस विशेष शोभाशालिता, ध्वनि, रीति (पद-संघटना) और रस के मूल स्वरूपों में केवल इतना ही अन्तर दिखाई देता है कि कुछ साधन पर विशेष ध्यान देना चाहते है और कुछ साध्य पर। साध्य और साधन की असमन्वय भावना ही इन वादों के मूल में है। वैसे प्रतिपाद्य सब का एक ही है।

भारतवर्ष में यह विचार परंपरा सातवीं शताब्दि से उदित हुई और जो काल ऐतिहासिक दृष्टि से अव्यवस्था का काल कहा जाता है उसी काल में इसका सम्पूर्ण विकास हुआ। साहित्य पर काल विशेष का अवश्यम्भावी प्रभाव मानने वाले विचारकों के लिए साहित्यशास्त्र का यह विवेचन एक ऐसी चुनौती है जिसका सामना कर सकना इन कालवादियों के लिए असंभव है। पारस्परिक संघर्ष के युग में, हिन्दू और मुसलमान संस्कृतियों के संघर्ष में उत्पन्न होने वाली इस साहित्य-लहरी में न कहीं क्षोभ का दर्शन होता है, न मार्गावरोध है, न निराशा के भँवर हैं और न विचारों का उथलापन है। अभिधा की क्षुद्र धारा क्रम-क्रम से परिपुष्ट होती हुई रमणीयता की गम्भीरता में उस समय परिलक्षित होती है जब औरंगजेब भारतवर्ष का शासक था। यहाँ आकर यह प्रवाह रुक जाता है, मानों मरुभूमि ने इसका शोषण कर लिया।

आगे चलकर जो कुछ हमें दिखाई दिया वह केवल सैकत कण में यत्र-तत्र भासमान प्रभा से भास्वर मृगतृष्णा के उत्पादक अभ्रकचूर्ण ही है। पिछले खेवे के कुछ विचारकों ने कुछ करना भी चाहा। ऐसा जान पड़ा कि एक ऐसी कुल्या का निर्माण हो जायगा जिससे शोषित मानसभूमि का पुनः सिंचन संभव होगा, परन्तु छेनी हथौड़े की कठोर चोटों ने उनका यह प्रयास लगभग विफल-सा कर दिया। देखें फिर कब परिस्थितियाँ इसके अनुकूल होती हैं जो शुद्ध आनन्द की सृष्टि करने वाला साहित्य और वैसे ही आनन्द की व्याख्या करने वाले विचारक पुनः अवतीर्ण कर सकें।

हमारी समस्त चिन्तन-धारा अपने जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों एवं अनुभूतियों को समेटे हुए जब भाषा की सीमा में आबद्ध होकर लिपि के द्वारा भविष्य की सम्पत्ति बनती है, तब साहित्य में शैली का जन्म होता है। मानव की सहज चेतना वातावरण से प्रभावित होकर उन्हीं के अनुरूप भावों एवं विचारों को ग्रहण कर अपने अनुभव-व्यापार को प्रशस्त किया करती है। इन संग्रहीत अनुभवों की अभिव्यक्ति वातावरण तथा संस्कार-सापेक्ष्य हुआ करती है। भावों की व्यंजना में ग्रामीणता अथवा नागरिकता की छाप इसका प्रमाण है। शैली के निर्माण में प्रातिभज्ञान सम्पन्नता का भी एक विशिष्ट स्थान है। प्रतिभा क्या है? प्रतिभा मानव का वह सहज ज्ञान एवं कौशल है जिसके सहारे वह प्रारम्भ से ही किसी कृति में अनायास निपुणता एवं सफलता का वरण करता है। इस प्रकार वह साहित्य में विभिन्न प्रकार की भावराशि की

योजना करता है। उसकी इस योजना का एक क्रम विशेष, रीति विशेष अथवा शैली विशेष होती है। कलाकार की प्रतिभा ही उसकी अभिव्यंजना प्रणाली में चमत्कृति का गुण उत्पन्न करती है। यह चमत्कृति (शैली-व्यापार) साहित्यमें भिन्न-भिन्न रूपों में दृष्टिगोचर होती है। प्रत्येक व्यक्ति के मानसिक उपकरण भिन्न-भिन्न होते हैं। उसके उपकरणों की सहायता से ही उसकी समस्त कृतियाँ निष्पन्न होतीं हैं। इन उपकरणों की स्थिति ही उसकी कृति पर प्रभाव डालती हैं। हम अपने नैतिक व्यवहार में प्रायः यह देखते है कि एक ही भाव या विचार को कई व्यक्ति अपने-अपने मानसिक उपकरणों के आधार से कई प्रकार से व्यक्त करते हैं। कोई एक बात को बहुत हल्के ढंग से हास्य के रूप में कहता है, कोई उसी को गम्भीरता पूर्वक व्यक्त करता है, कोई उसी को स्पष्टतापूर्वक समझाकर प्रकट करता है, कोई उसकी अभिव्यक्ति में सांकेतिकता लाना चाहता है तो कोई उसे अपने हृदय के सहज राग से सम्बन्धित करके उसकी प्रभावात्मकता को विशिष्टता प्रदान करना चाहता है। मानव की इसी प्रवृत्ति का दर्शन हमें साहित्य की अनेकानेक अभिव्यक्तियों में हुआ करता है। इन अभिव्यक्तियों के समस्त प्रकारों का एक मात्र उद्देश्य होता है पाठक या श्रोता के हृदय में सहानुभूति की सृष्टि करना।

साहित्य की समस्त अनुभूतियों के सम्बन्ध में यदि हम गम्भीरता पूर्वक विचार करें तो साधारणतः हमें उनमें तीन प्रकार मिलेंगे:—

(१) शब्द-प्रधान।

(२) शब्दों एवं भावों की संतुलित अवस्था।

(३) भाव-प्रधान।

साधारणतः नवयुवक कवि या लेखक अपनी छोटी से छोटी अनुभूतियों को सुन्दर से सुन्दर शब्दो में व्यक्त करने के लिए केवल शब्द चयन की प्रेरणा प्राप्त करते हैं, वे अपनी अभिव्यक्ति को तीव्रतर करने के लिए नाना प्रकार की रीतियों का आश्रय ग्रहण करते है। ऐसे कलाकार एक प्रकार से अप्रत्यक्षतः रीतिमार्गीय होते हैं, उनकी रचनाओं में रीतिविशेष का निर्वाह होने लगता है, कालान्तर में एक ऐसी अवस्था आती है जब भाषा और भावों में संतुलन आने लगता है, अतएव रीति विशेष का अनुगमन स्वयं अनावश्यक जान पड़ने लगता है, इस समय भावों के अनुकूल भाषा की उद्भावना की प्रवृत्ति बलवती हो उठती है। इस स्थिति तक आते-आते कलाकार की साधना में एक सिद्धि विशेष का

दर्शन होने लगता है, अब तक वह जिन अलंकारों अथवा वैचित्र्य को संयोजित करने के लिए अनेकानेक मानसिक उपक्रम करता रहा है, अब वे परिशान्त हो जाते है और बलपूर्वक खींचे जाने वाले अलंकारादि उसकी वाणी अथवा लेखिनी का सहज एवं स्वाभाविक अनुगमन करने लगते है।

इस स्थिति पर पहुँचने पर अब तक कृति में व्याप्त होने वाली रीति का स्थान अलंकार ले लेते हैं और यह काल वस्तु की व्यंजना और अलंकार की समीपता से सम्बन्ध रखता है।

मानव-जीवन में आने वाली ऋतुओं का क्रम बनने और बिगड़ने वाले मरुस्थल और सागर, फल-फूल कर उजड़ने वाली तरुराजि और कुसुमित उद्यानों की धूल में मिलने वाली पंखुड़ियाँ उसकी आयु-वृद्धि के साथ ही साथ अनुभूति की वृद्धि करती है। इसी अनुभूति के माध्यम से उसकी बुद्धि का विकास होता है। इस प्रकार आयु, अनुभूति और बुद्धि के विकास के साथ-साथ उसकी व्यंजना में भी परिवर्तन होता है। भावों की संख्या उत्तरोत्तर वृद्धि पाती है, शब्द और अलंकार अधूरे प्रतीत होते हैं; ध्वन्यार्थ भी शब्दों एवं अलंकारों से कुछ ऊपर उठ कर क्षण भर के लिए आनन्द की सृष्टि कर शान्त हो जाता है। इसके उपरान्त भावप्रधानता की अवस्था आती है। इस स्थिति पर पहुँच कर कलाकार जीवन के सत्य की उद्भावना करने में सफल होता है, उसे न तो शब्दों का ध्यान रहता है, न अलंकारों की चिन्ता रहती है और न उक्तिवैचित्र्य लाने के लिए वह प्रयासोन्मुख होता है। वह जिस भाव-धारा में अवगाहन करता रहता है, उसी की सीधी-सादी एवं सच्ची-सरल अभिव्यक्ति से शत-शत प्राणों को अपनी ओर खींच कर उन्हें भी अपनी ही रस-धारा में निमज्जित करने लगता है। ऐसी अवस्था की संप्राप्ति होने पर शब्द, अलंकार, व्यंजना आदि सब स्वतः ही भावों का अनुगमन करने लगते हैं। सूर, तुलसी, मीरा, रसखान आदि रससिद्ध कवियों की वाणी की यही विशेषता है।

जहाँ तक शब्द, अलकार और ध्वनि-प्रधान काव्य का सम्बन्ध है; वहाँ तक ऊपर के विवेचन में आयु शब्द के प्रयोग का यह अर्थ नहीं कि मनुष्य का वयोविकास इस स्थिति का सर्वथा नियामक है ही। हो सकता है कि बाल्यावस्था में ही ध्वनि प्रधान-रचनाएँ होने लगें और वृद्धावस्था तक भी शब्दों और अलंकारों का मोह न छोड़ा जा सके। काव्य की ये तीनों प्रवृत्तियाँ शब्द, अलंकार और ध्वनि एक ही काल में विभिन्न कवियों में और एक ही कवि की विभिन्न रचनाओं में उपस्थित रह सकती हैं।

शुद्ध शब्द-योजना:—

मनमोहन सों मोह करि, तू घनश्याम निहारि।
कुंजबिहारी सो बिहरि, गिरधारी उर धारि॥ —बिहारी

यहाँ पर मोह के लिए मनमोहन, निहारि के लिए घनश्याम, बिहरि के लिए कुंजबिहारी और उरधारि के लिए गिरधारी शब्दों के प्रयोग द्वारा शाब्दिक सौन्दर्य की योजना की गई है।

शुद्ध अलंकार योजना:—

चिरजीवौ जोरी जुरै, क्यों न सनेह गंभीर।
को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के बीर॥[1] —बिहारी

उक्त पद में प्रेम की व्यंजना और श्लेष अलंकार की योजना दोनों ही हैं, किन्तु आलंकारिक शैली का अनुगमन करने के कारण प्रेम-भावना पीछे पड़ गई है और आलंकारिक चमत्कार प्रमुख हो गया है।

शुद्ध व्यञ्जना की योजना—

बहके सब जी की कहत, ठौर कुठौर लखै न।
छिनु औरे छिनु और से, ये छबि छाके नैन॥ —बिहारी

इस पद में भाव की मार्मिक व्यञ्जना की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। इसका प्रत्येक शब्द भाव विशेष को प्रदान करने के कारण साधारण अर्थ में भी एक चमत्कृति विशेष उत्पन्न कर देता है. यथा:—

बहके—बहक गये, ठीक रास्ते में नहीं हैं, इधर-उधर फिरते हैं।
सब—हृदय की सम्पूर्ण कथनीय-अकथनीय बात।
जियकी—हृदय की अर्थात् सत्य।
कहत—अपने ही आप प्रकट करते हैं।

१—डा० श्यामसुन्दरदास ने अपने भाषाविज्ञान के अर्थ-विचार शीर्षक अध्याय में इसी दोहे के सम्बन्ध में विवेचना करते हुए लिखा है कि इन दोनों शब्दों (वृषभानुजा और हलधर के बीर) में श्लेष नहीं है, श्लेष-सा मालूम पड़ता है, पर आचार्यों के अनुसार श्लेषालंकार में दोनों अर्थ मुख्य होने चाहिए और यहाँ जैसा हम देख चुके हैं, एक ही अर्थ प्रधान है। दूसरा अर्थ केवल सूचित होता है। ऐसे स्थल में शाब्दी व्यंजना मानी जाती है, श्लेषालंकार नहीं।

ठौर—कहने का स्थान और अवसर ।

कुठौर—बात न कहने योग्य अवसर, यथा गुरुजन की उपस्थिति तथा लोक-लाज जाने की आशंका ।

लखै न—विचार नहीं करते हैं ।

छिनु औरे—इसमें अनेक भावों की अभिव्यक्ति है, यथा लज्जा, मान, प्रेम, तृष्णा आदि ।

छिनु और से—इसमें विरोधी भाव की अभिव्यक्ति है । यथा क्रोध, आत्मग्लानि इत्यादि ।

ये—संकेतात्मक शब्द है ।

छवि छाके—सौन्दर्य से मतवाले, मदिरा पिये हुए-से ।

नैन—नेत्र

ऊपर के ये तीनों उदाहरण अलंकार, शब्द-योजना और व्यञ्जना की दृष्टि से अलग-अलग हैं । नीचे एक ऐसा उदाहरण दिया जाता है जिसमें अलंकार, शब्दयोजना और व्यञ्जना तीनों एक ही स्थान पर एकत्रित हैं:—

> **इन दुखिया अँखियान कौं सुख सिरज्योई नायँ ।**
> **देखत बनै न देखिबो, बिनु देखे अकुलायँ ॥** —बिहारी

'दुखिया अँखियान' में अनुप्रास-योजना, 'सुख सिरज्योई' में शब्द-योजना तथा 'देखत बनै न देखिबो, बिनु देखे अकुलायँ' में विषय की व्याप्ति है । यहाँ पहिले वाक्य का दूसरे वाक्य में हेतु है, अतः हेतु अलंकार है, इस पद में लज्जा, पीड़ा और प्रेम की व्यञ्जना है, तथा 'इन' शब्द में संकेत है । 'सिरज्योई नायँ' में अत्यन्ताभाव है । 'देखत' में मिलन की संभावना है । 'बनै न' में कई भाव एक साथ गुम्फित हो गये हैं, यथा (१) रूप का इतना प्रकाश है कि आँखें मिच जाती हैं, (२) लज्जा का भाव, (३) आत्मग्लानि का भाव, (४) गुरुजन का भय, (५) लोक निन्दा का भय । 'बिनु देखे' में उत्सुकता, पीड़ा तथा तन्मयी भावत्व है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ही कवि में तथा अनेक कवियों में वर्णन की भिन्न-भिन्न शैलियाँ पाई जाती हैं । साहित्य-शास्त्र में ये विभिन्न शैलियाँ विभिन्न सम्प्रदायों के नाम से प्रचलित हैं । यथा ध्वनि सम्प्रदाय, रस सम्प्रदाय, अलंकार सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय आदि ।

इन सम्प्रदायों के आधार पर भी हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी ने रस को काव्य की आत्मा माना है, किसी ने अलंकार को ही काव्य में मान्यता प्रदान की है, यद्यपि रस के महत्व को अस्वीकार नहीं किया। दंडी और भामह इसी कोटि के हैं। अलंकारवादियों ने वक्रोक्ति, रीति और गुण को अलंकार के अन्तर्गत ही स्थान दिया है। 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहने वालों ने रचना-वैशिष्ट्य को ही प्रधानता प्रदान की है। ध्वनिवादियों ने काव्य में ध्वनि को प्रधानता दी और बताया कि वस्तु, अलंकार और रस ये तीनों ध्वनि से अलग नहीं है। कतिपय कला-शास्त्रियों ने अभिव्यञ्जनावाद की प्रतिष्ठापना की, इसके सम्बन्ध में 'भारतीय साहित्यशास्त्र' के लेखक श्री बलदेव उपाध्याय का मत है:—

"अभिव्यञ्जनावाद यूरोपीय आलोचना पद्धति का एक प्ररोह मात्र है, वह वहाँ की ही भावनाओं से ओतप्रोत है। भारतीय आलोचना दृष्टि से समीक्षा करने पर अनेक दोषों की सत्ता उसे नितान्त अनुपादेय, एक देशीय तथा कृत्रिम बता रही है।..................'अभिव्यञ्जनावाद में काव्य तथा कला के लिए न तो किसी नैतिक आधार का प्रयोजन मान्य है और न हृदय के भावों का समर्थ रूप से रमणीय अनुसन्धान है। वह कोरा चमत्कारवाद ही सिद्ध होता है। वह पूर्णरूपेण अभारतीय है...भारतीय सिद्धान्तों के न मानने से नितान्त उपेक्षणीय तथा एकदेशीय है।"[1]

साहित्यशास्त्र के ये सम्प्रदाय-विशेष साहित्य में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। साहित्यकार अपनी वैयक्तिक रुचि के आधार पर ही इनको अपने काव्य में स्थान देता रहा है। इस विवेचन में हमें यह न भूलना चाहिए कि ये काव्य की शैलियाँ मात्र हैं, काव्य के विषय नहीं। हिन्दी-साहित्य में भी ये केवल काव्य के साधन होकर आये हैं, साध्य की गरिमा से ये कभी गौरवान्वित नहीं हुए। एक बात और, इन सम्प्रदायों का अनुगमन भी हिन्दी साहित्य में अपनी क्रमबद्धता नहीं रखता है। रीतिकाल में अवश्य ही अलंकारविशिष्ट रचना अपने क्रम विशेष में पाई जाती है। इस युग की प्रवृत्ति ही अलंकाराभिमुख जान पड़ती है। इसके अतिरिक्त और कहीं भी ऐसी रचना उपलब्ध नहीं होती है जिसके लिए हम यह कहें कि हिन्दी के ये कवि ध्वनिवादी हैं अथवा रमणीयतावादी हैं। प्रत्येक युग के प्रत्येक श्रेष्ठ कवियों की रचनाओं में कहीं रस की सृष्टि है

१—भारतीय साहित्यशास्त्र, पृष्ठ ४४१

तो कहीं ध्वनि का विन्यास है, कहीं अलंकार की छटा है तो कहीं वक्रोक्ति की बहार है। कहीं रमणीयता काव्य का शृंगार कर रही है तो कहीं गुणों की व्याप्ति सहृदय के आकर्षण का केन्द्रविन्दु बनती है। इसीलिए हिन्दी साहित्य में अन्य वादों की भाँति शैलीगत वादों की किसी परंपरा विशेष का दर्शन हमें उपलब्ध नहीं होता है।

साहित्य में विविध वाद
और
लोक कल्याण

साहित्य में विविध वाद और लोक कल्याण

हमारी युग-युग की साधना जब सृजन का उत्सव मनाती है तब कला या साहित्य का जन्म होता है। चेतना के रथ पर गमन करने वाला मानव-हृदय अपनी यात्रा में अनन्त काल से गतिमान है। उसकी इस यात्रा का अन्तिम लक्ष्य क्या है, यह तब तक नहीं कहा जा सकता जब तक मानवता की विकास-क्रिया का अन्तिम पग निश्चित न किया जाय। साहित्यकार अपनी यात्रा की अनुभूतियों का दर्शन साकार रूप में उस समय करता है जब प्रकारान्तर से उनके जीवन का सत्य भाषा और लिपि की वाणी में मुख-रित हो उठता है। उसकी बोधवृत्ति उसे उसके यात्रा-पथ का अनुभव-दान देती है और यह अनुभव ही उसकी अहंता को परितोष प्रदान करने के लिए अभिव्यक्ति के रूप का वरण करता है। मानव की अहंता में आत्म और अनात्म भावों की व्याप्ति है। ये दोनों ही भाव उसके जीवन में एक संघर्ष विशेष की सृष्टि करते है। संघर्ष का परिणाम होता है अशान्ति, आकुलता। यह संघर्ष किसी क्षण विशेष अथवा काल विशेष का नहीं है, अपितु चेतना के प्रारम्भिक क्षणों में ही संघर्ष की सृष्टि हो जाती है। इस संघर्ष-जनित आकुलता के शमन के लिए मानव आत्मसाक्षात्कार करना चाहता है। आत्मसाक्षात्कार की पुण्यवेला में वह जगत् की विभिन्न परिस्थितियों को देखता है, अपने अतीत और वर्तमान की विवेचना करता है, विधि-निषेध-नियमों द्वारा शासित क्रिया-कलापों की छानबीन करता है। इस प्रकार वह एक ओर अपने को देखता है और दूसरी ओर गतिमान संसार को। संसार की परिवर्तनशीलता, अनेकानेक समस्याएँ उसके मानसपटल पर एक प्रश्न-सूचक चिह्न अंकित करती हैं और वह उनके उत्तर की खोज में लीन हो जाता है। उसकी यह तन्मयता, चिन्तन-पथ की गतिशीलता ही स्वतः उत्तर

बनकर उसके समक्ष उपस्थित होती है। इस समय उसका हृदय एक विचित्र कुतूहल से भर जाता है और वह भाव-विभोर होकर अँगुलियों से, वाणी से बोल उठता है। उसके ये बोल ही कला का रूप धारण करते हैं।

कलाकार की यह क्रिया साधना-सापेक्ष्य होती है। इसीलिए वह कलाकृति द्वारा मानों अपनी साधना का उत्सव मनाता है। उसकी यह साधना युग की पगडंडियों पर चलती हुई आती है। इसलिए कोई भी व्यक्ति यह दावा नहीं कर सकता है कि उसकी साधना का यह प्रतिफल नितान्त मौलिक है। यह स्पष्ट है कि कलाकार की वर्तमान कला उसके अतीत का वरदान है जिसे वह वर्तमान के पात्र में सँजोकर भविष्य के लिए सुरक्षित करने की कामना को पाल-पोस रहा है।

प्राय: लोग साहित्य या कला को परिभाषा की सीमा में बाँधना चाहते हैं। प्रारम्भिक अध्यायों में हमने भी अनेकानेक विद्वानों की साहित्य-कला सम्बन्धिनी परिभाषाओं का उल्लेख किया है, किन्तु सच तो यह है कि साहित्य की कोई निश्चित शाश्वत परिभाषा नहीं की जा सकती। अभी हम कह आये हैं कि युग-पथ पर चलने वाली साधना ही साहित्य का रूप धारण करती है। अत: जब तक युग को मानव की चेतना का सहयोग प्राप्त होता रहेगा तब तक इस गतिशील संसार में साहित्य और कला के भी अनेकानेक रूप उपस्थित होते रहेंगे। अनुभव द्वारा इतना अवश्य कहा जा सकता है कि साहित्य में जीवन का प्रतिबिम्ब होता है, उसमें साहित्यकार की आत्माभि-व्यक्ति होती है और वह उस राग के तार की झंकार को झंकृत करना चाहता है जो प्रत्येक मानव हृदय में विद्यमान है। मानव-मानव का रागात्मक सम्बन्ध ही समाज की सृष्टि करता है। इसी से परस्पर उन भावों का व्यापार चलता है जिनकी अभिव्यक्ति साहित्य में होती है।

युग की चट्टान पर खड़ा होकर साहित्यकार जब चारों ओर देखता है तब एक ओर उसका करुण एवं सुखद अतीत इतिहास के रूप में उसे संदेश देता है, दूसरी ओर उसकी धार्मिकता एवं नैतिकता उसको आमंत्रण देती हुई-सी प्रतीत होती है, तीसरी ओर उसकी वैयक्तिकता उसे अपनी ओर खींचती है और चौथी ओर मातृभूमि की अर्चना का स्वरूप उपस्थित होता है। तो क्या साहित्यकार इन्हीं रूपों में उलझ कर किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है अथवा इन्हीं के आदेश का पालन करने लगता है? नहीं, उसका यह समस्त वातावरण उसे नवीन स्फूर्ति एवं प्रेरणा प्रदान करता है जिसके परिणामस्वरूप वह

स्वतंत्रचेता बनकर स्वतंत्र पथ का निर्माण करता है। इस प्रकार साहित्यकार अपने अतीत और वर्तमान दोनों का ही उपासक है, युग के साथ भी है और युग से अलग भी। स्वतंत्र उद्भावक साहित्यकार प्राचीनता के प्रति न तो विमूढ़ आग्रह ही रखता है और न नवीनता के प्रति अविवेक पूर्ण उत्साह ही। उसका कृतित्व निश्चय ही शोधपूर्ण होता है, अपनी सृजनात्मक शक्ति पर पूर्ण विश्वस्त होने के कारण वह भविष्य का द्रष्टा बन बैठता है। इस प्रकार वह देश के भाग्य को सुहाग की लाली से अनुरंजित करता रहता है। भारती के अमर रत्न कबीर, सूर, तुलसी आदि ऐसे ही साहित्यकार थे, जिन्होंने अतीत से असंपृक्त न रहकर वर्तमान में ही भविष्य का शृंगार किया। उनकी शृंगार कृति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि देश और काल की सीमाओं को वेधकर भी उसकी सुषुमा-किरणें यत्र-तत्र सर्वत्र बिखर रही है। शताब्दियाँ व्यतीत हो गईं पर उनके चित्र आज तक धूमिल नहीं हुए। इसका कारण क्या है? स्पष्ट है कि ये साहित्यकार किसी वर्गगत भावनाओं के चक्र में नहीं पड़े। तुलसी के स्वान्तःसुखाय की भाँति हो अन्य सभी कलाकारों ने आत्माभिव्यक्ति के लिए ही अपनी वाणी का प्रयोग किया। इनकी आत्माभिव्यक्ति प्रकारान्तर से जन-जन के हृदय को अभिव्यक्ति थी और इसीलिए वह आज भी जन-जन के हृदय में विद्यमान है। इसी रूप में कला की स्वतंत्र सत्ता भी है और वह सोद्देश्य भी है।

कला की वास्तविक शक्ति है सूझ या कल्पना। जिस कवि का दृश्य जगत् जितना ही कल्पना-प्रवण होगा, जिसकी चिन्तन-रश्मियाँ गुह्यातिगुह्य प्रदेश में जितनी ही दूर तक पहुँच कर तत्व का दर्शन कर सकेंगी, वह कलाकार अपनी अभिव्यक्ति कीसजीवता के आधार से उतना ही महान होगा। इसी रूप में साहित्य और जीवन का चिरन्तन सम्बन्ध भी है। अन्यथा न तो साहित्यकार का अभिनय करने वाले साहित्यकारों का अभाव है और न अभिनयात्मक भावों का ही।

तथाकथित सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ ही साथ साहित्य के स्वरूप में भी अनेकानेक रंग-बिरंगे परिवर्तन हुए, कुछ तो युग की माँग पर और कुछ साहित्यकार की स्वतः प्रवृत्ति-वशात्। इन परिवर्तनों ने ही अनेकानेक वादों का रूप ग्रहण किया। वस्तुतः वाद क्या है? स्पष्ट है कि कवि कुछ कहना चाहता है और जो कुछ वह कहना चाहता है उसका सम्बन्ध या तो उसके 'स्व' से है या उसके 'स्व-जगत्' से, अथवा 'स्व-पर-भिन्न-स्वत्व' से। जो कुछ वह 'स्व' के लिए कहना चाहता है वह शुद्ध विनोद के लिए है। वह अपना विनोद दूसरों को देना चाहता है और इस प्रकार विनोद अथवा

आनन्द की प्राप्ति करना चाहता है। वह जो कुछ 'स्व-जगत्' से सम्बन्ध रखने वाली बात कहता है, उसका उद्देश्य या तो जगत् से प्राप्त होने वाला अपना आनन्द दूसरों को देना है, अथवा जगत् के सम्बन्ध में वह अपनी धारणा दूसरों को देना चाहता है। इसी प्रकार 'स्व-पर-भिन्न-स्वत्व' के सम्बन्ध में कहते हुए वह संसार को अलौकिक आनन्द तक पहुँचाने की चेष्टा करता है। हम देखते हैं कि इन सब वादों में कलाकार का सम्पूर्ण उद्देश्य अपने अनुभव दूसरे को देना है। अपने अनुभव दूसरे को देते समय कलाकार और साधारण वर्णन करने वाले में अन्तर इतना ही है कि कलाकार अपनी कृति के द्वारा पाठक तथा श्रोता के मनोभावों को उत्तेजित कर देता है; वर्णन करने वाला वैसा नहीं कर सकता है। यही कारण है कि सीधे-साधे उपदेश, नीतिपरक बातें हमें साधारणतः रुचिकर नहीं प्रतीत होती, किन्तु जब इनकी कलात्मक अभिव्यक्ति होती है तब इनका प्रभाव हमारे हृदय पर पड़ने लगता है। अतएव भावों को उत्तेजित करने की सामर्थ्य के विचार से इन विभिन्न वादों और वादविवादों से रहित कलाकारों की कृतियों में कोई अन्तर नही। जो प्रगतिवादी मज़दूरों की दशा चित्रित करके उत्तेजना उत्पन्न करना चाहता है, वह भी करुणा, वीभत्स, वीर अथवा रौद्र रस को जगाना चाहता है। इसके अतिरिक्त कलाकार की दृष्टि से उसका अन्य कोई मूल्य नहीं है। यदि वह अपनी कृति का इससे कुछ अधिक मूल्य चाहता है तो वह केवल प्रचारक है, कलाकार नही। क्योंकि कला का प्रासाद प्रचार की आधारभूमि पर नहीं प्रतिष्ठित होता है। जब कला या साहित्य में कर्ता से हम नितान्त उपयोगिता की माँग करेंगे तो वह वस्तु जो उससे प्राप्त होगी वह इसके भावन व्यापार का परिणाम न होकर मानसिक व्यायाम का प्रतिफल होगी। साधारणतः प्रतिक्षण कलाकृति में उपादेयता का दर्शन करना अनुचित है। प्रतिक्षण उपयोगिता के स्थूल स्वरूप को देखने का आग्रह करने वाले मस्तिष्कों पर कार्लाइल का यह कथन कितना सटीक उतरता है:—

"कभी उस आदमी की कहानी नही सुनी जो सूर्य को इस कारण कोसता था कि वह उसकी चुरट जलाने के काम नहीं आता।"

जो कलाकार ढिंढोरा पीट-पीट कर काव्य में नितनूतन संदेश देने की घोषणा करते हैं उनसे हम अत्यन्त विनय के साथ केवल यही प्रश्न करेंगे कि आप कोरा नवीन संदेश देने वाले हैं अथवा कवि ? जितने अंश तक आप कवि हैं, उतने अंश तक तो आप निश्चय ही रस, भाव अथवा व्यञ्जना हैं। जब आप केवल संदेश वाहक हैं तब आप प्रचारक हैं। हम इसमें कुछ अन्तर नहीं मानते हैं कि रोग से एक

किसान मर रहा है अथवा एक राजा। रोग से मरना यदि चिरन्तन सत्य है तो वह किसान के साथ ही जुड़ा हुआ नहीं है, वह राजा के साथ भी वैसा ही जुड़ा हुआ है। परन्तु रोग इतना बड़ा सत्य है कि जिसका गीत गाकर कहने की आवश्यकता नहीं। जीवन का अवसान इसी प्रकार का चिरन्तन सत्य है जिसमें ढिंढोरा पीटकर बताने की आवश्यकता नहीं। आवश्यक क्या है? आवश्यक है जीवन का शाश्वत सत्य और वह सत्य जिससे जीवन को प्रेरणा मिला करती है। केवल समय की सीमा में आबद्ध जीवन का सत्य आज सत्य हो सकता है, वह शाश्वत सत्य नहीं बन सकता है। जैसे कल सत्य के प्रति आज हमारी उपेक्षा-दृष्टि है वैसे ही आज के सत्य के प्रति कल हमारी उपेक्षा दृष्टि हो जायगी और उस उपेक्षा दृष्टि के सम्मुख आज के महाकवि विस्मृति के गर्भ में लवलीन हो जायँगे। कलाकार संसार में इसीलिए नहीं आते है। वे आते है मानवता का दिव्य संदेश देने के लिए। उनका वह दिव्य संदेश चिरन्तन सत्य लेकर आता है। वह सत्य इतना विशाल, व्यापक और उदात्त होता है कि उसमें समस्त वाद विलीन हो जाते है और केवल सत्य शेष रह जाता है, वाद नही रहता है। यही चिरन्तन सत्य जिस दिन विभिन्न वादों पा जाते हैं उस दिन उनकी वाणी में अमरता उत्पन्न हो जाती है। हमारा मत है कि साहित्य में केवल एक वाद है, और वह वाद है जीवन का चिरन्तन सत्यवाद। इस वाद में कृषक, श्रमिक, पूँजीपति, मध्यमवर्ग का अन्तर नहीं है। इसमें है केवल शुद्ध मानवता जो इतनी सहिष्णु है कि वह धनिकों के राजप्रासाद को देखकर जल नहीं मरती, और जो इतनी उदार है कि राजवैभव को छोड़कर दीन-दुखियों के लिए उनका उत्सर्ग करके वन-वन मारी-मारी फिरती है। कलाकारों का काम है, मानव के उसी चिरन्तन सत्य का दर्शन करना।

आज समाज में अनेक वर्ग हैं। इतिहास में वर्ग-विहीन समाज के दर्शन हमें तो कहीं नहीं मिलते। संभव है इन नवीन वादियों की कल्पना कभी सार्थक हो जाय और कोई ऐसा वर्गविहीन समाज उपस्थित हो सके जिसमें केवल मानवता ही हो और कोई वर्ग न हो। परन्तु वह मानवता जब तक प्रतिष्ठित नहीं हो जाती है तब तक उसके लिए द्वन्द्व उत्पन्न करके जो लोग संघर्ष और अशान्ति की प्रेरणा प्रदान करते हैं वे लोग मानवता को कल्याणाभिमुख कर रहे हैं, इसमें हमें विश्वास नहीं है। जिस पानी को आपने गरम कर लिया है वह पानी भी आपके फूँक मारते ही ठंडा नहीं हो जायगा। उसकी दाहकता उस समय तक बनी ही रहेगी जब तक वह अपनी स्वाभाविक

स्थिति पर नहीं आ जाता। विश्व की समस्त राजनीतिक क्रान्तियों द्वारा उत्पन्न की गई उत्तेजना लक्ष्यप्राप्ति के पश्चात् भी शताब्दियों तक सुस्थिरता एवं सुव्यवस्था के मार्ग में बाधक सिद्ध हुई है। कलाकार भी क्या इसी उत्तेजना का अंग है, क्या कलाकार भी ऐसी ही क्रान्ति चाहेगा? इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि राजनीतिक क्रान्तिकारी का क्षेत्र सम्पूर्णतः बाह्य और भौतिक जगत् है। वह एक बार उफन कर बैठ भी सकता है, परन्तु कलाकार का क्षेत्र विशुद्ध आन्तरिक और आनुभूतिक क्षेत्र है। उसमें जिस दिन क्रान्ति हो जायगी, उस दिन समाज का मानसिक संतुलन इतना बिगड़ जायगा कि घृणा, विद्वेष, हिंसा एक सामान्य वस्तु बन जायगी। अतएव हमारी दृष्टि में कलाकार को प्रचारक का कार्य प्रचारक के लिए छोड़ देना चाहिए। उसे कोई ऐसा काम हाथ में न लेना चाहिए जो समाज के मानसिक स्तर के संतुलन को बिगाड़ने में साधक हो। इसका यह अर्थ नहीं है कि कवि अत्याचार का विरोध न करे। निश्चय ही उसे अत्याचार का विरोध करना चाहिए, परन्तु विद्वेष और घृणा का प्रचारक बन कर नहीं, शान्ति और उदारता का दूत बनकर। प्रेम और विश्वास का संदेश देना चाहिए, सहयोग और साम्य का राग गाकर। खेद है कि आज के अनेक वादियों में केवल दो ही बातें है—एक के लिए करुणा है और दूसरे के लिए विद्वेष। इसीलिए इन वादों का मूल्य हमारी दृष्टि में कम है।

वस्तुतः काव्य और वाद दोनों को एक ही तराजू पर तोलना समीचीन नहीं प्रतीत होता है। वाद काव्य नहीं बन सकते, काव्य में वाद की अभिव्यक्ति हो सकती है। यद्यपि दोनों का स्रोत एक ही है—जन-जीवन, किन्तु उनके प्रकारों में महान् अन्तर है। एक विद्वान् आलोचक की दृष्टि में 'एक की प्रणाली हार्दिक और व्यक्तिमुखी है, दूसरे की सैद्धान्तिक और समूह-मुखी। काव्य का अर्थ है संवेदना की सृष्टि करना, वाद का अर्थ है ज्ञान-विस्तार करना। वाद का स्वरूप एकदेशीय है, काव्य का सार्वभौम।···काव्य का लक्ष्य मानव स्वभाव और मानवीय भावना के मार्मिक और स्थायी रूपों का चित्रण है। वाद का लक्ष्य है तथ्य विशेष की बौद्धिक व्याख्या करना। काव्य सूक्ष्म और असाधारण परिस्थितियों में मानव-चरित्र और आचरण की भावमयी झाँकी दिखाता है, वाद साधारण और असाधारण समस्त परिस्थिति का सामूहिक आधार लेकर चलता है और उसी पर अपना नियम निरूपण करता है।[1]

१—नन्ददुलारे वाजपेयी, आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ४११

इस प्रकार यदि साहित्यकार वादों की सीमाओं से आबद्ध होकर साहित्य का निर्माण करेगा तो निश्चय ही उस साहित्य में साहित्यकार का आत्मदर्शन न होगा। इस स्थिति में वह मानसिक दासता में बँधकर कला को विरूप भी कर सकता है। अतएव उसे अपनी स्वतन्त्र स्थिति रखनी है। उसे स्वतन्त्रचेता, विचारक एवं दर्शक बनना है। हाँ, इतना अवश्य है कि उसकी प्रत्येक चेतना में, प्रत्येक दर्शन में एवं प्रत्येक विचार में अमंगल का विनाश और मंगल की, शिव की सृष्टि करनी है।

परिशिष्ट

परिशिष्ट

ताटस्थ्यवाद

मगन ध्यान रस दंड युग, पुनि मन बाहर कीन्ह।
रघुपति चरित महेश तब, हरखित बरनै लीन्ह ॥

तुलसी के इस दोहे में कविता की परिभाषा है, कवि का कृतित्व है, उसके कौशल का मूल मंत्र है और है कविकर्म का फल। हम पहिले फल से विचार करना प्रारम्भ करेंगे। हर्ष या उल्लास कविता का फल है। जो अनुभूति कवि के हृदय में उल्लास उत्पन्न नहीं कर सकती, वह सुन्दरतम वाणी के द्वारा कही जाने पर भी श्रोता के हृदय में उल्लास की सृष्टि नहीं कर सकती। कवि की कुशलता 'तब' शब्द से व्यक्त हुई है। 'तब' का अर्थ है जब अनुभूति में तदाकार वृत्ति धारण करने वाला मन उस अनुभूति से बाहर निकल कर तटस्थ वृत्ति से अनुभूति को देख सके तब कवि उस अनुभूति का यथार्थ चित्र उपस्थित कर सकेगा अन्यथा वह केवल प्रलाप कर सकता है, कविता नहीं। कवि का कृतित्व 'मगन ध्यान रस' में व्यक्त हुआ है। पूर्वानुभव ग्राहिकाशक्ति (Herme) द्वारा मानस पटल पर अंकित रहता है। प्रेरिकाशक्ति (Neme) मन को जब उसी अनुभव में पुनः विलीन कर देती है तब उस अनुभव की आवृत्ति हो सकती है। जिस कवि में इस प्रकार ग्राहिकाशक्ति द्वारा पूर्वानुभूत विषय में प्रेरिकाशक्ति द्वारा पुनर्विलय की शक्ति नहीं होती वह कवि नहीं हो सकता। हम सब को सुख-दुःख, प्रेम-वैर की वैसी ही अनुभूतियाँ होती है जैसी कवि को, हममें 'मगन ध्यान रस' की शक्ति नहीं है, कवि में वह होती है। इसीलिए हम कवि नहीं होते और कवि कवि होता है।

कविता क्या है? अनुभूति हो, ध्यान हो, उस ध्यान में आनन्द का अनुभव हो और उस अनुभूति को तटस्थ वृत्ति से वर्णन करने का उल्लास हो, इस प्रकार जो कुछ कहा जायगा, वही कविता होगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत का कवि कविता की उपकारिका वृत्ति—ताटस्थ्यभाव को मानता है। यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि तटस्थता का यह प्रयोजन है कि कवि को स्वयं अनुभूति नहीं होती, वरन् वह दर्शक की भाँति घटनाओं को देखकर उनका वर्णन करता है। तटस्थता का यह अर्थ अत्यन्त संकीर्ण है। हमारा विचार है कि जिन पाश्चात्य विचारकों ने तटस्थता को इतिवृत्तात्मक काव्य की प्रेरिकावृत्ति माना है, उनकी धारणा भी इस प्रकार की न रही होगी। क्योंकि रागात्मिकावृत्ति के अभाव में घटना का वर्णन हो सकता है, कविता नहीं हो सकती। इसके आधार पर यह विभाजन भी हमें न्यायसंगत नहीं प्रतीत होता कि तटस्थता के नाते किसी स्वतन्त्रवाद का प्रवचन किया जा सके। इतना अवश्य है कि किसी उद्देश्य विशेष की साधना के लिए एक ऐसा वाद चल पड़े जो अनुभव विहीन विचारों का पद्यात्मक वर्णन करता हो, परन्तु हमारा मन ऐसे वर्णनों को काव्य कहने में हिचकता है। जिस कृति में रस का उदय नहीं होता, जो हर्ष या उल्लास को उत्पन्न नहीं करती, वह केवल घटना का ऐतिहासिक वर्णन है, घटना चाहे काल्पनिक हो, चाहे वास्तविक हो।

पाश्चात्य विचारकों के विचार को दृष्टि में रखकर यदि हम केवल आख्यान परक काव्यों को ही ताटस्थ्यवाद का उदाहरण मानें तो वेदों से लेकर अब तक की परंपरा दिखाई जा सकती है जिसका वर्णन हम पहिले कर चुके हैं।

रोमेन्टिसिज़्म

रहस्यवाद और छायावाद का विवेचन करते समय हम पहिले रोमेन्टिसिज़्म का उल्लेख कर चुके हैं। यूरोप का अठारहवीं शताब्दि का साहित्य अपनी शास्त्रीय पद्धति के लिए प्रसिद्ध है। इस युग के साहित्यकार ग्रीक साहित्य की ओर उन्मुख रहने के कारण काव्य के शास्त्रीय नियमों से बँधे रहे, परिवर्तन-क्रम के साथ आने वाली नवीनता से उनका परिचय न हो सका। अस्तु, उनका साहित्य जीवन से बहुत दूर बना रहा। यह साहित्य काव्य के बाह्य सौन्दर्य तथा नाना प्रकार के मनोरम रूप-विधानों को तो प्रस्तुत करता था, पर उसमें जीवन के स्पन्दन का पूर्ण अभाव था। अस्तु, उन्नीसवीं शताब्दि के प्रारम्भ में ही अंग्रेजी साहित्य में एक नये युग का आरम्भ होता है जो अपने में एक विशेष क्रांति एवं परिवर्तन का संदेश रखने के कारण रोमेन्टिक नाम से जाना जाता है। साधारणतः साहित्य के क्षेत्र में 'इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' (Ency

clopeadia Britanica) के अनुसार रोमेन्टिसिज़्म का प्रारम्भ सन् १७६८ में हो चुका था।[1]

'रोमेन्टिसिज्म' की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने विभिन्न दृष्टियों से विचार किया है। 'चेम्बर्स एनसाइक्लोपीडिया (Chamber's encyclopeadia) की दृष्टि से इसकी अभी पूर्ण और सर्वांगीण व्याख्या नहीं हो सकी है।[2] प्रारम्भ में 'जर्मनी में रोमांटिश शब्द का प्रयोग उपन्यास के अर्थ में हुआ, किन्तु फिर प्राकृतिक दृश्यों के लिए होने लगा। साहित्य में उदात्तवाद के विरोधी पक्ष के रूप में रोमांटिसिज़्म का प्रयोग फ्रीडिख श्लेगेल ने किया और श्रीमती स्तैल ने उसे फ्रांस में प्रचलित किया।'[3]

रोमेन्टिसिज़्म के उत्पत्ति-काल एवं उसके कारणों के सम्बन्ध में मत-सम्बन्धी अनेक रूपता हो सकती है, किन्तु कदाचित् इस बात में सभी का मतैक्य होगा कि यूरोप का रोमेन्टिक साहित्य 'नये युग की काल्पनिक वास्तविकता, सरलता तथा मानवता, प्रकृति-दर्शन, प्रकृति-अनुकरण, जीवन के कुतूहल तथा आध्यात्मिकता की ओर संकेत करता है।'[4] साहित्य में रोमेन्टिसिज़्म के प्रवेश के अन्य कारणों में से एक कारण यह भी है कि यूरोप का जन-जीवन नागरिक और ग्राम्य के रूप में स्पष्टतः दो भागों में विभक्त हो चुका था। नागरिक जीवन में कृत्रिमता, प्रदर्शन और संघर्ष के कारण अशान्ति व्याप्त थी। ग्रामीण जीवन अपेक्षाकृत अधिक सरल, अकृत्रिम एवं मानवोचित गुणों से पूर्ण था। फ्रांसीसी क्रान्ति ने स्वतन्त्रता, भ्रातृत्व एवं समानता का संदेश दिया था। राजनीतिक क्षेत्र की ये भावनाएँ साहित्यिक जगत् में भी समादृत हुईं। कवियों ने नागरिक जीवन से हट कर ग्रामीण-जीवन के प्रति अपना ममत्व व्यक्त किया। 'वर्ड्सवर्थ

---

1. The early part of the 19th century is generally known as the Romantic period, a period which opened, actully in the year 1798, when Wordsworth and Colridge published their lyrical Ballads in which they made a conscious and successful attempt to breakaway both in subject and style, from the tradition of the 18th century.

2. No one has yet satisfactorily defined the orgin and complex nature of romanticism, that profound transformation of the European mind which first achieved widespread and powerful expression in the early 19th century.

३—समीक्षा शास्त्र, पृष्ठ १२४८

४—अंग्रेजी साहित्य का इतिहास, डा० एस० पी० खत्री

की रचनाओं में ग्राम्य-जीवन की झाँकी विद्यमान है। उन्होंने अपनी रचनाओं में वहाँ के उद्देश्यों से प्रेरणा प्राप्त की है। प्रकृति के विभिन्न उपकरण ही उसकी कविता का श्रृंगार करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उसका हृदय प्रकृति के विभिन्न दृश्यों में रम गया है। कॉलरिज इस युग का एक दूसरा विशिष्ट कवि है जो अपने काव्य में स्वप्न जगत् का प्राणी प्रतीत होता है। सर वाल्टरस्कॉट अंग्रेजी साहित्य में उपन्यासकार के रूप में विशेष प्रसिद्ध है। उन्होंने अपने कवि रूप में युद्धादि के कारुणिक-दृश्यों एवं प्रेम-कथाओं के बड़े ही प्रभावोत्पादक चित्र खींचे हैं। रोमेन्टिसिज्म के इतिहास में लार्ड बॉयरन का प्रमुख स्थान है। इनकी कल्पना ने ग्राम्य एवं नागरिक जीवन के यात्रा आदि के बड़े ही मनोरम चित्र उपस्थित किये हैं। इनकी अधिकांश कविताओं में इनके हृदय में व्याप्त आवेश, उत्साह, गर्व, करुणा आदि के भाव व्यक्त हुए हैं।

अपनी रचनाओं में भविष्यवक्ता का-सा रूप धारण करने वाला सुप्रसिद्ध कवि शैली रोमेण्टिक काल में अपना विशेष स्थान रखता है। फ्रांसीसी क्रांति से प्रभावित कवि का हृदय रूढ़िवादिता के प्रति विद्रोह करता है और समाज के नवनिर्माण की ओर संकेत करता है। रोमेन्टिक काल के साहित्य का इतिहास जान कीट्स के उल्लेख के बिना अपूर्ण ही माना जायगा। इनकी रचनाओं में इनकी भावनाओं का गौरव निहित है। वे एक ऐसे कल्पना जगत् का निर्माण करना चाहते हैं जो ऐहिक जीवन की नारकीयता से परे परम अलौकिक एवं परम रमणीय हो।

इन कवियों की कतिपय प्रवृत्तियों के उल्लेख द्वारा हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रोमेन्टिक काल के साहित्य ने तत्कालीन जीवन के विभिन्न क्षेत्रों को प्रभावित किया था। काव्य साहित्य बहिर्मुखी न होकर अधिकाधिक अंतर्मुखी हो रहा था और उसमें जनजीवन के स्पन्दन के साथ ही साथ युग की छाप पड़ना प्रारम्भ हो गई थी। कवियों ने लोकजीवन को अपनाकर उनकी भावनाओं, उनकी आवश्यकताओं और उनकी आकांक्षाओं को वाणी का रूप देना प्रारम्भ कर दिया था। इस युग के कवियों के हृदय में सक्रिय विद्रोह कार्य कर रहा था। अस्तु, उन्होंने काव्यगत परंपरा का उल्लंघन करके अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए अपने नवीन पथ का निर्माण किया। वह केवल प्रकृति का द्रष्टा मात्र न रह गया था, अपितु एक अंतरंग मित्र की भाँति उसने प्रकृति के विभिन्न रूपों का वर्णन अत्यधिक आत्मीयता के साथ

किया। रोमेन्टिक काल के कवियों में सौन्दर्य के प्रति भी एक विशिष्ट भावना जागृत हुई जिसमें उसने वैचित्र्य का समावेश किया। एक प्रकार से विस्मय और वैचित्र्य पूर्ण भावनाओं द्वारा रोमेन्टिसिज्म का प्राणन किया गया। ?

हिन्दी में भी द्विवेदी युग के प्रायः उत्तरार्ध में रोमेन्टिसिज्म का स्पष्ट प्रभाव पड़ना प्रारम्भ हो जाता है। पंत ने वड्सवर्थ, शैली, कीटस, आदि रोमेन्टिक कवियों के प्रभाव को स्वीकार किया है। उनकी रचना 'पल्लव' में इस प्रभाव का स्पष्ट दर्शन होता है। प्रसाद में भी अंग्रेजी के रोमेन्टिक काल के साहित्य की प्रवृत्तियाँ स्पष्ट देखी जाती हैं। उनका झरना, आँसू, लहर. कामायनी आदि रचनाओं में प्रेम-सौंदर्य प्रकृति आदि को लेकर भावों की जो अभिव्यक्ति हुई है वह रोमेन्टिक काल की अभिव्यक्तियों के ही अनुरूप है। 'निराला' का साहित्य परंपरागत साहित्य से नितांत प्रतिकूल एवं अपने में विद्रोहात्मक भावनाओं को लेकर चल रहा है। इनके साहित्य में रोमेन्टिक काल की अधिकांश प्रवृत्तियों का दर्शन होता है। ये एक प्रकार से विद्रोही-कवि के नेता के रूप में हमारे सामने आते है।

हिन्दी का तथाकथित समस्त रहस्यवादी एवं छायावादी साहित्य यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो हमें उसमें रोमान्टिक काल के साहित्य की अधिकांश प्रवृत्तियों का दर्शन उपलब्ध होगा। नवीन छंदों का विन्यास, प्रकृति-प्रियता, ग्रामीण जीवन की झाँकी, यथार्थ की अपेक्षा काल्पनिक चित्रों का विधान, मनोवैज्ञानिकता, अतिशय भावुकता और प्राचीनता के प्रति विद्रोह आदि ऐसी कुछ बातें हैं जो हिन्दी के रोमेन्टिक काव्य के स्वरूप का विधान करती हैं। ?

हालावाद

हालावादी साहित्य फारसी साहित्य से प्रभावित है। फारसी के तीन प्रमुख कवि मौलाना रूम, हाफिज़ और उमरखैयाम अपने हाला-सम्बन्धी प्रतीक-विधानों द्वारा परोक्षसत्ता की चर्चा करते हैं। फारस इस्लाम धर्म का अनुयायी है। इस धर्म में शराब को हराम माना गया है, किन्तु इन कवियों ने शराब की मस्ती में ही प्रभु का पावन दर्शन किया। इस मस्ती में इन्होंने रोज़े और नमाज़ की भी चिन्ता न की और

अपनी साधना में शराब तथा प्रेम को प्रमुखता प्रदान की। सूफियों की यह साधना-पद्धति विभिन्न प्रकारों से हिन्दी में भी आई। कुछ सूफी सन्तों ने तो अपनी प्रेम की पीर को सीधे हिन्दी के माध्यम से हिन्दू जनता के बीच पहुँचाना प्रारम्भ किया था।

उमरखैयाम का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव अंग्रेजी के माध्यम से पड़ा। फिट्ज़जेराल्ड महोदय ने उमरखैयाम की रुबाइयों का अनुवाद किया जो सर्वप्रथम सन् १८५६ ईस्वी में प्रकाशित हुआ। प्रारम्भ में इसे कोई विशेष सम्मान प्राप्त न हो सका, किन्तु बाद में इसके ही जीवनकाल में यह अनुवाद तीन बार (सन् १८६८, १८७२ और १८७६ में) प्रकाशित हुआ। हिन्दी में इसके अनेक अनुवाद हुए। 'सरस्वती' नामक मासिक पत्रिका द्वारा कदाचित् सबसे पहिले (लगभग सन् १९२७-२८ में) उमरखैयाम की रुबाइयों की चर्चा प्रारम्भ हुई। धीरे-धीरे लोगों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ और लोगों ने शराब के माध्यम से अपनी रोमान्टिक भावनाओं को व्यक्त करना प्रारम्भ किया। इस धारा के कवियों में हमें कुछ ही कवि (पद्मकान्त मालवीय, बच्चन, हृदयनारायण पांडेय 'हृदयेश', बालकृष्ण शर्मा 'नवीन') प्रमुखतः दृष्टिगत होते है। प्रचारात्मक दृष्टि से यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि हालावादी कवि के रूप में बच्चन का पर्याप्त प्रचार हुआ। इस विषय की उनकी तीन रचनाएँ 'मधुशाला', 'मधुबाला' और 'मधुकलश' उल्लेखनीय हैं। इन तीनों कृतियों का रचना काल प्रायः एक-एक साल के अन्तर से सन् १९३३ से लेकर सन् १९३६ तक का है। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की केवल एक रचना 'साक़ी' प्राप्त होती है। 'हृदयेश' ने भी हाला और साकी को लेकर कई स्फुट रचनाएँ लिखीं है।

जहाँ तक इन रचनाओं में वर्ण्य विषय का सम्बन्ध है अथवा उद्देश्य का प्रश्न है, यह स्पष्ट कहना पड़ेगा कि इन रचनाओं में यद्यपि उमरखैयाम की अनुकरण प्रवृत्ति का दर्शन होता है, किन्तु इनमें न तो उसका-सा जीवन-दर्शन है, और न उसकी-सी मस्ती। हालावादी अधिकांश रचनाएँ ऊबे हुए मन को सान्त्वना देने के लिए एक हलकी-सी तरंग के समान हैं, और हालावादी साहित्य उसलहर के समान है जो आती तो बड़े वेग से है, किन्तु तटीय प्रान्त को सिक्त करने के पश्चात् तत्क्षण ही शांत हो जाती है।

हिन्दी के हालावादी युग का साहित्य देश की सामाजिक एवं राजनीतिक विषम स्थिति से एक प्रकार से पलायन वृत्ति स्वीकार करता है। महात्मा गान्धी का असहयोग आन्दोलन और अंग्रेजों का दमन-चक्र चल रहा था। क्रान्तिकारी

दल भी देश के वातावरण पर अपना आतंक प्रकट कर चुका था। भारतीय क्रान्ति-भावना को शांत करने के लिए यदा कदा अंग्रेजों की तरफ से मिथ्या प्रलोभन भी दिये जा रहे थे। जनता का सामाजिक स्तर प्रायः गिर रहा था। अस्तु, ऐसी परिस्थिति में एक प्रकार से गम को गर्क करने के लिए हालावादी साहित्य ने वही कार्य किया जो शराब करती है:—

मेरे पथ में आ आ करके तू पूछ रहा है बार बार,
क्यों तू दुनियाँ के लोगों में करता है मदिरा का प्रचार ?
मैं वाद विवाद करूँ तुझसे अवकाश कहाँ इतना मुझको,
आनन्द करो—यह व्यंग भरी है किसी दग्ध उर की पुकार ?
कुछ आग बुझाने को पीते यह भी कर मत इन पर संशय,
मिट्टी का तन मस्ती का मन क्षणभर जीवन मेरा परिचय ?

—'बच्चन'

बन्धन की आत्यंतिकता उच्छृंखलता की सृष्टि करती है। कवि अपने दृष्टिकोण से वस्तुओं को देखना प्रारम्भ कर देता है। वह "पग पायल की झंकार" को सुनते ही "दीवानों की टोली" के साथ "मदिरालय के दरवाजों" पर "मधु-प्यास बुझाने" के लिए आवाज लगाने चल देता है। और कह उठता है:—

हमने छोड़ी कर की माला, पोथी-पत्रा भू पर डाला,
मंदिर-मस्जिद के बंदीगृह को तोड़, लिया कर में प्याला।

—'बच्चन'

कवि के इस पथ को भले ही लोग कुपथ कहें, पर उसका तर्क इसे नहीं स्वीकार करता:—

वह पुण्य कृत्य, यह पाप कर्म, कह भी दूँ तो दूँ क्या सबूत,
कब कंचन मस्जिद पर बरसा, कब मदिरालय पर गिरी गाज।

—'बच्चन'

वह अपनी "पावन मधुशाला" को किसी तपोवन से तुच्छ नहीं समझता है। बच्चन की इस प्रकार की काव्यगत भावनाओं को देख कर तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में उनपर दूषित भावनाओं के प्रचार का आरोप किया गया। उन्होंने अनुभव किया कि मेरे हृदय की स्पष्टता ही आज मेरा अपराध है:—

कह रहा जग वासनामय हो रहा उद्गार मेरा।
मैं छिपाना जानता तो, जग मुझे साधू समझता।

—'बच्चन'

'बच्चन' की इन रचनाओं को देख कर बहुतों ने उन्हे मदिरापायी समझा। पर यह उनकी भ्रान्ति ही थी। 'हाला' उनकी भावनाओं की अभिव्यक्ति का एक साधन बन कर आई, कवि-जीवन का साध्य बन कर नहीं। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि उनकी अभिव्यक्तियों का यह स्वरूप भारतीयता के प्रतिकूल अवश्य था।

हृदयेश जी ने हाफिज़ और खैयाम की शीराज़ी अंगूरी को भारतीय सोमरस और द्राक्षासव के बीच की वस्तु मानकर साहित्य-प्रांगण में प्रस्तुत किया। उनकी प्रखर कल्पना लाक्षणिक अभिव्यञ्जना शैली और बीच बीच में भारतीय दर्शन की गहरी पुट ने प्रभाव तथा स्वाद के अनोखेपन की अभिवृद्धि की। फारस का कवि आनन्द की तृप्ति के लिए जहाँ एक ओर दरिया का किनारा चमनिस्तान के फूलों की हर तरफ बहार, अंगूरी लताओं के झुरमुट में बगल में साकी और हाथ में मये-अर्गवानी का जामे-गुलरंग देखता है, वहाँ 'हृदयेश' का भारतीय हृदय अनुभव करता है:—

यमुना तट पर कदम कुंज में खुली स्नेह की मधुशाला।
श्याम सलोना-सा प्रिय प्याला अधर मुरलिया का प्याला।
झूम रहे हैं पीने वाले भूल रहे हैं जगती को।
प्रणय मदोत्पादक श्रवणों में सुख कर स्वर आसव ढाला।

—'मधुरिमा'

वसन्त में मधुशाला का एक सुन्दर रूपक इस प्रकार है:—

खुली हुई हैं सुमन प्यालियाँ चमन बना है मतवाला।
ढाल रही है ओस स्नेह से रजत विनिर्मित हिम हाला।
साकी बनकर आया ऋतुपति वन उपवन सबने ढाली।
लाल पलास लालिमा मिस मदमाते हो कहते 'ला-ला'।

'मधुरिमा'

'हृदयेश' जी ने माया को मधुबाला का रूप प्रदान कर जीवन के तथ्य को इस प्रकार व्यक्त किया है:—

योगी पीते भोगी पीते पण्डित प्याला पर प्याला।
गृही विरत वैरागी पीते तन का होश भुला डाला।

× × ×

दुनियाँ में 'हृदयेश' सभी को पीनी पड़ती है आकर।
माया मधुबाला के हाथों दुनियाँ की सुख-दुख हाला।

प्रणय और प्रलय के अमर गायक बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की सहज कल्पना काव्य के जिन मनोरम रूपों का विधान करती है वह सहृदय पाठकों के लिए आकर्षण का विषय बनती है। उनके काव्य का प्रधान विषय शृङ्गार है जिसमें विप्रलम्भ का आधिक्य है। यह विप्रलम्भ अनेक स्थलों में ऐहिकता से परे और अलौकिकता की ओर उन्मुख है। उनकी 'साक़ी' शीर्षक कविता कवि की मस्ती, उसकी प्यास, उसकी भावतल्लीनता और सदाशयता एवं सार्वभौम हित-चिन्तन की भावना व्यक्त करती है। कविता का प्रारम्भ अनुकूल वातावरण एवं तीव्रतम लालसा से होता है :—

साकी मन घन गन घिर आये, उमड़ी श्याम मेघ माला।
अब कैसा विलम्ब ? तू भी भर भर ला गहरी गुल्लाला।

× × ×

कब से तड़प रहे हैं—खाली पड़ा हमारा प्याला।

कवि को एक क्षण का भी विलम्ब असह्य है। इसीलिए:—

और ? और ? मत पूछ, दिये जा, मुँह माँगे वरदान लिये जा।
तू बस इतना ही कह साकी और पिये जा, और पिये जा।

'नवीन' जी नशे में 'फर्क' नहीं आने देना चाहते और नशे में गर्क़ हो जाने में ही अपना कल्याण समझते हैं, भले ही 'ज्ञान ध्यान-पूजा पोथी के वर्क़' नशे में फट जायँ। वे एक बार समस्त विश्व को अपनी मदिरा विशेष से मदोन्मत्त देखना चाहते है। इसीलिए कहते हैं:—

कूजे दो कूजे में बुझने वाली मेरी प्यास नहीं।
बार बार ला ! ला ! कहने का समय नहीं, अभ्यास नहीं।
अरे बहा दे अविरल धारा, बूँद बूँद का कौन सहारा।
मन भर जाये, जिय उतराये, डूबे जग सारा का सारा।

विजयावाद—साहित्य में विशेषकर कवि-सम्मेलनों के अवसर पर 'हालावाद' का प्रचार देखकर विजयावादी रचनाओं की सृष्टि हुई। वह युग कवि-सम्मेलनों का युग था। अतः कवि-सम्मेलन के रंगमंच से अपने-अपने वाद की पुष्टि में नोंक-झोंक हो जाना स्वाभाविक था। यों तो विजया के सम्बन्ध में बोधा, पद्माकर, भारतेन्दु आदि ने बड़े ही सुन्दर छन्द लिखे हैं। गद्य में भी स्व० बालमुकुन्द गुप्त का 'शिवशम्भु का चिट्ठा' और पं० विश्वम्भर-

नाथ शर्मा कौशिक का हास्य-रस का अधिकांश साहित्य विजया की तरंग का ही साहित्य है, किन्तु आधुनिक युग में हालावाद के जवाब पर विजयावाद के प्रचलन का श्रेय कानपुर के प्रणयेश शुक्ल और अभिराम शर्मा को है। प्रणयेश जी ने भारतीय परंपरा के अनुरूप विजया का जो पान कराया है उसमें कवि की भारतीयता, तन्मयता, उसका जीवन-दर्शन और यत्र-तत्र तात्विक चिन्तन व्यक्त होता है—

विहँसे सुराही न सुरा ही करती है लास,
प्याले सब मौन, दिशा प्राची न प्रतीची है।
पात्र कलधौत का सजा है दिव्य रंग पाके,
मानो वसुधा ही ये सुधा से गई सींची है।
'प्रणयेश' जीवन की लतिका हुई है हरी,
जीवन प्रवाहिनी की तरलित बीची है।
साकी से छुड़ा के पिण्ड, मस्त अपनी ही छान,
विजया-बहार है, बसन्त है, बगीची है॥

—'विजया-विहार'

विजया की तरंग में कवि के अध्यात्म का दर्शन बड़ा ही आकर्षक है—

नयन कटारों में उषा की मंजु लाली भर,
कभी क्षीर-सिन्धु-सी रही विराज विजया।
मेरी विश्व—वाटिका की प्रकृति-नटी-सी यह,
सरल सजाये है अनोखे साज विजया॥
'प्रणयेश' समय सु—ठौर भी यहीं है यहाँ,
विस्तृत किये है अपना ही राज विजया।
फिर किसकी है लाज विमल बना दे मुझे,
कमल—करों से तू पिला दे आज विजया॥

—'विजया-विहार'

प्रणयेश जी की 'विजया-विहार' के प्रायः सभी छन्द अत्यन्त परिमार्जित एवं उच्च कोटि के भाव-सौन्दर्य को लेकर लिखे गये हैं।

'अभिराम' जी ने खड़ी बोली के नवीन छन्दों में मधुशाला और मधुबाला के वजन पर ही अपनी रचनाओं में अत्यन्त सीधी-सादी एवं सरल भाषा में मार्मिक व्यंग किये हैं—

मद पीकर मत बदनाम बनो, आओ आओ शुभनाम बनो।
बलराम बनो, घनश्याम बनो, पीलो पीलो, अभिराम बनो॥

कवि विजया की मस्ती में, दुनियाँ की फानी बस्ती में फानी हस्ती और पस्ती ही पस्ती देखता है। इसीलिए वह विजयापान का आग्रह करता हुआ कहता है—

पीकर तू प्रलयङ्कर होजा, क्षण में ही अभयङ्कर होजा।
मृत्युञ्जय तीर्थङ्कर होजा, तू छान छान शंकर होजा॥

× × ×

प्यासे आये पीते जाओ, मरते हो तो जीते जाओ।
जीवन अञ्चल सींते जाओ, रीते हो मत रीते जाओ॥

प्राकृतवाद (Naturalism)

फ्रांस में उन्नीसवी शताब्दि में उपन्यास लेखकों का एक दल था जिसमें फ्लाबर्ट (Flaubert), ज़ोला (Zola) आदि सम्मिलित थे। इस दल के लिए प्राकृतवाद (Naturalism) शब्द का प्रयोग किया जाता था। जीवन के सम्बन्ध में इनका दर्शन विशुद्ध वैज्ञानिक था। प्राकृतवाद का विवेचन साहित्य में उन्नीसवीं शताब्दि से ही विशेष रूप से प्रारम्भ होता है। प्राकृतवादी कलाकार अपने को किसी मुख्य उद्देश्य तक ही सीमित नहीं रखता है। वह तो केवल प्रभाव, चित्रण करन चाहता है, अतएव जिस परिस्थिति द्वारा वह इसे संभव समझता है, उसे ही. ग्रहण करता है। यथार्थवादियों की तरह से वह न तो किसी सिद्धान्त को समीक्षा करता है और न रोमेन्टिक कलाकारों की भाँति वह किसी सौन्दर्य-विधान की ओर अग्रसर होता है। प्रकृति-वादी लेखक यह मान कर चलता है कि मानव-जीवन प्रकृति के विभिन्न तत्वों का एक संघात है। अस्तु, वह मानव-जीवन के प्रत्येक क्रिया-कलाप में प्रकृति के अनिवार्य प्रभाव को स्वीकार करता है। साहित्य में वह इसी प्रभाव का दर्शन भी करता है। वह मानव-जीवन की स्वाभाविक क्रिया को ही अधिक महत्व देता है। आदर्श या धार्मिकता के प्रभाव से प्राप्त मानव का रूप कृत्रिम होने के कारण उसके समक्ष अधिक महत्व नहीं रखता है। जिस प्रकार प्राकृतिक रूप-विधानों में किसी प्रकार का कोई सचेष्ट नियमन नहीं होता, उसी प्रकार प्राकृतवाद का समर्थक कलाकार जीवन मे अस्वाभाविक एवं कृत्रिम विधानों को न स्वीकार करके स्वाभाविकी क्रिया को ही विशेष महत्व प्रदान करता है। भले ही जीवन की यह स्वाभाविकी क्रिया क्रम-सौष्ठव के अभाव में अनुपयुक्त ही क्यों न प्रतीत हो।

हिन्दी में प्राकृतवाद (Naturalism) का अनुसरण प्रायः प्रगतिशील एवं प्रयोगशील रचनाओं में विशेष रूप से पाया जाता है।

मानवता वाद (Humanism)

समस्त देशों के श्रेष्ठ साहित्य में मानवतावाद का स्वरूप प्राप्त होता है। साहित्य में व्यक्त वे समस्त भावनाएँ जो मानव-जीवन के विकास-क्रम में योग लेने वाली हैं अथवा वे क्रियाएँ जोमानव की मूल-प्रकृतियों का सम्यक् पोषण एवं संवर्द्धन करती हैं, मानवतावाद के अन्तर्गत ली जायेंगी। भारतीय साहित्य में यद्यपि इसे वाद के रूप में कभी स्वीकार नहीं किया गया, फिर भी इसका दर्शन हमें साहित्य में सिद्धांत रूप से यत्र-तत्र सर्वत्र प्राप्त होता है।

विभिन्न कालों में जीवन के आदर्शों में अनेकानेक परिवर्तन हुए हैं। अस्तु, मानवतावाद की एक निश्चित परिभाषा नहीं की जा सकी है। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि विभिन्न युगों के तत्व-चिन्तक साहित्यकारों ने सार्वदेशीय मानवता की हित-कामना से प्रेरित होकर अपनी भावनाएँ व्यक्त की हैं।

इस प्रकार के साहित्य के द्वारा मनुष्य के सर्वतोमुखी विकास का प्रयत्न किया जाता है। क्षणिक उत्तेजनाओं के चक्र में न पड़ कर, सार्वदेशीय और शाश्वत भावना का मूल्यांकन किया जाना इसका एक आवश्यक अंग है। मानवतावादी साहित्यकार सामयिक और रूढ़िगत-भावों पर अपेक्षाकृत कम ध्यान देगा। सदाचार पूर्ण प्राचीन साहित्य उसके निकट अधिक समादृत होगा। वह बाह्य नियंत्रण की अपेक्षा आन्तरिक नियंत्रण पर विशेष बल देता है। उसके समक्ष चरित्र में संयम और नियम का अधिक महत्व है। मानववादी की कल्पना मानव-धर्म को अधिकाधिक समुन्नत बनाने में ही निरन्तर क्रियाशील रहती है।

तथ्यातिरेक वाद (Sur-realism)

पाश्चात्य देशों में बीसवीं शताब्दि में चित्रकारों एवं लेखकों का एकऐसा दल उपस्थित होता है जो तथ्यों के निरूपण में परंपरागत प्रणालियों का उल्लंघन करके अवास्तविक रूपों का अंकन करते थे। चित्रकला में जूना मिरो, (Spaniard-Juna-Mero) को इस वाद का अग्रणी माना जाता है। इस वाद के सम्बन्ध में एक आलोचक का मत है कि "आन्द्रे ब्रेटन ने सन् १९२० में, फिलिप-सोपा-ल्ट की सहायता से मूर्च्छा की अवस्था में लिखने के अनेक प्रयोग किये और

साथ ही सम्मिलित रचना के प्रयोग किये, इसी को शुद्ध तथ्यातिरेक का प्रारम्भ समझना चाहिए।"[1]

तथ्यातिरेकवादी जैसा कि शब्द से ही ज्ञात है, अवास्तविकता एवं अतिशयता के प्रति विशेष आग्रह रखता है। इस प्रकार के साहित्य में एक प्रकार की असंगति अवश्य रहती है। तथ्य की अपेक्षा भाव की अधिकता भी इसकी विशेषता है।

कुछ अन्यवाद

आधुनिककाल वादों का काल है। विभिन्न संघर्षों से अनुप्राणित जीवन की चिन्तन-धारा जितने-जितने नवीन स्वरूपों का विधान करती है, विचार-सरणियों के रूप में उतने ही वाद अस्तित्व में आते-जाते हैं। उदाहरण के लिए, स्थानीय चित्रण वाद (Local Colourism) को ही ले लिया जाय। कथा-साहित्य में वातावरण का परिचय देने के लिए घटना प्रदेश की भाषा, वेशभूषा, आचार-विचार आदि का विस्तृत वर्णन उपस्थित किया जाता है। सन् उन्नीस सौ बीस में रूस में समीक्षा क्षेत्र में रूपवाद (Formalism) की स्थापना हुई। सात वर्ष तक वहाँ इस वाद का बोल-बाला रहा। इसके आधार से कला में शिल्प का ही विशेष महत्व प्रतिपादित किया गया। कलाकार शिल्प-विधान में जिस कला का प्रयोग करता था अथवा जिस रूप की योजना करता था उसी का महत्व होता था। वर्तमान काल में समीक्षा-क्षेत्र में प्रभाव वाद (impressionism) का भी एक अपना स्थान है। किसी रचना का अध्ययन करने के उपरान्त जो प्रभाव हमारे मन पर पड़ता है उन्हीं प्रभावों के आधार पर समीक्षा का जो स्वरूप उपस्थित किया जाता है, उसे प्रभाववादी समीक्षा कहते हैं। यथार्थ की अतिशयता ने शृंगारिक-क्षेत्र में **माँसल वाद** की सृष्टि की है। इस वाद का वादी कलाकार नग्न सौन्दर्य का चित्रण करने में ही कला की इति कर्तव्यता अनुभव करता है। विलास और वासना से पूर्ण उत्तेजक चित्रों का आकलन इस वाद का कृतित्व होता है।

जैसा अभी हम पहिले कह आये हैं यह युग वादों का युग है। यदि इनकी सूची ही दी जाय तो शुद्धतावाद (Purism), उदात्तवाद (Classicism),

---

१—समीक्षाशास्त्र, पृष्ठ १२८३

नवमानवता वाद (New Humanism), सापेक्षवाद (Relationism), विवेकवाद (Rationalism), निराशावाद (Pessimism), आशावाद (Optimism), उदारतावाद (Liberalism), भविष्यवाद (Futurism) आदि की एक लम्बी तालिका उपस्थित हो सकती है। हमारा उद्देश्य यह नही है कि इन वादों का परिचय देकर पुस्तक के कलेवर का अनावश्यक रूप से विस्तार किया जाय। इस प्रसंग में इन वादों का परिचयात्मक उल्लेख करके हमारा उद्देश्य तो केवल साहित्य की उन प्रचलित प्रमुख प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन मात्र कराना है जिनके द्वारा हमारे साहित्य के रूप का शृंगार किया गया है।